'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 113 संख्या 1-2
पौष-माघ 2022 विक्र०
जनवरी-फरवरी 1976

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

माणिक्य की आत्म-कथा

जग कहता है माणिक्य मुझे,
पारखियों ने परखा मुझको।
सम्राटों के सरताजों में
जौहरियों ने रक्खा मुझको।
भूपों के कोषों तक पहुँचा,
पीकर खनिकों का सारा श्रम।
मेरा मायावी वर्ण निरख
हो गईं रानियाँ भी विभ्रम।
पर, खोल ढ़ोल की पोल सभी
कह दिया एक वैज्ञानिक ने,
है जटिल नहीं संरचना
यह ऑक्साइड एल्यूमिनियम का।
यह दर्शन कौन विहंगम का?

—रमेश कुमार शर्मा

●●

इन्डियन साइंस कांग्रेस के 63वें अधिवेशन के सभापति

कु० अरुणा

डा० एम० एस० स्वामीनाथन

डा० स्वामीनाथन का जन्म 7 अगस्त, सन् 1925 को तमिलनाडु में हुआ था। आपने केरल विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। तथा 1949 में इन्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्सटीट्यूट से 1949 में आनुवंशिकी तथा पादप-प्रजनन में डिप्लोमा किया। 1952 में आपने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से Ph. D. की उपाधि प्राप्त की। 1954 में डा० स्वामीनाथन ने केन्द्रीय चावल शोध संस्थान में कार्य-भार सम्हाला। बाद में इन्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्सटीट्यूट में कोशिका वैज्ञानिक के पद पर आये जहाँ 1966-72 तक निर्देशक रहे। इस समय आप इन्डियन कौंसिल आफ एग्रिकल्चरल रिसर्च के डाइरेक्टर जनरल के पद हैं। वर्ष 1976 के लिए आप साइंस कांग्रेस के जनरल प्रेसिडेण्ट हैं।

कन्द सहित तथा कन्द रहित सोलेनम जाति के कोशिकानुवंशिकी तथा प्रजनन पर 1947 से 1953 तक डा० स्वामीनाथन ने कार्य किया। 1954 से 1972 तक के समय में डा० स्वामीनाथन और उनके शिष्यों ने चावल, जूट तथा गेहूँ के संकरण पर विस्तृत रूप से कार्य किया। इन्डिका जापानिका के चयन की नई विधि निकाली तथा गेहूँ की बौनी किस्म में सुधार करके उन्होंने कल्यान सोना तथा सोनालिका तथा शर्बती सोनोरा किस्म को गेहूँ बनाये। पूसा—2-21 तथा नया साबरमती चावल भी डा० स्वामीनाथन की देखरेख में विकसित हुआ।

डा० स्वामीनाथन इन्डियन नेशनल साइंस एकेडमी तथा इन्डियन एकेडमी आफ साइन्सेज के फेलो हैं। 1971 में स्वीडिश सीड एसोशियेशन स्वालोफ ने उन्हें फैलो बनाया। लन्दन की रायल सोसाइटी ने 1973 में आपको अपना फैलो चुना। वैज्ञानिक और औद्योगिक शोध समिति ने उनको 1961 का शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार प्रदान किया।

चेकोस्लोवाक विज्ञान समिति ने 1965 में मैण्डल शतांशी पुरस्कार के लिए चुना तथा भारत की वानस्पतिक सोसाइटी ने उनको 1966 में बीरबल साहनी मैडल से पुरस्कृत किया। भारतीय राष्ट्रीय वैज्ञानिक समिति ने 1973 में रजत जयन्ती कमेमोरेशन मेडल प्रदान किया। डा० स्वामीनाथन को 1971 में रामन मैग्सासे पुरस्कार दिया गया। 1977 में पद्म श्री तथा 1977 में पद्म भूषण की उपाधि भी डा० स्वामीनथन को दी गई।

प्रो० आर० पी० सिंह

प्रो० सिंह ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० तथा एम० एस-सी० की उच्च अंकों के साथ उपाधि लेकर वाशिंगटन स्टेट यूनिवर्सिटी से 1955 में पी-एच० डी० किया। आपका सांख्यिकीय यांत्रिकी, ठोस अवस्था सिद्धान्त तथा संघनित पदार्थ की भौतिकी के क्षेत्र में विशेष योगदान है। 1947 में इलाहाबाद में प्रवक्ता के पद पर आपकी नियुक्ति हुई थी। आपने कनाडा की रिसर्च कौंसिल के फोलोशिप पर प्रो० टी०

वू के समूह में रहकर शोध-कार्य किया। आप इन्डियन इन्सटीच्यूट आफ टेक्नॉलॉजी में 1964 में प्रोफेसर नियुक्त हुये थे और अभी भी वहीं हैं। आप परमाणु ऊर्जा विभाग की भौतिकी समिति के 5 वर्ष तक सदस्य रहे। आपने बहुत सी विदेशी प्रयोगशालाओं का निरीक्षण किया है और वहाँ व्याख्यान दिये हैं।

प्रोफेसर एम० सी० चाकी

प्रो० महेन्द्र सिंह चाकी का जन्म बोगरा नामक स्थान पर हुआ था। आपकी शिक्षा कलकत्ता और राजशाही में हुयी। 1936 में विश्वविद्यालय से गणित में प्रथम श्रेणी में एम०ए० किया और डी० फिल० की डिग्री भी इसी विश्वविद्यालय से 1956 में ली। उन्होंने बोगरा कालिज में जुलाई सन् 1939 में अध्यापन आरम्भ किया और 1943 में कलकत्ता में बांगबासी कालेज आये। 1952 में वे रीडर नियुक्त किये गये तथा 1972 में वे सर आसुतोष बर्थ सेन्टेनरी में प्रोफेसर नियुक्त किये गये और 1974 में वे अपने विभाग के अध्यक्ष हो गये।

प्रो० चाकी ने रिमानियन स्पेर्स निर्वात की डिफरेंशियल ज्यामिति पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने मुख्य रूप से डिफरेंरीयल ज्यामिति पर ही शोध-कार्य का निर्देशन किया।

1957 में लन्दन में रॉयल एस्ट्रानामिकल सोसाइटी के फैलो नियुक्त किये गये ! कलकत्ता की गणित सोसाइटी के बुलेटिन के 1963 से 1970 तक सम्पादकी सैक्रेटरी बने रहे और बहुत सी माननीय समितियों के सदस्य बने। प्रो० चाकी ने गणित की शिक्षा के सुधार में तथा भारत की रिसर्च में यथाशक्ति योगदान दिया। प्रो० चाकी गणित की बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें लिखीं जो कि स्नातक कक्षाओं के लिए उपयुक्त हैं।

डॉ० दरोगा सिंह

डा० दरोगा सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के एक गाँव में 1923 में हुआ उन्होंने अपनी प्राइमरी तथा हाई स्कूल की शिक्षा गाजीपुर के रूरल स्कूल में प्राप्त की। बी० ए० तथा एम० ए० की डिग्री प्राप्त करने के लिए आपने 1942 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। 1946 में आपने गणित में एम० ए० की डिग्री प्राप्त की 1947 में कृषि सांख्यकी की ट्रेनिंग लेने के लिए उन्होंने भारतीय कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च में प्रवेश लिया। एम०ए० करने के पश्चात् उन्होंने स्टाफ के सदस्य के रूप में प्रवेश किया। उन्होंने पी० एच० डी० की डिग्री 1962 में दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। डा० सिंह ने I.C.A.R. में 1949 से विभिन्न प्रकार से सेवायें ! एग्रीकल्चरल रिसर्च सांख्यिकी के निदेशक के पद पर आसीन हैं। आप बहुत सी सांख्यिकी की पुस्तकों के लेखक हैं और लगभग 100 शोध-पत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। 1973 में वे अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकीय संस्था, हेग, के सदस्य बने।

प्रो० आर० पी० सिंह

प्रो० आर० पी० सिंह का जन्म 16 जून, सन् 1921 में कोटा (राजस्थान) नामक स्थान पर हुआ। जहाँ पर उनके पिता उत्तर प्रदेश से जाकर बस गये थे उन्होंने अपनी आरम्भिक शिक्षा कोटा के हर्बर्ट कालिज तथा सैन्ट जॉन कालिज आगरा से प्राप्त की तथा उच्च शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की। प्रो० आर० पी० सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के सबसे पुराने अध्यापकों में से एक हैं। उन्होंने यह कार्य भार 1944 से सँभाला और जुलाई 1960 में वे रीडर हो गये। और इस समय वे इसी संस्था में रसायन के प्रोफेसर हैं। अधिक समय के अध्यापन व अकार्बनिक रिसर्च के अनुभव के आधार पर त्रिभुवन विश्वविद्यालय काठमाण्डु में 1964 में

साइंस विभाग को संघटित करने के लिये आमन्त्रित किये गये। आपके 170 शोध पत्र छप चुके हैं। आपका कार्यक्षेत्र विलयन रसायन तथा जटिलों की संरचना से सम्बन्धित है।

प्रोफेसर फखरुद्दीन अहमद

प्रोफेसर फखरुद्दीन अहमद ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ तथा तस्मानिया विश्वविद्यालय, आस्ट्रेलिया, से शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने भारत के भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में 1941 से 1969 तक सेवा की और वहीं निर्देशक भी बने। 1964 में आप अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के भू-विज्ञान विभाग के प्रवक्ता तथा अध्यक्ष चुने गये। भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के एक आफीसर के रूप में प्रो० अहमद ने सिगरौली कोयला क्षेत्र में सर्वेक्षण किया। भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के जल विभाग में भी कई वर्षों तक आपने कार्य किया। प्रोफेसर अहमद एक पुस्तक तथा 60 शोध पत्रों के लेखक हैं। आप महाद्वीपीय विस्थापन के सैद्धान्तिक प्रतिपादन के लिये विख्यात हैं। आप को गौन्डवानालैण्ड स्वर्णपदक प्रदान किया गया। आप नेशनल एकेडमी आफ साइंस के फैलो भी हैं।

प्रो० के० एस० ठिंड

प्रो० के० एस० ठिंड का जन्म 1917 में सेदपुर पंजाब में हुआ था। आपने 1940 में प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान में आनर्स की डिग्री प्राप्त की। 1945 से 1948 तक भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर अमरीका गये। 1948 में पादप रोग-विज्ञान में विस्कान्सिन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त किया। 1967 में वे चण्डीगढ़ में पंजाब विश्वविद्यालय में कवक विज्ञान तथा पादप रोग-विज्ञान के प्रवक्ता हुये। अनेकों छात्र जिन्होंने आपके आधीन रह कर तथा आपकी देख रेख में पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की मुख्य स्थानों पर फंजाई के अध्ययन में व्यस्त हैं। और स्पेशल विरल तत्व के साथ रोग मूलक फंजाई की आहार पुष्टि में संग्लग्न है। आपने 130 से भी अधिक शोध-पत्र प्रकाशित किया है 1958 में वे भारत की नेशनल एकेडमी ऑफ साइंसेस के फैलो चुने गये।

प्रो० यू० एस० श्रीवास्तव

प्रो० उमा शंकर श्रीवास्तव का जन्म 1924 में हुआ। आपकी आरम्भिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा सभी इलाहाबाद में हुयी। 1943 में एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् आपने जीव विज्ञान विभाग में प्रो० डी० आर० भट्टाचार्या के अधिनियन्त्रण में इलाहाबाद में शोध आरम्भ किया तथा 1947 में डी. फिल. की डिग्री प्राप्त की। इसी वर्ष आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर नियुक्त हो गये। 1963 में आपने बिहार विश्वविद्यालय में जोव-विज्ञान विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के पद को ग्रहण किया जहाँ वे डीन भी बने। इम्पीरियल कालिज ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलाजी, लंदन के जीव-विज्ञान तथा कीट-विज्ञान विभाग में कॉमनवेल्थ शोधकर्त्ता के रूप में कार्य किया। आप नार्थ वेस्टर्न यूनीवर्सिटी इवांस्टन के जीव-वैज्ञानिक विभाग में विजिटिंग प्रोफेसर बन कर गये थे। आपने यूरोप, अमेरिका तथा जापान की प्रयोगशालाओं का निरीक्षण किया तथा वहाँ व्याख्यान दिये। आप एक प्रभावशाली अध्यापक हैं। शोधकार्य में आपकी मुख्य रुचि आकारिकी के विकास के क्षेत्र में क्रिया विज्ञान और कीटों के अन्तःस्रावी विज्ञान में है जिसमें कि उन्होंने 60 शोधपत्र प्रकाशित किया है। आप बहुत-सी पुस्तकों के लेखक भी हैं। भारत की राष्ट्रीय-विज्ञान समिति के जीव-वैज्ञानिक विभाग के सभापति रह चुके हैं तथा एन्टोमोलोजीकल सोसाइटी के उप सभापति रह चुके हैं। आप राष्ट्रीय विज्ञान समिति भारत, के महामंत्री तथा विज्ञान परिषद्

के भवन मंत्री तथा भारतीय जीव वैज्ञानिक सोसाइटी के महामंत्री भी हैं।

डा० अजीत० के० डांडा

डा० अजीत के डांडा का जन्म नवम्बर 1936 में ढाका में हुआ था जो कि अब बंगला देश में है। और ढाका में ही आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुयी। आपकी कालिज की शिक्षा कलकत्ता में हुयी आपने एम० एस-सी० की डिग्री मानव-विज्ञान में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की। वे 1962 में नई दिल्ली में डा० डान्डा ने रजिस्ट्रार जनरल का कार्य-भार सँभाला। आपने पी एच० डी० की डिग्री मानव-विज्ञान में कॉर्नेल विश्व-विद्यालय से 1966 में प्राप्त की।

1968 में डा० डांडा ने नैनीताल में कृषि-विश्वविद्यालय में सीनियर शोध अधिकारी तथा एसोशिएटर के कार्यभार को संभाला! डा० डांडा के 56 शोधपत्र तथा तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं।

श्रीमती डा० सुशीला स्वरूप मित्रा

डा० सुशीला स्वरूप मित्रा का जन्म 7 नवम्बर, 1925 में मुलतान (जो कि इस समय पाकिस्तान में है) में हुआ था। आपकी शिक्षा दिल्ली में हुयी और 1948 में आपने एम० बी० बी० एस० की डिग्री पंजाब विश्वविद्यालय से महिला हार्डिंग मेडिकल कालिज से प्राप्त की थी। प्रारम्भिक प्रशिक्षण के पश्चात 1949 में आपने इन्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च में अपना शोध-कार्य आरम्भ किया। 1961 में आपने पी एच० डी० की डिग्री कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की।

आपको वाशिंगटन विश्वविद्यालय से छात्र-वृत्ति मिली। 1946 में आप शकुन्तला अमीर चन्द पुरस्कार शोध के लिये पुरस्कृत हुईं। आपके लगभग 100 शोधपत्र प्रकाशित हुये हैं। डा० स्वरूप मित्रा विभिन्न राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समितियों की सदस्या हैं और कई अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में आपने भाग लिया है। आप एशियन रुधिर विज्ञान समिति की 1965 से 1969 तक परामर्शदात्री थीं तथा भारतीय रुधिर विज्ञान समिति की 1971 में अध्यक्ष रहीं। ICMR के रुधिर विज्ञान के दक्ष ग्रुप की सेवा 1967 से 1969 तक और 1972 से 1973 तक की। 1974 में भारतीय विज्ञान एकेडमी की विजिटिंग साइंटिस्ट चुनी गईं।

डा० एस० वाई० पद्मनाभन

डा० एस० वाई० पद्मनाभन केन्द्रीय चावल शोध संस्थान के संचालक हैं। इन्हें रफी अहमद किदवई पुरस्कार से 1968-69 तथा 1970-71 में पुरस्कृत किया गया। वे क्रिया विधि के कलात्मक प्रभाव को और विभिन्न प्रकार के चावलों के वर्गीकरण के आधार पर चावल के कृमि रोग के विस्फोट के साथ गृहणशीलता को सर्वप्रथम समझने वाले हैं।

डा० श्रीपति बोस :—डा० श्रीपति बोस का जन्म 20 अप्रैल 1920 को हुआ था। डा० बोस का परिवार ढाका में मलखानगर में रहता था जो कि अब बंगला देश में है। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा तथा कालिज शिक्षा ढाका में हुयी थी। ढाका विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० करने के पश्चात् वे कलकत्ता आये। वहाँ 1944 में विश्व विद्यालय के विज्ञान तथा तकनीकी कालिज से एम० एस सी० की उपाधि प्राप्त की। इस समय आप डे मैडिकल स्टोर्स प्राइवेट लिमिटेड की प्रयोग शाला में कार्यरत हैं।

डा० डी०-सी० तापादर :—डा० डी० सी० तापादर का जन्म 1 अप्रैल 1914 को बरिसाल में हुआ था जो कि इस समय बंगला देश में है। आपने 1933 में इण्टरमीडियेट 1935 में बी एस सी तथा 1937 में एम० एस-सी० पास किया और प्रत्येक परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त किया। विश्वविद्या-

[शेष पृष्ठ 11 पर

मानव शरीर पर ऐल्कोहल का प्रभाव

देवेन्द्र चन्द्र

ऐल्कोहल अर्थात मद्यसार का उपयोग बाजार में बिकने वाले 800 से अधिक उत्पादों में होता है। यह एक महत्वपूर्ण ईंधन है। यूरोपीय देशों में विभिन्न प्रकार के ऐल्कोहल मिश्रणों का प्रयोग मोटरगाड़ियों के रेडियेटरों में पानी को जमने से रोकने के लिये किया जाता है। डाक्टर और औषधि विक्रेता इसके रोगाणुनाशक गुणों के कारण इसका प्रयोग एंटीसैप्टिक के रूप में करते हैं।

ऐल्कोहल का सबसे बुरा उपयोग मादक पेय के रूप में होता है। इसके वशीभूत होकर मानव हर प्रकार के अपराध करते हैं। पति-पत्नी संबंध विच्छेद, पारिवारिक कलह, उपेक्षित संतानें, बेरोजागारी और निर्धनता मद्यपान के सहज परिणाम हैं।

विभिन्न प्रकार के मादक पेयों में जो ऐल्कोहल होता है वह ईथेनॉल या एथिल ऐल्कोहल $C_2 H_5 OH$ होता है। यह विभिन्न प्रकार की शर्कराओं पर यीस्ट नामक कवक (एक कोशीय पादप) की क्रिया से उत्पन्न होता है। इसके निर्माण में मक्का, जौ, गेहूँ आदि अन्नों का उपयोग होता है। इसे शकरकंदी तथा आलू से भी बनाया जा सकता है।

लकड़ी से बनाया गया ऐल्कोहल, मेथेनॉल या मेथिल ऐल्कोहल CH_3OH कहलाता है। यह बहुत विषैला होता है इसके पीने से पागल हो जाना सामान्य है। इसकी वाष्प भी हानिकर होती है।

डिनेचर्ड ऐल्कोहल एथिल ऐल्कोहल ही होता जिसमें अन्य पदार्थ इसे विषैला बनाने के लिये मिला दिये जाते हैं। मदिरा फलों के रस पर यीस्ट की क्रिया कराके बनाई जाती है। इसमें ऐल्कोहल की मात्रा 10 से 20 प्रतिशत होती है। बीअर में ऐल्कोहल की मात्रा सबसे कम होती है। इसे पिसे अन्न से तैयार किया जाता है। विह्स्की, ब्रांडी, जिन और रम आदि में ऐल्कोहल की मात्रा काफी अधिक (40 से 55 प्रतिशत) होती है।

मानव शरीर में ऐल्कोहल

पिये जाने के दो मिनट के भीतर ही ऐल्कोहल आहारनाल से रक्त में प्रविष्ट होना आरम्भ कर देता है। वास्तव में यह पचता नहीं है, रक्त इसे बिना किसी परिवर्तन के अवशोषित करता है! रुधिर में इसके अवशोषण की दर बहुत अधिक है पर यदि इसे भोजन के साथ पिया जाय तो इसके अवशोषण की दर कम रहती है। इसीलिये यदि कोई व्यक्ति खाली पेट मदिरा पान करता है तो उसे नशा जल्दी चढ़ता है।

रक्त इस अवशोषित ऐल्कोहल को मस्तिष्क, यकृत, पेशियों तथा शरीर के अन्य ऊतकों में पहुँचा देता है। शरीर के ऊतकों में ऐल्कोहल का जारण या आक्सीकरण होता है।

शरीर लगभग 98% ऐल्कोहल का ऑक्सीकरण कर देता है। इससे ऊष्मा की उत्पत्ति होती है लेकिन शरीर को इस ऊष्मा की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी ऐल्कोहल का जारण होता रहता है। उत्पन्न ऊष्मा को रक्त त्वचा में ले जाता है। अतिरिक्त रक्त के कारण त्वचा लाल हो जाती है तथा शरीर गर्म हो जाता है।

जो ऐल्कोहल आक्सीकरण से बच रहता है,

वह कुछ तो वाष्प रूप में फेफड़ों में पहुँच जाता है मद्यपान करने वालों की श्वांस में इसी की गंध आती है। कुछ ऐल्कोहल त्वचा में पहुँच जाता है तथा स्वेद ग्रंथियों के पसीने में मिल जाता है। शेष ऐल्कोहल वृक्कों में पहुँच कर मूत्र में परिवर्तित हो जाता है।

ऐल्कोहलजन्य रोग

ऐल्कोहल आमाशय के अस्तर में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे आमाशय की सामान्य क्रियाएं अस्त व्यस्त हो जाती हैं जिससे मद्यपायी को क्षुधा नहीं लगती। परंतु देखा यह गया है कि मदिरापान के पश्चात् ज़ोरों की भूख लगती है। इसका कारण ऐल्कोहल में विटामिन तथा खनिज तत्वों का अभाव होता है तथा शरीर के अंगों की सामान्य गति-विधि के लिये ये आवश्यक हैं। लम्बे काल तक मद्यपान करने पर यकृत की भयंकर व्याधि सिरोसिस हो सकती है। इसमें यकृत का आकार बदल जाता है, वह छोटा तथा कठोर हो जाता है।

शराबियों के यकृत में वसाएँ जमा हो जाती हैं। ऐल्कोहल से आमाशय की श्लेष्मा में क्षोभ होता है तथा अल्सर हो जाने की भी सम्भावना होती है। विटामिनों का अभाव हो जाने के कारण तंत्रिका रोग हो सकते है। साथ ही इससे समुचित पोष्य पदार्थ न मिल पाने पर अन्य गम्भीर स्वास्थ्य संकट भी खड़े हो सकते हैं।

शरीर में विटामिनों की अल्पता—

मद्यपानी के शरीर में विटामिन बी-काम्पलेक्स की कमी हो जाती है जिससे लकवा, तंत्रिका शोथ (न्यूरोइटीस) तथा जलशोथ (ड्रॉप्सी) के लक्षण प्रकट होते है। त्वचा पर लाल लाल धब्बे (पैलाग्रा रोग) हो जाते है। मानसिक तनाव हो जाता है। ऐल्कोहल एक अवसादक है अतः यह शारीरिक गतिशीलता को धीमा करता है तथा तंत्रिकाओं को संवेदना हीन बना देता।

आचरण पर दुष्प्रभाव—

ऐल्कोहल पान से मानव पर से मस्तिष्क का नियंत्रण समाप्त हो जाता है जिससे वे ऐसे काम कर गुजरते है जिनका बाद में नशा उतरने पर पछतावा ही शेष रहता है।

इसके बाद पेशियों पर से नियंत्रण हट जाता है। आवाज लड़खड़ा जाती है संतुलन बिगड़ जाता है। ज्ञानेंद्रियों की दक्षता कम हो जाती है। धुंधली दृष्टि हो जाती है। रंग-पहचान नहीं हो पाती। सुनाई नहीं देता या अस्पष्ट सुनाई देता है। अंत में मस्तिष्क निद्रा की अवस्था में पहुँच जाता है, उसके श्वसन की दर धीमी पड़ जाती है, शरीर का तापमान गिर जाता है तथा उसका जीवन संकट में पड़ जाता है।

रक्त में ऐल्कोहल—

एक औसत आदमी के रक्त में विभिन्न मात्राओं में ऐल्कोहल पहुँचने पर निम्न प्रभाव होते हैं—

0.1 प्रतिशत—श्वांस में गंध
0.2 प्रतिशत—बेढब गति विधि
0.3 प्रतिशत—लड़खड़ाती चाल
0.4 प्रतिशत—असहाय अवस्था
0.5 प्रतिशत—जीवन संकट में

शरीर में ऐल्कोहल की मात्रा श्वांस में गंध से, मूत्र से, रक्त की जांच से व स्त्रियों में स्तनों से स्रवित दूध से ज्ञात की जा सकती है। श्वांस-परीक्षा की विशेषता यह है कि यह कम समय में सरलता से हो जाती है।

देवेन्द्र चन्द्र
माता मंदिर मार्ग,
काशीपुर उ. प्र.

वायुमण्डल विद्युत

डा० भारतेन्दु

वायुमण्डल में विद्युत है यह आम तौर से सब को ज्ञात नहीं है। तड़ित वायुमण्डल विद्युत का ज्वलन्त उदाहरण है। स्वच्छ मौसम में भी विद्युत वायुमण्डल में सर्वदा विद्यमान है। तब यह प्रश्न होता है कि इस बिजली का झटका क्यों नहीं लगता ? प्रस्तुत लेख में इस शंका का समाधान तथा अन्य जानकारी का ब्यौरा विवेचित किया जा रहा है।

सन् 1752 वायुमण्डल विद्युत के इतिहास का प्रथम चरण है। इस वर्ष जब एक ओर संयुक्त राष्ट्र अमरीका में बैन्जमिन फ्रैन्कलिन ने और फ्रान्स में डालीबर्ट ने मेघों में पतंग उड़ाकर यह सिद्ध किया कि तड़ित विद्युत चिनगारी है, तो दूसरी ओर फ्रान्स में लैमुनिये ने यह खोज की कि स्वच्छ मौसम में भी वायु में विद्युत वर्तमान है। लैमुनिये की खोज के लगभग बीस साल बाद इटली में बैकारिया ने प्रयोगात्मक प्रेक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि स्वच्छ मौसम में वायु में धनावेश और विक्षुब्ध मौसम में वायु में ऋणावेश रहता है। अंग्रेजी महान भौतिकविद् थौमसन, जो बाद में लौर्ड कैल्विन कहलाये थे, ने भी वायुमण्डल विद्युत पर शोध कार्य किया और सर्व प्रथम 'विद्युत विभव' तथा 'विद्युत क्षेत्र' के वैज्ञानिक प्रत्यय प्रयोग करने का श्रेय इनको ही है।

यद्यपि प्रसिद्ध विज्ञानविद् कूलॉम ने 1785 में ही यह सिद्ध कर दिया था कि वायु में क्षीण संवाहकता है, तथापि इस खोज का महत्व अज्ञात ही रहा। लिन्स की सन् 1887 की खोज और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ऐलस्टर और गैइटल के आयन और रेडियोधर्मिता पर प्रकाशित शोध पत्रों के पश्चात ही इसका महत्व समझा गया। जब तक वायु पृथक्कारी मानी गई यह कहा गया कि वायुमण्डल का विद्युत क्षेत्र ऋणावेशित पृथ्वी गोलक के कारण है। परन्तु जैसे ही वायु संवाहक सिद्ध हुई यह तर्क हुआ कि ऊर्ध्वाकार संवहन धारा बहनी चाहिए, पृथ्वी तथा वायुमण्डल के विभव की भिन्नता समाप्त होनी चाहिए और विद्युत क्षेत्र भंग होना चाहिए। परिकलनों के आधार पर वायुमण्डल का विद्युत क्षेत्र लगभग दस बीस मिनट में भंग हो जाना चाहिए। प्रेक्षणों से यह ज्ञात है कि वायुमण्डल में विद्युत क्षेत्र सदा विद्यमान है अतएव यह निश्चय है कि कहीं न कहीं से इसकी क्षति पूर्ति अवश्य होती है। वैसे इस शंका का पूर्ण समाधान अभी नहीं हुआ है, पर तड़ित झंझे ही इस क्षतिपूर्ति करने में समर्थ समझे जाते हैं। यह संस्थापक सिद्धान्त कहलाता है।

संस्थापक सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी और आयनमण्डल एक गोलाकार धारित्र के क्रमश: भीतरी और बाहरी संवाहक हैं तथा मध्य का वायुमण्डल 'विद्युदपार्य' है। गोलक पृथ्वी पर कहीं न कहीं तड़ित झंझे सदा होते ही रहते हैं। ब्रुक के अनुसार किसी भी समय पृथ्वी पर लगभग 1800 तड़ित झंझे होते रहते हैं और प्रति सैकंड लगभग 100 विद्युच्छटाएँ होती रहती हैं। यह विद्युच्छटाएँ पृथ्वी पर ऋणावेश लाती हैं और इस तरह पृथ्वी पर स्वच्छ मौसम के स्थानों पर की संवहन धारा की क्षति पूर्ति होती रहती है।

जैसे सामान्यतः किसी भी पिंडीय विद्युत परिपथ को समझने से लिए विद्युत वोल्टता, धारा और प्रतिरोध जानना आवश्यक है, उसी तरह वायुमण्डल, वितरित विद्युत परिपथ में विद्युत विभव प्रवणता, वायु-भूमि धारा घनत्व और संवाहकता नापी जाती है। विभव प्रवणता नापने का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। एक धातु के नग्न तार को दो पृथक्कारी, एक मीटर लम्बे, खम्भों पर बाँध कर खम्भे भूमि पर खड़े कर दीजिए। पृथक्कारी सूखी लकड़ी ही के बना सकते हैं। तार का विभव विद्युतमापी (जैसे क्वाडरैण्ड विद्युतमापी) से नापा जाता है। इस प्रयोग में विद्युतमापी में लगभग एक स्वच्छ दिन के बाद ही प्रेक्षण मिलेंगे। शीघ्रता के लिए तार के मध्य एक α किरण उत्सर्जक रेडियोधर्मी पदार्थ, जैसे पौलोनियम 210, के 5—10 माइक्रो क्युरीज छिड़कना आवश्यक है।

निम्न प्रतिरूपी मान हैं जो समतल खुले मैदानों में भूमि से एक मीटर ऊपर मिलते हैं।
विद्युत विभव प्रवणता 130 वोल्ट मीटर$^{-1}$
वायु-भूमि धारा घनत्व $2 \cdot 4 \times 10^{-12}$ ऐम्प० मीटर$^{-2}$
संवाहकता $1 \cdot 8 \times 10^{-14}$ ओम$^{-1}$ मीटर$^{-1}$

उपर्युक्त मानों से यह स्पष्ट है कि वायुमण्डल में विद्युत धारा बहुत क्षीण है। इसीलिए हमें विद्युत आघात नहीं होता है। मेघ आच्छादित और बरसाती मौसमों में विभव प्रवणता ऋणात्मक हो जाती है। तड़ित झंझों में विभव प्रवणता एक लाख से दस लाख वोल्ट मीटर$^{-1}$ मीटर तक हो जाती है। जैसे-जैसे हम भूमि के ऊपर आयन मण्डल की ओर बढ़ते हैं विभव प्रवणता घटती जाती है और संवाहकता बढ़ती जाती है।

वायु की संवाहकता आयनों के कारण है। वायु में धनायन और ऋणायन दोनों ही होते हैं। यह आयन वायु में विद्यमान रेडियोधर्मी पदार्थ, भूमि से निकलने वाली रेडियोधर्मी जैसे (उदाहरणार्थ रेडान, थोरान आदि), और अंतरिक्ष-से उत्पन्न होते हैं। आयन वर्णक्रम अध्ययन करने से मुख्यतः दो माप के आयन बहु मात्रा में पाये जाते हैं। इनको लघु और दीर्घ आयन कहते हैं। निम्न समीकरण से लघु धनायन के उत्पादन और विनाश का आभास हो जाता है।

यदि n_1 = लघु धनायन नम्बर घनत्व
n_2 = लघु ऋणायन नम्बर घनत्व
N_2 = दीर्घ ऋणायन नम्बर घनत्व
N_0 = उदासीन कण नम्बर घनत्व
q = उत्पादन गुणक
α = लघु आयनों का पुनर्मिलन गुणक
μ_{12} = लघु धनायन और दीर्घ ऋणायन संलग्न गुणक
और μ_{10} = लघु धनायन और उदासीन कण संलग्न गुणक

तो

$$\frac{dn_1}{dt} = q - \alpha\, n_1\, n_2 - \mu_{12}\, n_1\, N_2 - \mu_{10}\, n_1\, N_0$$

इसी तरह सुगमता से लघु ऋणायन का भी समीकरण लिखा जा सकता है। लघु आयनों का रासायनिक संघटन अभी पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं है परन्तु आधुनिक शोध कार्यों द्वारा लघु धनायन का सूत्र $H_3O.\ (H_2O)m^+$ और लघु ऋणायन का $O^-_2\ (H_2O)m$ या $CO^-_4\ (H_2O)n$ है। सामान्य स्थिति में m का मान 3 या 4 होता है। दीर्घ आयन का संघटन वायु के ऊपर निर्भर है। दीर्घ आयन और लघु आयन में एक बड़ा अन्तर है। दीर्घ आयन अपना आवेश खो देने पर उदासीन कण हो जाते हैं परन्तु लघु आयन अपना आवेश खोने के साथ-साथ अपना अस्तित्व भी खो देते हैं।

लघु आयन खुली ग्रामीण हवा में मलिन शहरी हवा की अपेक्षा अधिक होते हैं। दीर्घ आयन का बर्त्ताव लघु आयन के बर्त्ताव के विपरीत होता है। ग्रामीण हवा में लघु आयनों का नम्बर घनत्व

प्रतिरूपी तौर से 1500—2000 आयन प्रति घन सेण्टीमीटर और शहरी हवा में 400—500 आयन घन सेण्टोमोटर होता है।

कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि वायु में लघु आयनों का सामान्य संतुलन बिगड़ने से पेड़, पौधों पशु, पक्षी, और मनुष्यों के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। विज्ञान की इस शाखा को जीव-मौसम शास्त्र कहते हैं।

इस लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि वायु-मण्डल विद्युत विज्ञान का महत्वशील अंग है। विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी को इसकी रूपरेखा से भिज्ञ होना चाहिए।

डॉ० भारतेन्दु
२२, होबर्ट ड्राइव साउथ
विलोडेल
ओण्टेरियो, कनाडा M2J3J5

●●

[पृष्ठ 6 का शेषांश]

लय और मोती लाल मलिक स्वर्णपदक से आप पुरस्कृत हुये! आपने 1951 में कलकत्ता विश्व विद्यालय से डी० फिल० किया।

मार्च 1933 में डा० तापादर ने भारतीय पेपर पल्प कम्पनी में शोध रसायनज्ञ के रूप में कार्य भार सम्हाला। जहाँ वे टेक्निकल मैनेजर के पद तक पहुँचे। आप जनवरी 1968 में पेपर टैक्नोलाजी संस्थान सहारनपुर में प्रथम प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुये। इसी संस्था से 1974 में अवकाश प्राप्त किया 1974 में आपने तेलगू पेपर मिल कम्पनी में शोध कार्य के प्रधान के रूप में कार्य भार सम्हाला। डा० तापादर ने लगभग 50 टैक्निकल तथा वैज्ञानिक शोध पत्र प्रकाशित किये हैं।

कु० अरुणा
573, ममफोर्डगंज
इलाहाबाद

●●

धातुओं तथा धातु मिश्रणों से वस्तुओं की निर्माण क्रिया

पुरुषोत्तम दास स्वामी

धातुओं तथा धातु-मिश्रणों के व्यवहार में उपयोग के लिये उन्हें निश्चित आकार तथा रूप में तैयार करना आवश्यक है। निम्न तापमान पर सारी धातुएँ लचकदार या प्रत्यास्थ होती हैं। वे ऊँचे तापमानों पर लोचदार हो जाती हैं और उनसे भी अधिक ऊँचे तापमानों पर पिघल जाती हैं। धातुओं से वस्तुओं का निर्माण इन तीनों अवस्थाओं में किया जाता है। पिघली हुई धातु को संचों में ढालकर संचकित पदार्थ तैयार किये जाते हैं। तप्त या शीत क्रिया द्वारा लोहे, इस्पात या अन्य धातुओं की सिलों से भी चीजें बनाई जाती हैं। सरल रूप से अभीष्ट आकृति की वस्तुएँ बाटकर, यंत्रण, संधान, रिविट से जोड़कर या झाल लगा कर या फिर धातु के चूरे को संपीड़न एवं ताप द्वारा संपुंजित करके बना ली जाती हैं। इन प्रक्रियाओं के प्रयोग का विभिन्न अवस्थाओं में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

1—धातु की लचकदार या प्रत्यास्थ अवस्था में—

प्रत्यास्थ सीमा से आगे शीत क्रिया
क्रमिक छोटे-छोटे भागों को काट कर, चीर कर या घिस कर हटाना यंत्रण क्रिया

2—धातु की पिघली हुई अर्थात् द्रव अवस्था में—

भ्रमणशील संचों में ढलाई

3—धातु की लोचदार अवस्था में—

तप्त धातु का वेल्लन या कुट्टन
तप्त धातु का उत्सारण
दाब युक्त संधान

4—संयुक्त प्रक्रिया में—

ज्वाला द्वारा कर्तन
संधान, पित्तलन तथा संघातापन या झाल लगाना
चूरे को गर्म करके संपीड़न द्वारा सघन बनाना
संपुंजन
रिपिट लगा कर जोड़ना
सतह को उस पर पिघली हुई धातु गिरा कर मोटा करना

ढलाई क्रिया—किसी बर्तन में पिघली हुई धातु को गिरा कर तथा उसे जमने देकर ढलाई की जाती है। ढलाई का काम पिघली हुई धातु या मिश्र-धातु को बालू के बने संचों में डाल कर या उसे दाब के साथ डाई में से निकाल कर किया जाता है। लोहे तथा इस्पात की ढलाई रेत के बने संचों में की जाती है क्योंकि धातु का ऐसा संचा मिलना कठिन है जो ऊँचे तापमान को सह सके। अन्य धातुओं की ढलाई में भी रेत के संचे प्रयुक्त होते हैं पर अधिकतः धातु के बने स्थायी संचों का प्रयोग इस प्रकार के ढलाई के कारखानों में होता है।

भूरे लोहे की ढलाई के लिये क्यूपोला भट्टी में अपिधम लौह अर्थात् ढलाई के लोहे तथा क्षेप्य लौह को पिघलाकर धातु तैयार की जाती है। यह भट्टी उदग्र बेलनाकार इस्पात की बनी होती है तथा इसमें अग्निरोधक मिट्टी की बनी

ईंटों का अस्तर लगा होता है। इसके ऊपर की तरफ इसमें एक दरवाजा होता है जिसमें से होकर प्रभार इस भट्टी में डाला जा सके। प्रभार में चूने का पत्थर, अपिधम लौह एवं कोक तथा क्षेप्य लोहे की एकान्तर परतें होती हैं। पेंदे के निकट बने वायु क्षिपों से हवा भट्टी में प्रवाहित की जाती है। इसे पहले से गर्म नहीं किया जाता। वायुक्षिपों के नीचे स्लैग तथा पिघली हुई धातु को निकालने के लिये छेद तथा प्रणाल या टोंटी होती है। घातवर्ध्य लोहे तथा लोहे की मिश्र धातुओं की ढलाई के लिये वायु-भट्टी का प्रयोग किया जाता है। यह प्रतिक्षेपी भट्टी जैसी होती है। इसमें धातु के संघटन में सुधार किया जा सकता है जो क्यूपोला में संभव नहीं है। इसे जलाने के लिये कोयला, कोयले का चूरा या तैल काम में लिया जाता है।

इस्पात की ढलाई के लिये उसे बेसिमर परिवर्तित, विवृतचुल्लि भट्टियों या विद्युत् चाप या उपपादन भट्टियों में पिघलाया जाता है। अलौह धातुओं की ढलाई के लिये पिघलाते समय उनके संघटन को बदलने का प्रयास नहीं किया जाता। इसके लिये प्रतिक्षेपी भट्टी या मूषा भट्टी या विद्युत् भट्टी का प्रयोग किया जाता है। पिघलाने के लिये ग्रेफाइट मूषा का प्रयोग अधिकतर किया जाता है पर निम्न तापमान पर पिघलने वाली धातुओं तथा धातु मिश्रणों के लिये लोहे के घट भी संतोषजनक होते हैं।

बालू की ढलाई के काम में पहली बात फर्मा (पैटर्न) का बनाना है। फर्मा अभीष्ट वस्तु का लकड़ी या धातु का बना प्रतिरूप होता है। इसके आकार कुछ बड़े रखे जाते हैं जिससे स्वाभाविक संकोचन के बाद ठंडे होने पर धातु की अभीष्ट आकार वाली वस्तु बन जाती है। मामूली भूरे लोहे में संकोचन के लिये प्रतिफुट 1/5″ स्थान रखा जाता है। इस्पात तथा सफ़ेद लोहे के लिये इसे प्रतिफुट $\frac{1}{4}$″ तांबे तथा पीतल के लिये प्रतिफुट 3/16″ तथा सीसे व जस्ते के लिये प्रतिफुट 5/16″ रखना पड़ता है। छोटी वस्तुओं के लिये एक या अनेक द्वार युक्त फर्मा बनाया जाता है, दो या फर्मे बना लिये जाते हैं या फिर संबंधित नालियों वाले फर्मे का प्रयोग किया जाता है। फ़र्मा अधिकतः दो भागों में बँटा होता है। संचे के ऊपर के भाग को कार्य शीर्ष या कोप तथा नीचे वाले भाग को ड्रैग या घसीट कहा जाता है। पैटर्न में लकड़ी या धातु का आयताकार फ्रेम रखा जाता है। इसे पलिध या फ्लास्क कहते हैं। पैटर्न तथा पलिघ के बीच की जगह को पानी से भीगी बालू से भर दिया जाता है। इसके बाद पैटर्न को हटा लिया जाता है। यदि कुछ शेष बालू रही तो उसे हटा दिया जाता है। पैटर्न को हटाने से बिगड़े बालू-संचे की मरम्मत कर दी जाती है। खोखले संचकित पदार्थ संचे में केंद्र-भाग या कोर को रखकर ढाले जाते हैं। अब संचों में पिघली हुई धातु डाली जा सकती है पर यदि सूखे संचे में ढलाई करनी हो तो संचे को 300-400फ़ेर नराहट तापमान पर सुखाया जाता है। पकाने के बाद संचे की सतह पर ग्रेफ़ाइट या काष्ठांगार व मिट्टी के गीले मिश्रण को लगाया जाता है। सूखे संचों से बने पदार्थ चिकने तथा मजबूत होते हैं। लोम मिट्टी के बने संचों में लोहे के बड़े पदार्थों की ढलाई की जाती है। गतिपाल पहिये अर्थात् फ्लाई व्हील सामान्यतः इसी प्रकार के संचों में ढाले जाते हैं। इस प्रकार के संचों का बाहरी आवरण ईंटों का या ईंटों के आसारयुक्त लोहे का बना होता है। इस आवरण में नम लोम मिट्टी के मिश्रण का पलास्तर कर दिया जाता है। इस पर अभीष्ट वस्तु की आकृति का सतह तैयार कर लिया जाता है और इसके बाद इसमें द्रव धातु भर दी जाती है।

संचे के काम में आने वाली रेत का अग्निरोधक तथा मजबूत होना आवश्यक है, इसके साथ ही इस मिट्टी का रंध्रमय होना भी जरूरी

है जिससे वायु, जल वाष्प तथा गैसों की निष्कासन हो सके। सेचकन के लिये मिट्टी, सिकता व चिकनी मिट्टी का मिश्रण प्रयुक्त होता है पर इसमें कुछ मैगनेसिया, चूना, टाइटैनिया, लोहे के ऑक्साइड व अल्कली धातुओं से ऑक्साइड भी होते हैं। चिकनी मिट्टी सिकता कणों को जोड़ने का तथा उसे मजबूत बनाने का काम करती है। मिट्टी की मात्रा 12·30% तथा सिकता का परिणाम 55-00% होता है। लोग मिट्टी में 40% चिकनी मिट्टी होती है तथा उसमें थोड़ा बहुत सड़ा हुआ जैविक पदार्थ रहता है।

केंद्रस्थ संचे वाली रेत में चिकनी मिट्टी की मात्रा कम होती है। कोप तथा घसीट के बीच में भरी जाने वाली छुड़ाने की रेत में अधिकतः आगरोधक महीन सिकता या जली हुई रेत होती है। इसमें बंधक के रूप में कोई पदार्थ नहीं रहता। यह शीर्षस्थ भाग को घसीट भाग से चिपकने से रोकती है।

अब ढलाई द्वारा एक जैसी बहुत-सी वस्तुएँ बनानी हो तो स्थायी धात्वीय संचों का प्रयोग वांछनीय होता है। स्थायी संचों के लिये सीसे-ऐंटिमनी-टिन, ऐल्यूमीनियम कांसे, ऐल्यूमीनियम-सिलिकन धातु-मिश्रणों तथा मैगनेसियम, ताँबे एवं जस्ते की मिश्र धातुओं का प्रयोग किया जाता है।

अधिकतः स्थायी धात्वीय संचे ढलवें लोहे के दो अर्ध-भागों से मिलकर बने होते हैं। इनकी पृथक-करण सतह आड़ी न होकर सीधी होती है। स्थायी संचों को इस्पात या मिट्टी के बने केंद्रस्थ भाग के प्रयोग से खोला जा सकता है। इन संचों में गैसों के निष्कासन से लिये छेद बने होते हैं। इनमें आरोह बने होने चाहिये जिनसे धातु ठोस बनते समय ढलाव के स्थान में पहुँच सके। धातु के बने संचों में उनकी ताप-चालकता के कारण रेत के बने संचों की अपेक्षा अधिक द्रुत गति से धातु ठंडी होकर ठोस रूप धारण करती है।

संचकन या डाई में ढलाई करने की क्रिया में द्रवधातु को दाब के साथ द्वार में से निकाल कर संचकन में डाला जाता है। संचकन के पृथक्कारी सतह से द्वार लंब के रूप में होता है। टिन तथा सीसे के धातु मिश्रणों की ढलाई के लिये संचवपन सरल कार्बन इस्पात का बनाया जाता है। ऐल्यूमीनियम तथा जस्ते के धातुमिश्रणों की ढलाई के लिये क्रोम-वैनेडियम या क्रोम-टंगस्टन-कोबाल्ट इस्पात का प्रयोग किया जाता है। संचकनों को साधारणतः पानी से ठंडा किया जाता है। इनमें पृथक्कारी सतह में छेद होने चाहिये जिससे वायु का निष्कासन हो सके।

केंद्रापसारी संचकन—इस विधि का प्रयोग सरल आकृति वाली वस्तुओं के बनाने तक में सीमित है ऐसी वस्तुओं के रूप में भ्रमणशील संमिति होती है। बड़े आकार के संच लोहे, इस्पात, कांसे, निकल, शतघ्नी धातु (गन मेटल), मोनल धातु, ऐल्यूमीनियम, सीसे आदि की नलियों के तथा नल बनाने में इस विधि का उपयोग किया जाता है।

परिशुद्ध संचकन—इस विधि का उपयोग मूर्तिकार कांसे की मूर्तियाँ बनाने में किया करते थे और आजकल दाँतों की दरार भरने के लिये जड़ाव (inlay) तैयार करने में दंत चिकित्सक करते हैं। जिन धातु-मिश्रणों का द्रवणांक बहुत अधिक ऊँचा होता है, उनके संचकन के लिये यह विधि बड़े काम की है। इस विधि में पहला काम संचों के समूह में मोम का पैटर्न तैयार करना है। इन पैटर्नों को एकत्र करके उन्हें एक पेटी में रखा जाता है। उनके चारों ओर एक मोटा व गीला लेप जिसमें आगरोधक पदार्थ तथा सिलिकेट बंधक का पानी में घोल मिले होते हैं, लगा दिया जाता है। यह सेट होकर जेल बन जाता है, जो सूखने पर रंध्रमय होता है। मामूली गर्म किये जाने पर मोम पिघल कर संचे से बाहर निकल आता है या फिर रंध्रों में शोषित हो जाता है। इसके बाद

संचे को धीरे-धीरे भट्टी में 1900° फेरेनहाइट तक गर्म किया जाता है और द्रव धातु को वायु के दाब के साथ संचे में डाला जाता है। इस प्रकार तैयार की गई वस्तु के लिये यंत्रण क्रिया की जरूरत नहीं होती।

ढलाई के अवगुण—जो धातु या धातु मिश्रण जटिल आकृति के संचों को पूरी तरह भर दे, जिससे बनी वस्तु समांग यांत्रिक गुणों वाली हो, वे बहुत अच्छे ढलाई के काम के पदार्थ माने जाते हैं। यद्यपि पूर्णतः उत्तम संचकित पदार्थ व्यवहार में नहीं बन पाये हैं, फिर भी ढलाई में अपूर्णताओं को न्यूनतम रखा जाय, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। मुख्य अवगुण ये हैं— गोल सिरे, कुप्रवाह एवं शीत संवृत्त—यह अवगुण धातु के बहुत ठंडा हो जाने के कारण संचे में पूर्णतः न भरे जाने के कारण होता है। जिस धातु या धातुमिश्रण में यह कठिनाई नहीं आती उनमें ऊँचे परिमाण में तरलता या प्रवाह का गुण होता है। संचकित पदार्थ में तड़कने का अवगुण बहुधा दृष्टिगत होता है। शीतन के कारण पड़े तड़कन भंगुर धातु मिश्रणों यथा ढलवें लोहे में अधिकतः मिलते हैं, ठोस होने पर ढाली गई वस्तु अवगुण रहित हो सकती है पर उसके ठंडा होने पर तनाव पड़ने से वह तड़क सकती है। दूसरे प्रकार की तड़कन संकोचन के कारण होती है। यह अलौह मिश्रणों की ढलाई में बहुधा मिलती है।

संचकित पदार्थों में कुछ गड्ढे या दरारें भी पड़ जाती हैं। छोटे छोटे बिंदु सरीखे दाने वाले गड्ढे गैसों के धातु में बंद हो जाने के कारण पड़ते हैं। ये गैसें द्रवधातु में घुल जाती हैं पर उसके ठोस होने के समय उससे ये उससे अलग हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे अंतर्मणिभीय गड्ढे भी संचकित पदार्थों में पाये जाते हैं।

एक्स किरण द्वारा परीक्षण करने पर संचकित पदार्थों से आंतरिक अवगुण दृष्टिगत हो सकते हैं। इसके लिये संचकित भागों की मुटाई अधिक नहीं होनी चाहिये। इस्पात के संचकित भागों की यह मुटाई अधिकतम 5·5 इंच है। भारी भागों में अवगुणों का पता रेडियोग्राफी से संबंधित विधियों से चलता है। मैगनाफ्लक्स विधि में सतह को सूक्ष्म लोहे के चूरे का निलंबन चुंबकरण के आगे या पीछे आवृत किया जाता है। इससे इस्पात की सतह के या उसके निकट के पाटनों का पता चल जाता है। जहाँ तड़कन या पाटन होता है, वहाँ चूरा इकट्ठा हो जाता है।

तप्त या शीत क्रिया द्वारा वस्तुओं का निर्माण—धातुओं तथा धातुमिश्रणों से वस्तुएँ अधिकतः ठोस धात्वीय पदार्थ के उत्तरोत्तर सुघट्य अर्थात् प्लैस्टिक विरूपण द्वारा बनाई जाती हैं। इस विधि का आरंभ धातु या धातु-मिश्रण सिल को लेकर होता है और इसमें प्रयुक्त तापमान उसके द्रवण बिंदु से कुछ नीचे के तापमान से लेकर सामान्य कक्ष-तापमान के बीच में होते हैं। लगभग सारी धातुएँ एवं धातु मिश्रण सामान्य तापमान पर लचकीले तथा उच्च तापमान पर सुघट्य या लोचदार होते हैं। ढलवें लोहे की सुघट्यता इतनी कम होती है कि उस पर तप्त क्रिया संभव नहीं पर बहुत से धातुमिश्रण पर्याप्त लोचदार होते हैं, जिससे उन्हें गर्म अवस्था में वेल्लित या कुट्टित किया जा सकता है। विरूपण के लिये आवश्यक बल ऊँचे तापमानों पर ठंडे की अपेक्षा कम लगाना पड़ता है। सुघट्य अवस्था में विकर्षण के फलस्वरूप तनाव पड़ने की आशंका भी नहीं रहती।

बहुत ही शक्तिशाली प्रेस यंत्रों से ठोस धातु को डाई में रख कर एक ही क्रिया में अभीष्ट आकार की वस्तु का निर्माण कर लिया जाता है। सीसे, ऐल्यूमीनियम तथा मैगनीसियम सरीखी नर्म धातुओं तथा कुछ कठोरतर धातु मिश्रणों यथा पीतल का उत्सारण इस्पात की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। बिना टांके की नलियाँ उत्सारण विधि द्वारा ही बनाई जाती हैं।

दाबयुक्त संधान—बहुत-सी धातुओं की निर्मल सतहों को सुघट्य अवस्था में उन्हें परस्पर संपीड़ित करके जोड़ा जाता है। दाबयुक्त संधान विधि का प्रयोग उच्च कार्बन युक्त इस्पात के संधान के लिये किया जाता है। इसके अतिरिक्त स्टेनलेस इस्पात, पीतल तथा अन्य दूसरे धातु-मिश्रणों के संधान के लिये इस विधि को अपनाया जा सकता है।

ज्वाला कर्तन—ऑक्सी-ऐसिटीलीन ज्वाला किसी भी धातु को पिघला देती है, पर प्रत्येक धातु को काटने में इसका उपयोग नहीं किया जाता। इस्पात की मोटी पट्टिका को काटने में ऑक्सीजन ज्वाला का ही उपयोग किया जाता है। तांबे तथा दूसरी धातुओं को जिनके ऑक्साइड का निर्माण-ताप कम होता है, ऑक्सी-ऐसिटीलीन ज्वाला से सफलतापूर्वक नहीं काटा जा सकता क्योंकि ऑक्साइड के बनने पर एक तो अधिक ताप उत्पन्न नहीं होता और दूसरे तांबे का ठंडा भाग तुरंत ताप को ज्वाला वाले स्थान से अन्यत्र ले जाता है। डकैती-प्रूफ तिजोरियों में तांबे की एक मोटी पट्टी लगायी जाती है। ऐल्यूमीनियम तथा मैगनीसियम को भी इस प्रकार की ज्वाला से नहीं काटा जाता क्योंकि उनके ऑक्साइडों का निर्माण-ताप इतना अधिक होता है कि धातु के तापमान को ठीक से नियंत्रित नहीं किया जा सकता। किसी भी धातु को विद्युत चाप से काटा जा सकता है। इस्पात विद्युत-चाप की अपेक्षा ऑक्सीजन-ज्वाला से अधिक अच्छी तरह काटा जा सकता है।

द्राव संधान (फ्यूजन वेल्डिंग)—इस विधि में धातु की सतहों को संपर्क के स्थान पर धातु को गलाकर जोड़ा जाता है या फिर दो सतहों के बीच में संधान छड़ से, जो गलनीय धातु की बनी होती है, गली हुई धातु को मिलाकर जोड़ने की क्रिया संपन्न की जाती है। आवश्यक ताप गैस, चाप या थर्मिट-विधि से प्राप्त किया जाता है। जब धातु के बड़े टुकड़ों को संधानित करके जोड़ा जाता है तो पास की ठंडी धातु के कारण द्रुत प्रशीतन से संधान के निकट का स्थान कठोर तथा भंगुर हो जाता है। इससे बचने के लिये इस विधि का उपयोग उसी इस्पात के टुकड़ों को जोड़ने में किया जाता है, जिसमें 0·35% से कम कार्बन रहता है।

गैस द्राव संधान में प्रयुक्त गैसें ऑक्सीजन तथा ऐसिटीलीन हैं। ये गैसें संपीड़ित करके सिलेंडरों में भरी होती हैं और संधान टॉर्च के सिरे पर दोनों का संयोग होता है। ज्वाला को घटाने या बढ़ाने तथा अपचायक या उपचायक वातावरण उत्पन्न करने के लिये इसमें साधन होता है। दोनों भागों के बीच में भरने की धातु पूरक छड़ या संधान छड़ से ली जाती है। संधानक को अपनी आँखों को तीव्र प्रकाश से बचाने के लिये गहरे रंग के चश्मे का उपयोग करना होता है।

चाप संधान विधि में ताप विद्युत् चाप उत्पन्न करके किया जाता है। इसके संधान छड़ पर पर्याप्त द्रावक पदार्थ आवृत्त रहता है। स्फुरण संधान विधि विद्युत चाप का उपयोग दो सतहों के संपर्क स्थान को गला कर दाब द्वारा जोड़ने में किया जाता है। रेल की पटरियों को इसी प्रकार जोड़ा जाता है। इसके लिये 10,000 पौंड प्रति वर्ग इंच के बराबर दाब का प्रयोग किया जाता है।

परमाणविक हाइड्रोजन द्वारा संधान विधि में टंगस्टन धातु के बने दो विद्युत-द्वारों के बीच में चाप उत्पन्न करके उसे हाइड्रोजन गैस की धारा से लगभग 6000° फेरेनहाइट तापमान पर घेर लिया जाता है। इस तापमान पर आणविक हाइड्रोजन गैस परमाणविक हाइड्रोजन में ताप शोषण द्वारा परिणत हो जाती है। संधानित धातु द्वारा ताप शोषण के कारण तापमान के गिरने पर परमाणविक हाइड्रोजन पुनः आणविक

रूप में आ जाता है और ताप का परिक्षेपण करता है। संधान के लिये पूरक छड़ का प्रयोग किया जाता है पर उस पर द्रावक नहीं चढ़ा होता। इस विधि का उपयोग विशेषत: जंगरहित इस्पात को जोड़ने में किया जाता है। मैगनीसियम तथा ऐल्यूमीनियम की चद्दरें भी इसी प्रकार जोड़ी जाती हैं।

थर्मिट विधि में ऐल्यूमीनियम के चूरे तथा लोहे के ऑक्साइड के मिश्रण को गर्म करके ताप उत्पन्न किया जाता है। प्रतिक्रियायें होती हैं :—

$$Fe_2O_3 + 2\ Al \rightarrow 2\ Fe + Al_2O_3$$
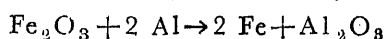
इसमें पिघले हुए लोहे तथा ऐल्यूमीनियम ऑक्साइड का स्लैग बनता है। इसका उपयोग लोहे व इस्पात की टूटी सतहों के जोड़ने में किया जाता है। धातु आधिक्य को संधान वाली जगह से काट कर उसे स्वाभाविक आकार में ले आया जाता है।

तत्स्थान संधान का उपयोग पतली चद्दरों के जोड़ने में किया जाता है। धातु की दो सतहों को दो धात्वीय नोकों पर रख कर दबाया जाता है और साथ ही नोकों में भारी विद्युत धारा क्षण भर के लिये प्रवाहित की जाती है। इससे उस बिंदु पर दोनों सतहें जुड़ जाती हैं। इस प्रकार क्रमागत सतहों के बीच में कई स्थानों पर संधान किये जाते हैं। इससे दोनों चद्दरें जुड़ जाती हैं। पर जोड़ अटूट नहीं होता। स्टेनलेस इस्पात के बने रेल के डिब्बों में छत पर की चद्दरें एक इंच के अंतर पर तत्स्थान संधान विधि से जोड़ी जाती हैं और इस प्रकार सारे टाँकों पर झोल चढ़ाकर मजबूत तथा जल-अभेद्य जोड़ बना दिया जाता है।

पित्तलन तथा संधा तापन या झाल लगाना—इन विधियों में धातु के दो टुकड़ों को उस धातु मिश्रण से जिसका द्रवणांक इन टुकड़ों के द्रवणांक से कम होता है, जोड़ा जाता है। पिघले हुए धातु मिश्रण का सतहों के साथ ठोस विलयन बनाना आवश्यक है, जिससे टुकड़ों एवं बंधक पदार्थ का मजबूती से गठबंधन हो सके। झाल लगाने के लिये सीसे-टिन का धातु मिश्रण प्रयुक्त होता है। इसका उपयोग टिन युक्त लोहे की चद्दरों के जोड़ने में किया जाता है। टिन के डिब्बे इसी प्रकार जोड़कर बनाये जाते हैं। पित्तलन के लिये शुरू में पीतल का प्रयोग किया जाता था। पीतल ताँबे तथा जस्ते की मिश्र धातु है। इस्पात के टुकड़ों को जोड़ने में पित्तलन क्रिया का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि पीतल में विद्यमान ताँबा इस्पात के साथ मिलकर ठोस-विलयन बनाता है। इस्पात की चद्दरों पर सीसे-टिन की मिश्र धातु से झाल नहीं लगाई जा सकती क्योंकि उसका लोहे के साथ ठोस विलयन नहीं बनता। यदि इस्पात पर पहले जस्ता चढ़ा दिया जाय तो फिर उस पर झाल लगाई जा सकती है। पित्तलन क्रिया के लिये पीतल के अतिरिक्त अन्य धातु मिश्रणों का भी उपयोग किया जाता है।

इस क्रिया में जोड़े जाने वाले भागों को गर्म किया जाता है पर पिघलाया नहीं जाता। संपर्क स्थान पर निम्न तापमान पर द्रवित होने वाली मिश्रधातु को गलाकर लगाया जाता है। यह ठोस होने पर दोनों सतहों से चिपक जाती है। झाल लगाने में कम तापमान पर पिघलने वाले तथा पित्तलन के लिये ऊँचे तापमान पर पिघलने वाले धातु मिश्रणों का उपयोग किया जाता है।

चूर्ण धातु कर्म—धातुओं के चूरे को संपीड़ित करके ताप उपचार द्वारा वस्तुओं के निर्माण की कला को 'चूर्ण धातु कर्म' कहा जाता है। इसके लिये प्रयुक्त चूर्ण किसी एक धातु का, एकाधिक धातुओं का या धातु एवं अधातु पदार्थ का मिला हुआ चूरा हो सकता है। संपीड़ित क्रिया सामान्य या ऊँचे तापमान पर संपन्न की जा सकती है। इसके लिये कौन-सा तापमान उपयुक्त होगा यह निर्मित वस्तु के संगठन तथा

अभीप्सित गुणों पर आश्रित है। चूर्ण धातुकर्म कला का उपयोग निम्नांकित वस्तुओं के निर्माण में किया जाता है :—

1. टंगस्टन, मोलिब्डेनम तथा टैंटेलम सरीर की ऊँचे तापमान पर पिघलने वाली धातुओं के चूरे से उनके सघन व तन्य रूप का निर्माण।

2. रंध्रीय तथा ग्रेफाइट युक्त धात्वीय गोली लाम का निर्माण।

3. कोबाल्ट तथा निकल के बने आधारक में मोलिब्डेन, टैंटेलम तथा टंगस्टन के कठोर कार्बाइडों का निर्माण।

4. विद्युत संपर्क निर्माण। ये संपर्क धारा तथा तापचालक आधारक के बने होते हैं जिनमें विघर्षण अवरोधक कण जुड़े होते हैं।

5. ताप उपचारित चूरे को सघन बना कर निश्चित आकार की वस्तुओं का निर्माण।

पहली चार प्रकार की वस्तुओं के निर्माण में चूर्ण धातु कर्म विधि ही अपनाई जा सकती है। पाँचवें प्रकार के पदार्थों के बनाने में इसका सीमित रूप में उपयोग किया जाता है।

चूर्ण धातु कर्म में निम्नांकित धातुओं, धातु मिश्रणों तथा अधातु पदार्थों के चूरे का प्रयोग किया जाता है :—

ऐंटिमनी, ऐल्यूमीनियम, पीतल, बिस्मथ, काँसा, क्रोमियम, कोबाल्ट, कैडमियम, कोलंबियम, ताँबा, ग्रेफाइट, सोना, लोहा, सीसा, मोलिब्डेनम, मैंगेनीज, निकल, पैलेडियम, चाँदी, टैंटेलम, सिलिकन, टेल्यूरियम, टिन, टाइटैनियम, वैनेडियम, जस्ता तथा टंगस्टन।

धातुओं को चूरे के रूप में प्राप्त करने के निम्नांकित साधन उपलब्ध हैं :—

विद्युत् विश्लेषण क्रिया; गैस से निक्षेपण; सूक्ष्म ऑक्साइड या अन्य धात्वीय यौगिक के हाइड्रोजन या अन्य अपचायक गैस द्वारा निम्नतम तापमान पर रासायनिक अपचयन; यांत्रिक क्रियाएँ या प्रचूर्णन प्रेषण व कुट्टन; पिघली हुई धातु का कणीकरण धातु का अवक्षेपण; धात्वीय पाठ्य का नियंत्रित संधनन।

चूर्ण धातु कर्म विद्या में चूरे के ये गुण काफी महत्व रखते हैं :—

कणों का आकार, कणों का आकार वितरण, आकृति (गोलियों, पट्टिका आदि) शुद्धता, ऑक्साइड परिमाण, घनत्व, संसक्ति क्षमता तथा प्रवाह शीलता।

संपीड़न क्रिया से पहले चूरे को बर्तनों या कंदु चक्की में खूब अच्छी तरह मिलाना पड़ता है। ऐसा करना तब और आवश्यक हो जाता है जब एकाधिक धातुओं के चूरे का उपयोग करना अभीष्ट हो या अभीप्सित कण आकार वितरण करना हो। इसके पश्चात चूरे को संचवयन में डाल कर संपीड़ित किया जाता है। ऐसा अधिकत: सामान्य कक्ष-तापमान पर ही किया जाता है पर कभी-कभी ऊँचे तापमान का प्रयोग करना भी अभीष्ट होता है। संपीड़न क्रिया के लिये द्रवचालित, गामा (कैम), घर्षण या जानु प्रकार के प्रेस यंत्रों का प्रयोग किया जाता है। संपीड़न के लिये प्रयुक्त दाब 5-100 टन प्रति वर्ग इंच तक होता है। संपीड़ित सघन वस्तु पर इसके बाद ताप-उपचार किया जाता है। इस प्रक्रिया में गैसें शोषित या निष्कासित होतीं, ऑक्साइडों की अशुद्धियां घटतीं, एक धातु का दूसरी धातु में व्यायन होता तथा मणिक-वृद्धि होती है। इन वस्तुओं की रंध्रीयता घटा कर न्यूनतम करनी होती है। तैलरहित लाभ बनाने में रंध्रीयता का रखना ठीक होता है और इसके लिये वाष्प-शील लवण या धातुएँ चूरे के साथ जानबूझ कर मिला दी जाती हैं जो उच्च तापमान पर वाष्पीभूत होकर निकल जाती हैं और धातु को रंध्र बना देती हैं। यदि आकार की परिशुद्धता

[शेष पृष्ठ 19 पर

आँकड़े स्वयं बोलते हैं:—

—धूमकेतु का भार 10^{17} ग्राम होता है।

—धूमकेतु के पूंछ की लम्बाई 10^7 से 15×10^7 किमी. तक होती है।

—यम (प्लूटो) की सूर्य से माध्य दूरी 5.87×10^8 किमी. है।

—यम का ताप $-211°$ सें० से ऊपर नहीं जाता।

—यम को सूर्य का एक चक्कर पूरा करने में 248·43 वर्ष लगते हैं।

—आकाश गंगा में तारों की संख्या 150,000,0 लाख है।

—सूर्य से पृथ्वी तक आने में प्रकाश को 8 मिनट 18 सेकेण्ड लगते हैं।

—पृथ्वी के सबसे निकट तारा एल्फा सेन्ट्राउरस है उससे पृथ्वी तक पहुँचने में प्रकाश को 4.3 वर्ष लग जाते हैं।

—मंगल ग्रह का ताप 33° सें० से – 72° सें० के बीच ही रहता है।

—सूर्य पृथ्वी से इतना दूर है कि यदि कोई जहाज 1200 किमी० प्रति घण्टा से उड़ कर जाय तो सूर्य तक पहुँचने में 14 वर्ष लग जायंगे।

—शनि की सूर्य से दूरी पृथ्वी की अपेक्षा 9 गुनी है और शनि का व्यास भी पृथ्वी के व्यास का 9 गुना है। सूर्य का चक्कर पूरा करने में इस ग्रह को $29\frac{1}{2}$ वर्ष लगते हैं।

—मंगल सूर्य का एक चक्कर 687 दिनों में पूरा करता है।

—पृथ्वी के वायु मण्डल के चारों ओर औसत सौर विकिरण की तीव्रता का मान लगभग 1.36 किलोवाट प्रति वर्ग मीटर है।

● ●

[पृष्ठ 18 का शेष]

आवश्यक हो तो ताप उपचारित वस्तु का यंत्रण किया जाता है।

धातुओं तथा धातु मिश्रणों से वस्तुओं के निर्माण की अन्य प्रक्रियायें मुख्यतः यांत्रिक हैं। ये कुट्टन, संपीड़न, संचवयन कुट्टन, उत्सारण, वेधन, तारकर्षण, नलिका-कर्षण, अयोधन अर्थात् हथौड़े से कूटना, मुद्रांकण, वेल्लन, कठोरता, आभ्रमण, स्फारण आदि हैं।

कुट्टन, अयोधन तथा संपीड़न में धातु को दबाया जाता है। संचवपन कुट्टन में धातु को संचवयन में बलपूर्वक डाला जाता है। उत्सारण क्रिया में धातुओं को संचवपन में से निकालकर इच्छित आकार की वस्तु का निर्माण किया जाता है। मुद्रांकण में पट्टिकाओं को घेरदार बनाया जाता है। कठोरता, स्फारण तथा आभ्रमण में रकाबी के सिरों को मोड़ दिया जाता है। वेल्लन क्रिया में बेलनों के बीच में चद्दर या धातु की पट्टिका को रखकर उसे फैलाया जाता है। वेधन में दो बेलनों के बीच में धातु को रखकर उसी दिशा में उन्हें बराबर घुमाया जाता है।

पुरुषोत्तम दास स्वामी,
478 राणोसर मार्ग,
बीकानेर, राजस्थान, 334001

बाल विज्ञान

बादल कैसे बनते हैं ?

शिखा श्रीवास्तव

प्रतिवर्ष बरसात का मौसम आता है। कई बार इतना अधिक पानी बरसता है कि दो-दो, तीन-तीन दिन तक रुकने का नाम ही नहीं लेता। कहीं-कहीं बाढ़ आ जाती है जिससे मनुष्यों, पशुओं व सम्पत्ति का बड़ा नुकसान होता है। आकाश में बादलों को देखकर तुम्हारा मन भी उसी प्रकार नाचने लगता है जैसे जंगल में मोर नाचने लगता है। वर्षा होने पर कभी तुम्हारा स्कूल बन्द भी हो गया होगा। चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है और गर्मी भी शांत हो जाती है।

पर क्या तुमने कभी यह जानने की कोशिश की है कि आखिर यह बादल कैसे बनते हैं ? इन्हें आसमान पर कौन भेज देता है ? तुम कहोगे भगवान ने बादल बनाये हैं और उन्होंने ही इन्हें आसमान में भेजा है। एक तरह से तुम यह ठीक सोचते हो। यदि प्रकृति को भगवान मान लिया जाय तो सचमुच यह भगवान ही का काम है। पर यह बन कैसे जाते हैं ?

नदी-नालों में तथा झील-तालाबों में जल रहता है। समुद्रों में तो अथाह जल भरा रहता है। जब अप्रैल-मई व जून में खूब गर्मी पड़ती है जल के इन स्रोतों से जल का धीरे-धीरे भाप में परिवर्तन होता है। जल के भाप में बदलने को वाष्पन कहते हैं। प्रकृति में यह क्रिया हर ताप पर हर दिन होती रहती है। गर्मियों में यह ज्यादा तेज हो जाती है। वाष्पन की क्रिया के द्वारा जब जल का भाप में परिवर्तन हो जाता है तो हवा इस भाप को ऊपर ले उड़ती है। जितनी अधिक गर्मी पड़ेगी उतना ही अधिक भाप बनने की संभावना होगी। अब हवा भाप को लिये-लिये समुद्रों से चल कर है पृथ्वी तक आती है। यदि पहाड़ पड़ जाते हैं तो यह हवा ऊपर को उठती है। ऊपर पहुँचने पर यह ठंढी होकर भारी हो जाती है। जब हवा ठंढी हो जाती है तो यही वर्षा का रूप धारण कर लेती है, जो पानी इन बादलों में भरा था वह वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आ जाता है। यही कारण है कि जहाँ पहाड़ होते हैं वहाँ पर वर्षा भी अधिक होती है। यदि इन हवाओं के रास्ते में पहाड़ न पड़ें तो फिर वर्षा की संभावना नहीं रह जाती। राजस्थान में पानी न बरसने के लिये यह भी एक कारण है वैसे वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते हवाएँ सूख जाती हैं और बहुत कम वर्षा हो जाती है। बंगाल की खाड़ी से उठने वाली हवायें आसाम में पहुँच कर भारी वर्षा करती हैं तुम्हें मालूम होगा कि आसाम में 'चीरापूंजी' ऐसी जगह है जहाँ भारत में सबसे अधिक वर्षा होती है।

इस प्रकार पृथ्वी पर जो जल है वही वाष्पन द्वारा भाप में बदल कर वर्षा का रूप धारण करता और बरस कर पुनः पृथ्वी पर आ जाता है। अगली गर्मी में फिर उसी पानी का भाप बनता है और बाद में वर्षा होती है। इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

शिखा श्रीवास्तव
कक्षा ८
सन्त अन्थोनी कालेज
इलाहाबाद

1975 के नोबेल पुरस्कार विजेता

निम्नलिखित वैज्ञानिकों को उनके अद्वितीय अन्वेषणों के लिये 1975 का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

शान्ति—आन्द्रे सखारोव—रूसी भौतिकविद्।

भौतिकी—आगे बोर तथा बेन मोटेल्सन (डेनमार्क) एवं जेम्स रेनवाटर (सं० रा० अ०) इन्हें न्युलक्लियर भौतिकी के क्षेत्र में ज्ञानवर्धन के लिये पुरस्कार मिला है।

रसायनशास्त्र—58 वर्षीय जॉन वार्कप कार्नफोर्थ जिन्हें सुनाई कम पड़ता है और जो आस्ट्रेलियाई हैं परन्तु इंगलेण्ड में रहते हैं तथा 69 वर्षीय ब्लाडोमीर प्रिलोंग जो यूगोस्लाविया में जन्मे थे पर अब स्विटजरलैण्ड में रहते हैं। ऐंजाइम उत्प्रेरित अभिक्रियाओं के लिये तथा कार्बनिक अणुओं के स्टीरियो रसायन शास्त्र के लिये पुरस्कृत किया गया है।

ओषधि—37 वर्षीय डेविड बाल्टीमोर, 41 वर्षीय होवर्ड मार्टिन टेमिन तथा 61 वर्षीय रिनेटो डुल्बेको। इन्हें कैंसर सम्बन्धी शोध के लिये चुना गया है।

भटनागर पुरस्कार

1970, 72 तथा 73 के लिये भटनागर पुरस्कार निम्नलिखित वैज्ञानिकों को प्रदान किया गया है। इस पुरस्कार के साथ 10,000 रुपये की धनराशि भी दी जाती है। इन वैज्ञानिकों के नाम इस प्रकार हैं।

18 वैज्ञानिकों को पुरस्कार

1970, 72 तथा 73 के लिये जिन वैज्ञानिकों को भटनागर पुरस्कार दिये गये हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं : डा० एम० के० बेनू बाप्पु इंडियन इन्स्टीट्यूट ऐस्ट्राफिजिक्स, कोदाई केनाल, डा० बी० बी० विश्वास, प्रोफेसर बोस इन्स्टीट्यूट कलकत्ता, डा० एस सी० माहेश्वरी, प्रोफेसर आफ बाटनी, दिल्ली विश्वविद्यालय, डा० एस० बी० केस्सार केमेस्ट्री विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, डा ए० पी० बी० सिनहा, नेशनल केमिकल लेब्रोरेट्री पूना, डा० आर० पी० बाधवा, भारत इलेक्ट्रानिक्स लिमिटेड, बंगलौर, डा० ए० एस० गुप्त, आई० आई० टी० खड़गपुर, प्रोफेसर एस० चन्द्रशेखर, रमण रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बंगलौर, डा० एस० एस० गुराया, पंजाब कृषि विश्वविद्यालय लुधियाना, डा० पी० आर० मूर्ति डाईरेक्टर न्युक्लियर लेब्रोरेट्री, नई दिल्ली, डा० एम० बी० जार्ज, प्रोफेसर आफ केमेस्ट्री आई० आई० टी० कानपुर, डा० एच० बी० माथुर, नेशनल केमिकल लोबारेट्री पूना, डा० एम० एम० शर्मा, प्रोफेसर युनिवर्सिटी डिपार्टमेन्ट आफ केमिकल टेक्नोलाजी, बम्बई, और डा० वीरेन्द्र सिंह टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फन्डामेंटल रिसर्च बम्बई, डा० गोविन्द स्वरूप, टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फन्डामेंटल रिसर्च बम्बई, डा० के० नाहा, प्रोफेसर आफ जिओलाजी, आई० आई० टी० खड़गपुर और डा० एस० सी० शेषाद्रि, प्रोफेसर मैथमेटिक्स, टाटा इन्स्टीट्यूट बम्बई।

●●

[जापान में ऐसी रेल बनाई गई है जो 255 कि० मी०/घण्टा की गति से चलती है]

विज्ञान वार्ता

1—मूँगफली की नई किस्म

फ़िलहाल मूँगफली की एक नयी किस्म निकाली गयी है। इसे विक्रम कहते हैं। इसकी गिरी देखने में बड़ी आकर्षक तथा खाने में स्वादिष्ठ होती है। इन गुणों के कारण यह परोसने के लिये उपयुक्त मानी गयी है।

विक्रम किस्म बम्बई स्थित भाभा अणुशक्ति अनुसंधान केन्द्र ने विकसित की है। यह कृषि तथा सिंचाई मंत्रालय की नयी किस्मों को निकालने का कार्य करने वाली केन्द्रीय उपसमिति ने निकाली है।

गिरी अच्छी होने के साथ-साथ इस किस्म से पैदावार भी ज्यादा मिलती है। परीक्षण के दौरान इसकी फसल से प्रति हेक्टर 2,652 किलो मूँगफली मिली। इस प्रकार स्पेनिश किस्म से 30 प्रतिशत तथा एस आर—11 किस्म से 25 प्रतिशत अधिक पैदावार मिली।

इस किस्म का छिलका 67 और 72 प्रतिशत के बीच उतारा जा सकता है। इसमें तेल की मात्रा केवल 47 से 48 प्रतिशत तक है।

इसकी फसल के तैयार होने में लगभग 135 दिन लगते हैं। फलियाँ बनने की अवस्था में इसकी फसल को काफी मात्रा में नमी की जरूरत होती है।

सुनिश्चित वर्षा तथा सिंचाई वाले इलाकों में इसकी खेती करने की सिफारिश की गयी है।

गिरी अच्छी होने के कारण यह किस्म निर्यात के लिये काफी उपयुक्त है।

2—एक नये प्रकार की फ्लेशलाइट

बाजार में एक नये प्रकार की फ्लैशलाइट उपलब्ध है, जो अमेरिकी अन्तरिक्ष कार्यक्रम का एक उपोत्पाद है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसका पावर सेल बहुत टिकाऊ है, और 5 साल तक खराब नहीं हो सकता। निर्माताओं ने इसके सेल के लिए 5 साल के टिकाऊपन की गारण्टी दी है। अगर इसे लगातार चालू या 'आन' रखा जाय तो 10 से 20 घण्टे तक अबाध रूप से प्रकाश दे सकता है। इसमें कोई बाहरी स्विच नहीं, जो टूट सके या क्षरित हो सके। अगर इस फ्लैशलाइट का प्रयोग न किया जाय तो भी इसके सेल का पावर नष्ट नहीं होने पाता।

अमेरिका में इस फ्लैशलाइट का खुदरा मूल्य 7 डालर है। इसका निर्माण हालीवुड (फ्लोरिडा) की क्रोमवेल इलेक्ट्रानिक्स डिवीजन कर रहा है। इसका निर्यात अलैवजैण्ड्रिया, वर्जिनिया, की फर्म, वान ओसडोल एण्ड असोशियेटस, द्वारा हो रहा है।

3—अधिक टिकाऊ नेत्ररक्षक ग्लास

पैन्सिलवेनिया की एक फर्म, जनरल सायंटिफिक इक्विपमैण्ट कम्पनी, बाजार में एक ऐसा नेत्ररक्षक ग्लास उपलब्ध कर रही है, जिसे आँखों के लिए डाक्टरों द्वारा निदिष्ट चश्मों के साथ या उनके बगैर पहना जा सकता है। यह नेत्ररक्षक ग्लास जी० ई० लेक्सन पोली कारबोनेट प्लास्टिक का बना है, जिसके कारण यह अत्यधिक तापक्रम या शून्य से भी कम तापक्रम वाले मौसम का निरोधक होता है। यह अमेरिकी सरकार द्वारा इस प्रकार के चश्मों के लिए निर्धारित विशिष्ट गुणों वाले चश्मों से 50 गुना अधिक मजबूत होता है।

निर्माताओं का कहना है कि यह टूट-फूट नहीं सकता।

अमेरिका में इस प्रकार के चश्मे या ग्लास का प्रयोग अनेक खतरों से भरे औद्योगिक पेशों में होता है। अभी तक इसका निर्माण करने वाली कम्पनी इसका निर्यात नहीं कर रही है, लेकिन वह विदेशों में इसके लिए वितरकों और एजेण्टों की खोज कर रही है। हिफाजत के लिए इस चश्में को कपड़े के केस में रखा गया है। इस समय ये चश्मे प्रति दर्जन 27 डालर में बाजार में उपलब्ध हैं।

4—पशुओं को जूँ, लीख और मक्खियों से बचाने की सरल विधि

गायों, भैसों और घोड़ों के शरीर पर लगने वाले जूं, लीख या मक्खियों को नष्ट करने के लिए इस समय अमेरिका में एक आसान विधि बहुत लोकप्रिय हो रही है। अमेरिकी पशुपालक इस विधि को 'काऊ लाइफ-कैटिल रब' के नाम से पुकारते हैं। पशुओं के शरीर पर कीटनाशक दवाएँ पोतने वाला उपकरण एक्राइलिक पोलिएस्टर में बनाया जाता है। यह 10 फुट लम्बा होता है और इसका ब्यास 4 इंच होता है।

पशुओं के शरीर पर रगड़ा जाने वाला यह उपकरण या 'रब' एक ऐसी जगह पर लटका दिया जाता है, जहाँ उसके नीचे से पशु गुजरते हों। यह इतना ऊँचा होता है कि पशु उसे लांघ सकें और इतना नीचा होता है कि नीचे से गुजरते हुए पशुओं की पीठ इससे रगड़ती हुई जा सके। फिर पशु पालक इसमें कीटनाशक दवा का घोल भर देते हैं। 'रब' में लगभग 4 गैलन घोल भरी जा सकती है। टैनेसी विश्वविद्यालय इस उपकरण का प्रयोग अपने पशुओं के शरीर को जूं, मक्खी आदि से मुक्त करने के लिए कर रखा है। यह उपकरण लगभग डेढ़ साल तक चल सकता है। इसका विक्रय टैनेसी के पी० एच० ह्वाइट, जूनियर, कर रहे हैं।

5—रोपाई की नयी विधि से

रोपाई की नयी विधि से खरीफ में किसान अधिक जगह में कपास बो सकते हैं जबकि पानी की खपत उतनी ही रहेगी।

हिसार के वैज्ञानिकों द्वारा विकसित की गयी इस नयी विधि में कपास की रोपाई के लिए लंघन तरीका अपनाया जाता है। इस तरीके के अनुसार कपास 60 सें० मी० दूरी पर बनी दो कतारों में रोपी जाती है। इसके बाद एक कतार खाली छोड़ दी जाती है। इस प्रकार हर दो कतारों के बाद एक कतार खाली छोड़ते जाते हैं।

रोपी गयी हर दो कतारों के बीच नालियां खोद कर सिंचाई की जाती है।

परीक्षणों के परिणाम बताते हैं कि खेत में पानी भर देने की अपेक्षा इस विधि से 50 प्रतिशत तक पानी की बचत होती है। इसका मतलब है कि उपलब्ध पानी की उतनी ही मात्रा से सिंचाई करते हुए 25 से 30 प्रतिशत तक अधिक क्षेत्र में कपास उगायी जा सकती है।

6—मूंग के दुश्मनों को दूर रखें

एक तौर से आप मूंग के पांच दुश्मनों से छुटकारा पा सकते हैं।

पीला चित्ती रोग, भृंग, जैसिड, सफेद मक्खी तथा छेदक कीड़े ये मूंग के पांच दुश्मन हैं। अकेले या एक-साथ मिल कर ये फसल को बहुत नुकसान पहुँचा सकते हैं। इससे मूंग उत्पादकों को भारी नुकसान उठाना पड़ता है।

मिट्टी में पांच प्रतिशत दानेदार डाइसल्फोटान मिला कर फसल को इन दुश्मनों से पांच सप्ताह तक बचाया जा सकता है। इनसे बचाव के लिए प्रति हैक्टर 25 से 30 किलो दानेदार डाइसल्फोटान डालें। इस उपचार में खर्चा तो जरूर लगभग 250 रुपये आयेगा किन्तु उपज में पांच क्विंटल से भी ज्यादा की बढ़ोत्तरी होगी।

यदि मिट्टी में यह दवा मिलाना संभव न हो तो फसल पर 15 दिन के अन्दर से 0.07 प्रतिशत

एन्डोसल्फान या 0.1 प्रतिशत लिंडेन या 0.04 प्रतिशत मोनोक्रोटोफास दवा का छिड़काव करें।

7—पपीते के पौधों की रोपाई से ज्यादा पौधे

तमिलनाडु में कोयम्बतूर स्थित कृषि विश्वविद्यालय में किये गये परीक्षणों के अनुसार पौधों में फल आने पर भी पपीते के पौधों की रोपाई की जा सकती है।

रोपाई करने से पपीता उगाने वालों को सही तादाद में मादा पौधे मिलने में सहूलियत होगी। फिर भी वैज्ञानिकों ने पूरे पौधों की रोपाई करने में पूर्ण सावधानी बरतने में चेतावनी दी है।

पौधों की रोपाई करते समय ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि पौधे के तनों के इर्द गिर्द मिट्टी को इस हद तक हटायें कि ऊपरी जड़ें बिल्कुल न उभर आयें। इसके अलावा मिट्टी ढीली करके बगल की जड़ों को भी खोद निकालें।

रोपाई के कुछ समय बाद तक पौधे पानी चूसने में असमर्थ रहते हैं। रोपाई के कारण उनका पानी कम हो जाता है। मुरझाने को रोकने के लिये पौधों की सबसे ऊपरी तीन पत्तियों को छोड़ कर समस्त पत्तियों के किनारों को हटा देना चाहिये और केवल डंठल ही छोड़ देने चाहियें।

● ●

हमें हर्ष है कि अक्टूबर-नवम्बर अंक में प्रकाशित पहेली के कई पाठकों ने हल हमारे पास भेजे हैं। पाठकों की रुचि से हमें साहस मिला है। उस पहेली के सर्व शुद्ध हल भेजने वालों के नाम निम्नांकित हैं।

(1) श्री विश्वम्भर प्रसाद
विश्व सदन, पटना

(2) श्री ए० वी० जगन्नाथन
सत्यावन भवन, अजमेर

जिनकी केवल एक त्रुटि है।

(1) श्री हरदयाल सिंह
चेम्बूर—बम्बई

(2) कु० शोभा वर्मा
काशीपुर—नैनीताल

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 113 संख्या 3
चैत्र 2033 विक्र०
अप्रैल 1976

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

मानवीय त्रासदी

एल्बर्ट आइन्सटाइन के माथे पर खिंची हुयी—
आड़ी-तिरछी रेखाएँ (चिन्ता या चिन्तन की ?)
क्या·········हिरोशिमा-नागासाकी के अस्तित्व
संघर्ष की विद्रूप कहानी नहीं है ?
या आण्विक विस्फोट की रेडियोधर्मी धूल
की जमी हुई परत होगी !
आप इसे कोई भी संज्ञा दें !
पर, सभ्यता के कोलाहल में अपनी पहचान
(आइडेन्टिटी) खोता···············
बीसवीं शती के अणु युग-अन्तरिक्ष युग का
सभ्यतम् जीव···········मानव
प्रदूषण की त्रासदी से जूझने (उन्मुक्त होने)
की प्रक्रिया में और प्रदूषण फैलाता हुआ
अपनी समस्त वैज्ञानिक एवं तकनीकी
उपलब्धियों के बीच·········अकिंचन,·········
भयाक्रान्त बेचारा·········
स्वयं में मानसिक विकृति
की चरम परिणति है।
··················या उसकी प्रतीति ?

अनिल प्रकाश त्रिपाठी

खाद्य पदार्थों का विष द्वारा संदूषण

डा० शरद चन्द्र चतुर्वेदी

जीवित रहने के लिये भोजन नितांत आवश्यक है। जब कोई खाद्य पदार्थ किसी विषैले पदार्थ के सम्पर्क मे आता है तो संदूषित हो जाता है और इसे ग्रहण करने पर मनुष्य रोगी हो जाता है। यह रोग गंभीर होने के अतिरिक्त यदा-कदा प्राणघातक भी हो सकता है। पुराने समय में खेतों से ताजा कच्चे खाद्य पदार्थों को चुनते समय मनुष्य सहज ही विषैले पदार्थों को छोड़ मात्र उपयोगी खाद्यों का चुनाव कर लेता था। पूर्वजों से ही विषैली, हानिकर वस्तुओं के त्याग और उपयोगी पदार्थ के चयन की यह प्रवृत्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आई और बिल्कुल स्वभाव सी बन गई। आज भी पशु, विशेषतया जंगली पशु, अच्छे खाद्य का चयन और विषैले का त्याग, सहज स्वभाव से ही करते हैं। हमारे देश के कुछ भागों में किसानों के समक्ष पशुओं को ज्वार के अविकसित पौधों को खाने से रोकने की समस्या रहती है क्योंकि इनमें हाइड्रोसायनिक अम्ल के कुछ विषैले यौगिक होते हैं जो घातक सिद्ध होते हैं यद्यपि ज्वार के पूर्ण विकसित पौधे पशुओं के लिये अच्छा चारा होते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के भोजन के रूप एवं प्रकृति दोनों में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हो रहा है। प्राचीन समय में जब मनुष्य खेतों से ताजा-ताजा आहार का सेवन करता था तब उसके पकाने एवं भण्डार करने की जरूरत नहीं होती थी, परन्तु आजकल मनुष्य खेतों से दूर रहने लगा है अतः विभिन्न स्रोतों सेखाद्य पदार्थों को एकत्र करने और उन्हें खाए जाने से पूर्व लम्बे समय तक भण्डारित करना पड़ता है। खाद्यों के परिवहन एवं भण्डारन के अतिरिक्त उन्हें पकाने में भी वे संदूषित हो जाते हैं। प्राकृतिक जीवाणुजन्य संक्रमण के साथ-साथ कच्ची साग-सब्जियां व सलाद खाने यहां तक अधपके मांस खाने से कृमिजन्य संक्रमण हो जाता है।

ताँबे और पीतल के बरतनों में खाना पकाने से भी भोजन विषाक्त हो जाता है और अनेक लोग पीड़ित होते हैं। ऐसे बरतनों में देशी अथवा वनस्पति घी आदि से साग-सब्जी पकाने या फिर इनमें रखने से ये खाद्य पदार्थ अकार्बनिक अम्लों के ताम्र लवणों से संदूषित हो जाते हैं और जब इन्हें ग्रहण किया जाता है तो ताम्र विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं। जब तांबे का बरतन गंदा होता है और उसमें हरा जंग लग जाता है या तेल और घी आदि में विकृति के कारण गंध आ जाती है और उसमें अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है या जो सब्जियां पकाई जायें उनमें जब कार्बनिक अम्लों की मात्रा अधिक होती है या जब ऐसे पके भोजन को इन पात्रों में देर तक रखा जाता है, तब ताम्र विषाक्तता के लक्षण—उल्टी और दस्त होना—प्रकट होते हैं। ये लक्षण आमतौर पर खाने के बाद 12 घंटे के अंदर ही प्रकट हो जाते हैं।

आर्जीमोन मेक्सिकाना के बीज देखने में सरसों के बीजों के समान होते हैं और उनसे आसानी से तेल निकाला जा सकता है इसलिये उन्हें तेल

निकालने से पूर्व भी सरसों में मिलाया जा सकता है क्योंकि यह तेल बहुत सस्ता पड़ता है। इसलिये उसकी मिलावट खाद्य तेलों, विशेष रूप से सरसों के तेल में की जाती है। आर्जीमोन मेक्सिकाना नामक वनस्पति के बीजों के प्रयोग करने पर उसमें मौजूद एल्कलॉयड सेंग्यूनरीन नामक विष के कारण एपिडैमिक ड्राप्सी नामक घातक रोग हो जाता है। इस रोग के मुख्य लक्षण पैरों में लाली आ जाना और उनका सूजना और दिल की कमजोरी होती है। हृदय की दशा बिगड़ने से बहुधा रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। सेंग्यूनरीन न केवल एपिडैमिक ड्राप्सी तथा ग्लोकोमा उत्पन्न करता है वरन् यह कैंसरजनक भी है। शरीर में सेंग्यूनरीन एक मेटाबोलाइट, बेन्ज (सी) एकीडीन में बदल जाता है और यह कैंसर, विशेष रूप से, ग्रासनली के कैंसर का कारण हो सकता है। इस पौधे के पीले मनमोहक फूलों के कारण पहले-पहल इसका आयात दक्षिण अमेरिका से किया गया था और अब तो यह सारे देश में खर-पतवार के रूप में फलता-फूलता नजर आता है।

विज्ञान और उद्योग की निरंतर प्रगति के कारण खाद्यों के नये-नये विषैले संदूषक का ज्ञान हो रहा है जैसे कि फॉलिडॉल, ट्राइक्रेसिल फास्फेट आदि। फॉलिडॉल का प्रयोग विशेषतया पटसन की खेती में कीटनाशक के रूप में होता है। इससे उत्पन्न विषाक्तता वस्तुतः अनपढ़ किसानों द्वारा उसके ठीक प्रयोग न करने के कारण उत्पन्न होती है। ट्राइक्रेसिल फास्फेटजन्य खाद्य संदूषण से संसार के अनेक भागों में समय-समय पर एक अंगघाती रोग हो जाता है। इस विष की अधिक मात्रा शरीर में पहुँच जाने पर उल्टी और दस्त शुरू होते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी की दशा इसके सेवन से 3-4 सप्ताह तक बिल्कुल सामान्य दिखाई पड़ती है। परन्तु इसके पश्चात् अचानक उसे दोनों पैरों का अंगघात हो जाता है और इस समय तक रोगी यह भूल जाता है कि उसने कुछ दिनों पूर्व संदूषित आहार का सेवन किया था।

ट्राइक्रेसिल फास्फेट के खाली डिब्बों में आटा आदि खाद्य पदार्थ या पकाने के तेल रखने से विभिन्न देशों के असंख्य लोग पीड़ित होते जा रहे हैं। यह आर्थो, मेटा और पैरा-क्रेसालों के फास्फेट का मिश्रण होता है। इन तीनों में ट्राई-आर्थो-क्रेसिल फास्फेट अत्यधिक विषैला होता है।

घरों में कीड़े मारने के लिये आजकल जो अनेक रसायन इस्तेमाल किये जाते हैं वे अत्यंत विषैले होते हैं अतः यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि ये खाने-पीने की वस्तुओं को संदूषित न कर दें।

सीसा (लेड) एक अत्यंत भयंकर विष है क्योंकि इसका मानव शरीर से उत्सर्जन नहीं हो पाता। इसके यौगिकों की थोड़ी-थोड़ी मात्रायें शरीर में संचित होती रहती हैं और अंत में सुस्ती और अंगघात के रूप में इसका प्रभाव प्रकट होता है। व्यापारी लोग कुटी-पिसी हल्दी को अधिक चटकीला पीला रंग देने के लिये इसमें लेड क्रोमेट मिला देते हैं।

गेहूँ, जौ, राई जैसे अन्न भी अर्गट (क्लैविसेप्स परप्यूरिया) तथा इसी प्रकार के कवकों से जिनमें अर्गट एल्कलायड होता है, संदूषित हो जाते हैं। पश्चिमी बंगाल के नादिया जिले के लोग जो चावल खाते हैं वह नम वातावरण में भण्डारित किये जाने के कारण भूरे रंग का हो जाता है जिससे वहां के निवासी पेलाग्रा नामक रोग से पीड़ित हो जाते हैं। इसी प्रकार नमी वाले स्थान में मूंगफली के भण्डारित करने पर उसमें एस्पर्जिलस फ्लेक्स नामक फफूंद लग जाती है जिसमें मौजूद एफ्लाटाक्सिन जिगर के लिये बहुत विषैली सिद्ध होती है। देश के अनेक भागों में खेसरी दाल (लेथरिस सैटाइवस) लोगों का सामान्य भोजन है। काफी समय तक इसके सेवन से इसमें उपस्थित दो विषैले अमीनों अम्लों के कारण लेथरिस नामक एक पंगुकारी रोग हो जाता है।

कैमिस्ट, यूनिवर्सलटायर लि०, इलाहाबाद

प्राचीन वेधशालाओं से आर्यभट तक

चैतन्य कुमार गहलौत

ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारत की उपलब्धियों की महानता को पाश्चात्य देशों के विद्वान भी मानते हैं। स्वर्गीय श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय द्वारा लिखित प्रामाणिक पुस्तक "History of Hindu Chemistry" में असंदिग्ध रूप से बताया गया है कि प्राचीन भारत में रसायन-शास्त्र तथा औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शोधकार्य किये गये थे। भारतीय उन दिनों ज्योतिर्विज्ञान के ऊँचे दर्जे के विद्वान थे। तत्कालीन ज्योतिर्विदों की प्रतिभा का परिचय देने के लिये वाराणसी, जयपुर तथा दिल्ली की प्राचीन वेधशालाएँ काफी हैं।

इसी परम्परा की श्रृंखला में आधुनिक भारत ने अनुसंधान क्षेत्र में भी कदम बढ़ाया है। 1964 में स्वर्गीय डा० विक्रम साराभाई (परमाणु-ऊर्जा संस्थान के भूतपूर्व अध्यक्ष) की देखरेख में अन्तरिक्ष अनुसंधान की भारतीय राष्ट्रीय समिति की स्थापना, भारत-सरकार के तत्वावधान में की गई और अन्तरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम आरम्भ करने के लिये एक राकेट बनाया गया। थुम्बा राकेट केन्द्र, केरल राज्य की राजधानी त्रिवेन्द्रम से करीब 1.6 किमी० की दूरी पर करीब-करीब पृथ्वी की चुम्बकीय विषुवत् रेखा पर स्थित है। इस दृष्टि से थुम्बा की स्थिति विशेष महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि संसार में अन्य कहीं भी ऐसा अन्तरिक्ष अनुसंधान केन्द्र मौजूद नहीं है कि वहाँ से पृथ्वी की चुम्बकीय विषुवत् रेखा के उर्ध्वाकाश की गतिविधियों का अध्ययन किया जा सके। उदाहरण के लिये पृथ्वी चुम्बकीय विषुवत रेखा के उर्ध्वाकाश में लगभग 112 किमी० की ऊँचाई पर निरन्तर पश्चिम से पूर्व की ओर "इलेक्ट्रोजेट' धारा प्रवाहित होती रहती है। स्पष्ट है कि थुम्बा केन्द्र से छोड़े गये अन्तरिक्ष राकेट इस इलेक्ट्रोजेट धारा के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कराने में विशेष रूप से सहायक हो सकते हैं।

भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान का लक्ष्य न तो चाँद सितारों तक पहुँचना है न ही युद्धोपयोगी राकेट अस्त्रों के निर्माण की योजना इसमें शामिल है बल्कि ये अनुसंधान केवल शान्तिपूर्ण सहयोग के लिये किये जायेंगे। यही कारण है कि इस समिति को अमेरिका, रूस तथा फ्रांस आदि देशों से भरपूर सहयोग भी मिला है। योजना यह है कि भारत अन्तरिक्ष अनुसंधान के लिये उन्हीं पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करेगा जो वास्तव में व्यावहारिक महत्व के हैं तथा जिनका वैज्ञानिक दृष्टि से महत्व है। उदाहरण के लिये भारतीय अन्तरिक्ष अध्ययन के अन्तर्गत कतिपय प्रोग्राम इस प्रकार हैं—ऋतु-अनुसंधान, बादल बनने की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना, तूफानों तथा आकाश के उच्च स्तरों पर पवन वेग का अध्ययन आदि। इसमें संदेह नहीं कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये मौसम सम्बन्धी ये सूचनाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर 1964-65 में अन्तर्राष्ट्रीय शान्त सूर्य वर्ष के प्रोग्राम में तथा हिन्द महासागर अभियान में इस संस्थान ने महत्वपूर्ण योग दिया है।

थुम्बा केन्द्र से प्रथम अनुसंधान राकेट 21 नवम्बर, 1963 को छोड़ा गया। राकेट में रखी गई सोडियम वाष्प 110-160 किमी० की ऊँचाई पर विमुक्त हुई। जब सोडियम वाष्प का यह धुम्रअण्ड सूर्य की आड़ी पड़ने वाली किरणों से आलोकित हुआ तो इसके वेग और दिशा का प्रेक्षण करके उस प्रदेश में मौजूद पवन से प्रवाह की दिशा और वेग की नाप की गई। तदुपरान्त जनवरी 1964 में छः राकेट ऊर्ध्वाकाश में भेजे गये। इनमें चार सोडियम वाष्प वाले थे और दो में मैग्नेटोमीटर (चुम्बकत्वमापी) रखे गये थे। फिर जुलाई 1964 में चार और राकेट छोड़े गये जो 48 से लेकर 96 किमी० की ऊँचाई पर स्थित पवन वेग नापने के लिये प्रयुक्त हुए थे।

आरम्भ में थुम्बा से छोड़े गये राकेट, अमेरिका से सहयोग के समझौते के अन्तर्गत प्राप्त किये गये थे। तदुपरान्त राकेट में प्रयुक्त होने वाले वैज्ञानिक-यंत्रों के निर्माण के लिए कदम उठाये गये। फलस्वरूप 29 अप्रैल 1965 को पहली बार स्वयं भारत में बने इलेक्ट्रानिक यन्त्रों से लैस एक फ्रैन्च राकेट "सेन्टार" थुम्बा केन्द्र से छोड़ा गया। यह अभियान पूर्णतः सफल रहा। ये वैज्ञानिक यंत्र 'फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरीज, अहमदाबाद' में तैयार किये गये थे। इन परीक्षणों की सफलता से प्रेरित होकर अब यह योजना बनाई गई कि फ्रैन्च विशेषज्ञों की सहायता से 'सेन्टार' किस्म के राकेटों का निर्माण स्वयं भारत में ही किया जाय। इस योजना को कार्यान्वित करने का दायित्व परमाणु ऊर्जा आयोग ने स्वयं अपने ऊपर लिया।

अन्तरिक्ष अनुसंधान के सिलसिले में खोज से पता चला कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक आकाश पिण्ड ऐसे हैं जो प्रकाश ज्योति तो विकरित नहीं करते किन्तु उनसे रेडियो तरंगें अवश्य प्रसारित होती हैं जिन्हें शक्तिशाली दूरबीनों से देख पाना सम्भव नहीं है। दरअसल प्रकाश पिण्डों के अस्तित्व का भी पता नहीं लगाया जा सकता। इनके प्रेक्षण के लिये तो केवल वे दूरबीनें काम में लाई जाती हैं जो प्रकाश की किरणों के बजाय रेडियो तरंगों को ग्रहण करके उस पिण्ड का बिम्ब प्रस्तुत कर सकें अर्थात इसके लिये रेडियो दूरबीनों को प्रयुक्त करना होता है। भारत ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किये हैं। टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फण्डामेन्टल रिसर्च के तत्वाधान में कल्याण (बम्बई) में कई रेडियो दूरबीनें लगाई गई हैं ताकि इनकी सहायता से ज्योतिहीन आकाश पिण्डों की टोह ली जा सके। निस्सन्देह भारतीय वैज्ञानिकों के लिए ये रेडियो दूरबीनें अन्तरिक्ष दर्शन के लिए अपूर्व खिड़की का काम देंगी और इनकी सहायता से अंतरिक्ष के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन सम्भव हो सकेगा।

इस सन्दर्भ में अहमदबाद की "फिजिकल लैबोरेटरी" ने "टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फण्डामेण्टल रिसर्च" के सहयोग से अन्तरिक्ष अनुसंधान की एक वृहद योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अनेक अनुसंधान गुब्बारे उर्ध्वाकाश में उड़ाये गये हैं जो कुछ मुख्यतः विषुवत रेखीय प्रदेश के अन्तरिक्ष में चुम्बकीय दाब, विद्युत घनत्व तथा विद्युत धारा आदि से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तरिक्ष अनुसंधान की सुविधा के लिये अहमदाबाद में संचार तथा अनुसंधान उपग्रहों की टोह लेने के लिये "सेटेलाइट ट्रेकिंग स्टेशन" भी स्थापित किया गया। इस केन्द्र से सम्बन्धित "टेलीमीट्रिक रिसीवर स्टेशन" पर भू-उपग्रह से प्रसारित रेडियो संकेत ग्रहण किये जाते हैं। जनवरी 1963 से इस स्टेशन पर अमेरिका द्वारा छोड़े गये "सोलर रेडिएशन सेटेलाइट" (उपग्रह) से निरन्तर रेडियो संकेत ग्रहण किये जा रहे हैं। अमेरिकी अनुसंधान उपग्रह "निम्बस" तथा "एसा" से प्रसारित बादलों के फोटो चित्र भी इस केन्द्र द्वारा प्राप्त किये गये। इस प्रकार

ऋतु-विज्ञान के पूर्वानुमान कार्य में यह केन्द्र महत्वपूर्ण योग दे रहा है; भारत के पास स्वचालित चित्र प्रेषण संस्थान भी मौजूद है जिसकी सहायता से भू-उपग्रह द्वारा भेजे गये बादलों के फोटो चित्र का अध्ययन किया जाता है। यह यंत्र संस्थान जो कि बम्बई के निकट कोलाबा वेधशाला में स्थित है, अन्तर्राष्ट्रीय हिन्द महासागर अभियान के तत्वाधान में वहां लगाया गया था।

दूर संचार के लिये उपग्रहीय संचार व्यवस्था वायुमण्डलीय बाधाओं से सर्वथा मुक्त रहती है तथा लम्बी दूरी तक कार्यक्षम रहती है। अमेरिकी प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि अन्तर्महाद्वीपीय टेलीविजन के लिये भी उपग्रहीय व्यवस्था पूर्णतया संतोषजनक हो सकती है।

अन्तरिक्ष अनुसंधान का विशेष महत्व इसी बात में निहित है कि पृथ्वी के घने वायुमण्डल से ऊपर उठ कर उर्ध्वाकाश में प्राप्त किये गये प्रेक्षण द्वारा पृथ्वी के आकार, वायुमण्डल की गतिविधियां, बाह्य अन्तरिक्ष की अवस्था तथा सौर परिवार के ग्रहों के बारे में ऐसी जानकारी हासिल की जा सकती है जो भूतल पर स्थित अनुसंधान शालाओं की पहुँच से बाहर है। विशेषज्ञों का मत है कि अन्तरिक्ष अनुसंधान द्वारा वैज्ञानिक प्रयास तथा टक्नोलाजी के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति के लिये भी नवीन प्रेरणा मिलेगी।

आखिरकार इतने प्रयोगों, अनुभवों तथा आंकड़ों इत्यादि के आधार पर भारत ने अन्तरिक्ष शक्तियों की टोली में प्रवेश पाने की योग्यता प्राप्त कर ही ली जिसके प्रमाण के तौर पर उसने अन्तरिक्ष में अपना प्रथम वैज्ञानिक उपग्रह, सोवियत राकेट की मदद से अन्तरिक्ष में प्रक्षेपित कर ही दिया।

"आर्यभट" का सफल प्रक्षेपण

भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान के वैज्ञानिकों के छब्बीस महीनों के अथक प्रयास से 360 कि०-ग्राम वजन का "आर्यभट" बंगलौर के निकट पीनिया नामक स्थान पर तैयार हुआ था। इस उपग्रह पर लगभग 5 करोड़ रु० की लागत आई। उस दिन को नहीं भुलाया जा सकता जिस दिन का खमोश वातावरण भारतीय विज्ञान और तकनीकी के विकास की दाद दे रहा था। उस अविस्मरणीय दिन 19 अप्रैल 1975 की दोपहर को 12 बज कर 59 मिनिट 59-11 सेकेन्ड पर रूस की राजधानी मास्को से कुछ दूर वियर्स झील के पास बने हुए रूसी कास्मोड्रोम से एक सोवियत राकेट हमारे प्रथम वैज्ञानिक उपग्रह "आर्यभट" को ले उड़ा और सारा विश्व यह सुन कर सन्न रह कि भारत भी अन्तरिक्ष युग में पहुँच गया और जब प्रक्षेपण के कुछ मिनिट बाद ही "आर्यभट" से संकेत आने लगे तो मास्को गये हुए लगभग पचास वैज्ञानिकों के चेहरे दमक रहे थे। भारतीय उपग्रह योजना के निदेशक डा० यू० आर० राव के अनुसार, "उस वक्त सारे वैज्ञानिक उस व्यक्ति की तरह उत्तेजित थे जो कुछ समय में पिता बनने वाला हो।" इस कार्य में लगे युवा वैज्ञानिकों में भारतीय विज्ञान और टेक्नोलाजी के इतिहास में एक सुनहरा पृष्ठ जोड़ कर हमारी तकनीकी आत्म-निर्भरता का गौरवशाली उदाहरण प्रस्तुत किया। भारतीय वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्ष शक्तियों का एकाधिकार भी उसी तरह समाप्त कर दिया जिस तरह पोखरण के परमाणु विस्फोट ने परमाणु शक्ययों का एकाधिकार समाप्त किया था।

ऐतिहासिक उपग्रह का नाम उस महान् भारतीय गणितज्ञ, खगोल शास्त्री आर्यभट के नाम पर रखा गया जिसने 476 ईस्वी में पटना के पास कुसुमपुरा में जन्म लेकर भारत भूमि का नाम प्राचीन विज्ञानवेत्ता राष्ट्रों में सर्वोपरि रखने में मदद की। खगोलशास्त्र में आर्यभट का प्रमुख योगदान वह सिद्धान्त था जिसमें उन्होंने बताया

कि पृथ्वी सूर्य के चक्कर काटती है। गणित में आर्यभट ने सबसे बड़ा योगदान "शून्य" का आविष्कार करके दिया तथा गणित में "शून्य" की महत्ता पर प्रकाश डाला। आर्यभट के दो ग्रन्थ "आर्यभटीय" तथा "तन्त्र" गणित तथा खगोल शास्त्र को बहुत बड़ी देन हैं। खगोल शास्त्र को आर्यभट का अन्य देशों में पृथ्वी को गोल बताना, पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना बताना ग्रहण में राहु-केतु की बजाय पृथ्वी तथा चन्द्रमा की छाया का परिणाम होना इत्यादि हैं। इसके अलावा उसने ग्रहिक-गति, नक्षत्रों की आपसी तथा सूर्य से दूरी, पृथ्वी के वातावरण तथा उसकी अन्तरिक्ष के वातावरण से भिन्नता व तारे टूटने के कारण आदि का वर्णन भी दिया। साथ ही गणित में त्रिकोणमिति का मौलिक आधार भी आर्यभट ने ही दिया, समीकरण पद्धति तथा बड़ी संख्याओं का वर्णन भी उसने किया। आश्चर्य की बात है कि आर्यभट ने न्यूटन से काफी पहले वायु-दाब व वेग का विस्तृत वर्णन कर दिया था।

इसी महान् खगोलशास्त्री व गणितज्ञ आर्यभट के कार्यों को नये सिरे से अविस्मरणीय बनाने के लिये प्रथम भारतीय वैज्ञानिक उपग्रह का नाम 'आर्यभट' के प्रक्षेपण से भारत अन्तरिक्ष अनुसंधान क्षेत्र में काम करने वाला ग्यारहवाँ राष्ट्र (अन्य दस राष्ट्र हैं—अमेरिका, रूस, पश्चिम जर्मनी, चीन, फ्रान्स, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, केनाडा, जापान तथा इटली) तथा विकासशील राष्ट्रों में चीन के बाद दूसरा राष्ट्र बन गया। हम सौभाग्यशाली हैं कि प्रथम उपग्रह का प्रक्षेपण कर विश्व के कई विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में खड़े हो गये हैं। इसी प्रसंग में डाक्टर यू० आर० राव का कथन है कि 'उपग्रहों की उपयोगिता देखते हुए यह निश्चय किया गया था कि जितनी जल्दी हो सके, हमें उपग्रह निर्माण की दिशा में सक्षम हो जाना चाहिये और इसीलिये जब सोवियत रूस ने भारतीय उपग्रह को आकाश में पहुँचाने में रुचि दिखाई तो हमने उसका स्वागत किया। हमारे वैज्ञानिकों और रूस के विज्ञान अकादमी के प्रतिनिधियों के बीच मास्को में वार्ताएँ हुईं और मई 1972 में समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार पूरी तरह से भारत में बने वैज्ञानिक उपग्रह का रूसी 'कास्मोड्रोम' से छोड़ा जाना निश्चित हो गया और इस तरह भारतीय वैज्ञानिक उपग्रह योजना का जन्म हो गया।

प्रक्षेपण राकेट तथा उपग्रह निर्माण में अन्य जरूरी सुविधाएं सोवियत संघ द्वारा, उपरोक्त कथन में बताये गये 1972 के समझौते के आधार पर प्रदान की गई थीं। इसके निर्माण में कई अन्य भारतीय तथा सोवियत संघ की संस्थाओं का भी काफी योगदान रहा, जिन्होंने अलग-अलग कार्य को निपटाने में मदद की।

प्रक्षेपण के कुछ ही मिनटों बाद उपग्रह कक्षा में पहुँच गया था तथा पृथ्वी से तीन सौ कि० मी० की ऊँचाई पर उसकी कक्षा में चक्कर काटने शुरू कर दिये थे। 'आर्यभट' 96-41 मिनट में एक परिक्रमा कर रहा है। इसी महीने प्रक्षेपण को 1 वर्ष पूरा हो रहा है। यह तीन महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयोग करेगा जो निम्न हैं :—

(1) **क्ष-किरण खगोलकी प्रयोग :** इसके आयोजक उपग्रह योजना के निर्देशक डा० यू० आर० राव तथा डा० कस्तूरीरंगन व उनके सहयोगी हैं। इस प्रयोग के अन्तर्गत आकाश-गंगा, तथा दूसरे तारा-मण्डलों के तारों में क्ष-किरण विकिरण की खोज तथा उनकी माप की जायेगी।

(2) **सौर भौतिकी प्रयोग :** इसके आयोजक टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फन्डामेन्टल रिसर्च बम्बई के प्रो० आर० आर० डेनियल तथा डा० पी० जी० लवकरे हैं। इसका प्रयोजन तीव्र सौर गतिविधियों के समय ऊर्जावान न्यूट्रान तथा गामा-किरणों की खोज है।

(3) **वायु विज्ञान प्रयोग :** इसके आयोजक भौतिक अनुसंधानशाला, अहमदाबाद के प्रो० सत्य प्रकाश, डा० सुब्बाराव तथा उनके सहयोगी हैं। इसमें एक 'इलेक्ट्रान ट्रैप' है जिसमें आयन-मण्डल के अतितापीय इलेक्ट्रोनों के ऊर्जा-वर्णक' क्रम का अध्ययन किया जायेगा और दूसरा है 'पराबैंगनी डिटेक्टर', जो रात के समय आकाश के बिखरे लायमन अल्काविकिरण की जानकारी प्राप्त करेगा। यह भी संभव है कि वैज्ञानिक इन प्रयोगों से तथाकथित 'इलेकहोल्स' का अध्ययन कर सकें।

परन्तु 24 अप्रैल को दिल्ली में प्रो० राव द्वारा की गई यह घोषणा भी भुलाई नहीं जा सकती कि आर्यभट द्वारा किये जा रहे वैज्ञानिक प्रयोग आर्यभट के 50-60 चक्करों (लगभग पाँच दिन) के बाद ही विद्युत प्रणाली में खराबी के कारण बन्द कर दिये गये थे। आशा की गई थी कि उपग्रह में अधिकतम 60-65 वाट और न्यूनतम 40 वाट विद्युत का उत्पादन होगा, पर विद्युत प्रणाली में से मात्र 40 वाट विद्युत ही मिल रही थी जो उपग्रह को कक्षा में रख कर वैज्ञानिक प्रयोग करने के लिये अपर्याप्त थी। अत: उपग्रह के कक्षा में बने रह सकने के लिये वैज्ञानिक प्रयोग बन्द करने का निर्णय लिया गया था।

उपग्रह योजना के उपनिदेशक तथा प्रमुख तकनीकी अधिकारी डा० शिव प्रसाद कोष्टा ने इस खबर को स्पष्ट करते हुए बताया था कि केवल दो प्रयोग बन्द किये गये हैं और क्ष-किरण स्रोत खोजने वाला प्रयोग चल रहा है। आर्यभट के सौर-सेल ठीक से कार्य कर रहे हैं लेकिन अन्दर के किसी सर्कट में गड़बड़ी होने से बिजली नहीं बन पा रही है। यह भी हो सकता है कि बिजली तो बन्द नहीं हो पर निर्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँच पा रही हो। इस गड़बड़ी के कारण और स्थान का पता लगाने के लिये वैज्ञानिक प्रयत्नशील थे। विद्युत प्रणाली में जो खराबी आ गई थी उसके बारे में पूछने पर कि क्या वह ठीक हो सकती है, डा० राव ने बताया था कि इस खराबी से उपग्रह में 'पावर-प्रणाली' की चौदह लाइनों में से एक लाइन बेकार हो गई है। इसके कारण वैज्ञानिक प्रयोगों में रुकावट आ गई। अब इसके ठीक होने की कोई सम्भावना नहीं है।

केवल दो प्रयोग नहीं हो पाने के कारण पूरा कार्यक्रम असफल मान लेना गलत है। आर्यभट का निर्माण, उसका नियत कक्षा 1 वर्ष तक में बने रहना, उसकी स्थिति को ज्ञात कर संकेतों का आदान-प्रदान इत्यादि कई ऐसे कार्य हैं जिनमें कार्यक्रम पूर्ण सफल रहा। साथ ही इस प्रथम प्रयास के अनुभव भविष्य में काफी मददगार होंगे।

प्रो० राव के अनुसार 5 दिनों में ही लगभग 10 करोड़ शब्द उपग्रह द्वारा संचारित किये गये थे, जिन्हें जमा करने पर लगभग 2 मीटर जगह घिर जायेगी। श्री हरिकोटा केन्द्र में एकत्र 1 करोड़ 50 लाख शब्दों के कम्प्यूटर द्वारा अध्ययन से क्ष-किरण तथा आयन मण्डल वाले प्रयोगों के बारे में काफी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी। यदि इन प्रयोगों को बिल्कुल भी बन्द कर दिया जाय तो भी परिणाम प्रभावित नहीं होंगे।

अन्तरिक्ष आयोग के अध्यक्ष प्रो० सतीश धवन के अनुसार आर्यभट ने ताप-नाभिकीय प्रक्रियाओं से बनी सौर-आग की खोज कर वैज्ञानिकों की इस मान्यता को काफी प्रभावित किया कि इस वर्ष सूर्य काफी हद तक शान्त रहेगा। हालांकि सौर आग के अस्तित्व का निश्चय कुछ और आंकड़ों के मिलने पर ही हो सकेगा पर, अफसोस कि इन आँकड़ों को एकत्र करने से पूर्व ही बिजली गुल हो गई थी। फिर भी आर्यभट औसत 30 वर्ष की उम्र के युवा-वैज्ञानिकों के प्रयासों का परिणाम है। जहाँ कई अन्य देशों द्वारा भेजे गये उपग्रह, कभी-कभी अपनी कक्षा तक भी नहीं पहुँच सके या पहुँच भी गये तो भी खराबियों

के पैदा हो जाने से पृथ्वी से सम्पर्क समाप्त कर बैठे, उनकी तुलना में आर्यभट की सफलता काफी महत्वपूर्ण है।

वैज्ञानिकों द्वारा धरती से भेजे गये संकेतों का वांछित पालन कर आर्यभट ने ढेर सारे आँकड़े भेजे। श्री हरिकोटा केन्द्र के ये वैज्ञानिक पूरे सजग थे, इसकी सुरक्षा के लिये, फिर भी गड़बड़ हो ही गई, जो इतनी सावधानी बरतने के बाद हो जाना, एक रहस्य ही है। टाटा इन्स्टीट्यूट आफ फण्डामेन्टल रिसर्च के अनुसार उस प्रणाली में खराबी हो गई जो बैटरियों से वैज्ञानिक प्रयोगों तक बिजली पहुँचाती है। पर आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में एक प्रयोग अभी भी कैसे चालू है जब कि तीनों प्रयोगों के लिये एक ही विद्युत प्रणाली की व्यवस्था थी। हो सकता है, यह व्यवस्था स्वतः ही हो गई हो। फिर भी वैज्ञानिकों ने विद्युत प्रणाली की स्थानापन्न अवस्था में नहीं की जबकि अन्य व्यवस्थाओं में स्थानापन्न व्यवस्थाएँ भी की गई थीं। यह समझ में नहीं आता है।

इस उपग्रह के ज्यादातर कल पुर्जे तथा उपकरण रूस, अमेरिका तथा अन्य देशों से मंगाये गये थे तथा वैज्ञानिक प्रयोगों में काम आने वाले कई जरूरी यंत्र विदेशों से मंगाये गये। इसमें कोई बुराई भी नहीं है क्योंकि अन्तरिक्ष यंत्रों का विकास करने में समय लगता है। परन्तु स्वर्गीय डा० विक्रम साराभाई के अनुसार हम उन्नीसवीं सदी के पुराने संगठन तथा प्रबन्ध तकनीकों के वातावरण में बीसवीं सदी का अन्तरिक्ष अनुसंधान नहीं कर सकते अर्थात् आधुनिकीकरण पूर्णता में होना चाहिये, हिस्सों में नहीं।

भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संस्थान के अध्यक्ष प्रोफेसर सतीश धवन तथा परियोजना संचालक डा० यू० आर० राव के अनुसार यह उपलब्धि भावी भारत के लिये बड़े आर्थिक महत्व की होगी। आशा है कि 'आर्यभट-1' से 'आर्यभट-2' का निर्माण कुछ सस्ता पड़ेगा। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार भारत सरकार 50 लाख रुपये तक व्यय वहन करने को तैयार है। योजना के अनुसार 1978 तक पूर्ण रूप से स्वदेशी उपग्रह छोड़ा जा सकेगा।

गांधी रोड, नाथद्वारा (राज०)

●●

140 पौंड वाले व्यक्ति के शरीर में इतना कार्बन होता है कि उससे 1,000 पेंसिलें बन सकती हैं और फास्फोरस इतना कि 2,000 दियासलाइयां बन जायं।

दैनिक कार्य में राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रयोग करें

वातावरण का प्रदूषण

डा० ब्रह्मदत्त त्रिपाठी,[1]
तथा श्री उदय राज सिंह[2]

आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग में वातावरण के प्रदूषण की समस्या दिन-प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रदूषण को रोकने के लिये लोग गंभीरता पूर्वक विचार कर रहे हैं। एक ओर जहाँ विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने मानव को सभ्यता के एक नये क्षेत्र में प्रवेश कराया है, उसे सुख, सुविधाओं एवं विलासिता के साधनों को उपलब्ध कराया है, वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे पदार्थों को भी पैदा किया है जो वातावरण को प्रदूषित करके मानव अस्तित्व को भी खतरा पैदा कर रहे हैं। वातावरण को मुख्य रूप से तीन अवयवों में बाँटा गया है—(1) हवा (2) जल (3) मृदा। मानव जीवन को सुचारु रूप से पृथ्वी पर चलते रहने के लिए इन तीनों पर्यावरणीय अवयवों (हवा, जल एवं मृदा) के मूलभूत रूपों को बनाये रखना नितांत आवश्यक है।

आधुनिक सभ्यता के विकास में कारखानों का जहाँ अत्यधिक महत्व है, वहीं वातावरण के प्रदूषण में भी इनका बहुत बड़ा हाथ है। कारखानें वातावरणीय अवयवों को निम्न रूप से प्रदूषित करते हैं।

(1) वायु प्रदूषण

जब कारखानों के अंदर शक्ति उत्पादन के लिये कोयला या अन्य ज्वलनशील पदार्थो को जलाया जाता है उस समय बहुत सी हानिकारक गैसें जैसे– सल्फर डाइ आक्साइड, कार्बन मोनो-क्साइड, कार्बन डाइ आक्साइड, ओजोन, फ्लोरीन नाइट्रोजन आक्साइड इत्यादि निकल कर वायु में मिल जाती हैं और जीव एवं निर्जीव जगत पर अपना हानिकारक प्रभाव डालती हैं। सल्फर डाइ आक्साइड (SO_2) जो कि सामान्यत: खनिज तेलों, कोयलों या गंधक युक्त अन्य पदार्थों के जलाने से निकलती है, सबसे घातक गैस है। प्रति टन कोयला जलने पर औसतन 8 पौन्ड सल्फर डाइ आक्साइड गैस पैदा होती है। इसी तरह प्रति हजार गैलन पेट्रोल के जलने पर 17 पौन्ड सल्फर डाइ आक्साइड गैस निकल कर वायु में मिल जाती है। इस गैस का सबसे हानिकारक प्रभाव मनुष्य के फेफड़ों एवं श्वास प्रणाली पर होता है। सल्फर डाइ आक्साइड वायु के साथ मनुष्य के फेफड़ों के अंदर चली जाती है तथा वहाँ पर जलकणों के साथ रासायनिक संयोग करके गंधक का अम्ल (सल्फ़ुरस एसिड) बनाती है जो वायु शुद्ध करने वाले सूक्ष्म कोशों को नष्ट कर देती है। इतना ही नहीं चमड़ी एवं आँखों पर भी बुरा असर डालती है। इस गैस के प्रभाव से दाँतों की सफेद चमक समाप्त हो जाती है। सबसे खतरनाक बात तो यह है कि इस गैस का हानिकारक प्रभाव स्थायी होता है। कुछ डाक्टरों के मतानुसार इससे रक्ताभाव, हृदय एवं मानसिक संबंधी विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

1—वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2—प्राणि विज्ञान विभाग ,, ,, ,,

सल्फर डाइ आक्साइड का कुप्रभाव केवल मानव जगत पर भी नहीं पड़ता बल्कि इससे वनस्पति जगत भी काफी हद तक कुप्रभावित है। पौधों की पत्तियों का हरा रंग (कलोरोफिल) इससे समाप्त हो जाता है। पत्तियों की सतह पर एकत्रित पानी की बूँदों से सल्फर डाइ आक्साइड मिलकर सल्फ्यूरस अम्ल बनाती है जो स्टोमैटा छिद्रों द्वारा पत्तियों के अंदर चली जाती है और कोशिकाओं पर बुरा असर डालती है। इसकी सांद्रता अधिक हो जाने पर पत्तियों में धब्बे आ जाते हैं तथा कभी-कभी तो पूरी पत्ती मर जाती है जिससे पौधों में फूलों एवं फलों का लगना रुक जाता है।

इतना ही नहीं, सल्फर डाइ आक्साइड गैस से बहुत सी वस्तुओं जैसे धातु, रंग, पत्थर, ईंट इत्यादि का क्षरण हो जाता है। प्राप्त आँकड़ों के आधार पर पता चलता है कि अमेरिका के न्यूयार्क नगर की वायु में इस गैस की सबसे अधिक मात्रा मौजूद है। एक सूचना के अनुसार सेप्टल्यूक अस्पताल की संगमरमर एवं टेराकोटा से बनी गुम्बद का इतना अधिक क्षरण हो गया कि उँगली से दबाने पर संगमरमर चूर हो जाता है। अतः उस गुम्बद के स्थान पर पुनः दूसरी छत डालनी पड़ी। सौभाग्यवश हमारे देश में संगमरमर से बनी ताजमहल पर अभी ऐसी किसी हानि की संभावना नहीं है।

वायु को प्रदूषित करने वाली दूसरी और मानव जीवन के लिये भयंकर विनाशकारी गैस कार्बन मोनाक्साइड (CO) है। आक्सीजन की अपर्याप्त मात्रा में जब कार्बनिक पदार्थों का दहन किया जाता है उस समय इस गैस का प्रादुर्भाव होता है। मोटर गाड़ियों के एक्जास्ट गैस में यह काफी मात्रा में विद्यमान रहती है। इस गैस का एक लाख में एक हिस्सा मनुष्यों में कई प्रकार के रोग पैदा कर देता है तथा 750 में एकवाँ हिस्सा करीब 30 मिनट के अंदर प्राणनाशक होता है। वातावरण में उपस्थित कार्बन मोनोक्साइड के कारण रक्त की आक्सीजन के अवशोषित करने की क्षमता घट जाती है। अतः हृदय को पहले की अपेक्षा अधिक गति के साथ काम करना पड़ता है और हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि मोटर गाड़ियों में जलने वाले प्रति हजार गैलन पेट्रोल से लगभग 3 हजार पौन्ड कार्बन मोनाक्साइड गैस पैदा होती है।

कार तथा अन्य मोटर गाड़ियों के "एक्जास्ट गैस" में उपस्थित हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन आक्साइड का मिश्रण सूर्य के प्रकाश में रासायनिक क्रिया करके एक बहुत ही जहरीला पदार्थ परआक्सीएसिटल नाइट्रेट (पी एन) तथा ओजोन (O_3) का निर्माण करते हैं जिसके प्रभाव से मनुष्यों की आँखों से पानी गिरने लगता है और अधिक दिन तक इसके प्रभाव से आँखों के खराब होने की संभावना रहती है।

बेन्जोपाइरीन नामक एक दूसरा रासायनिक मिश्रण भी बहुत ही खतरनाक एवं प्राणघातक होता है। यह सिगरेट के धुँए में भी मौजूद होती है। इसके प्रभाव से मनुष्यों में कैन्सर उत्पन्न हो जाता है। न्यूयार्क नगर में तो इस रासायनिक मिश्रण की मात्रा वायुमंडल में इतनी अधिक है कि वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति एक बार श्वाँस लेने पर करीब नौ सिगरेटों में उपस्थित बेन्जोपाइरीन के बराबर की मात्रा अपने अंदर ले जाता है।

इसी तरह से ओजोन (O_3) नामक गैस भी प्राणघातक होती है जो आक्सीजन के तीन अणुओं के मिलने से बनती है। इसकी अधिक मात्रा मनुष्यों के आँखों में जलन एवं खाँसी उत्पन्न कर देती है। इतना ही नहीं, पौधों पर भी इसका बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। पौधों की पत्तियों का हरा रंग समाप्त हो जाता है। साधारणतया नासपाती, अंगूर, चुकन्दर, अनन्नास, गेहूँ, मक्का इत्यादि के पौधे अधिक जल्दी प्रभावित होते हैं। इसकी अधिक मात्रा रबर एवं रबर की बनी हुयी वस्तुओं को खराब कर

देती है, उनमें दरार पड़ जाती है तथा कपड़ों का रंग भी इस गैस के प्रयोग से उड़ जाता है।

इन गैसों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण हैं जो कि वायु में विद्यमान रहते हैं। उनका भी वायु के प्रदूषण में बहुत बड़ा हाथ होता है। कारखानों की चिमनियों एवं अन्य कई क्रियाओं के फलस्वरूप कोयले, राख, तेल, ग्रीज, सीमेन्ट तथा अन्य धातुओं के भी बहुत से बारीक कण वायु में आकर मिल जाते हैं। कार्बन कणों की यह विशेषता होती है कि वे कुछ गैसों को शीघ्रता से अवशोषित कर लेते हैं। अतः मनुष्य जब स्वाँस लेता है उस समय इन कार्बन कणों के साथ बहुत सी विषाक्त गैसें शरीर के अंदर चली जाती हैं और फेफड़ों पर अपना हानिकारक प्रभाव डालती हैं। वायु में उपस्थित ये सूक्ष्म कण कभी-कभी तो वनस्पतियों की पत्तियों के ऊपर इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जाते हैं कि पत्तियाँ प्रकाश संशलेषण नहीं कर पाती हैं अतः पौधे की वृद्धि, फूलों एवं फलों का लगना बंद हो जाता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के ध्रुव नारायण राव ने शोधकार्य के समय देखा कि डीजल लोकोमोटिव रेलवे वर्कशाप, वाराणसी द्वारा कोयले के वैगनों से कोयला उतारते समय आसपास के वातावरण में कोयले के बहुत ही बारीक कण उड़कर मिल जाते थे और समीप के पौधों की पत्तियों पर उनकी मात्रा इतनी अधिक हो गयी थी कि पौधों की वृद्धि एवं उनमें फूलों तथा फलों का लगना रुक गया था। वायु में पाये जाने वाले दूसरे ठोस कण कैडमियम, लेड, जिंक, इत्यादि के हैं। अमेरिका सरकार के स्वास्थ्य सेवा विभाग के डाक्टर राबर्ट ई० कैरोल ने जाँच द्वारा यह बतलाया कि उन शहरों में जिनके वायुमंडल में "रेडियम" कण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं हृदय रोग से होने वाली मृत्युओं की संख्या अधिक रहती है।

(2) जल प्रदूषण :

शहरों तथा कारखानों से तरह-तरह के निकले हुए दूषित पदार्थ जैसे क्लोराइड, सल्फाइड, परक्लोरेट, धातुओं के छोटे-छोटे टुकड़े, घुले हुए अकार्बनिक पदार्थ, खनिज तेल, तेल, अम्ल, क्षार, इत्यादि गंदे पानी के नालों से बहते हुए झील, नदी तथा समुद्र में मिल जाते हैं और वहाँ के जीवधारियों पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। कीटाणुओं तथा जीवाणुओं को मारने के लिए तरह-तरह के रासायनिक पदार्थों का प्रयोग हो रहा है। ये पदार्थ पानी में घुलकर बहते हुए प्रायः नदियों तथा समुद्रों में मिल जाते हैं जिसके कारण वहाँ उपस्थित बहुत से जीवधारी मर जाते हैं या उनके ऊपर बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है। कीटाणु एवं जीवाणुओं का नाश करने के लिए कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ प्रयोग में लाये जाते हैं।

(1) अकार्बनिक लवण जैसे आर्सेनिकल,

(2) आर्गेनोक्लोरीन्स और आर्गेनो फास्फेट्स

ये एक प्रकार के विष हैं जिसका उपयोग बहुत अधिक मात्रा में किया जा रहा है। कुछ जीव रासायनिक पदार्थ भी हैं, जिनका प्रयोग कीटनाशक के रूप में होता है जो कभी-कभी अन्य जीवों के लिए भी हानिकारक होते हैं। डी० डी० टी० एक बहुत ही हानिकारक विष है जिसका प्रयोग मच्छरों को मारने के लिए किया जाता है। इसका बहुत ही हानिकारक प्रभाव देखा गया है। कुछ मच्छर ऐसे पैदा हो गये हैं जिसके ऊपर इसका कोई असर नहीं पड़ता है। बहुत से कीटाणुओं एवं अन्य जीवों की म्यूटेन्ट प्रजातियाँ पैदा हो गयी हैं। डी० डी० टी० बरसात के पानी में बहता हुआ झीलों, नदियों एवं समुद्रों में पहुँच जाता है जिससे इसका कुप्रभाव वहाँ के पौधों एवं जीवधारियों पर पड़ता है। समुद्र में डी० डी० टी० के प्रभाव से वहाँ के पौधों द्वारा उत्पादित

आक्सीजन की मात्रा में भी कमी हो जाती है। डी० डी० टी० का अपघटन धीमा होता है अतः यह मृदा में उपस्थित होने के कारण पौधों में और वहाँ से जानवरों तथा मनुष्यों के अन्दर खाद्य-शृंखला के द्वारा पहुँच जाता है। पेटल नामक चिड़िया, उसके अण्डे और बच्चों में भी डी० डी० टी० उपस्थित था जब कि डी० डी० टी० का स्रोत सिर्फ समुद्र का पानी और वहाँ उपस्थित कुछ वनस्पतियाँ आदि ही थीं जिनसे पेटल चिड़ियाँ पाली जाती थीं।

(3) **मृदा प्रदूषण :**

प्रदूषित वायु और जल का संयुक्त प्रभाव मृदा प्रदूषण पर पड़ता है क्योंकि वायु प्रदूषक गैसें आदि बरसात के पानी के साथ घोल के रूप में पृथ्वी पर गिरती हैं और मृदा प्रदूषण करती हैं। सल्फर डाइ आक्साइड वायुमंडलीय जलवाष्प के साथ मिल कर गंधक का अम्ल बनाती है और जब पृथ्वी पर गिरती है तब मृदा में उपस्थित क्षारीय पदार्थ जो कि पौधों के लिये बहुत ही आवश्यक हैं अम्ल के साथ रासायनिक संयोग करके अनावश्यक लवणों का निर्माण करते हैं। पौधे संतुलित आहार न प्राप्त कर सकने से कमजोर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो मृदा का पी-एच बहुत गिर जाता है और मृदा के अत्यधिक अम्लीय हो जाने के कारण वहाँ पर कुछ पौधों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। गंधक के अम्ल के कारण मृदा में उपस्थित सूक्ष्म जीवाणुओं और अन्य जीवों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। अतः हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मृदा प्रदूषण में कारखानों का बहुत बड़ा हाथ है। इसी संदर्भ में लेखक ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग से 1975 में, "कारखानों द्वारा मृदा प्रदूषण एवं उसका पौधों पर पड़ने वाला कुप्रभाव" के ऊपर सर्वप्रथम अपना शोध ग्रंथ प्रस्तुत किया। लेखक ने अपने शोध कार्य में देखा कि कारखानों द्वारा बाहर आने वाले प्रदूषित जल में बहुत से क्षारीय पदार्थ जैसे कार्बोनेट, बाईकार्बोनेट तथा सोडियम रहते हैं और जब इस प्रकार का प्रदूषित जल पृथ्वी के किसी भाग या कृषि के लिए उपयुक्त भूमि पर छोड़ दिया जाता है तो मृदा का पी-एच बहुत बढ़ जाता है और मृदा क्षारीय हो जाती है। सोडियम आयन की अधिकता हो जाने से मृदा के उपस्थित कैलशियम तथा पोटैशियम नामक तत्व जो कि पौधों की वृद्धि एवं प्रजनन के लिये बहुत ही उपयोगी हैं, उपयुक्त स्थान से समाप्त हो जाते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में पौधे न तो उचित रूप से वृद्धि कर पाते हैं और न तो उनमें फूल या फल ही लग पाते हैं। यदि कुछ फल लग भी जाते हैं तो उनमें शर्करा और कार्बोहाइड्रेट की कमी हो जाती है। सोडियम आयन की अधिकता से मृदा के कण और छोटे-छोटे कणों में टूट जाते हैं जिसके फलस्वरूप मृदा में वायु का स्थान कम हो जाता है तथा उसकी जल धारण क्षमता भी कम हो जाती है जिसका कुप्रभाव पौधों की वृद्धि एवं विकास पर पड़ता है।

जब कभी हम कीटनाशी या शाकनाशी पदार्थों को पौधों पर छिड़कते हैं उस समय बरसात के पानी से घुलकर ये मृदा में मिल कर उसे प्रदूषित करते हैं। पिछले 20 वर्षों में पृथ्वी पर लाखों क्यूरी रेडियोसक्रिय पदार्थ पृथ्वी में विकरित किये गये। वैज्ञानिक वाइन और शियमैन ने (1957) बताया कि दो वर्ष पहले रेडियो सक्रियता से कोबल्ट-60 सीपियों में काफी मात्रा में एकत्र हो गया है। सक्रिय स्ट्रांशियम घासों से गाय के दूध में और पुनः मनुष्य की हड्डियों में खाद्य-शृंखला द्वारा पहुँच जाता है। बेरीलियम जो कि एक विष है, राकेट इन्जनों द्वारा हमेशा वातावरण में निकाला जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कारखानों की चिमनियों, मोटर गाड़ियों एवं रेल इन्जनों आदि द्वारा हमेशा वातावरण में विष वमन हो रहा है।

[शेषांश पृष्ठ 17 पर]

खेतों में मृदानुकूलकों का प्रयोग

डा० पद्माकर पाण्डे

भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। खेती का सम्बन्ध मृदा एवं मृदा का सम्बन्ध उसकी उचित देखरेख पर आधारित रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि समुचित देखरेख से ही कृषक अच्छी उपज प्राप्त कर सकता है। मृदा की भौतिक दशा सुधारने अथवा उसकी रक्षा करने के लिए जिन पदार्थों का आजकल प्रयोग किया जा रहा है वे मृदानुकूलक कहे जाते हैं। मृदा की भौतिकी दशा से हमारा तात्पर्य मृदा के रंध्राव-काश, उसकी जल धारण करने की क्षमता, मृदा कणाकार एवं उनकी संरचना से है। पोषक तत्वों की उपलब्धि इन समस्त गुणों पर ही अत्यधिक निर्भर रहती है।

प्राकृतिक रूप से जहाँ पर उत्तम मृदा समुच्च-यन उचित मृदा पी-एच एवं मृदा के निर्माण से बनता है वहीं वह स्थायी रहता है परन्तु कभी-कभी मृदा की सतह पर बार-बार जुताई-गुड़ाई करने से उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। कहीं जलवायु के प्रभाव से तो कहीं क्षरण के कारण मृदा समुच्चयन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

मृदा की भौतिक दशा

मृदा की भौतिक दशा बिगड़ने में जो-जो कारक सहायक सिद्ध होते हैं वे निम्न प्रकार हैं :

(1) आवश्यकता से अधिक बारम्बार जुताइ-गुड़ाई करना,

(2) कार्बनिक पदार्थों का ह्रास तथा उनका प्रयोग न करना,

(3) अस्वास्थ्यकर सिंचाई के जल का प्रयोग,

(4) अम्लीय तथा क्षारीय प्रभाव छोड़ने वाले उर्वरकों का प्रयोग,

(5) अत्यधिक मृदा का कटाव (भूमि क्षरण),

(6) बहाव के द्वारा मृदा-जल का ह्रास।

उपर्युक्त कारकों को देखते हुए ऐसे पदार्थों की आवश्यकता प्रतीत होती है जो इन परिस्थि-तियों में भी मृदा की भौतिक दशा बिगड़ने से रोकने में सहायक हों। अनुसंधानों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मृदानुकूलक मिट्टी की संरचना तथा अच्छे मृदा-समूहों के बनने में सहायक सिद्ध होते हैं तथा उन्हें स्थिर भी रखते हैं।

मृदानुकूलकों के इन सभी गुणों से अवगत होते हुए भी इनका वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाया, और इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। सम्भवतः ऐसा उसके अधिक मूल्य के कारण है। विदेशों में मृदानुकूलकों का प्रयोग विस्तारपूर्वक किया जा रहा है और इससे आशातीत सफलता भी मिली है।

मृदानुकूलकों के प्रकार :

साधारणतः मृदानुकूलक दो प्रकार के बताये जाते हैं:—

(1) प्राकृतिक मृदानुकूलक, और (2) कृत्रिम मृदानुकूलक

वानस्पतिक अवशेष, गोबर की खाद, कम्पोस्ट तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों का प्रयोग भारतवर्ष में पुरातन से होता आया है। इनका प्रयोग मृदा की भौतिक दशा सुधारने एवं पोषक तत्वों को पौधों के लिए उपलब्ध कराने के लिए किया जाता रहा

है। इन सभी पदार्थों को हम प्राकृतिक मृदानुकूलक का नाम दे सकते हैं।

कृत्रिम मृदानुकूलकों का प्रचलन 19 0 ई० के बाद ही विस्तृत पैमाने पर शुरू हुआ। सभी कृत्रिम मृदानुकूलक कार्बनिक पदार्थों के बने होते हैं और इनके प्रयोग से अच्छा मृदा समुच्चयन होता है। यह समुच्चयन अधिक दिनों तक स्थिर भी रहता है। ये पदार्थ दीर्घश्रृङ्खल कार्बनिक बहुलक हैं जिनका अणुभार अत्युच्च होता है। इनमें से पालीऐक्रिलो नाइट्राइल, पालीवेनिइल, सेल्यूलोज, गोंद और लिग्निन व्युत्पन्न मुख्य हैं जो कि नम मृदाओं द्वारा शीघ्रता से शोषित कर लिए जाते हैं और संरचना को सुरक्षित रखते हैं। इस तरह के पदार्थ कई विभिन्न व्यापारिक नामों से बाजारों में मिलते हैं।

यद्यपि ये पदार्थ मृदा समुच्चयों का निर्माण नहीं करते परन्तु उन्हें बिगड़ने से रोकते हैं तथा तथा उन्हें अधिक दिनों तक स्थिर रखते हैं। अतः इनका प्रयोग वहाँ भी किया जा सकता है जहाँ पर मृदा की संरचना अच्छी है। प्रभावकारी मृदानुकूलकों से अच्छी तरह से उपचारित मृदा की संरचना सुधर सकती है जो कि वर्षों तक स्थिर एवं सुरक्षित रहती है।

जिन मृदानुकूलकों का प्रयोग पूरे विश्व में अधिकता से किया जा रहा है वे "क्रिलियम" तथा "ऐरोटिल" हैं। क्रिलियम एक सोडियम-पालीऐक्रिलोनाइट्राइल है तथा वह मोन्सैटो केमिकल कम्पनी, संयुक्त राज्य अमरीका का उत्पादन है। क्रिलियम तथा इस तरह के अन्य पदार्थ संश्लेषित रेजिन युक्त यौगिक होते हैं जो स्वयं मृदा समुच्चयों का निर्माण नहीं करते परन्तु नव निर्मित समुच्चयों को अत्यधिक स्थिर रखते हैं जो इनकी अनुपस्थिति में सम्भव नहीं है।

मृदानुकूलकों की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा मृदा में डाली जाती है। इनकी 0.05–0·1% मृदा भार के अनुसार डालने से बड़े ही प्रभावकारी परिणाम मिले हैं। चूंकि वर्तमान मृदानुकूलक बहुत मँहगे हैं अतः इनका प्रयोग विस्तृत पैमाने पर नहीं किया जा रहा है। फिर भी पौध-घरों एवं उद्यान फसलों के लिए इनका प्रयोग अमरीका एवं यूरोपीय देशों में अधिक हो रहा है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मृदानुकूलक के अधिक मात्रा में उत्पादन करने से सम्भवतः इसके मूल्य में गिरावट हो और इस प्रकार किसानों के बीच इसका प्रचलन बढ़े और इसे एक अच्छा मृदा सुधारक का रूप मिल सके।

यहाँ यह बता देना भी आवश्यक होगा कि कृत्रिम मृदानुकूलकों का प्रयोग उन मृदाओं में में निरर्थक होता है जिनमें ऐसे मृदा कणों की कमी है जो मृदा समुच्च्यय बनाते हैं। उदाहरणार्थ बलुई या पीट मिट्टी में मृदानुकूललक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। क्रिलियम मृदा के बारीक कणों के साथ क्रिया करता है अतः मृदा आकारिकी की स्थिरता एवं एक अच्छे मृदा समुच्चय बनने के लिए मृदा में सूक्ष्म विखण्डों की उपस्थिति अनिवार्य है। मृदानुकूलकों की क्रियाशीलता मृदा के पी-एच पर भी अत्यधिक निर्भर रहती है।

मृदा में मृदानुकूलकों का महत्व

भारतवर्ष में जिस गति से आजकल खेतों की भौतिक दशा बिगड़ रही है उसे देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके बचाव के लिए समुचित प्रबन्ध किये जाँय क्योंकि इस प्रकार से तत्वों की उपलब्धि भी प्रभावित होती है। मृदा की भौतिक दशा के बिगड़ने का मुख्य कारण कार्बनिक पदार्थों का अभाव है क्योंकि भारतवर्ष में पशु विसर्जित गोबर का अधिकांश भाग जलाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इस स्थिति में आवश्यक है कि मृदा की भौतिक दशा को बिगड़ने से रोकने के लिए अधिक से अधिक गोबर का प्रयोग खेतों में डालने के लिए किया जाय तथा साथ ही साथ नव निर्मित मृदानुकूलकों के प्रयोग को भी बढ़ावा दिया जाय।

मृदानुकूलकों को खेत में डालने से मृदा पर निम्न प्रभाव पड़ते हैं:—

(1) मृदा संरचना एवं उसकी आकारिकी में सुधार होता है तथा उनकी रक्षा होती है जिससे वे अधिक दिनों तक स्थिर बने रहते हैं।

(2) मृदा की जल धारण क्षमता बढ़ जाती है जिससे जल की क्षति नहीं होने पाती।

(3) पोषक तत्वों की उपलब्धि मृदा के भौतिक गुणों पर अत्यधिक आधारित रहती है। मृदानुकूलकों के प्रयोग से मृदा की भौतिक दशा में सुधार होने के साथ-साथ उनकी उपलब्धि पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) जिन स्थानों पर मृदा का कटाव अधिक होता है उन स्थानों पर मृदानुकूलकों का प्रयोग करके मृदा के कटाव को कम किया जा सकता है। इसके साथ ही साथ पोषक तत्व भी नष्ट होने से बचाये जा सकते हैं। इस प्रकार मृदानुकूलक अच्छे मृदा-स्थिरीकारक का भी कार्य करता है।

(5) मृदानुकूलकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये जीवाणुओं द्वारा नष्ट नहीं किए जा सकते। फलस्वरूप मृदानुकूलक कई वर्षो तक मृदा में क्रियाशील रहते हैं और इस प्रकार ये वर्षों फलप्रदायक रहते हैं और इनके बार-बार प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

रिसर्च आफिसर
फारेस्ट रिसर्च इंस्टीच्यूट
देहरादून

●●

[पृष्ठ 14 का शेषांश]

तरह-तरह की रासायनिक खादों के प्रयोग से मृदा के गुणों में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन आता जा रहा है।

आज वातावरण के प्रदूषण के कारण इस पृथ्वी पर मानव जीवन का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। यदि हम अपनी सभ्यता की इस विकास प्रणाली पर विचार करें तो पता चलता है कि आज हम नयी सभ्यता के विकास में मदान्ध हो कर प्रलय के गहन समुद्र में डूबने जा रहे हैं। इस लिये आज सभी लोगों का कर्तव्य ही नहीं बल्कि धर्म है कि यथासंभव वातावरण को दूषित होने से बचायें और कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे वातावरण के स्थायी संतुलन में अवरोध पैदा हो।

●●

मछली तथा उससे प्राप्त विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ

जय नारायण त्रिपाठी

मछलियों का संसार में आज से करीब 400 लाख वर्ष पहले प्रथम रीढ़धारी जन्तु के रूप में जन्म हुआ और उसके बाद दूसरे रीढ़धारी जन्तु इस संसार में आये। मछलियां संसार में प्रत्येक स्थान पर जल में पायी जाती हैं। प्रत्येक पानी में जैसे नदी, तालाब, पोखर, समुद्री पानी, झील आदि सभी जगह बहुतायत से मिलती हैं। मनुष्य इन्हें भोजन के रूप में शुरू से ही प्रयोग में लाता आ रहा है।

मछली का माँस स्वादिष्ट ही नहीं बल्कि अनेक पोषक तत्वों से परिपूर्ण होता है। यह पोषक तत्व तमाम कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिकों के रूप में मिलते हैं। मछली के माँस में करीब 80% पानी, 15 से 20% प्रोटीन, 1-2% खनिज पदार्थ तथा 1% अन्य तत्व पाये जाते हैं।

प्रोटीन भोजन का मुख्य भाग होता है, इसकी माँस पेशियों में पाया जाने वाला प्रोटीन दूसरे जन्तुओं के प्रोटीन से उत्तम होता है जिससे इसके पाचन में सरलता रहती है। खनिज पदार्थ के रूप में कैल्सियम, फास्फोरस, सोडियम, पोटेशियम, सल्फर तथा क्लोरीन आदि की कुछ मात्रा विद्यमान होती है। इसकी हड्डियों में कुछ मात्रा आयरन, कैल्सियम, फास्फोरस की भी पायी जाती है।

इनमें काफी मात्रा में विटामिन भी पाये जाते हैं जैसे A, C, D तथा विटामिन B-कम्पलेक्स जिसमें थियामिन, राइबोफ्लैविन तथा निकोटिनिक एसिड समूह होता है। कुछ मछलियों के जिगर में विटामिन A तथा D की काफी मात्रा होती है। विटामिन B-कम्पलेक्स तथा C मुख्य रूप में बहुतायत से मछली के अंडों में तथा कुछ जिगर में पाये जाते हैं।

मछली से विभिन्न प्रकार की भोज्य सामग्री बनायी जाती है—जैसे मछली का तेल, मछली का चारा, मछली का आटा, प्रोटीन आदि।

मछली का तेल :

मछलियों से दो प्रकार का तेल निकाला जाता है। कुछ तेल तो मछलियों के जिगर से निकाला जाता है जिसे लिवर आयल कहते हैं। इसमें विटामिन A, D, C तथा कुछ मात्रा में विटामिन E भी पाया जाता है। दूसरे प्रकार का तेल मछली के शरीर से निकाला जाता है।

समुद्री मछलियाँ जिन्हें शार्क मछलियाँ कहते हैं, उनके जिगर से काफी मात्रा में तेल निकालने का कार्य अपने देश में होता है। जिगर से लिवर आयल प्राप्त करने के लिए शीघ्र पकड़ी गयी मछलियों के जिगर निकाल लिए जाते हैं फिर उनको या तो नमक द्वारा या कम क्षमता वाली फार्मलीन से रक्षित कर दिया जाता है या ठंडे गृहों में रखा जाता है। अब इनमें से रोग रहित स्वस्थ जिगर अलग कर लिए जाते हैं और उनसे निम्न विधियों द्वारा तेल निकाल लिया जाता है।

वाष्पन विधि—यह विधि केवल उन्हीं मछलियों के लिए उपयोगी होती है जिनमें काफी मात्रा में तेल

होता है—जैसे काड तथा सारडीन मछलियाँ। इस विधि से तेल प्राप्त करने के लिए जिगर के छोटे-छोटे टुकड़े कर लिए जाते हैं और फिर उनको बड़े-बड़े पात्रों में 80°-90° से० तक गर्म किया जाता है जिसके फलस्वरूप जिगर मुलायम हो जाता है और अब उससे तेल निचोड़ लिया जाता है।

तैराने की विधि :—इस विधि में ताजे स्वस्थ जिगर के टुकड़ों को एक्वासिड रसायन में रक्षित करते हैं। यह रसायन पैरालिडहाइड तथा सोडियम कार्बोनेट से मिलकर बना होता है। इस रसायन के कारण प्रोटीन का रूप बदल जाता है और जिगर की पतली लुगदी सी बन जाती है। अब इस पतली लुगदी को ऐसे क्रम से लगे हुये कड़ाहों में बहाया जाता है जिनमें गर्म पानी के पाइप द्वारा गर्मी दी जाती है जिसके फलस्वरूप तेल निकल कर ऊपर तैरने लगता है और उसे ऊपर से निथार लिया जाता है।

क्षारीय-एन्जाइम विधि :—इस विधि में जिगर के टुकड़ों में 1-2% कास्टिक सोडा अथवा 2-5% सोडियम कार्बोनेट मिलाया जाता है जिससे यह लुगदी का रूप ले लेता है। अब इस लुगदी से सेन्ट्रोफ्यूगल मशीन द्वारा तेल अलग कर लिया जाता है।

अम्ल, क्षारीय-एन्जाइम विधि :—इस विधि में 5% नमक का अम्ल तथा पेपसिन एन्जाइम कुटे हुये जिगर के ढेर में उतने ही पानी के साथ मिला दिया जाता है। इस लुगदी को 43°–49° सें० पर कुछ समय के लिए रख दिया जाता है। कुछ समय बाद इसमें सोडियम कार्बोनेट की इतनी मात्रा मिला दी जाती है जिससे इसका माध्यम अब क्षारीय हो जाता है और अब इसका ताप 80° से० तक बढ़ा दिया जाता है जिसके फलस्वरूप तेल पानी के ऊपर तैरने लगता है जिसे निथार लिया जाता है।

उपरोक्त सभी विधियों से प्राप्त तेल को कुछ समय के लिए ठंडे गृहों में रख दिया जाता है जिससे अशुद्धि बर्तन की तली में बैठ जाती है और ऊपर से शुद्ध तेल निथार लिया जाता है जो कि दवा के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

मछली के शरीर का तेल

मछली के शरीर से प्राप्त तेल उत्तम प्रकार का नहीं होता है जिससे इसके द्वारा साबुन, पेन्ट तथा वार्निश बनायी जाती है, आजकल इसे वैज्ञानिक विधियों द्वारा खाने लायक बनाया जाता है।

मछलियों के शरीर से तेल प्राप्त करने के लिए मछलियों के छोटे-छोटे टुकड़े कर लिए जाते हैं और फिर उनको कुचल कर लुगदी सी बना ली जाती है। अब इस लुगदी को 90° से० पर कुछ समय के लिए गर्म किया जाता है तथा बाद में ठन्डा कर के निचोड़ लिया जाता है जिससे तेल प्राप्त हो जाता है इस तेल में पानी की काफी मात्रा होती है। इस पानी में से तेल निथार कर अलग कर लिया जाता है। जिससे पानी की मात्रा कम हो जाती है। तेल निकालने के बाद जो मछलियों के शरीर के भाग बचते हैं उनको सुखा लिया जाता है और उससे चूर्ण बना लिया जाता है। यह चूर्ण मुर्गियों, मछलियों तथा सुअरों के चारे के रूप में काम में लाया जाता है तथा इससे खाद भी बनायी जाती है। हमारे देश में मछलियों से प्रतिवर्ष करीब 6 हजार टन चारा प्राप्त होता है। इस चारे में करीब 55-70% प्रोटीन, 2-15% चर्बी 10-12% खनिज पदार्थ तथा 6-12% पानी तथा कुछ मात्रा में आयरन, कैलसियम, फास्फोरस तथा विटामिन A, D, B तथा R पाया जाता है।

मछली का आटा

यह चारे का और शुद्ध रूप होता है जो कि

मनुष्यों के भोजन में प्रयोग होता है। इसका प्रयोग गेहूँ तथा अन्य अनाजों के आटे के साथ करीब 10% मिलकर विभिन्न प्रकार के खाद्य बनाने में किया जाता है जैसे ब्रेड, बिस्कुट, केक, मिठाई तथा साबुन आदि।

मछली का प्रोटीन

मछली का प्रोटीन प्राप्त करने के लिए आटे से चर्बी के भाग को तनु कास्टिक सोडा के घोल द्वारा घुलाकर अलग कर दिया जाता है तथा जो भाग शेष बचता है वह प्रोटीन होता है। इसे उदासीन करके स्प्रे विधि द्वारा फैला कर सुखा लिया जाता है। यह स्वच्छ सफेद गंधरहित करीब 80-90% प्रोटीन से युक्त होता है। इसका प्रयोग प्रोटीन को कमी को पूरा करने के लिए तथा दवाओं आदि में किया जाता है।

[पृष्ठ 21 का शेषांश]

प्रेरित करता है। वोंले और क्रिजेक (1972) के अनुसार ब्रैसिन्स काष्ठीय पौधों की वृद्धि को मुख्य रूप से दारु-मृदूतक की वृद्धि को प्रेरित करता है।

इतना कुछ जान लेने के पश्चात् भी वैज्ञानिकों के समक्ष दो समस्याएँ चुनौती के रूप में है कि—

(1) इस हार्मोन का पौधों में संश्लेषण, निष्क्रयण, स्थानान्तरण किस प्रकार होता है।

(2) यह पौधों की आकारकी को प्रभावित करने के अतिरिक्त भी अन्य क्रियाओं को प्रभावित करता है अथवा नहीं? और यदि करता है तो कोशिका के किस स्तर पर करता है।

आशा है वैज्ञानिक इन चुनौतियों को स्वीकार कर इन गुत्थियों को सुलझा पायेंगे।

शोक-प्रस्ताव

विज्ञान परिषद् की अंतरंग सभा विज्ञान के भूतपूर्व सम्पादक डा० हरिमोहन के असामयिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे और उनके सन्तप्त परिवार के प्राणियों को धैर्य धारण करने की क्षमता दे।

डा० हरिमोहन, भौतिकी विभाग में रीडर थे। उन्होंने विज्ञान-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान' मासिक का सम्पादन जून १९७१ से मई १९७३ तक बहुत ही मनोयोग से किया। परिषद् उनके इस अवैतनि कार्य के लिए उनका चिर ऋणी रहेगा।

ब्रैसिन्स : एक नया पादप हार्मोन

श्याम सुन्दर पुरोहित

पादप हार्मोन वे जैव पदार्थ हैं जो पादप शरीर के किसी एक भाग में निर्मित होते हैं और दूसरे भाग में पहुँच कर प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। विगत वर्षों में वैज्ञानिकों ने कई पादप हार्मोनों की खोज की है जिनमें आक्सिनस, जिब्रेलिन, साइटोकाइनिन, एब्सेसिन, एथिलीन, मॉफक्टीन आदि हैं। 14 मार्च 1970 को पादप हार्मोन की सूची में एक नया नाम सामने आया। यह नाम था, ब्रैसिन्स। मिचल और साथियों ने इस नये सदस्य की खोज **ब्रैसिका नेपस** या रेप के पराग-कणों से की। ब्रैसिन्स वे सभी हार्मोनी गुण दर्शाता है जो कि एक हार्मोन में होने चाहिए, जैसे—एक पौधे से प्राप्त ब्रैसिन्स की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा दूसरे पौधे पर वृद्धिकारी प्रभाव दर्शाती है।

यह हार्मोन परागकणों, अंडाशयों, अर्द्धपक्व बीजों तथा पौधों के अन्य भागों में पाया जाता है। मानधावा एवं मिचल (1971) ने एक नई सूची प्रस्तुत की, जिसमें और पौधों को सम्मिलित किया जिनमें ब्रैसिन्स पाये जाते हैं। इस सूची के कुछ नाम **ऐस्क्यूलम हिपोकैस्टेनम, ऐलनस ग्लूटीनोसा, ब्रैसिका काबर, ब्रैसिका नेपस, रोबाइना सूडो-ऐसिका** आदि हैं। 1 पौण्ड रेप परागकणों से 50 मि० ग्रा० अपरिष्कृत हार्मोन की प्राप्ति होती है।

ब्रैसिन्स पराबैंगनी किरणों की 207 और 226 nm तरंग दैर्घ्य का अवशोषण करते हैं। अत: इसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि ब्रैसिन्स असंतृप्त यौगिक है तथा वसा अम्ल एस्टर की लम्बी शृंखला से बने हैं। यह शृंखला कार्बन के $C_{16}-C_{24}$ परमाणुओं की बनी होती है। इनका अणुभार 150-530 तक होता है।

विगत दो-तीन वर्षों में ब्रैसिन्स के अनुरूप एक और नये रसायन की खोज एलनस ग्लूटीनोसा नामक पौधे से हुई है जिसे एल्यूसीन कहते हैं। ये दोनों रसायन वर्ण लेखी अध्ययनों एवं जैव सक्रिय प्रभावों के आधार पर समानता दर्शाते हैं लेकिन रासायनिक आधार पर एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न होते हैं।

$$\begin{array}{l} CH_2-OR \\ | \\ CH-OR \\ | \\ CH_2-OR \end{array}$$

जहाँ $R = -CO-(CH_3)_x-(CH=CH)_5-CH_2-CH_3$

$$R_1-H_2C-\overset{\overset{\displaystyle O}{|}}{C}-O-CH_2-R_2$$

अणुसूत्र—$C_{20}H_{26}O_4$

ऐल्यूसीन
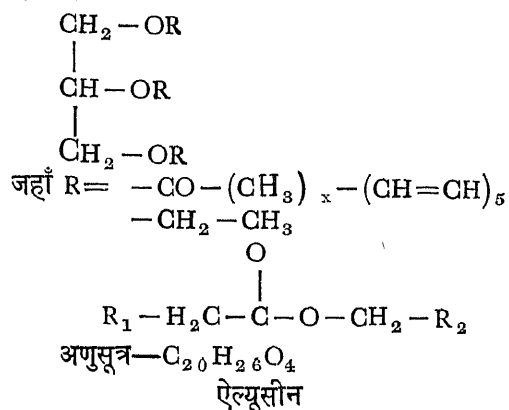
ब्रैसिन्स के जैवसक्रिय प्रभाव :—यह पौधों की द्वितीय पूर्व की लम्बाई में वृद्धि करता है। इतना ही नहीं यह पौधों के पार्श्व विवर्धन प्रवर्ध को भी प्रेरित करता है। ब्रैसिन्स के ये प्रभाव अन्य पादप हार्मोनों से पूर्णत: भिन्न होते हैं। ब्रैसिन्स की 100 ug सान्द्रता से उपचारित सेम के पौधे में पर्व का कुंडलीकरण आरम्भ हो जाता है और साथ उपचार के 14 दिनों पश्चात उसी पौधे का बहुमुखी विकास होना आरम्भ हो जाता है। यह हार्मोन पौधों की कोशिका विभाजन क्रिया को भी

[शेषांक पृष्ठ 20 पर]

स्मृति में

दिवंगत प्रो० तिरुवेंकट राजेंद्र शेषाद्रि

शुकदेव प्रसाद

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त रसायनज्ञ प्रो० तिरुवेंकट राजेन्द्र शेषाद्रि का जन्म तमिलनाडु के कुलिततलाई नामक एक छोटे से कस्बे में 3 फरवरी 1900 को एक शिक्षक के घर में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा श्रीरंगम तथा तिरुचिरुपल्ली स्थानों में हुई तथा 1917 में वे प्रेसीडेंसी कालेज, मद्रास में प्रविष्ट हुए। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण आपको राम-कृष्ण मिशन की सहायता लेनी पड़ी।

सन् 1927 में उन्हें मद्रास राज्य सरकार की ओर से छात्रवृत्ति मिली जिससे वे मैनचेस्टर चले गए और वहाँ उन्हें नोबुल पुरस्कार विजेता प्रो० राबर्ट राबिन्सन के निर्देशन में शोध करने का मौका मिला। 1929 में मैनचेस्टर विश्व-विद्यालय ने आपको 'सर्च फार न्यू एंटीमैलेरियल्स एंड सिंथेसिस आफ एंथोसायनिन्स' विषय पर आपको पी-एच०-डी० की उपाधि प्रदान की।

सन् 1930 में डा० शेषाद्रि भारतवर्ष चले आए। 1930 में कृषि अनुसंधान संस्थान, कोयम्बटूर में रिसर्च आफिसर के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। यहाँ 3 वर्षों तक आपने कार्य किया। यहीं से आपने भारतीय पादपों पर कार्य आरम्भ किया। 1933 में आंध्र विश्वविद्यालय में रसायन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और सन् 1949 तक आपने इस विभाग की सेवा की, 1949 में दिल्ली विश्वविद्यालय में रसायन शास्त्र के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद पर आसीन हुए। प्रो० शेषाद्रि के निर्देशन में कुल मिलाकर लग-भग 160 विद्यार्थियों को शोध करने का अवसर मिला और आपके प्रकाशित शोधपत्रों की संख्या लगभग 1100 है। प्रो० शेषाद्रि के योगदानों के कारण दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विभाग को बड़ी ख्याति मिली।

आपके कार्य का मुख्य विषय पादप-रसायन था। एंथोसायनिन और पादप रंगों पर आपका विशेष कार्य है। आपने एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'केमस्ट्री आफ विटामिन्स एंड हारमोन्स' भी लिखी है।

गैस्ट्रिक अल्सर से पीड़ित होने के नाते आप अस्पताल में भर्ती हुए थे। भर्ती होने के दस दिन बाद नियति के क्रूर हाथों ने आपको हमसे छीन लिया और इस प्रकार 27 सितम्बर 1975 को हमारे बीच से एक महान वैज्ञानिक सदा के लिए चला गया।

प्रो० शेषाद्रि के योगदानों से प्रभावित होकर विभिन्न देशी-विदेशी संस्थाओं ने आपका सम्मान किया था। आचार्य पी० सी० रे मेडल, आचार्य जे० सी० घोष मेडल, भटनागर मेडल आदि आपको प्रदान किये गए। 1960 में लंदन की रॉयल सोसाइटी ने आपको अपना फेलो निर्वाचित किया। 1963 में भारत सरकार ने आपको पद्म भूषण की उपाधि से सम्मानित किया। 1965 में आप एमरिटस प्रोफेसर मनोनीत किए गए।

प्राकृतिक पदार्थों के रसायन सम्बन्धी शोध में आपका बहुत बड़ा योगदान था जिसके नाते आप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भागीदार थे। विज्ञान के महारथी होने के साथ ही आप धार्मिक प्रवृत्ति के भी थे। शायद ऐसा बचपन में राम कृष्ण मिशन में रहने का प्रभाव हो जिसके कारण जीवनपर्यन्त प्रो० शेषाद्रि में धर्म के प्रति आस्थाभाव बना रहा। विज्ञान की शिक्षा के साथ आप धर्म और अध्यात्म की शिक्षा को भी आवश्यक मानते थे।

विज्ञान-वार्ता

क्रेन से भार उठाने के लिए सचल डोलची

अमेरिका में मिलवॉकी (विस्कोंसिन) की एक कम्पनी, काण्टीनेण्टल कामर्स लिमिटेड, क्रेन से भारी वस्तुएं ऊपर उठाने के लिए एक अतीव सचल बल्लीदार डोलची तैयार की है, जो 300 पौण्ड तक वजनी सामान को 40 फुट की ऊंचाई तक उठा कर ले जाने में समर्थ है। इस क्रेन-डोलची का नाम "पैक-ए-बूम" है और इसे ट्रक पर चढ़ाया जा सकता है। क्रेन जलीय शक्ति या द्रवशक्ति द्वारा संचालित होता है और इसमें डोलची तक सम्बद्ध कोई नियन्त्रक लाइन नहीं होती।

डोलची 370 अंश के कोण तक घूमती है। इसके क्रेन को छोटी ट्रक पर चढ़ा लिया जाता है, जिसके द्वारा इसे आसानी से घुमाया और चलाया जा सकता है। "पैक-ए-बूम" में एक यन्त्रचलित उपकरण होता है, जिसके द्वारा घूमते समय डोलची को सही रूप में नियन्त्रित किया जा सकता है। क्रेन में प्रयुक्त होने वाली यह डोलची रखरखाव करने वाले कर्मचारियों, उपयोगी सेवा प्रस्तुत करने वाली फर्मों और बाजारों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

विशाल इण्डेक्सिग रोटरी टेबुल

अमेरिका के कनेटिकट की एक फर्म, फार्मिंगटन मैनुफैक्चरिंग कम्पनी, एक फुट से लेकर 21·33 फुट तक के व्यास-वाले रोटरी टेबुल निर्यात कर रही है। संख्यात्मक रूप में नियन्त्रित ये टेबुल 150 टन तक का वजन संभाल सकते हैं। धातुओं से वस्तुएं तैयार करने वाले बड़े औद्योगिक संयंत्र, तथा मोटरवाहनों, स्टीम टर्बाइनों, खेती के उपकरणों, जहाजों और विमानों का निर्माण करने वाली फर्म इनका उपयोग कर रही हैं।

ये रोटरी टेबुल अवरोधरहित बियरिंगों पर घूमते रहते हैं। इन पर छोटी से छोटी लम्बाई को सूचित करने वाले बहुत ही सही निशान बने होते हैं। इनके विशेष रूप से आकल्पित नमूने तेल या पानी के नीचे भी संचालित हो सकते हैं। इनका निर्माण मिश्रित लोहे और अल्युमिनियम से होता है। इनकी सतह समतल और समानान्तर होती है।

भवन-निर्माण के लिए इस्पात के सचल सांचे

अमेरिका इलिनॉय की एक फर्म, युनिवर्सल फार्म क्लैम्प कम्पनी, इस्पात के बने ऐसे सचल सांचों का निर्माण कर रही है, जिनके द्वारा कम लागत पर एक परिवार के रहने योग्य कंक्रीट के मकान तैयार किये जा सकते हैं।

इस ढाँचे पर तीन ओर से तथा छत पर कंक्रीट उड़ेलने के 24 घण्टे बाद, भीतरी सांचे को हटा लिया जा सकता है। उसके बाद चौथी दीवार को भी कंक्रीट उड़ेल कर तैयार किया जा सकता है। इस सांचे का प्रतिमानित आकार 25×40 फुट तक किया जा सकता है।

इसके निर्माताओं का कहना है कि ढाला गया कंक्रीट अतीव टिकाऊ और सुदृढ़ होता है। भवनों का निर्माण करने वाले, ठेकेदार तथा सरकारी एजेंसियां इन सांचों का उपयोग कर सकती हैं।

कंक्रीट अग्नि-निरुद्ध होता है और चूहे आदि इसमें सूराख नहीं कर सकते। जबकि इस साँचे द्वारा एक ही पंक्ति में पास-पास कई मकान ढाल लिये जायें तो उनमें खिड़कियाँ, दरवाजे आदि को भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगा कर मकानों में भिन्नता उत्पन्न की जा सकती है।

पार्कों के लिए उपयुक्त रख-रखाव वाहन

पार्कों, मनोरंजन क्षेत्रों और गोल्फ आदि खेलने के मैदानों की व्यवस्था करने वाले लोग एक अमेरिकी निर्माता द्वारा निर्मित रखरखाव-वाहन, 'वर्क मास्टर', का उपयोग करके अतीव लाभान्वित हो सकते हैं। यह वाहन उनकी रख-रखाव सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए बहुत उपयुक्त है।

वर्क मास्टर आधे टन तक वजनी सामग्रियों को उठा कर एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकता है। इस पर सामाग्रियों के अलावा एक संचालक और एक अन्य व्यक्ति के बैठने के लिए पर्याप्त जगह होती है। यह 11 फुट व्यास वाली परिधि में मुड़ सकता है और पीछे की ओर भी चलाया जा सकता है। चलते समय यह वाहन अधिक उछलता नहीं।

इसके इन्जिन तथा अन्य पुज ऐसे हैं कि इसके रखरखाव की व्यवस्था बड़ी आसानी से की जा सकती है। इसका निर्माण मिनिसोटा की टोरो कम्पनी कर रही है।

1975-76 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत वैज्ञानिक पुस्तकें

डा० के० एन० भाल पुरस्कार

पुस्तक	लेखक	राशि
1. भारी हाइड्रोजन	डा० शुभ लक्ष्मी	2000.00 रु०
2. कार्बनिक रसायन भाग-1,2	डा० बिनय शंकर मिश्र	2000.00
3. उच्च बहुलक	डा० कृष्णा मिश्रा	1500.00
4. फास्फेट	डा० शिव गोपाल मिश्र	2000.00
5. सैद्धान्तिक भौतिकी	डा० वाचस्पति, डा० हरिप्रकाश तथा डा० नरेश चन्द्र	1500.00 (संयुक्त रूप से)
6. भौतिक-रासायनिक परिकलन	श्री गोरख प्रसाद श्रीवास्तव	2000.00
7. भौमिक भूगोल	श्री सविन्द्र सिंह	2000.00
8. उच्च प्रायोगिक भौतिकी	डा० जगदीश प्रसाद साह	1500.00
9. मुक्तमूलक	डा० सोम प्रकाश	2000.00
10. तापनाभिकीय संलयन ऊर्जा	श्री श्यामलाल काकानो	2000.00
11. उत्कृष्ट गैसें	दीनदयाल भटनागर	2000.00
12. सांख्यिकी यांत्रिकी	डा० डी० के० राय	2000.00

डा० बीरबल साहनी पुरस्कार

पुस्तक	लेखक	राशि
13. कवक	श्री रमाशंकर द्विवेदी तथा डा० कैलाश चन्द्र मिश्र	2000.00
14. शैवाल परिचय	डा० महमूद खाँ	1500.00
15. अणुजीव विज्ञान	डा० राजपति द्विवेदी	2000.00
16. भारतीय पक्षी	श्री सुरेश सिंह	2000.00

उपर्युक्त पुस्तकें विभिन्न हिन्दी ग्रंथ अकादमियों के उत्तमोत्तम प्रकाशनों में से हैं। 'विज्ञान परिवार' की ओर से पुरस्कार विजेताओं को हार्दिक बधाइयां।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

भाग 113 संख्या 4
बैशाख ज्येष्ठ 2033 विक्र०
मई-जून 1976

विषय सूची

समुद्रों तथा खारे पानी से लवण रहित जल प्राप्त करना—२

डॉ० माता प्रसाद

(२) **आर्द्रीकरण-अनार्द्रीकरण (एच०डी०) प्रक्रिया**

तीनों प्रक्रियायें अर्थात् ऊष्मा संचयन, वाष्पीकरण तथा संघनन जो सौर भभके के अन्तर्निहित है, एच० डी० संयंत्र में तीन विभिन्न संकायों में कराई जाती है। इन्हें क्रमशः सौर संग्राहक, आर्द्रीकारक तथा अनार्द्रीकारक कहते हैं।

सी० एस० एम० सी० आर० आई० ने 5000 लिटर प्रतिदिन क्षमता के संचय का डिजाइन करके बनाया है। इसमें समुद्री जल को प्रयोग में लाते हैं तथा सौर संग्राहक द्वारा उष्मित होता है। एक विशेष रूप से निर्मित सौर संग्राहक में ब्राइन को 53-60° से० तक सौर ऊष्मा द्वारा गरम किया जाता है। इन यूनिटों में सौर ऊर्जा 60% तक प्रयुक्त हो जाती है। इस प्रकार प्राप्त सुद्रव शुद्ध जल होता है जिसमें 20 पी० पी० एम० से भी कम अशुद्धियां होती हैं। 10 लाख गैलन क्षमता वाले संयंत्र में प्रति 1000 गैलन शुद्ध जल तैयार होने की लागत 4 रु० आती है।

इस प्रक्रिया के कई लाभ हैं। (i) संयंत्र की क्षमता की कोई सीमा नहीं होती। (ii) संयंत्र, जिसमें समुद्री जल को शीतक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, से विसर्जित ब्राइन को सुगमता से प्रयोग में लाया जा सकता है तथा सौर संग्राहक इकाई का निरसन किया जा सकता है। इससे पूँजी कम लगानी पड़ती है तथा निर्मित शुद्ध जल की लागत भी कम आवेगी। (iii) शक्ति संचय की अपशिष्ट ऊष्मा को नमकीन जल को गरम करने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। (iv) संयंत्र अपेक्षतया सुसंहत होता है (v) सौर आसवन संयंत्र के लिये जितने स्थान की आवश्यकता होती है उससे 25% कम स्थान की आवश्कता इसमें पड़ती है। (vi) इसमें सौर ऊर्जा का उपयोग 35% से बढ़कर 60% हो जाता है। (vii) उतनी ही मात्रा में शुद्ध जल तैयार करने के लिये काफी कम लागत आती है। (vii) संयंत्र के निर्माण में जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है वे देश में ही उपलब्ध हो जाती हैं।

बम्बई के निकट प्रांग्र के प्रकाश स्तम्भ के लिये सी० एस० एम० सी० आर० आई० ने एक 2000 लिटर प्रतिदिन वाले क्षमता का एच० डी० संयत्र संस्थापित किया है।

हिमीकरण प्रक्रिया—इस प्रक्रिया को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है—(i) प्रत्यक्ष हिमीकरण अथवा प्राथमिक प्रशीतक (ii) अप्रत्यक्ष हिमीकरण अथवा द्वितीयक प्रशीतक (iii) हाइड्रेट प्रक्रिया।

(1) **प्रत्यक्ष हिमीकरण**—नमकीन जल को पहले हिमांक तक ठंडा किया जाता है फिर इसकी निर्वात कक्ष में जिसको ३ मि० मी० दाब पर रक्खा जाता है, फुहार किया जाता है। यहाँ पर जल का कुछ अंश वाष्प में स्फुरित हो जाता है जिससे ब्राइन हिमांक तक ठंडा हो जाता है तथा हिम के क्रिस्टल बन जाते हैं। बर्फ को पिघला कर तथा वाष्प के संघनन से शुद्ध जल प्राप्त होता है। इसमें कुछ ठोस पदार्थ अशुद्धि रूप में घुले रहते हैं। द्रवीकरण व हिमीकरण की प्रक्रिया को बार बार दुहराने से यह अशुद्धि काफी कम हो जाती है। ए० एम०

लार्गना ने पाया कि पाँच बार लगातार हिमोकरण से बर्फ में घुले लवण का अल्पांश बचा रह जाता है और यह लवणरहित जल पीने में स्वादिष्ट होता है।

इस प्रक्रिया की ऊष्मादक्षता अच्छी होती है तथा संक्षारण व पपड़ी जमने की समस्या भी नहीं होती है। अतः इस प्रक्रिया द्वारा खारे पानी से शुद्ध जल प्राप्त करने में कम लागत आती है।

(2) **अप्रत्यक्ष हिमीकरण अथवा द्वितीयक प्रशीतक प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया में प्रशीतक को जो जल में समिश्रित नहीं होता है, नमकीन जल के प्रत्यक्ष सम्पर्क में वाष्पित कराया जाता है। वाष्पीकरण के लिये ऊष्मा जल से प्रशीतक को अन्तरित किया जाता है; नमकीन जल को हिमांक तक ठंडा करने में हिम क्रिस्टल तथा हिम ब्राइन पकंक बनता है। क्रिस्टल का निष्कासन व धुलाई पिछली विधि के विवरणानुसार होती है। केवल क्रिस्टल को प्रशीतक के संपीडित वाष्प से प्राप्त ऊष्मा द्वारा पिघलाते हैं। द्रव में परिवर्तित प्रशीतक को पुनः प्रयोग में लाया जाता है। शुद्ध जल को द्रव प्रशीतक से पृथक करने के लिये अतिरिक्त संयंत्र की आवश्यकता होती है।

अमरीका में इस सिद्धान्त पर आधारित छः संयंत्र कार्य कर रहे हैं। उनमें से चार में ब्यूटेन का प्रयोग होता है तथा अन्य दो में फ्रोओन C-318 तथा n-ब्यूटेन प्रयुक्त होता है। फ्रीओन-114 अज्वलनशील, विषहीन तथा जल में अमिश्रय है। न तो इसका जल अपघटन होता है और न ही हाइड्रेट बनता है। यह विधि समुद्रो जल अथवा खारे पानी को लवणविहीनीकरण के लिये बहुत ही उपयुक्त है। इससे प्रतिदिन 100,000 से करोड़ों गैलन तक शुद्ध जल तैयार होता है।

(3) **हाइड्रेट विधि**—जल के साथ कुछ गैसें जैसे प्रोपेन आदि अघुलनशील ठोस क्रिटस्लीय यौगिक बनाते हैं जिन्हें गैस हाइड्रेट्स कहते हैं। यह प्रक्रिया इसी हाइड्रेट के बनने पर निर्भर करती है। प्रोपेन का एक अणु जल के 17 अणुओं से संयोग करके 38° फ० पर प्रोपेन हाइड्रेट बनाता है। अतः पहले से ठंडा किये हुये समुद्री जल को प्रोपेन के सम्पर्क में लाने पर अभिक्रियक में हाइड्रेट बन जाता है। उत्पादन ऊष्मा को अलग करने के लिये असंयोजित प्रोपेन का वाष्पोकरण करते हैं। ब्राइन हाइड्रेट पंकक से हाइड्रेट क्रिस्टल को अलग करने, उसको धोने तथा संपीडित प्रोपेन का वाष्प द्वारा अपघटन आदि पहले बताई हुई विधि द्वारा किया जाता है। विमोचित प्रोपेन तथा उत्पाद जल व ब्राइन जल में घुलित प्रोपेन को फिर से प्रयुक्त करने के लिये पुनः उपलब्ध कर लिया जाता है।

(4) **झिल्ली प्रक्रिया**—लवणविहीनीकरण के लिये दो महत्वपूर्ण विधियाँ हैं जिनमें झिल्ली का प्रयोग करते हैं—(i) उत्क्रम परिसरण (ii) विद्युत् अपोहन।

उत्क्रम परिसरण—अर्ध पारगम्य झिल्ली के मध्य से जल की स्वतः तनु से सांद्र विलयन में प्रवाहित होने की प्रक्रिया को परिसरण कहते हैं। जिस बल के कारण परिसरण होता है उसे परिसारक दाब कहते हैं। नमकीन जल को शुद्ध जल में परिवर्तित करने की इस प्रक्रिया में जो तकनीक लगाई जाती है वह सरलतम है। सी० एस० एम० सी० आर० आई० ने एक संयंत्र लगाया है जो 3,300 गैलन शुद्ध जल प्रतिदिन तैयार करता है। इस प्रकार प्राप्त जल में 600 से 800 पी० पी० एम० तक ठोस घुला रहता है जब कि संभार जल में 5000-7000 पी० पी० एम० तक ठोस घुले होते हैं। इसमें 12 माड्यूल प्रयोग में लाये जाते

हैं जिनमें से प्रत्येक में 20 छिद्रयुक्त नलिका होती हैं। माड्यूल के मध्य जल को प्रवाहित करने के लिये 650 पौ० प्रति वर्ग इंच दाब लगाया जाता है। संयंत्र की डिजाइन अत्यन्त सरल है तथा आसवन संयंत्र की लागत का 50% कम खर्च इसमें आता है। इसे देशी सामग्री द्वारा तैयार किया जा सकता है। इसके संक्षारण का खर्च कम आता है तथा इसमें पपड़ी जमने व संक्षारण समस्या बिलकुल नहीं होती है। इसको कार्य करने के लिये बहुत कम ऊर्जा की आवश्यकता होती है फिर भी 90% लवण इससे पृथक हो जाते हैं। उच्च कोटि की सस्ती झिल्ली के उपलब्ध होने पर कम खर्चे में व कम दाब प्रयुक्त करके विभिन्न क्षमता वाले संयंत्र बनाये जा सकते हैं परन्तु निर्मित जल की शुद्धता अधिक नहीं होती है।

(5) **विद्युत अपोहन**—इस प्रक्रिया में खारापन में कमी झिल्ली के मध्य से खारे जल के आयनों के अभिगमन के कारण आती है। विद्युत क्षेत्र के कारण झिल्ली के मध्य से होकर केवल एक ही प्रकार के आयन धनात्मक अथवा ऋणात्मक जा सकते हैं। यदि धनायन अथवा ऋणायन अभिगम्य झिल्ली एकान्तरत: इलेक्ट्रोडों को पृथक करें तो एकान्तर कक्ष में जिसमें शुद्ध तथा सान्द्र ब्राइन भरा रहता है अलग-अलग इकट्ठा किया जा सकता है। इस विधि को विद्युत अपोहन कहते हैं। अन्य विधियों से जल को अलग किया जाता है परन्तु इस विधि में नमकीन जल से लवण को पृथक किया जाता है अतः इस दृष्टि से यह विधि अन्य विधियों से भिन्न है।

विद्युत अपोहन संयंत्र द्वारा निर्मित शुद्ध जल की लागत प्रयुक्त झिल्ली के गुण, उसकी मोटाई तथा अवधि पर निर्भर करती है। यह लगभग पृथक किये हुये लवण की मात्रा के समानुपाती होगी। एलिस के अनुसार इस विधि को पूर्ण रूप से संशोधित करने पर, यह प्रचुर मात्रा में समुद्री जल की जिसमें 300 से 500 पी० पी० एम० तक लवण अशुद्धियाँ घुली हों लवणविहीनीकरण की सर्वोत्तम विधि है। इस विधि द्वारा लवणों से मुक्त जल प्राप्त करना आर्थिक दृष्टि से अनुकूल होता है।

सी० एस० एम०-सी आर० आई० ने मौरवी में तीन स्टैक का प्रायोगिक संयंत्र लगाया है जो कई वर्षों से कार्य कर रहा है। अनुसन्धानशाला ने छोटे पैमाने पर प्राकृतिक खारे कुयें के पानी को लवणों से मुक्त कराने के लिये राजस्थान तथा सौराष्ट्र में प्रयोग किये हैं इसके लिये नये प्रकार की झिल्ली भी बनाई है।

आयन विनिमय प्रक्रिया—सिद्धान्ततः यह विद्युत अपोहन प्रक्रिया के सदृश है परन्तु नमकीन जल से लवणों के आयन धनायन तथा ऋणायन बिनिमय कृत्रिम रेज़िन द्वारा पृथक होते हैं। इन रेजिनों के विभिन्न व्यापारिक नाम हैं। उदाहरणार्थ ऐम्बराइट IRA—63 तथा IRPC—84, KV_2 SBS—KB—4, EDE—10P तथा AV—17 कुछ रेजिन धनायन को हाइड्रोजन आयन तथा कुछ रेज़िन ऋणायन को हाइड्राक्सिल आयन से विनिमय करते हैं। नमकीन जल को निरन्तर दोनों प्रकार के रेज़िनों के ऊपर से प्रवाहित कराया जाता है। जल के पुनः चक्रण कराने पर उसमें से अशुद्धियाँ लगभग पूर्णरूपेण अलग हो जाती हैं। रेज़िन से विस्थापित हाइड्रोजन तथा हाइड्राक्सिल आयन संयुक्त होकर जल बनाते हैं। प्रयोगशाला के लिये जहां कि उच्च कोटि के शुद्ध जल की आवश्यकता होती है इस विधि को प्रयोग में लाते हैं। रेज़िन के समाप्त हो जाने पर उन्हें पुनः प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये धनायन विनिमायक को सान्द्र अम्ल तथा ऋणायन विनिमायक को सान्द्र क्षार से धोकर मृदु पानी से पुनः निक्षालित किया जाता है। पुनः प्राप्त रेजिन को असंख्य बार प्रयुक्त किया जा सकता है। रेज़िनों को पुनः प्राप्त करने में काफी

खर्च आता है अत: पीने के पानी के लिये समुद्री जल का लवण-विहीनीकरण इस विधि द्वारा खर्चीला होता है । नई रेजिनों की खोज तथा आधुनिक तकनीकी के प्रयोग में लाने पर कम खर्च में खारे पानी को जिसमें 2000 पी० पी० एम० ठोस धुला हो, पीने योग्य बनाये जाने की सम्भावना हो सकती है। रेज़िन को पुन: प्राप्त करने के लिये विद्युत् तथा ऊष्मीय विधियां प्रस्तावित हैं परन्तु, उनमें इतना संशोधन नहीं हुआ है कि उन्हें प्रयोग में लाया जा सके ।

बहु पद परिचालन तथा असातत्यता को दूर करने के लिये CSMCRI ने देशी सामग्री की सहायता से प्रतिधारा उपकरण बनाया है जिसमें समापन, पुनर्लाभ तथा क्षालन आदि जैसे परिचालन निरन्तर होते रहते हैं तथा रेज़िन को पुन: चक्रित किया जाता है ।

(6) **रासायनिक प्रक्रियायें—**

(i) **विभाजन गुणांक विधि**—इस विधि में एक ऐसे द्रव (जो अभी अज्ञात है) की आवश्यकता पड़ती है जिसमें जल की अपेक्षा नमकीन जल के आयन अधिक घुलनशील हो और वह द्रव जल में स्वयं अघुलनशील हो। इस विधि को लवण विमोचन के प्रयोग में नहीं लाया जा सकता क्योंकि इसके लिये द्रव की बहुत अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी जिससे लागत बहुत बढ़ जायेगी ।

(ii) **अवक्षेपण विधि**—इस विधि में समुद्री जल के आयनों को अतिकारकों से उपचारित कराके अघुलनशील यौगिक बना दिया जाता है। यह विधि भी अधिक लागत, अवक्षेपित पदार्थ को मूल अभिकारक में बदलने की समस्या आदि के कारणों से अव्यवहारिक है ।

(iii) **अधिशोषण विधि—**यह विधि भी अव्यवहारिक है क्योंकि ऐसे अधिशोषक का मिलना कठिन है जो समुद्री जल के सभी आयनों को सम्पूर्ण रूप से अधिशोषित कर सके । इसके अतिरिक्त अधिशोषक की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ेगी तथा उसे पुन: प्राप्त करना सरल न होगा । फिर भी ऐसा दावा किया गया है कि समुद्री जल को बालू अथवा मृत्तिका की पर्तों के मध्य से प्रवाहित कराके शुद्ध जल प्राप्त किया जा सकता है ।

(iv) **विलायक निष्कर्षण प्रक्रिया**—यह विधि विलायक के इस गुण पर निर्भर करती है कि वह जल को तो अपने में धोल ले परन्तु नमकीन जल के लवण उसमें अविलेय हो । इसके लिये ट्राई एथिल अमीन सबसे उपयुक्त विलायक है। यह 78 °F पर 30% तथा 122 °F पर 2.5% जल को घोलता है। विलायक तथा खारे पानी को मिलाने पर विलायक-जल का जो मिश्रण बनता है उसे गरम करके शुद्ध जल तथा विलायक दोनों ही प्राप्त किया जा सकता है। विलायक को ठंडा करके पुन: प्रयोग में लाते हैं। पानी में बचे हुये विलायक को वाष्प द्वारा अलग कर लिया जाता है। 5000 पी० पी० एम० वाले खारे पानी से 2000 गैलन प्रतिदिन पीने योग्य पानी को तैयार करने हेतु एक प्रायोगिक संयंत्र का निर्माण किया गया है । इस विधि द्वारा अल्प व्यय में खारे पानी से पीने योग्य पानी प्राप्त किया जा सकता है, विशेष-तया जब सस्ती, निम्न कोटि की उष्मा उपलब्ध हो । एक अन्य द्विपद-प्रक्रिया प्रस्तावित है। पहले फिनोल खारे पानी से जल का निष्कर्षण कर लेता है फिर बेंजीन की सहायता से उत्पाद तथा अप-शिष्ट जल से फिनोल प्राप्त कर लिया जाता है ।

संसार के कुछ सांख्यिकीय-वैज्ञानिक, तकनीकी-विज्ञ तथा अभियन्ताओं ने हर प्रकार से यह प्रयास किया है कि प्रकृति-प्रदत्त समुद्री तथा खारे पानी को व्यापारिक रूप से कम खर्च में शुद्ध जल प्राप्त किया जा सके। सी० एस० एम० सी० आर० आई० ने अपकरण संयंत्र से बहुमूल्य अभिकारकों के पुनर्लाभ के लिये परीक्षण किये हैं। इससे शुद्ध

जल का उत्पादन भी कम खर्च में हो सकेगा। सारणी 1 में संसार के कई क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के संयंत्रों से निर्मित शुद्ध जल का ब्यौरा दिया है। गर्ग, मेहता तथा दत्त के भारतीय रासायनिक उत्पादन जून जुलाई 1967 में, बायलर तथा मिलों के लिये समुद्री जल को शुद्ध जल में परिवर्तन शीर्षक पत्र से आंकड़े लिये गये हैं। स्वीडलर के अनुसार 1966 में संसार में 22 बड़े पैमाने पर अपक्षारीकरण संयंत्र कार्य कर रहे थे। इनमें से 12 दमन पद्धति, 3. विद्युत अपोहन, 2 हिमीकरण, 2 वाष्प संपीडन, निमज्जित ट्यूब तथा एक लम्बी ऊर्ध्वाधर ट्यूब वाले हैं। सभी संयंत्र मिलकर 8 करोड़ गैलन अपक्षारित जल प्रति दिन तैयार करते हैं, इनमें 66% केवल दमक पद्धति सयंत्र द्वारा तैयार होता है। विभिन्न संयंत्रों से निर्मित जल अत्यन्त शुद्ध होता है। इसमें 50 पी० पी० एम० से अधिक अशुद्धियाँ नही होती हैं। इस प्रकार प्राप्त जल को ऐसे खारे पानी में मिलाकर जिसमें 500 पी० पी० एम० से अधिक अशुद्धि नहीं होती, खेती में तथा मिलों में प्रयुक्त किया जा सकता है। चूंकि सार्वजनिक स्वास्थ्य मानक के अनुसार पीने के पानी में 500 पी० पी० एम० से अधिक अशुद्धियां नहीं होनी चाहिये अतः इस प्रकार प्राप्त जल पीने योग्य भी होता है।

सारणी 1

तकनीकी	स्थान	क्षमता गैलन में	
बहु-प्रभावी वाष्पीकरण	कुवैत	12,00,000	
	एरयूबा	26,40,000	
	म्यूरे को	10,00,000	
	फ्रीपोर्ट (यू० एस० ए०)	10,00,000	
दमक वाष्पीकरण	कुवैत	24,00,000	
	वर्जिन प्रायद्वीप	3,00,000	
वाष्प संपीडन वाष्पीकरण	रोज वाल (यू० एस० ए०)	10,00,000	
सौर वाष्पीकरण	भावनगर, भारत	250	
आर्द्रीकरण अर्द्रीनाकरण	प्यूरटो पिनास्को	10,00,000	(अनुमानित)
	भावनगर भारत (सौर सग्रांहक के बिना)	10,00,000	
विद्युत अपोहन	अवाली (बहरीन)	35,000	
	धाहरान (साइदी अरेबिया)	1,15,000	
	वेबस्टर (यू० एस० ए०)	2,[illegible]0,000	

विभिन्न तकनीकों को तुलना—समुद्री तथा खारे पानी के अपक्षारीकरण के लिये जो विभिन्न ज्ञात तकनीकी का प्रयोग किया गया है उनका एलिस ने प्रविधि तथा आर्थिक दृष्टि से मूल्यांकन किया है। व्यावहारिक उपयोगिता तथा प्रत्येक प्रक्रिया में 1000 गैलन शुद्ध जल को उत्पादन लागत आदि की दृष्टि से सभी प्रक्रियाओं को क्रमबद्ध किया है। उपलब्ध सूचना के आधार

पर ME MSF आसवन तकनीकी समुद्री जल के अपक्षारीकरण की सर्वोत्तम विधि है। फिर भी सभी विधियां विशेषतया जो आसवन पर आधारित हैं सस्ती होने के कारण पुरानी विधियों की तुलना में मिलों तथा बायलरों के किये आवश्यक शुद्ध जल के निर्माण के लिये प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

भारत में ऐसे स्थानों पर जहाँ का पानी अत्यधिक खारा है वहां लोगों के पीने के लिये के शुद्ध जल का निर्माण सौर आसवन द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। इससे कई हजार गैलन जल प्रतिदिन तैयार हो सकता है। दूर स्थानों से मंगाकर पानी के संभरण में जो खर्च आता है उसकी तुलना में सौर्य भभको द्वारा पीने का पानी तैयार करना ज्यादा सस्ता पड़ता है। इन स्थानों पर एकल अथवा बहुपद दमक आसवन प्रक्रिया भी प्रयुक्त की जा सकती है। भारत के कुछ स्थानों जैसे पोरबन्दर तथा बम्बई आदि में जहां प्रतिदिन 20,000 गैलन शुद्ध जल की आवश्यकता होती HD संयंत्र संस्थापित किया जा सकता है। बिजली घरों की अपशिष्ट वाष्प अथवा मिलों की अपशिष्ट ऊष्मा पड़ोस में उपलब्ध रहती है। इसमें नमकीन पानी को शीतक के रूप में प्रयुक्त करते हैं। राजस्थान के आन्तरिक स्थलों पर जहां खारा पानी प्रचुरता से उपलब्ध है वहां उत्क्रम परिसरण, विद्युत अपोहन, तथा आयन विनिमय तकनीक अधिक उपयुक्त हैं।

संयुक्त परमाणु-अपक्षारीकरण संयंत्र— पिछले कुछ वर्षों से परमाणु ऊर्जा तथा अपक्षारीकरण संयंत्र को सम्मिलित कर एक निकाय बनाने का शोध-कार्य चल रहा है। इससे समस्त संसार में शुद्ध जल तथा विद्युत ऊर्जा के संभरण की जो समस्या है उसे एक ही प्रयास में हल किया जा सकेगा। इस दुकानी संयंत्र के लिये असीमित समुद्री जल तथा परमाणु की वृहत् ऊर्जा संभारक का कार्य करेंगे। परमाणु ऊर्जा संयंत्र उच्चदाब की वाष्प निर्मित करेगा जिससे विद्युत ऊर्जा पैदा की जावेगी तथा निम्न दाब की वाष्प से समुद्री जल का अपक्षारीकरण किया जावेगा। इस प्रकार एक नवीन परमाणु अपक्षारीकरण संयंत्र का प्रादुर्भाव हुआ है जिसकी सम्भाव्य महत्व भासमान है। इसके लिए नवीन तकनीकी तथा सहकारी उपागम की आवश्यकता है। एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत ऊर्जा तथा जल की उपयोगिताओं के विकास के लिये योजना बनानी होगी।

भारत में परमाणु ऊर्जा विभाग सौराष्ट्र के तट पर नाभिकीय तथा जल अपक्षारीकरण संयंत्र के निर्माण की सम्भावनाओं का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन कर रहे हैं तथा उसके चारों ओर कृषि औद्योगिक प्रतिष्ठान के स्थापित करने की योजना है। दुकाजी संयंत्र द्वारा प्राप्त जल अन्य विधियों की तुलना में सस्ता होगा अतः इस संयंत्र से घरेलू, नगर पालिका, कृषि तथा औद्योगिक कार्यों के लिये बिजली व पानी सस्ते दामों में प्राप्त हो सकेगी। चूंकि अपक्षारित जल साल भर उपलब्ध रहेगा इससे कई फसलें काटना सम्मव हो सकेगा।

संसार में शान्ति तथा समृद्धि के लिये शुद्ध जल का विश्वसनीय ढंग से संभरण परम आवश्यक है। शुद्ध जल की प्रचुरता से उपलब्ध होने से अधिक अन्न, कम बीमारी तथा आर्थिक विकास के लिये नये अवसर प्राप्त होंगे। अधिक अन्न उपजाने के लिये, विकासशील देशों में प्रमुख विकास के लिये दूसरे राष्ट्रों में आद्योगिक विस्तार तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के रहन-सहन में सुधार आदि के लिये जितनी जल की आवश्यकता है उसकी पूर्ति हो जाने पर मानव विचारों में आमूल परिवर्तन आ जावेगा। पृथ्वी के धरातल पर 60% जो शुष्क तथा मरुस्थल है उन्हें विस्तृत तथा गहन विकास द्वारा कृत्रिम नगरों में परिवर्तित किया जा सकता है। अतएव यह वांछनीय ही नहीं वरन् परम आवश्यक है कि सभी राष्ट्रों में अपक्षारीकरण के क्षेत्र में जो अनुसंधान हो रहे हैं उसको

[शेषांश पृष्ठ 9 पर]

रहस्यमय आवाज़ें

भगवान सहाय श्रीवास्तव

आधुनिक युग में विज्ञान की प्रगति से ऐसे अनेक रहस्य उद्घाटित हुये हैं जिनकी पहले कल्पना ही सम्भव नहीं थी। लेकिन आज भी बहुत सी बातें हैं जो विज्ञान की पहुँच से बाहर, मनुष्य की बुद्धि से, तर्क शक्ति से परे हैं। कल्पना करिये कि आप किसी रेगिस्तान मे खड़े हैं और आपके कानों में नाना प्रकार की सुरीली और भयावह ध्वनियाँ गूँज रही हैं। आवाज़ें लगातार सुनाई पड़ेंगी और आप जान नहीं सकते कि वे आवाज़ें आ कहाँ से रही हैं।

अनेक प्रसिद्ध पर्यटकों को रेत के इस संगीत को सुनने का अवसर मिला। प्रारम्भ में इन विभिन्न प्रकार की आवाजों को भूत-प्रेतों के कारनामे समझा गया। और जब भी सुनसान रेगिस्तानों में उनका सामना तेज सीटी जैसी आवाजों से होता तो डर कर भागने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं सूझता था।

विश्व के विभिन्न रेगिस्तानों में इस प्रकार की आवाज पायी जाती है। अनेक पर्यटकों ने इनके बारे में अपने यात्रा संस्मरणों में लिखा है और उनके रहस्य के बारे में तरह-तरह की अटकलें लगाई हैं। जब कोई निर्णय नहीं निकला तो अनेक पर्यटक अन्धविश्वासी बन गये और अपना यात्रा बीच में ही समाप्त कर दी।

एक बार विख्यात स्पेनी यात्री डॉ० आहलोआ अपने दल के साथ एंजेज पर्वत के पश्चिम की ओर स्थित रेगिस्तान को पार कर रहा था। अभी कुछ दिन पहले ही पंबा मार्को पहाड़ पर एक भयंकर छाया देखी थी। रेगिस्तान में जब उसे संगीत की ध्वनि सुनायी पड़ी तो उसका रहा-सहा मनोबल भी गायब हो गया और वह डरकर वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

प्रख्यात यात्री लेवेरी के संस्मरणों में भी इस प्रकार रेगिस्तान का वर्णन मिलता है जहाँ अजीब आवाज़ें आया करती थीं। उसने दक्षिण की स्कूइर्बा नदी को रेतीली भूमि से निकलने वाली सायँ-सायँ की आवाज का भी उल्लेख किया है। लेवेरी ने प्रसिद्ध उपन्यासकार सर आर्थर कानन डायल के उपन्यास "लास्ट वर्ल्ड" के वास्तविक अस्तित्व की खोज में दस वर्ष तक दक्षिण अमरीका के दुर्गमतम भू भाग की यात्रा की थी।

संसार के विभिन्न मरुस्थलों, रेतीली जमीनों तथा समुद्र के किनारे की भूमि पर अक्सर सुनी जाने वाली ये आवाजें हर जगह और हमेशा एक-जैसी नहीं रहतीं। कहीं बालू से सुरीली तथा कर्णप्रिय आवाज़ें निकलती हैं तो कहीं ऐसा लगता है कि जयघोष के रूप मे नगाड़े बजाते हुये सेना गुज़र रही है। कभी यह आवाज कुत्ता भौंकने जैसी है और कहीं क्रुद्ध साँपों के फुफकार के समान होती है कभी-कभी ऐसा लगता है मानो रेगिस्तान के लम्बे-चौड़े निर्जन एकान्त में देवदूतों की संगीत सभा जुट गयी है।

अमेरिका के हवाई द्वीप में आज भी ऐसे रेतीले टीले हैं जिनसे कुत्ता के रोने जैसी आवाज निकलती है। किंवदन्ती है कि एक कुत्ता भूल से इस टीलों की ओर गया था। बाद में कभी वह अपने मालिक के पास न लौट सका। स्थानीय लोगों का कहना है यह आवाज उसी भटके हुये कुत्ते की है।

एटलान्टिक महासागर में स्काटलैण्ड के पास है ब्राइड्स द्वीपसमूह है। यहां एक एग नाम का एक नन्हा सा द्वीप है। ऐसा लगता है जैसे वह रेत चीख कर किसी भावी घटना का संकेत दे रही है।

ईरान के रेगिस्तान में रेत के अनेक ऊँचे टीले हैं। यहाँ अक्सर वीणा की मनोरम आवाज़ सुनायी पड़ती है। सहारा का मरुस्थल भी इस विशेषता से अछूता नहीं है और वहाँ भी कुछ जगहों पर ऐसी आवाज़ें सुनायी पड़तीं हैं। फिर भी सहारा में ऐसी आवाज कम ही सुनायी पड़ती है।

आवाज़ों का रहस्य : १९३२ मे सेन्ट जान फिह्बी नामक एक यात्री ने इन रहस्यों पर कुछ प्रकाश डाला। अरब के मरुस्थल से गुजरने के दौरान उसे बूम-बूम की आवाज़ें सुनायी दीं। ऐसा लगता था मानो कहीं बहुत दूर एकसाथ कई जहाजों के भोंपू बोल रहे हों। फिह्बी जब आवाज आने वाले स्थल की ओर गया तो उसे ऐसा लगा कि आवाज बन्द हो जाती। बाद में उसने बताया कि बालू पर पैर के दबाव के कम्पन पैदा होते हैं और उसी कंपन के कारण यह आवाज निकलती है।

भूवैज्ञानिकों ने इन आवाज़ों का रहस्य जानने का पूरा-पूरा प्रयास किया। इन वैज्ञानिकों के अनुसार दबाव के अतिरिक्त एक कारण जमीन के अन्दर की कड़ी चट्टानों पर बालू का झरना भी है। जब यह बालू गिरती है खाली जगह की हवा बुलबुलों के रूप में आवाज के साथ बाहर निकलती है। कभी कभी मामूली हवा के झोकों से भी बालू में कंपन पैदा होता है जिससे शब्द तरंगें निकलती हैं।

लेकिन इसके साथ यह बात **भी** है कि बालू पर बिना किसी दबाव या हवा का जोर न होने पर दुनियां के विभिन्न रेगिस्तानों में अजीब आवाजें निकलती हैं। आज जब कि मनुष्य अन्तरिक्ष की दुनियां में पैर रख चुका है और आये दिन ऐसी बातें प्रकाश में आ रही हैं जिन पर अभी तक मनुष्य ने विश्वास नहीं किया इस बात पर विश्वास करना सम्भव नहीं कि ये आवाज़ें कुत्ता या भटके हुये सैनिकों की हैं।

रेगिस्तानों से निकलने वाली आवाजों के पीछे अवश्य कोई बड़ा रहस्य होना चाहिये।

ये रहस्य अभी वैज्ञानिक अनुसंधान की परिधि में नहीं आये हैं। यह विषय भूवैज्ञानिकों के लिये नहीं वरन् सम्पूर्ण आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिये चुनौती का विषय है। आशा है कि वैज्ञानिक इस चुनौती को स्वीकार करेंगे।

104/353, प्रेमनगर,
कानपुर

पृष्ठ 7 का शेषांश

शीघ्रता से सम्पादित करायें ताकि सभी लोग विशेष कर युवा पीढी अपने जीवन काल में ही इस अनुसंधान के परिश्रम का लाभ उठा सकें। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि अपक्षारीकरण की प्रक्रिया कम खर्च में होने लगे तथा सस्ती बिजली उपलब्ध हो जाय तो इससे अन्तः क्षेत्रों में भी अधिक लाभ उठाया जा सकता है। वास्तव में मानव इतिहास में ये तकनोकी विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण होंगे।

अनुवाद तथा संक्षेपक
डा० ओम प्रकाश
('केमिकल एज' में छपे लेख के आधार पर)

नोबल भौतिकविद् डा० जोसेफ्सन

श्याम लाल काकानी

सन् 1973 का नोबेल पुरस्कार (भौतिकी) तीन भौतिकविदों, डा० ब्रियान डी० जोसेफ्सन, डा० लियो इसाकी एवं डा० इवारग्वेवार को प्रदान किया गया था। डा० जोसेफ्सन को पुरस्कार का आधा भाग एवं शेष आधा भाग डा० इसाकी एवं डा० ग्वेवार को प्राप्त हुआ था। इन तीनों को यह पुरस्कार अतिचालकों एवं अर्ध चालकों में सुरंगन द्वारा विद्युत चालन की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण खोज के लिए प्रदान किया गया था। इस लेख में हम डा० ब्रियान डी० जोसेफ्सन एवं उनकी महत्त्वपूर्ण खोज के बारे में जानकारी प्रदान करेंगे।

डा० बी० डी० जोसेफ्सन

डा० ब्रियान डी० जोसेफ्सन—डा० ब्रियान डी० जोसेफ्सन अब तक नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले भौतिकविदों में सबसे कम उम्र वाले भौतिकविद् हैं। आपका जन्म 4 जनवरी सन् 1940 को हुआ अर्थात् अभी आप केवल 35 वर्ष के ही हैं। आपकी स्कूल शिक्षा कारडिफ हाई स्कूल में हुई एवं तत्पश्चात् आगे की शिक्षा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्राप्त की। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ही आपने सन् 1964 में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। आप सन् 1962 से ही ट्रॉनिटी कालेज, केम्ब्रिज के फेलो एवं सन् 1967 से केवेन्डिश प्रयोगशाला में सहायक निदेशक अनुसंधान के पद पर कार्य करते रहे हैं। सन् 1969 में डा० जोसेफ्सन को केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की भौतिकी की संस्था का फेलो चुना गया। इसी वर्ष आपको 'साइंटिस्ट एवार्ड' एवं 'रिसर्च कॉर्पोरेशन एवार्ड' प्राप्त हुए। सन् 1970 में आपको 'फ्रिट्ज लन्दन एवार्ड' प्रदान कर सम्मानित किया गया। इसी वर्ष आपको रॉयल सोसायटी का फेलो चुना गया। सन् 1972 में आप केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भौतिकी में रीडर बन गये। तभी से आप केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ही कार्य कर रहे हैं।

सन् 1962 में जब डा० जोसेफ्सन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक विद्यार्थी थे एक अत्यधिक चौंकानेवाली भविष्यवाणी की। इन्होंने पूर्ण सैद्धांतिक आधार पर यह प्रदर्शित किया कि

अवरोधक की एक अत्यंत पतली सतह द्वारा पृथक्कृत दो अतिचालकों के बीच बिना किसी विभवांतर के टनल या सुरंगन प्रक्रिया के कारण एक अति सूक्ष्म विद्युत् धारा प्रवाहित हो सकती है। इस प्रभाव को उन्हीं के नाम के पश्चात् '**जोसेफ्सन प्रभाव**' की संज्ञा प्रदान की गई। इसी महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के लिए इन्हें सन् 1973 में भौतिकी के नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पुरस्कार प्रदान करते समय स्वेडिश एकेडेमी (विज्ञान) ऑफ साइंस (भौतिकी) के सदस्य ने कहा कि डा० जोसेफ्सन की खोज का वर्तमान में भौतिकी के विकास पर अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

जोसेफ्सन प्रभाव—जोसेफ्सन प्रभावों की प्रकृति को समझने के लिए अतिचालकता की सैद्धांतिक व्याख्या के बारे में कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

अतिचालकता की खोज का श्रेय प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री कमरलिंग ऑन्स को मिलता है। सन् 1911 में शुद्ध पारे के साथ प्रयोग करते समय ऑन्स ने देखा कि पारे का ताप लगभग 4·2°K (−268·8C) तक कम करने पर पारे का दिष्ट धारा विद्युत प्रतिरोध बिना किसी पूर्व सूचना के एकाएक शून्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में दिष्ट धारा के लिए पारे की चालकता अनन्त हो जाती है। ऑन्स ने पारे की इस नई अवस्था को '**अति-चालकता**' की संज्ञा प्रदान की। अब तक लगभग 24 धातु तत्वों, 1000 से अधिक यौगिकों एवं मिश्र धातुओं व कई अर्ध चालकों की खोज हो चुकी है जो वायुमंडलीय दाब तथा परम शून्य के ताप सीमांतर में अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित करते हैं।

अतिचालकता की खोज के लगभग 55 वर्षों पश्चात् तक इसकी सर्वमान्य सैद्धांतिक व्याख्या करना संभव नहीं हो सका। सन् 1957 में डा० जॉन बार्डीन, डा० एल० एन० कूपर एवं डा० जॉन आर० शाइफर ने अतिचालक अवस्था के सूक्ष्म उद्गम एवं प्रकृति को समझने के लिए एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे बी० सी० एस० सिद्धान्त कहते हैं।

बी० सी० एस० सिद्धान्त की मुख्य भावना यह है कि अतिचालक अवस्था चालक इलेक्ट्रॉनों के युग्मन से उत्पन्न होती है। इलेक्ट्रॉनों का यह युग्मन उनके बीच आकर्षण बल उत्पन्न होने से होता है। यद्यपि इलेक्ट्रॉन ऋणावेशित होते हैं और दो इलेक्ट्रॉनों के मध्य कूलॉम प्रतिकर्षण होता है लेकिन कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में इलेक्ट्रॉनों एवं क्रिस्टल जालक कंपनों में अन्योन्य क्रिया (फॉनानों के आभासी आदान-प्रदान) के परिणाम-स्वरूप आकर्षण बल विकर्षण बल से अधिक प्रभावी हो जाता है और इलेक्ट्रॉनों का युग्मन हो जाता है। इलेक्ट्रॉन युग्मित अवस्था, अयुग्मित अवस्था से नीचे होती है एवं इन दोनों अवस्थाओं में ऊर्जा अंतराल होता है। परम शून्य ताप पर इलेक्ट्रॉनों का युग्मन पूर्ण होता है। क्रांतिक ताप से ऊपर या क्रांतिक मान से अधिक चुंबकीय क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनों का युग्मन टूट जाता है एवं अति-चालक पदार्थ सामान्य अवस्था में लौट आता है। यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक इलेक्ट्रॉन युग्म में संवेग एक ही होता है एवं प्रत्येक युग्म इलेक्ट्रॉनों का संवेग एवं चक्रण बराबर तथा विपरीत होते हैं।

इलेक्ट्रॉन की तरंग प्रकृति—हम इस तथ्य से परिचित हैं कि इलेक्ट्रॉन एक कण है लेकिन इसके साथ एक तरंग भी संबंधित होती है जिसकी तरंग दैर्घ्य (λ) हम निम्न सूत्र से ज्ञात कर सकते हैं।

$$\lambda = \frac{h}{p} = \frac{h}{mv}$$

जहाँ $h \rightarrow$ प्लांक का स्थिरांक।

एवं $p \rightarrow$ इलेक्ट्रान का संवेग।

स्पष्ट है कि हम एक इलेक्ट्रॉन की व्याख्या $\frac{h}{p}$ तरंग दैर्घ्य वाली एक तरंग से भी कर सकते हैं। क्वांटम-यांत्रिकी तरंग पैटर्न के रूप में एक ही संवेग वाले सभी इलेक्ट्रॉन युग्मों की तरंग दैर्घ्य भी एक ही होगी और ये सभी तरंगें एक ही कला में होंगी। यह एक पूर्ण रूप से विशुद्ध क्वांटम यांत्रिकी कथन है जो समस्त इलेक्ट्रॉनों के एक ही संवेग का परिणाम है। यही जोसेफ्सन प्रभाव को समझने की कुंजी है।

जोसेफ्सन प्रभावों को समझने के लिए हम इसका अध्ययन करना चाहेंगे कि एक अतिचालक में विद्युत धारा प्रवाहित करने पर क्या होता है ? यदि एक अतिचालक छड़ में दिष्ट धारा प्रवाहित कर सिरों के आरपार प्रयुक्त वोल्टमापी में देखें तो हम पायेंगे कि वोल्टमापी में विभवांतर का पाठ्यांक शून्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि छड़ का प्रतिरोध शून्य है अर्थात् छड़ अतिचालक अवस्था में है। अब मान लो कि इस अतिचालक छड़ को हम दो भागों में तोड़ देते हैं और दोनों भागों के मध्य दूरी 1 सेमी. रखकर इस प्रयोग को पुनः दोहराते हैं। स्पष्ट है कि छड़ के दोनों भागों के मध्य खुले परिपथ में कोई धारा प्रवाहित नहीं होगी और वोल्टमापी में केवल बैटरी का विभवांतर ही प्रदर्शित होगा।

यदि अब हम छड़ के दोनों भागों के बीच की दूरी को घटाकर 10^{-7} सेमी. के कोटि की कर दें (चित्र 1) तो निम्न में से कोई एक घटना घटित हो सकती है।

(i) भौतिक दृष्टि से छड़ के दोनों भाग अभी भी पृथक हैं और वोल्टमापी कोई भी विभवांतर प्रदर्शित नहीं करता है। फिर भी एमीटर, परिपथ में दिष्ट धारा प्रवाह को अंकित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि दिष्ट धारा अतिचालक छड के पृथक दोनों भागों में ही नहीं परन्तु दोनों के बीच अंतराल में भी प्रवाहित हो रही है। इसको दिष्ट धारा या डी. सी. जोसेफ्सन प्रभाव कहते हैं।

(ii) परिपथ में दिष्ट धारा के प्रवाह के साथ-साथ वोल्टमापी भी विभवांतर को अंकित करने लग जाये। समक्षणिक अंतराल से अति उच्च आवृत्ति के विद्युत् चुंबकी विकिरण भी प्रसर्जित होते हैं जो छड़ के दोनों भागों के बीच सूक्ष्म अंतराल में एक उच्च आवृत्ति प्रत्यावर्ती धारा की उपस्थिति की ओर संकेत करते हैं। इस प्रभाव को प्रत्यावर्ती या ए. सी. जोसेफ्सन प्रभाव कहते हैं।

चित्र—1

सैद्धांतिक विवेचना—हम ऊपर यह उल्लेख कर चुके हैं कि अतिचालक अवस्था में इलेक्ट्रॉन युग्मों की तरंगों की तरंग दैर्घ्य एक ही होती है एवं सभी तरंगें एक ही कला में होती हैं। जब अतिचालक छड़ को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है एवं दोनों के मध्य पर्याप्त दूरी होती है तो दोनों भागों में इलेक्ट्रॉन युग्मों का आदान-प्रदान संभव नहीं हो सकता है। लेकिन जब दोनों भागों के मध्य दूरी बहुत ही काम
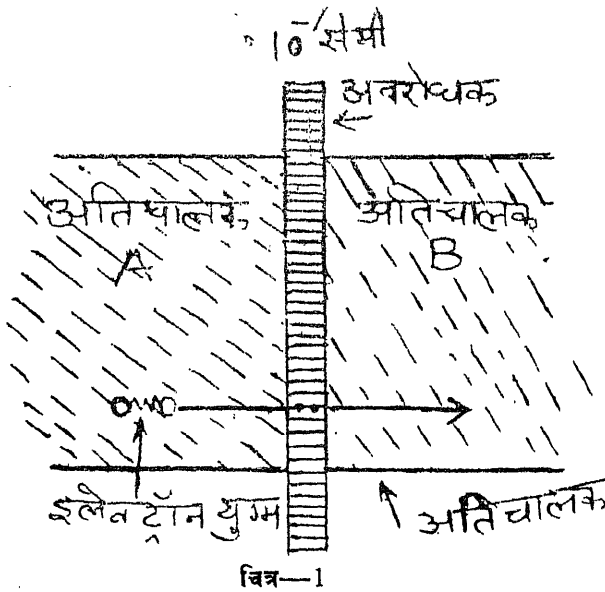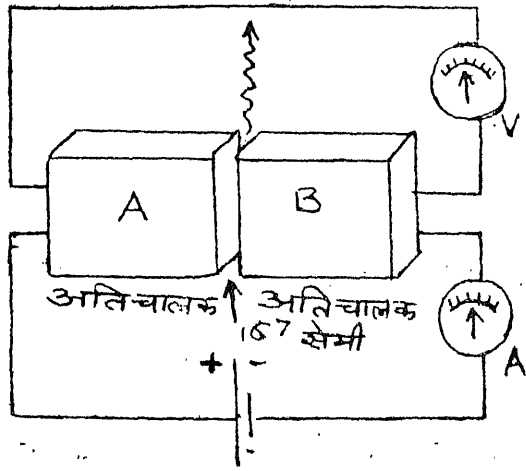
चित्र—2

(10^{-7} सेमी. की कोटि की) होती है तो टॅनल या सुरंगन प्रक्रिया द्वारा कुछ इलेक्ट्रॉन युग्मों का विनिमय होता है (चित्र 2)। यह एक क्वांटम यांत्रिकी प्रक्रम है एवं केवल सूक्ष्म कणों के लिए ही देखा जा सकता है। स्थूल कणों के लिए ऐसा संभव नहीं है। टॅनल प्रक्रिया के कारण प्रवाहित धारा को टॅनल धारा कहते हैं। टॅनल धारा की दिष्ट एवं परिमाण अवरोधक के दोनों ओर इलेक्ट्रॉन युग्म तरंगों के कलांतर पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि अवरोधक के दोनों ओर युग्मों के स्थानांतरण की दर को कलांतर या सापेक्ष कला को परिवर्तित कर कम या अधिक किया जा सकता है, लेकिन इस प्रकार की विशिष्ट युक्ति का निर्माण अभी संभव नहीं हो सका है।

टॅनल धारा अवरोधक के दोनों ओर तरंगों के कलांतर के ज्या (Sin θ) के सीधी समानुपाती होती है। कलांतर में π की वृद्धि से धारा की दिशा विपरीत हो जाती है।

जोसेफ्सन प्रभाव के उपयोग—जोसेफ्सन प्रभावों की प्रायोगिक पुष्टि के पश्चात् इस क्षेत्र में तेजी से अनुसंधान हो रहा है। इससे जोसेफ्सन प्रभावों के कई उपयोग सामने आये हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय एवं अत्यधिक महत्वपूर्ण उपयोग निम्न प्रकार हैं।

(i) **अत्यधिक लघु चुंबकीय क्षेत्रों का अभिज्ञान एवं नापना**—यदि अवरोधक में से गुजरने वाला संपूर्ण अभिवाह या फ्लक्स $\frac{h}{2e}$ (अभिवाह के आधारभूत 'क्वांटम') का एक 'बहु समाकल' है तो धारा शून्य हो जाती है। $\frac{h}{2e} = 2 \times 10^{-15}$ वेबर पर दिष्ट धारा जोसेफ्सन प्रभाव चुंबकीय क्षेत्र की उपस्थिति के अत्यधिक सुग्राही होता है। इसका (डी. सी. जोसेफ्सन प्रभाव) उपयोग अति लघु चुंबकीय क्षेत्रों के अभिज्ञान एवं नापने में किया जा सकता है। 0·25 टेसला सामर्थ्य के चुंबकीय क्षेत्र में 10^{-11} टेसला से कम परिवर्तन का अभिज्ञान भी संभव है।

(ii) **उच्च आवृति प्रदोलक**—यदि अवरोधक के सिरों के मध्य एक स्थिर लघु विभवांतर प्रयुक्त किया जाये तो ऋणात्मक वाले अतिचालक के भाग में तरंग कला धनात्मक विभव वाले अतिचालक भाग के सापेक्ष अति तेजी से परिवर्तित होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप धारा प्रदोलित होने लगती है। इसकी आवृत्ति $\frac{2ev}{h}$ होती है। $\frac{2e}{h} = 483{\cdot}6$ मेगाहर्ट्ज प्रति माइक्रो वोल्ट होता है अतः स्पष्ट है कि प्रदोलन आवृत्तियां अति उच्च होती हैं। इससे क्षीण विद्युत चुंबकीय तरंगें प्रसर्जित होती हैं। अतः ए. सी. अर्थात प्रत्यावर्ती जोसेफ्सन प्रभाव का उपयोग सूक्ष्मग्राही विद्युत चुंबकीय माप यंत्रों में उच्च आवृत्ति प्रदोलकों के रूप में हो सकता है।

(iii) जोसेफ्सन प्रभावों का उपयोग कर वोल्टता नापने के लिए ऐसे वोल्टमापियों का निर्माण हो चुका है जो 10^{-15} वोल्ट से भी कम वोल्टता नाप सकते हैं एवं जिनका समय स्थिरांक 1 सेकंड होता है। ऐसे चुम्बकत्वमापियों का निर्माण भी हो चुका है जिनकी विभेदन क्षमता 10^{-9} गाउस है। इन प्रभावों की सहायता से परिकलित्रों

[शेषांक पृष्ठ 21 पर]

प्लास्टिक पदार्थ

पुरुषोत्तम दास स्वामी

प्लास्टिक शब्द से तात्पर्य उन वस्तुओं से है जो लोचदार होने के कारण ताप या दाब या फिर दोनों की सहायता से मनोवांछित आकार में बना ली जाती हैं। यद्यपि लोचदार वस्तुओं को लिया जाय तो काँच तथा मिट्टी भी प्लास्टिक पदार्थों की श्रेणी में रखी जा सकती है। यही नहीं, कुछ धातुएँ भी लोचदार होती हैं। पर प्लास्टिक का उपयोग उन्हीं कार्बनिक पदार्थों तक ही सीमित रखा गया है, जो यद्यपि साधारण तापमान पर ठोस अवस्था में रहते हैं पर जिनका औद्योगिक कार्यों में प्रयोग ऊँचे तापमानों पर कर उनसे व्यापारिक वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। विभिन्न प्लास्टिक पदार्थों में अनेक गुण पाये जाते हैं, पर सामान्यतः औद्योगिक कार्यों में उनका उपयोग उनके कम आपेक्षिक घनत्व, निर्माण कार्य में सुगमता, विलायकों के प्रति अवरोध तथा न्यून तापीय तथा विद्युत संवाहकता के कारण अधिक हो चला है। कई प्लास्टिक पदार्थों में अभिरंजन का गुण अधिक रहता है जिसके कारण रंग-बिरंगे प्लास्टिक पदार्थों को सजावट के काम में लाया जाता है जबकि दूसरे प्लास्टिक पदार्थ पारदर्शक होते हैं और उनका वर्त्तनाङ्क अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसके कारण उनका उपयोग प्रकाश संबंधी यंत्रों में किया जाता है।

प्लास्टिक पदार्थों में कई संघटक होते हैं। ये बंधक, पूरक, वर्णक, सुघट्यक अर्थात् लोचप्रदायक स्नेहक, विलेयक तथा उत्प्रेरक हैं। प्लास्टिकों का श्रेणी विभाजन या वर्गीकरण उनके निर्माण में प्रयुक्त बंधक के आधार पर किया जाता है। बंधक का काम दूसरे संघटकों का परस्पर गठबंधन करना है। यह प्लास्टिक में 30 से 100 प्रतिशत तक मात्रा में रहता है। बंधक कृत्रिम या प्राकृतिक उद्यास अर्थात् राल होते हैं या फिर सैल्यूलोज-प्रसूत पदार्थों का बंधक के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में बड़े-बड़े अणु रहते हैं। बड़े अणु वाले पदार्थ बनाने के लिए संघनन तथा बहुभाजन प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है।

संघनन में छोटे अणु मिलकर बड़े अणु बनाते हैं, पर साथ ही दूसरे अणु को जो साधारणतः पानी होता है, निकाल बाहर कर देते हैं। बेकेलाइट के निर्माण में फीनोल के अणु फार्मल्डो-हाइड के अणुओं द्वारा परस्पर जुड़ जाते हैं और पानी का अणु अलग हो जाता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक एक बहुत बड़ा अणु नहीं बन जाता। यह परिवर्तन ताप तथा क्षारीय या अम्लीय उत्प्रेरक द्वारा संभव होता है।

बहुभाजन में असंतृप्त यौगिकों के अणु एक दूसरे के साथ जुड़ते चले जाते हैं। प्रत्येक गठबंधन में एक दुहरा बंधन टूट कर इकहरा रह जाता है। पोलिस्टाइरीन राल इसी भाँति बनती है। इस प्रकार एक लंबी शृंखला-सी बन जाती है। यदि बहु भाजन में गठबंधन दो अलग पदार्थों का हो तो इसके फलस्वरूप बनने वाला यौगिक सह बहु-भाजक कहलाता है।

शीत संचकन—गर्म किये बिना ऊँचे दाब पर सांचे में ढाल कर प्लास्टिक वस्तुएँ इस विधि से बनाई जाती हैं। इसके बाद इसे सांचे में से निकाल कर पकाया जाता है जिससे विलायक का अनावश्यक भाग निकल जाय और फीनोल युक्त उद्यास वाले प्लास्टिक पदार्थ का और संघनन व दृढ़ीकरण संभव हो सके।

संपीड़न संचकन—सांचे में कच्चे माल को भर कर निम्न दाब पर इसे बंद कर दिया जाता है। इसके पश्चात् उसे मध्यम तापमान अर्थात् 250° से 350° फारेनहाइट पर तथा ऊँचे दाब —500 से 5000 पौंड प्रति वर्ग इंच पर गर्म किया जाता है। इसके उद्यास का अभिसाधन भी हो जाता है। इस विधि का उपयोग थर्मोसेटिंग प्लास्टिक वस्तुएँ बनाने में किया जाता है।

अंतःक्षेपण संचकन—एक उपयुक्त कक्ष में थर्मोप्लास्टिक पदार्थ को रखकर उसे गर्म किया जाता है। इस कक्ष का संबंध एक नली द्वारा सांचे से रहता है। गर्म किये गये प्लास्टिक को बरबस 300 से 4000 पौंड प्रति वर्ग इंच दाब पर अपेक्षाकृत ठंडे सांचे में भेजा जाता है, जहाँ पहुँच कर वह ठंडा होने पर कड़ा पड़ जाता है और तब सांचे में से प्लास्टिक वस्तु निकाल ली जाती है। अंतःक्षेपण के लिए अपेक्षित तापमान 200° से 500° फारेनहाइट है। उत्क्षेपण के समय तापमान 125° फारेनहाइट रह जाता है। इस विधि का उपयोग थर्मोप्लास्टिक वर्ग के पदार्थों के लिए ही किया जाता है।

स्थानांतर संचकन—यदि विधि अंतःक्षेपण विधि का ही परिवर्तित रूप है। इस विधि को थर्मोसेटिंग प्लास्टिक के अनुकूल बनाया गया है। सांचे में ढाले जाने वाले पदार्थ को ताप व दाब द्वारा संचे से बाहर एक कक्ष में गर्म कर के फिर उसे सांचे में अंतः क्षेपित किया जाता है, जहाँ पर दाब तथा ताप से उद्यास का अभिसाधन होता है। साधारण संपीड़न संचकन विधि की अपेक्षा इस प्रकार बहुत सी जटिल आकार वाली वस्तुएँ निर्मित की जा सकती हैं।

यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण प्लास्टिक पदार्थों का वर्णन करना असंगत न होगा।

पोलीविनिल प्लास्टिक—पोलीविनिल यौगिकों से बहुमूल्य थर्मोप्लास्टिक उद्यास बनते हैं। संश्लेषण के लिये ऐसिटीलोन को लिया जाता है। इसमें एक अम्ल वर्ग जोड़ कर विनिल क्लोराइड बनाया जाता है जो बहुभाजन के लिये इकाई का काम देता है। विनिल क्लोराइड का रासायनिक सूत्र CH_2CHCl हैं। विनिल क्लोराइड की कई इकाइयों के ढीले गठबंधन से एक लंबी शृंखला का निर्माण होता है। इस प्रकार बना पदार्थ थर्मोप्लास्टिक वर्ग में परिगणित होता है। विनिल क्लोराइड के स्थान पर विनिल ऐसिटेट का प्रयोग भी इकाई के रूप में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन दो विभिन्न इकाइयों को जोड़ कर के उनके बहुभाजन से मिश्रित विनिल क्लोराइड-ऐसिटेट पदार्थ तैयार किया जाता है। यदि पोलीविनिल ऐसिटेट को जलांशित करके पोलीविनिल अलकोहल बना कर उसे ऐसिटाल्डीहाइड के साथ संघनित कर लिया जाय तो पोलीविनिल ऐसिटइरल बनता है। यदि ब्यूटिल-एल्डीहाइड को साथ बहुभाजित किया जाय तो ब्यूटासल नामक पदार्थ बन जाता है। ये दोनों निम्न तापमान पर भंगुर नहीं होते, इनका उपयोग दलमय फिल्म तरह मोटर गाड़ियों के विंडशील्ड के लिये सुरक्षा काँच में किया जाता है।

पोलीविनिल क्लोराइड वाले प्लास्टिक चिमड़े, अदहनशील तथा ऑक्सीकरण-प्रतिरोधक होते हैं। विनिलक्लोराइडट-ऐसिटेट की चद्दरें भी बनाई जाती हैं। ये ग्रामोफोन की चूड़ियाँ बनाने के लिए बड़ी अच्छी रहती हैं। ये निर्मल तथा पारदर्शक होते हैं। यदि चाहें तो इन्हें रंगीन भी बनाया जा सकता है। इनमें जलशोषण बहुत कम होता है। विद्युत-विसंवाहक के रूप में भी ये प्रयुक्त होते हैं।

इनके चिमड़ेपन के कारण इनको स्नानघर में पर्दे, बरसाती व बेल्ट बनाने तथा फर्नीचर में काम में लाया जाता है। परिदृढ़ प्लास्टिक का सजावट की वस्तुएँ बनाने तथा खिड़कियों के चूर-चूर न होने वाले दरवाजे तैयार करने में उपयोग किया जाता है।

वे विनिल उद्यास जिनमें सुघट्यकारी भारी मात्रा में मिलाये गये हों, इतने नर्म होते हैं कि उन्हें ऊपरी दृढ़ उद्यासों में रखा जाता है। उनमें प्रत्यास्थता होती है पर रबड़ जितनी नहीं पर वह तैल, पानी तथा आक्सीकरण प्रतिरोधक रबड़ से कहीं अधिक होती है। इनका उपयोग यांत्रिक तथा वैद्युत् व्यवसाय में किया जाता है,

विनिलीडीन प्लास्टिक—ये इथिलीन से बनाये जाते हैं। ये विनिल प्लास्टिक सरीखे ही हैं परइनमें क्लोरीन को दो अणु प्रत्येक इकाई में होते हैं। विनिलीडीन का रासायनिक सूत्र$CH_2 \, C \, Cl_2$है। बहुभाजित तथा सुघट्यतामय पदार्थ इतना चिमड़ा होता है कि उसको उत्सारंण द्वारा तंतु तैयार किये जाकर उनसे उन गाड़ियों की सीटें बनाई जाती हैं जिनमें अन्य वस्तुओं से बनी सीटें अल्पकालीन होती हैं। इसके खिड़कियों के लिये पर्दे तथा फौज के सिपाहियों के लिये जूतों को भीतरी तले बनाये जाते हैं।

पोलीस्टाइरीन—स्टाइरीन फ़ीनिल ईथिलीन है। इसका सूत्र $C_6 \, H_5—CH=CH_2$ है। इसके बहुभाजन से पोलीस्टाइरीन बनाया जाता है। यह संश्लेषित रबड़ ब्यूना-एस का एक मुख्य संघटक है। पोलीस्टाइरीन प्लास्टिक काँच के समान पारदर्शक भी होते हैं। इस प्लास्टिकों थर्मोप्लास्टिक वर्ग में रखा गया है। इसका उपयोग बिजली उद्योग में प्रचुर परिमाण का होता है। विशेषत: रेडियो में पोलीस्टाइरीन का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि यह जिस बहुत उत्तम कोटि का विसंग्राहक है, चाहे दूसरे प्रकार और जहाँ लगाया जा सकता है और यह काफी सस्ता पदार्थ है। इसमें जल का शोषण बिलकुल नहीं होता, इसका आतनन बल भी अच्छा है और इसमें तन्यता न्यूनमात्रा में होती है। इसको फेनिल रूप में बनाया जा सकता है। ऐसा पदार्थ काँच, कार्क तथा खनिज ऊन से बहुत हलका होता है और इसकी ताप-चालकता इन तीनों पदार्थों की अपेक्षा कम होती है। इसका भार प्रति घन फुट २ पौंड से अधिक नहीं होता।

पोली एथिलीन या इथीन—इथिलीन सरलतम तथा सुगमता से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध तथा सस्ता असंतृप्त हाइड्रोकार्बन है। इसका बहुभाजन कठिनता से होता है पर ऊँचे दाब के प्रयोग से इसे श्रृंखलाबद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार इथीन बनता है। इसमें बहुत उत्तम कोटि के वैद्युत् गुणों का समावेश होता है।

टेट्रा फ्लोरो एथिलीन के बहुभाजन से बना प्लास्टिक टेफ्लन 600°F तक ताप तथा—70°F के प्रशीतन को सह लेता है। नट चालित इंजिनों में इसका प्रयोग किया जाता है।

फीनोल-फार्मल्डीहाइड उद्यास—बेकेलाइट इसी कोटि का प्लास्टिक पदार्थ है। इस प्रकार के प्लास्टिक के निर्माण में दो विभिन्न पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से एक फार्मल्डीहाइड है, जिसे फार्मलन भी कहते हैं। यह मीथेनोल से बनाया जाता है। यह गैसीय पदार्थ है और इसकी गंध बड़ी तीखी होती है। बाजार में यह 40% घोल के रूप में मिलता है। इनमें थोड़ा सा मीथेनोल भी रहता है। दूसरा पदार्थ फीनील है जो बेंजीन से प्राप्त होता है। इसे कार्बोलिक अम्ल भी कहते हैं। यह कीटाणुनाशक पदार्थ के रूप में व्यवहृत होता है। उपयुक्त उत्प्रेरक की उपस्थिति में ये दोनों पदार्थ एकसाथ गर्म किये जाने पर संयोजित हो जाते हैं और जटिल यौगिकों का निर्माण करते हैं। ये दोनों यौगिक पानी में घुल जाते हैं पर इनसे बना प्लास्टिक पदार्थ

ठोस तथा पानी में अघुलनशील होता है और गर्म किये जाने पर पिघलता नहीं। फार्मलीन के स्थान पर फरफ्यूरल का भी प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार बना उद्यास सामान्य तापमान पर ठोस होता है पर गर्म किये जाने पर वह गर्म हो जाता है। यह बाजार में चूरे के रूप में मिलता है। इसमें खनिज वस्तुएँ तथा तंतु मिलाये जा सकते हैं। वस्त्र तथा कागज को इस उद्यास के घोल में डुबो कर तथा कुछ गर्म करके उनकी दलमय चद्दरें दाब कर बनाली जाती हैं।

यूरिया एवं मीलेनाइन-ग्रारडीराइडउदयास फार्मल्डीहाइड या फरफ्यूरल को ऐमिनो यौगिकों के साथ भी संघनित किया जा सकता है। सरलतम तथा सबसे अधिक व्यवहृत ऐमाइन यूरिया है। यह अमोनिया तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड के संयोग से बनाया जाता है। साइनेमाइड के बहुभाज पदार्थ मीलेमाइन को भी यूरिया के स्थान में आजकल काम में लेने लगे हैं। ये दोनों थर्मोसेटिंग उद्यास बनाने के काम में आते हैं। इनसे बने पदार्थ नाना रंगों में मेज, रेडियो की पेटियों तथा बटन आदि वस्तुएं तैयार करने में प्रयुक्त होते हैं। यूरिया वाले प्लास्टिक पदार्थ 1.3% तक जल का शोषण करते हैं। उनका आतनन बल,ताप प्रतिरोध तथा दहनशीलता फीनोलमय पदार्थों के सरीखी हैं, इनकी भंगुरता कम करने के लिये इनमें सेल्यूलोज प्लास्टिक की काफी अधिक मात्रा मिला दी जाती है।

मीलेमाइन से बनाये गये उद्यास अधिक कठोर तथा भंगुर होते हैं पर ऊँचे तापमान पर भी इनकी पारभासकता बनी रहती है। हवा-पानी का असर इन पर अधिक नहीं होता। इनका प्रयोग बिजली के उपकरणों में किया जाता है।

नाइलोन पोलीएमाइड—नाइलोन का उपयोग अधिकत: वस्त्र उद्योग में किया जाता है, पर इससे थर्मोप्लास्टिक उद्यास भी तैयार किये जाते हैं जो अधिक चिमड़े व तन्य होते हैं और जिनका आतनन बल बहुत अधिक होता है। पर चूंकि यह महँगा पड़ता है, इसका इस काम के लिये व्यवहार सीमित है। नाइलोन ऐडिपिक अम्ल के एक अणु को हेक्सामेथिलीन डाई-ऐमाइन के एक अणु के साथ मिलाकर फिर बहुभाजन द्वारा बनाया जाता है। इसे बिना वियोजन की आशंका के पिघलाया जा सकता है। इसका मणिभीय गठन होता है तथा इसके तंतु को ठंडा करने के बाद फैला कर मजबूत किया जा सकता है। नाइलोन का रासायनिक संगठन प्राकृतिक रेशम जैसा है।

कसीन निर्मित प्लास्टिक—दूध में खटाई डालने पर जो दही जमता है, उसमें अधिकत: कैसीन होता है। सोयाबीन से तेल निकाल लेने के बाद बच रही खली में कैसीन सरीखा पदार्थ अलग किया जा सकता है। कैसीन प्रोटीन पदार्थ है। प्रोटीन ऐमीनो वर्ग के यौगिक होते हैं। कैसीन यूरिया की भाँति फार्मल्डीहाइड के साथ संघनित होकर प्लास्टिक पदार्थ बनाता है। इसे अच्छी तरह अभिरंजित भी किया जा सकता है। कैसीन प्लास्टिक को छड़ों तथा चद्दरों के आकार में तैयार किया जाता है। इन छड़ों एवं चद्दरों से अभीष्ट आकार की वस्तुएं मशीन द्वारा बना ली जाती हैं। ये चीजें बटन, बक्कल तथा अन्य सजावट की वस्तुएँ होती हैं।

ऐल्किड या ग्लिप्टक प्लास्टिक—थैलिक निरुदक तथा ग्लिसरीन के संयोग से इस वर्ग का प्रथम उद्यास तैयार किया गया था। ग्लिप्टल इन्हीं दो यौगिकों के नामों का संक्षिप्त रूप है। ऐल्किड प्लास्टिक पोलीहाइड्रिक एलकोहल तथा बहुक्षारीय अम्लों के संयोग में तैयार किये जाते हैं। इन दो यौगिकों में बहुधा सुखाने वाले तेल मिला कर इनके परिवर्तित रूप बनाये जाते हैं, जो वार्निश बनाने तथा मोटरगाड़ियों की रंगाई में काम आते हैं।

मेथाक्राइलेट प्लास्टिक—ऐक्राइलिक अम्ल के मेथिल एलकोहल जिसे मीथेनोल भी कहते हैं एस्टर का औद्योगिक व्यवसाय में उपयोग बढ़ चला है। ऐक्राइलिक अम्ल का सूत्र $CH_2=CHO$ OH है। इसमें दुहरे बंधान के कारण बहुभाजन की संभावना है। इस अम्ल के एस्टर थर्मोप्ला-स्टिक गर्व के उद्यास हैं। ये अच्छे पार-दर्शक होते हैं। इनमें प्रकाश का संचरण 20-12-70 तक हो सकता है। इनकी पारदर्शिता, हलकापन तथा संचकन की सुगमता के कारण मुड़ी हुई खिड़कियों तथा हवाई जहाज के पारदर्शक भाग बनाने में इनका उपयोग किया जा सकता है। इसकी चद्दर का भार उतनी बड़ी कांच की प्लेट का आधा होता है पर इसमें काँच से बहुत कम कठोरता तथा अपघर्षक प्रतिरोध होता है। अतः जहाँ हलकेपन का अधिक महत्व न हो, वहाँ इसके काँच की जगह काम में लिये जाने की संभावना अधिक नहीं है।

ऐलिल एलकोहल से निर्मित प्लास्टिक—इसे विनिल कार्बिनोल भी कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र $CH_2=CH—CH_2OH$ है। इस एलकोहल से बना प्लास्टिक चिमड़ा, मणिभ वह निर्मल तथा टिकाऊ होता है। ये प्लास्टिक उतने ही निर्मल होते हैं जितने मीथा क्राइलैट प्लास्टिक पर। ये बहुत दृढ़ और अच्छे अपघर्षण प्रतिरोधक हैं।

सैल्यूलोज निर्मित प्लास्टिक—रुई एक मजबूत तथा टिकाऊ तंतुमय पदार्थ है। यह लगभग सारी की सारी सैल्यूलोज की बनी होती है। मानव ने अभी तक सैल्यूलोज का संश्लेषण नहीं किया पर इसके जटिल गठन के बारे में हमारा ज्ञान काफी विस्तृत है। ऐसा माना जाता है कि प्रकृति कार्बन डाई-ऑक्साइड तथा पानी से सैल्यूलोज का निर्माण करती है। इस हरी पत्तियों के क्लोरोफिल कोषों में सूर्य के प्रकाश में संयोजित करके फार्मल्डीहाइड में बदल दिया जाता है। बच रहे आक्सीजन को वायुमंडल को प्रदान कर दिया जाता है। फार्मलीन के छः अणुओं के संयोग से घुलनशील मधु शर्करा का निर्माण होता है। यदि बहुभाजन चलता रहे तो पानी के कुछ निष्कासन के साथ जो पदार्थ बनते चले जाते हैं, वे क्रमशः कम घुलनशील जटिलतर होते हैं और अंततः अघुलनशील पदार्थ बनता है। श्वेतसार एक ऐसा ही पदार्थ है। बहुभाजन के विभिन्न मार्ग का अनुसरण करने पर अघुलनशील सैल्यूलोज सरीखा पदार्थ बनता है।

सैल्यूलोज का रासायनिक संगठन एक जटिल एलकोहल सरीखा है। अन्य अलकोहल की तरह यह भी अम्लों के साथ मिल कर एस्टर बना है। सैल्यूलोज की प्रति अणु इकाई में तीन सक्रिय हाइड्रोक्सिल वर्ग रहते हैं, जिनकी अम्ल के साथ अभिक्रिया संभव है और इस प्रकार एक, दो या तीन अम्ल वर्ग के साथ इसके एस्टर बन सकते हैं। इन्हें कार्बनिक विलायकों में घोला जा सकता है जिससे गाढ़ा सांद्र घोल बनता है। इस घोल में सुघट्यकारी पदार्थ मिलाकर थर्मोप्लास्टिक उद्यास तैयार किये जा सकते हैं। सेल्यूलोज के एस्टर बनाने के लिये मुख्यतः ऐसिटिक अम्ल तथा शोरे के अम्ल का उपयोग किया जाता है। प्रोप्रियोनिक तथा ब्यूटाइरिक अम्ल का भी प्रयोग किया जाता है।

पायरोक्सिलन प्लास्टिक—सैल्यूलोज पर जो परिशोधित रुई या लकड़ी की लुगदी के रूप में होता है समाहृत शोरे के तथा गंधक के अम्लों की अभिक्रिया द्वारा नाइट्रोकरण से इसके एस्टर तैयार किये जाते हैं। यदि सैल्यूलोज नाइट्रेट में कर्पूर मिला दिया जाय तो जो प्लास्टिक पदार्थ तैयार होता है, वह सैयूल्लायड नाम से विख्यात है। कर्पूर सुघट्य कारी का काम करता है। सैल्यूलायड मध्यम तापमान पर लोचदार बन जाता है पर सामान्य तापमान पर कम होता है। इससे कंघे, फाउंटेनपेन तथा अन्य शृंगारिक वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। यह रंगहीन तथा पारदर्शक या हलके तथा चमकीले रंगों में तैयार किया जा सकता है। पहले यह दलमयसुरक्षा

काँच के बनाने में प्रयुक्त होता था पर चूँकि सूर्य के पराबैंजनी प्रकाश में इसका रंग उड़ जाता है और काँच पर इसकी चोट कम हो जाती है, आज-कल इस काम में इसे नहीं लिया जाता। यह बड़ा ही दहनशील पदार्थ है, अतः इसकी उपयोगिता सीमित है। इसका उत्सारण या ढलाई की जा सकती है। इसके लिये इसे दाह्यशील घोलक में मिला कर इसका गाढ़ा घोल बनाया जाता है। इसके संचकन के लिए संपीड़न या अंतःक्षेपण विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

सैल्यूलोज ऐसिटेट—यह सैल्यूलोज का एसीटिक अम्ल के संयोग से बना एस्टर है। इसे विभिन्न कार्बनिक विलायकों में घोला जा सकता है। इस प्लास्टिक की चीजें तैयार करने के लिए उत्सारण विधि का सहारा लिया जाता है। इसके तंतु भी बनाये जा सकते हैं और इस प्रकार नकली रेशम अर्थात् रेयोन के बनाने में इस ऐस्टर का प्रयोग किया जाता है। वस्तुओं को पैक करने के लिए इसकी पारदर्शक फिल्म बनाई जाती है। घोलक के वाष्पीभूत होने के बाद बचे पदार्थ से संचकन द्वारा प्लास्टिक की नाना वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं। इससे पारदर्शक या चमकीले रंग-बिरंगे पदार्थ बनाये जा सकते हैं।

सैल्यूलोज ब्युटाइरेट ऐसिटेट सरीरखा ही होता है पर यह अधिक नर्म होता है। दोनों को मिलाकर सैल्यूलोज ऐसिटो-ब्युटाइरेट प्लास्टिक बना लिया जाता है। मोटर गाड़ियों में प्रयुक्त सुरक्षा कोच बनाने में इस प्लास्टिक पदार्थ की परतें काम में लाई जाती हैं। यह जाड़े में भंगुर हो जाता है अतः इसके स्थान पर ब्युटाइरल का प्रयोग किया जाता है।

एथिल सैल्यूलोज—सैल्यूलोज को विभिन्न अनुपात में इथेनॉल अर्थात् एथिल एलकोहल के साथ मिलाकर एथिल सैल्यूलोज बनाया जाता है। इससे संचकित वस्तुएँ तथा परिदृढ़ फिल्म तैयार की जाती हैं। यह एक रंगहीन पारदर्शक थर्मोप्लास्टिक पदार्थ है। इसे मनोवांछित रंग से अभिरंजित किया जा सकता है। यह खूब चिमड़ा तथा लचकीला होता है और अत्यंत निम्न तापमानों पर भी इसके इन गुणों में कोई अंतर नहीं पड़ता।

प्लायोफार्म—यह प्लास्टिक पदार्थ नये ढंग का है। इसका निर्माण करने में रबड़ का प्रयोग किया जाता है। रबड़ की तरह यह भी अम्ल एवं क्षार प्रतिरोधक है। इसमें न तो गंध और न ही स्वाद होता है। इसे कई रंगों में अभिरंजित किया जा सकता है। इससे पारदर्शक या पारभासक दोनों प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

प्लास्टिक पदार्थों का उपयोग रेडियो, विद्युत् यंत्रों, टेलीफोन आदि के खोल रेडियो, के बटन, मोटर गाड़ियों तथा विभिन्न घरेलू उपयोग के यंत्र, धूप से बचने के लिये चश्मे, दीपक तथा चक्षुष यंत्र, बरसाती, मेजपोश, फाउंनटेनपेन, प्याले, गिलास, हत्थे, चश्मे के फ्रेम आदि अनेक वस्तुओं के निर्माण में किया जाता है। एक तरह से हमारे दैनिक जीवन में प्रयुक्त बहुत सी वस्तुएँ प्लास्टिक की ही बनी होती हैं। जिधर भी हमारी दृष्टि जाती है, उधर ही हमें प्लास्टिक वस्तु के दर्शन होते हैं। एक तरह से वर्तमान युग को प्लास्टिक युग कहा जा सकता है। हमारे दैनंदिन जीवन में प्लास्टिक का इतना आधिपत्य हो चला है कि कल यदि प्लास्टिक का नाम-निशान भी न रहे तो हमें इसका अभाव बहुत अखरेगा।

प्लास्टिक के पदार्थ यदि एक ओर लचकीले एवं नर्म होते हैं तो दूसरी ओर वे इस्पात से भी अधिक मजबूत पाये जाते हैं जिन्हें मोड़ना लोहे के चने चबाना जैसा होगा। हम चाहें तो प्लास्टिक की बनी पारदर्शक वस्तु प्राप्त कर सकते हैं और यदि पारभासक या बिलकुल अपारदर्शक प्लास्टिक अभीष्ट हो तो वह भी दुष्प्राप्य नहीं। रंगहीन तथा रंग-बिरंगे प्लास्टिक पदार्थ बाजार में सर्वत्र सुलभ हैं। राजमहलों तथा गरीबों की झोपड़ियों में कहीं भी जाने में इसको तनिक हिचक नहीं होगी

वसुमती, 478 राणीसर मार्ग,
पावर हाउस के पास,
बीकानेर, राजस्थान

बाल विज्ञान

तड़ित तथा·तड़िच्चालक

वर्षा ऋतु में बादलों में जब बिजली चमकती है तो इसका कारण जानने की इच्छा सबके मन में होती होगी। कुछ लोग इसका संबंध भगवान श्रीकृष्ण के जन्म से जोड़ते हैं।

श्रीकृष्ण भगवान का जन्म कंस के कारागार में हुआ था। जन्म कारागार में क्यों हुआ इसकी कहानी व कारण हम सभी जानते हैं। श्रीकृष्ण वसुदेव व देवकी की आठवीं सन्तान थे और उन्हें जीवित रखने के लिए वसुदेव नन्द के यहाँ कर आये और उनकी पुत्री को उठा लाये। जब कंस को आठवीं संतान उत्पन्न होने की सूचना मिली तो वह कारागार में आया और जैसे ही उसने उस पुत्री को पत्थर पर पटक कर मारना चाहा वह उसके हाथ से छिटक कर आकाश में यह कहकर चली गई कि मुझे क्या मारते हो तेरा मारने वाला अन्यत्र है। कहते हैं कि वही लड़की आकाश में जाकर बिजली बन गई। तभी से यह अंधविश्वास प्रचलित है कि बिजली चमकने पर मामा भान्जे को साथ-साथ नहीं रहना चाहिये।

परंतु बिजली के अस्तित्व का कारण वैज्ञानिक है। इसका कारण जानने के लिए हम वैज्ञानिक बेंजमिन फ्रैंकलिन के ऋणी हैं जिन्होंने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि बादलों में चमकने वाली बिजली विद्युत का ही रूप है।

सन् 1752 में फ्रैंकलिन ने एक पतंग ली और बांस की कमानियों के स्थान पर लोहे की कमानियां लगाईं। पतंग में एक लम्बी रेशम की डोरी बांधी। डोरी में पकड़ने के स्थान से थोड़ी दूर पर उन्होंने एक लोहे की चाभी बाँध दी और जब घनघोर वर्षा हो रही थी और बिजली चमक रही थी तो उन्होंने पतंग उड़ाकर उसे बादलों तक पहुँचा दिया। कुछ देर बाद जब उन्होंने चाभी को छुआ तो उन्हें बड़ी जोर का झटका लगा। बादल की बिजली लोहे की कमानियों में आई और रेशम की डोर भीग जाने से उसमें भी विद्युत प्रवाहित हो गई और इस प्रकार लोहे की चाभी में आ गई। इससे प्रमाणित हो गया कि आकाश में चमकने वाली बिजली वास्तव में एक विद्युत है। यह दो बादलों के आपस में रगड़ खाने के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह एक प्रकार की घर्षण विद्युत है। बिजली बड़े जोर से चमकती है जो आँखों में चकाचौंध पैदा करती है। घर्षण द्वारा उत्पन्न ऊष्मा से वायु एकाएक फैल जाती है और बादलों में लटके हुए पानी के कण ज़ोर से फूटते हैं जिससे गर्जन उत्पन्न होती है।

आकाश में उत्पन्न हुई बिजली जब कभी कहीं गिर जाती है तो वहाँ जान-माल की बड़ी हानि होती है। बड़े-बड़े मकान गिर जाते हैं, पेड़ जल जाते हैं मनुष्य मर जाते हैं, और अन्य हानियाँ हो जाती हैं।

सौभाग्य से बेंजामिन फ्रैंकलिन ने यह भी सिद्ध किया कि यह घर्षण विद्युत है और यदि इसे कोई रास्ता मिल जाये तो यह बिना हानि किये पृथ्वी के अन्दर चली जायगी। मकानों से होकर यह पृथ्वी में नहीं जा सकती। इसके लिए उन्होंने सुझाव दिया कि यदि इमारत के ऊपर कोई विद्युत सुचालक धातु का मोटा पत्तर लगा दिया जाय जिसका ऊपर वाला सिरा त्रिशूल के आकार का हो और इसका दूसरा सिरा पृथ्वी में अन्दर तक गाड़ दिया जाय तो उस इमारत पर गिरने वाली बिजली इस पत्तर द्वारा पृथ्वी के अंदर चली जायगी और इमारत को हानि नहीं होगी। धातु के इस पत्तर को तड़िच्चालक कहते हैं। बड़ी-बड़ी इमारतों पर इस प्रकार का यंत्र प्रायः देखने को मिलता है।

विजया चौहान, कक्षा ८
संत अन्थोनी स्कूल

सूरज क्यों चमकता है ?

आपको जानकर यह आश्चर्य होगा कि रात में चमकने वाले तारे तथा दिन में प्रकाश फैलाने वाला सूरज दोनों एक ही तरह के हैं।

वास्तव में हमारा सूरज भी एक तारा है बस अन्तर केवल यह है कि और तारे जहाँ पृथ्वी से बहुत दूर है इनकी तुलना में यह तारा हमारे सबसे नजदीक है। इस पर ही हमारा जीवन निर्भर है। यदि सूरज की गरमी न होती तो पृथ्वी पर जीवन पनपने का प्रश्न ही नहीं उठता था। सूर्य के प्रकाश के अभाव में न पेड़ पौधे होते न जानवर होते और न कोई अन्य छोटा से छोटा प्राणी।

सूर्य हमारी पृथ्वी से 93000000 मील दूर है। इसका आयतन पृथ्वी से 1300000 गुना अधिक है। इसके बारे में एक रोचक तथ्य यह है कि वह हमारी पृथ्वी की तरह ठोस नहीं है।

सूर्य के धरातल का तापमान 11000 डिग्री फारेनहाइट है। इतनी गर्मी किसी भी पत्थर या धातु को गैस के रूप में परिवर्तित करने के लिये काफी है। इस तरह सूर्य गैसों के एक गोले की तरह है।

वर्षों पहले से ही वैज्ञानिक विश्वास करते आ रहे हैं कि सूरज इसलिए चमकता या प्रकाश और गर्मी देता है क्योंकि वन जल रहा है। मगर वास्तविकता यह है कि सूरज करोड़ों वर्षों से इसी तरह से जल रहा है। अगर कोई वस्तु जल रही होती तो वह जाने कब जल कर समाप्त हो गयी होती।

आज वैज्ञानिक विश्वास करते हैं कि सूर्य की वर्तमान गर्मी का कारण एक प्रकार की वह प्रक्रिया है जो एटम-बम में होती है। सूर्य पर यह लगातार जारी है। इससे उसे ऊर्जा प्राप्त होती और वह जलता रहता है। यह जलने की प्रक्रिया पृथ्वी पर होने वाली जलन प्रक्रिया से भिन्न है। जलने के दौरान एक वस्तु दूसरा स्वरूप प्राप्त कर लेती है।

इस तरह यदि विज्ञान सही है तो सूर्य ऐसे ही चमकता रहेगा क्योंकि ऊर्जा निर्माण की उसकी प्रक्रिया में कोई बाधा पड़ने का सवाल ही नहीं उठता।

● ●

पृष्ठ 13 का शेषांश

एवं अवरक्त संसूचकों के लिए स्विच एवं स्मृति अवयवों का निर्माण भी होने लग गया है। अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियों में अवरक्त विकिरणों का उत्पादन एवं मानक वोल्ट का कार्यान्वयन है।

सारांश—निसंदेह जोसेफ्सन प्रभावों ने न केवल हमें अति चालकता की घटना को समझने का एक व्यापक आधार प्रदान किया है परन्तु कई ऐसी युक्तियां प्रदान की हैं जिनका वर्तमान में अत्यधिक महत्व है। इस क्षेत्र में हो रहे अनुसंधानों के साथ-साथ जोसेफ्सन प्रभावों के नये-नये उपयोग सामने आ रहे हैं।

भौतिकी विभाग, राजकीय महाविद्यालय
शाहपुरा जिला भीलवाड़ा (राज०)

● ●

विज्ञान-वार्ता

प्राथमिक चिकित्सा के लिए अतरल आक्सीजन उपकरण

दिल के दौरे, श्वासावरोध, गैस-विषाक्तता या किसी ऐसी आकस्मिक स्थिति से पीड़ित रोगियों के लिए, जिसमें आक्सीजन देने से रोगी को आराम पहुँच सकता है, अब एक नये प्रकार का हल्का अतरल आक्सीजन उपकरण उपलब्ध है। इसका कुल वजन ढाई पौण्ड है और इसमें से १.६ गैलन प्रति मिनट की दर से कम से कम १५ मिनट तक आक्सीजन प्रवाहित होता है।

इसका नाम 'सोलोजेन डिस्पेंसर' है। इसके भीतर आक्सीजन उत्पन्न करने वाले शुष्क रसायन से भरा एक धात्विक कनस्तर, और इसके ढक्कन के भीतर एक चेहरे को ढकने वाली नकाब होती है। पूरे उपकरण का आकार साधारण बोतल जैसा होता है। इसका उपयोग करने वाला व्यक्ति इसके ढक्कन को खोल कर नकाब को रोगी की नाक और मुँह पर लगा देता है, और फिर एक बटन दबा देता है, जिससे आक्सीजन प्रवाहित करने वाला रसायन सक्रिय हो जाता है। इस उपकरण में एक संकेतक पुर्जा होता है, जो यह बताता है कि आक्सीजन प्रवाहित हो रहा है या नहीं। आक्सीजन देते समय एक कनस्तर का रसायन समाप्त हो जाने पर उसकी जगह अविलम्ब दूसरा कनस्तर लगाया जा सकता है।

इसका निर्माण कैलिफोर्निया (अमेरिका) की एक कम्पनी, एलायड फार्मास्युटिकल्स, कर रही है। उसका कहना है कि यदि इस उपकरण के कनस्तर को आलमारी में रखा जाये तो वह दो साल तक खराब नहीं हो सकता। कनस्तर से युक्त उपकरण शून्य से लेकर 160 अंश फारेनहाइट तक के तापमान में सक्रिय हो सकता है। इतने ताप मान में संग्रह करने पर इसमें किसी तरह का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता।

बर्फ हटाने के लिए नये उपकरण

आरेगान (अमेरिका) की एक फर्म, पोर्टलैण्ड वायन ऐण्ड आयरन वर्क्स के ट्यूबलाक प्राडक्ट्स डिविजन ने ट्यूबलोक हिम हल (स्नोप्लाऊ) और हिम पंख (स्नोविंग) नामक दो ऐसे उपकरण तैयार किये हैं, जिन्हें बड़ी शीघ्रता से किसी मोटर ग्रेडर या ट्वील लोडर से जोड़ कर हिम या बर्फ हटाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। हिम हल का आकार अंग्रेजी के 'वी' अक्षर जैसा है। इसे चालक स्वयं ही दो मिनट में किसी ग्रेडर के सामने जोड़ सकता है, या उससे पृथक कर सकता है।

हिम पंख को ग्रेडर की बगल में जोड़ा जाता है। उसके दाहिने या वायें पार्श्व में जोड़ने के लिए पंख के अलग-अलग माडेल उपलब्ध हैं। ग्रेडर और हिम पंख के बीच गति का सन्तुलन बनाये रखने के लिए हाइड्रालिक सेफ्टी वाल्व की व्यवस्था की गयी है। इससे किसी प्रकार के प्रयोग में ग्रेडर या हिम पंख को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती।

हिम हल का परीक्षण ऊँचे पर्वतीय दर्रों में 24 इंच से लेकर 6 फुट गहरी हिम पर्त को हटाने के लिए किया जा चुका है।

तैराकी के जलाशयों का पानी शुद्ध करने के लिए चांदी का प्रयोग

कहते हैं कि सिकन्दर महान कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए चांदी के पात्रों में पीने का पानी मंगाया करता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अब से 2 हजार वर्ष पूर्व मैसीडानिया

के सैनिक घाव को विषाक्त होने से बचाने के लिए उस पर चाँदी के वर्क बाँधा करते थे। इस प्रकार यह निर्धारित हो चुका है कि चाँदी कीटाणुनाशक होती है । हाल में इसके इस गुण की खोज अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों ने की है, जो समानव अन्तरिक्ष यानों पर अन्तरिक्ष यात्रियों के लिए पानी शुद्ध करने के हेतु चाँदी का प्रयोग करते हैं।

अब अमेरिका में पेन्सिल्वैनिया की एक फर्म जनरल इकोलाजी, इन्कारपोरेटेड, केयरफ्री पूली फायर' नामक एक ऐसे उपकरण का निर्माण-कर रही है, जिसके अन्तर्गत क्लोरीन के बजाय चाँदी के आयोन का प्रयोग करके बड़े और छोटे तैराकी के जलाशयों के पानी को शुद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार, स्विमिंग पूलों में क्लोरीन का प्रयोग करने से पानी में जो दुर्गन्ध आ जाती है, या उससे आँखों में जो जलन होती है, उससे मुक्ति मिल जाती है और पानी भी शुद्ध हो जाता है। साथ ही, यह उपकरण जैव प्रदूषकों को हटाने के लिए विद्युत संचारित चारकोल का प्रयोग करता है। फलस्वरूप नहाने का पानी ऐसा स्वच्छ और तरल हो जाता है, मानो किसी पहाड़ी निर्झर का पानी हो।

क्लोरीन की तुलना में चाँदी के आयोन को प्रयुक्त करने की विधि अधिक सरल और निरापद है। निर्माताओं का कहना है कि इसमें जलाशय के स्वामी को केवल 'पूलीफायर' को चालू करना पड़ता है । उसके बाद उसे किसी तरह की परेशानी उठाने की जरूरत नहीं पड़ती । पानी अपने आप शुद्ध हो जाता है। प्रतिदिन पानी की जाँच करने की भी जरूरत नहीं पड़ती। पूलीफायर को लगभग 12 महीने के बाद फिर विद्युत-संचारित करना पड़ता है । इन व्ययों को जोड़ देने पर भी पूलीफायर का प्रयोग क्लोरीन-प्रणाली की अपेक्षा सस्ता पड़ता है । चाँदी का प्रयोग भी इतनी कम मात्रा में किया जाता है जिससे मनुष्य के लिए वह हानिकारक नहीं होती। निर्माताओं का कहना है कि सोवियत संघ और अन्य यूरोपीय देशों में भी चाँदी का प्रयोग जल को शुद्ध करने के लिए किया जाता है। निर्माताओं के अनुसार, एक अन्य लाभ यह है कि इसका प्रयोग करने पर आग लगने या विस्फोट होने का कोई खतरा नहीं रहता।

कार्ड पर संदेश अंकित करने वाला टेपरिकार्डर

न्यूयार्क की एक फर्म स्कूलों, उद्योगों तथा अन्य लोगों के लिए एक नये प्रकार का टेपरिकार्ड तैयार कर रही है, जो कार्ड पर संदेश अंकित करके उसे पुनः सुना सकता है। निर्माताओं का कहना है कि 'वोक्सकौक' नामक यह टेपरिकार्डर इस प्रकार के अन्य टेपरिकार्डरों की तुलना में कम खर्चीला और 4 गुना अधिक सक्षम है। यह किसी एक कार्ड पर 120 शब्द अंकित कर सकता है, जो किसी मुद्रित संदेश, रेखाचित्र या फोटो को भी प्रदर्शित कर सकता है । इस पर पुरानी किस्म के कैसैटो को भी अंकित या मुखरित किया जा सकता है।

'वौक्सकौम' इतना सरल है कि इसे साधारण बच्चा भी चला सकता है । यह टाक/टेप की पट्टियों को प्रयोग करता है जिन्हें कार्ड के पीछे चिपका दिया जाता है। उसके बाद, बोलने वाला व्यक्ति 'वौक्सकौम' पर बोलता है, जो सन्देश को टेप पर कार्ड के एक चक्कर पर 30 शब्द की गति से अंकित कर देती है। इसके बाद कार्ड को कई बार बजा कर सुना जा सकता है ।

यह उपकरण सुपाठ, शब्द ज्ञान, भाषा और गणित के प्रशिक्षण के लिए विशेष रूप से उपयोगी है । छात्र स्वाध्याय के लिए इसका प्रयोग कर सकते हैं । इसका निर्माण न्यूयार्क की फर्म, टेपकोन इन्कारपोरेटेड, कर रही है। ●●

1975-76 में उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत वैज्ञानिक पुस्तकें

"हिन्दी विविध पुरस्कार"

पुस्तक	लेखक	पुरस्कार
1. संक्षिप्त भौतिकी	श्री एम० एन० कपूर, लखनऊ	1,000 रु०
2. कार्बनिक रसायन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त	श्री सुरेश चन्द्र आमेटा, नाथद्वारा	1,000 रु०
3. माध्यमिक वनस्पति विज्ञान	डॉ एम० पी कौशिक, मुजफ्फरनगर	1,000 रु०
4. प्रायोगिक वनस्पति (खण्ड—3)	श्री एम० एम० भण्डारी, जोधपुर	1,000 रु०

विज्ञान 'परिवार, की ओर से बधाई

सूचना

विगत वर्षों की भाँति हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद, बम्बई की ओर से छठी अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1976 आयोजित की जा रही है। लेख प्राप्ति की अन्तिम तिथि 30 जून 1976 है। प्रत्याशियों को चाहिये कि विस्तृत सूचना के लिये हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद, सूचना प्रभाग, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र बम्बई-85 को लिखें।

लेखकों से अनुरोध

1. रचना पृष्ठ के एक ही ओर होनी चाहिये। यदि रचना टाइप की हो तो उत्तम होगा।
2. अपने लेखों में KMS इकाई ही प्रयुक्त करें।
3. रचना अन्यत्र प्रकाशन के लिये प्रेषित नहीं होनी चाहिये।
4. साथ में चित्र देना न भूलें।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 113 संख्या 4
अषाढ़ श्रावण 2033 विक्र०
जुलाई-अगस्त 1976

विषय सूची

सम्पादकीय

इधर कुछ समय से शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने की योजना पर परिचर्चा चल रही है। प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में किये जाने वाले परिवर्तन को लेकर विचार-विमर्श हो रहा है तथा गोष्ठियों का आयोजन किया जा रहा है। अभी हाल ही में शिक्षा को केन्द्रीय विषय बना देने का सुझाव भी सामने आया है ताकि सभी प्रान्तों में एक समान शिक्षा प्रणाली स्थापित की जा सके।

सबसे महत्वपूर्ण विषय जो सामने है वह है 10+2+3 शिक्षा प्रणाली का जिसमें 13 वर्षों के अध्ययन के पश्चात् पहली उपाधि दी जायगी। उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री के अनुसार यहाँ हाई-स्कूल व इण्टरमीडिएट की परीक्षायें पूर्ववत होती रहेंगी। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री ने हाईस्कूल तक विज्ञान की शिक्षा को अनिवार्य कर देने की चर्चा की है। शिक्षा, शोध तथा प्रशिक्षण की राष्ट्रीय समिति ने परीक्षा प्रणाली को बदलने की योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत विद्यार्थियों को परीक्षा में 'अंक' न देकर 'ग्रेड' दिये जावेंगे तथा सभी को कक्षोन्नति भी दी जायगी।

विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य कर देने पर क्या सभी स्कूलों में प्रयोगशालाओं की सुविधा उपलब्ध हो पायेगी? प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी को क्या पूरा किया जा सकेगा? हजारों विज्ञान अध्यापकों की नियुक्ति तथा प्रयोग-शालाओं पर लगने वाले धन का समुचित प्रबन्ध क्या हो पायेगा? हाईस्कूल तथा इण्टर की परीक्षाओं मे जिस प्रकार अब प्रश्न पत्र आते हैं उनके लिये विद्यार्थी अपने को तैयार कर सकेगा और क्या अध्यापक अपने पूरे उत्तरदायित्व से विद्यार्थियों को उस प्रकार की शिक्षा देने की पूरी-पूरी कोशिश करेगा? यह ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर खोज लेना परमआवश्यक है। विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा अभिभावकों को इस प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो जाना चाहिये और अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए तत्पर हो जाना चाहिये। अध्यापक तथा विद्यार्थी को अब और भी कठिन परिश्रम करना होगा। विज्ञान लेकर पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में काफी गिरावट आई है विशेषकर गणित समूह के विद्यार्थियों की सख्या घटी है? इसका क्या कारण है। जल्द-बाजी में कहीं हम ऐसा कदम न उठा बैठें कि शिक्षा का स्तर ऊपर उठने के बजाय नीचे गिर जाय। खूब समझ-बूझ कर शिक्षा की उपयोगिता का गहन अध्ययन करके ही हमें कदम उठाना है और एक बार निर्णय लेकर फिर इस प्रकार जुट जाना चाहिये कि योजना सफल हो जाये और आज का विद्यार्थी कल का नागरिक बनकर देश की गरिमा बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकने के लिए हर प्रकार सक्षम हो।

हरित पादपों में प्रकाश श्वसन

कन्हैया लाल

संसार में जीवन के अस्तित्व का आधार पौधे ही हैं। साधारणतः हरे पौधे ही जीवन सामग्री (प्रोटीन, शर्करा, वसा, आदि) के निर्माण में समर्थ हैं। वायुमण्डल और जीवमण्डल में कार्बनिक और अकार्बनिक तत्वों का संतुलन रखने में पौधों का महान योगदान है। प्रत्येक परपोषी जीवित कोशिका में संश्लेषित उत्पाद कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन का श्वसन द्वारा अपघटन होता है। श्वसन प्रक्रम से प्राप्त उर्जा से कोशिकाएँ अपनी जैविक क्रियाएँ बनाये रखती हैं और उपापचयन के फलस्वरूप कार्बन डाई आक्साइड देती रहती हैं। हरित पादप की कोशिकाएँ सौर्य उर्जा को प्रकाश संश्लेषण के माध्यम से ग्रहण
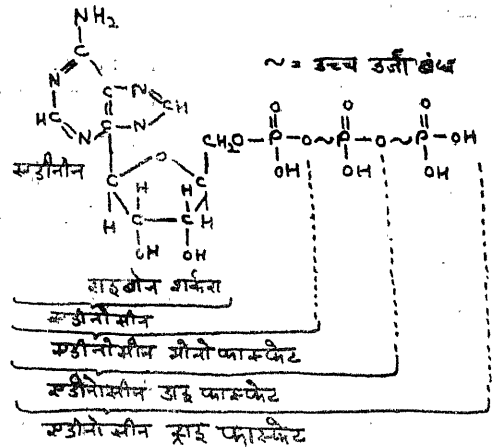
चित्र 1- एटीपी की रासायनिक संरचना

तालिका—1 प्रकाश श्वसन व अप्रकाश श्वसन में भिन्नता

प्रकाश श्वसन	अप्रकाश श्वसन
1. प्रकाश श्वसन हेतु ग्लाइकोलेट पदार्थ है।	1. इसमें पदार्थ कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन या वसा हो सकती है।
2. यह प्रक्रिया पेराक्सीसोम्स में होती है।	2. यह कोशिका द्रव तथा माइटोकान्ड्रिया में होती है।
3. इसमें प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हाइड्रोजन-पराक्साइड बनती है।	3. इसमें हाइड्रोजन पराक्साइड नहीं बनती है।
4. इसमें ATP नहीं बनती है।	4. इसमें ATP बनती है।
5. ट्रान्सऐमीनेशन क्रिया होती है।	5. इसमें ट्रान्सऐमीनेशन नहीं होती है।
6. यह प्रायः कैल्विन-चक्र द्वारा कार्बन के स्थिरीकरण करने वाले पौधों में पायी जाती है।	6. यह हैच-स्लेक-पथ वाले पौधों में पायी जाती है।

करती हैं और कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, आदि बनाती हैं; जो परपोषी कोशिका द्वारा आधार रूप में प्रयोग किये जाते हैं। प्रकाश संश्लेषण से प्राप्त ग्लूकोज अणु सौर्य उर्जा का अधिकांश भाग अपने आणविक विन्यास में समेटे रखता है। परपोषी कोशिकाएँ श्वसन द्वारा इस उर्जा को ऐडीनोसिन ट्राइ फास्फेट (A T P) की फास्फेट कड़ी के रूप में संरक्षित रखती हैं।

अभी हाल में ही पादपकार्यिकी वैज्ञानिकों ने हरे पौधों में प्रकाश श्वसन प्रक्रिया के होने पर प्रकाश में डाला है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि "प्रकाश की उपस्थिति में हरी पत्तियों अथवा हरे शैवालों से कार्बन डाई-आक्साइड की मुक्ति (या आक्सीजन का अपग्रहण) अधिक होती है।" इसका मुख्य लक्षण है कि यह सभी जीवित पौधों व जन्तुओं में पाये जाने वाला श्वसन के परम्परानुसार रूप से अलग होता है। इस प्रक्रम में उपयोग में आने वाली वस्तु का निर्माण प्रकाश संश्लेषण के फलस्वरूप होता है। और यह प्रक्रम केवल प्रकाश की उपस्थिति में ही सम्भव है। प्रकाश श्वसन गन्ना, मक्का, आदि जैसे पौधों में नहीं पाया जाता है, लेकिन तम्बाकू, मूँग, जई, पालक, मटर, सूर्यमुखी, क्लोरेला, मटर, रुई व साधारण फसलों में प्रकाश श्वसन पाया जाता है, जिनमें प्रकाश की उपस्थिति में कार्बन डाई आक्साइड की मुक्ति अधिक होती है। प्रकाश संश्लेषी ऊतक की क्रिया के द्वारा प्रकाश श्वसन को सुविधापूर्वक दिखलाया जा सकता है जो कि अप्रकाश में होने वाली श्वसन से बिल्कुल ही भिन्न होता है। प्रकाश संश्लेषण की सामान्य दशा में प्रकाश श्वसन क्रिया अप्रकाश श्वसन से प्रायः पचास गुनी अधिक होती है। प्रकाश श्वसन में तापक्रम भी एक महत्वपूर्ण भाग लेता है। ज्यों-ज्यों पत्ती गर्म होती जाती है, त्यों-त्यों प्रकाश श्वसन क्रिया की दर भी बढ़ती जाती है, (तालिका—1)! वैसे तो अप्रकाश श्वसन पर आक्सीजन की सान्द्रता का प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि प्रकाश श्वसन आक्सीजन की सान्द्रता पर ही निर्भर रहता है। आक्सीजन की सान्द्रता बढ़ाने पर प्रकाश श्वसन क्रिया बढ़ती है, यहाँ तक कि शर्त प्रतिशत प्रकाश श्वसन का दर प्रकाश संश्लेषी प्रक्रम की तीव्रता पर आधारित रहता है।

चित्र 2 ए टी पी का संश्लेषण

चित्र क

अमेरिका के जेलिच नामक वैज्ञानिक 1964 में अपने कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इस तथ्य पर पहुँचे कि ग्लाइकोलेट, प्रकाश श्वसन के लिये एक उपयोगी वस्तु है। उनके मतानुसार प्रकाश श्वसन में ग्लाइकोलेट आक्सीडेज क्रिया के द्वारा ग्लाइकोलेट से ही कार्बन डाई आक्साइड मुक्त होती है!
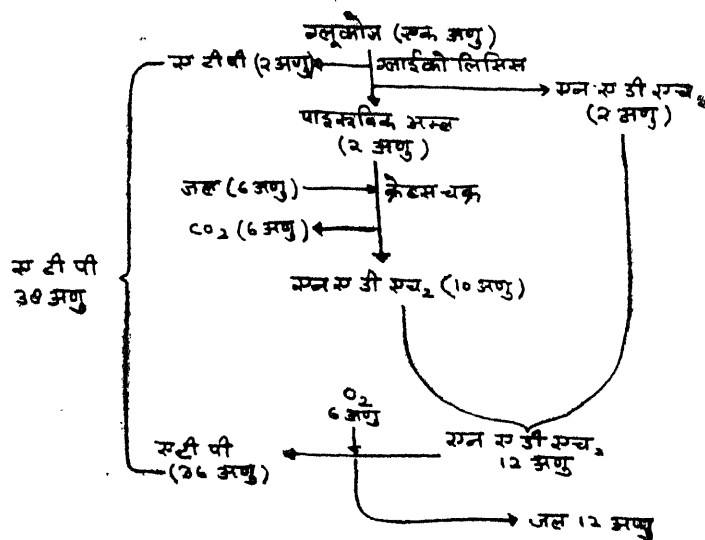
$$\text{ग्लाइकोलेट} + O_2 \xrightarrow[\text{प्रकाश}]{\text{ग्लाइकोलेट आक्सीडेज}} \text{ग्लाइक्जैलेट} + H_2O_2$$

$$\longrightarrow \text{फार्मेट} + CO_2 + H_2O$$
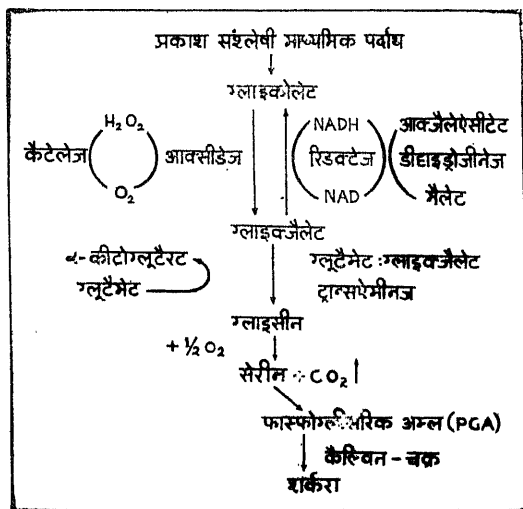
प्रकाश श्वसन क्रियाओं की श्रेणी को सामान्य रूप से ग्लाइकोलेट-पथ कहते हैं। प्रकाश संश्लेषी माध्यमिक वस्तुएँ ही ग्लाइकोलेट के निर्माण हेतु उत्तरदायी हैं जिससे ग्लाइकोलिक अम्ल बनता है। प्राय: उच्च प्रकाश की तीव्रता और कार्बन डाई आक्साइड की कम सान्द्रता की उपस्थिति में ग्लाइकोलेट पूर्वप्रधान बनता है। आक्सीजन के अपग्रहण के साथ ग्लाइकोलेट आक्सीडेज एन्जाइम की उपस्थिति में ग्लाइकोलेट, ग्लाइक्जैलेट में आक्सीकृत हो जाती है। ऐसा समझा जाता है कि एन्जाइम का प्रोस्थेटिक ग्रुप फ्लेविन मोनोन्यूकिलियोटाइड है। इस प्रक्रम में हाइड्रोजन पराक्साइड बनती है और इसके विषैले प्रकृति के कारण कैटेलेज नामक एन्जाइम इसे विनष्ट कर देता है। ग्लाइक्जीलेट ग्लाइसीन में परिवर्तित होकर तुरन्त ही सेरीन में बदल जाती है। साथ ही साथ कार्बन डाई आक्साइड भी मुक्त होती है। कुछ एन्जाइम की संघ जैसे सेरीन ट्रान्सऐमीनेज, ग्लीसरेट डी हाइड्रोजीनेज और ग्लीसेरेट-काइनेज की मदद से तब सेरीन फास्फोग्लेसरिक अम्ल (3-PGA) में बदल जाती है। अन्त में कार्बनडाई आक्साइड को कार्बन यौगिक में बदलने के कैल्विन-चक्र के माध्यम से फास्फोग्लेसरिक अम्ल शर्करा में रूपान्तरित होती है।

प्रकाश श्वसन का स्थान—प्रकाश श्वसन से सम्बन्धित एक कोशिका के अंग की नई खोज हुई है जिसे पेराक्सीसोम कहते हैं। इस कोशिका-अंग को सफलतापूर्वक निकाला जा चुका है और ग्लाइकोलेट के उपापचयी प्रक्रम का वाहन तथा कैटेलेज द्वारा हाइड्रोजन पराक्साइड को नष्ट करते हुए देखा भी गया है। पेराक्सीसोम में ग्लाइकोलेट आक्सीडेज, NADH ग्लाइक्जीलेटरिडक्टेज, मैलेटडिहाइड्रोजीनेज, ग्लूटैमेट तथा कैटेलेज एन्जाइम पाये जा चुके हैं। ग्लाइकोलेट से सेरीन तक की विभिन्न क्रियाएँ पेराक्सीसोम में होती हैं और साथ ही कार्बन डाई आक्साइड भी बाहर निकलती है जिससे प्रकाश श्वसन पेराक्सीसोमीय श्वसन का एक हिस्सा कहलाता है। फिर भी इसके बारे में बहुत-से विरोधात्मक विचार हैं।

क्लोरोप्लास्ट और पेराक्सीसोम के आपसी सम्बन्ध को चित्र में दिखलाया गया है। ग्लाइकोलेट का जीवसंश्लेषण क्लोरोप्लास्ट में होता है। ऐसा समझा जाता है कि ग्लाइकोलेट, फास्फोग्लेसरिक अम्ल से बनता है। यह पथ अभी पूर्णत: निश्चित नहीं है।

फासफेटेज
ग्लिसरिक अम्ल-3P→ग्लिसरिक अम्ल+P_3
डीहाइड्रोजीनेज COOH
ग्लिसरिक अम्ल + NAD————→
COOH+$NADH_2$
|
C=O
|
CH_2OH

COOH
| ट्रान्सकीटोलेज
C=O + (O)————→ग्लाइकोलिक अम्ल
| +CO_2
CH_2OH

प्रकाश श्वसन के प्रमाण—वैसे बहुत से प्रमाण हैं, परन्तु दो मुख्य प्रमाण प्रकाश श्वसन हेतु निम्नलिखित हैं।

(1) जब तम्बाकू की पत्ती के टुकड़े को ^{14}C सांकेतिक ग्लाइकोलेट को प्रथम कार्बन परमाणु पर उपलब्ध कराया जाता है, तब ^{14}C सांकेतिक कार्बन डाई आक्साइड मुक्त होती है। जिससे प्रकाश श्वसन में 25° से 35° सें० ताप तक कार्बन डाई आक्साइड की मुक्ति की दर बढ़ जाती है। 25° से 35° सें० ताप में वृद्धि से $^{14}CO_2$ का उत्पादन ग्लाइकोलेट–1–14c से तीन गुना अधिक होती है। इस प्रकार का फल ग्लाइकोलेट–2–^{14}c से अप्राप्य है। इससे इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि प्रकाश श्वसन में कार्बन डाई आक्साइड ग्लाइकोलेट के प्रथम कार्बन परमाणु से निकलती है।

(2) α—हाइड्राक्सी—2—पिरीडीन मेथेन सल्फोनिक अम्ल, ग्लाइकोलेट-आक्सीडेज का एक निरोधक है। जब निरोधक तम्बाकू की पत्तियों के टुकड़ों के साथ मिलाया जाता है तो $^{14}CO_2$ के स्वाँगीकरण को 35° सें० पर उत्तेजित करता है। क्योंकि उच्च ताप पर निरोधक की उपस्थिति में ग्लाइकोलिक अम्ल का संश्लेषण प्रर्याप्त नहीं बढ़ा रहता। प्रकाश संश्लेषण के उच्च दर के कारण, गर्म ताप पर, निरोधक का प्रभाव, ग्लाइकोलेट आक्सीडेज क्रिया द्वारा कार्बनडाई आक्साइड का साधारण मुक्ति, से सम्बन्धित होता है।

पादप कार्यिकी के क्षेत्र में प्रकाश श्वसन का महत्व अभी पूर्णत: प्रकाश में नहीं आ पाया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पहले जब अधिक प्रकाश संश्लेषण के लिये वातावरण की कार्बन-डाई आक्साइड बहुत ही कम थी तब प्रकाश श्वसन सामान्य थी। ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों वातावरण की अधिक कार्बन डाई आक्साइड व आक्सीजन वस्तु की कमी होने के फलस्वरूप यह प्रकाश श्वसन दब-सी गयी। और अब वातावरण में कार्बन डाई आक्साइड वस्तु की कमी व आक्सीजन वस्तु में बढ़ोत्तरी होने से प्रकाश श्वसन का दर बढ़ता जा रहा है। ऐसा कहा जा सकता है कि प्रकाश श्वसन वाले पौधों का विकास अप्रकाश श्वसन वाले पौधों से पहले हुआ। इस प्रकार पौधे के विकास हेतु प्रकाश श्वसन भी एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

वनस्पति विज्ञान विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

●●
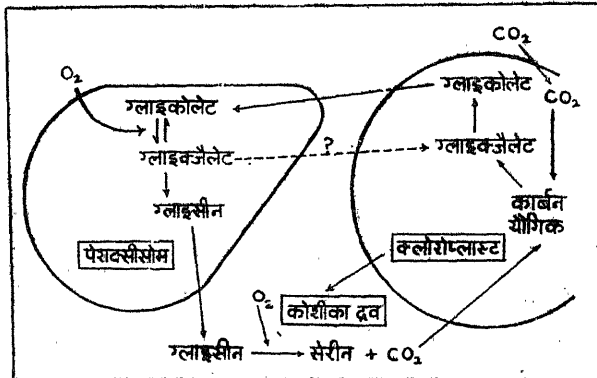
हाइड्रोजन बंध

डा० राम चन्द्र कपूर

यह देखा गया है कि आवर्त्त सारणी के कुछ समूह के तत्वों के हाइड्रोजन यौगिकों का क्वथनांक, उनके अणुभार बढ़ने के साथ घटने लगता है, उदाहरणत: VI B समूह के तत्वों (O, S, Se और Te) के हाइड्रोजन यौगिकों का क्वथनांक नीचे दिये हुये क्रम के अनुसार घटता है : $H_2Te > H_2Se > H_2S$ जल (H_2O) इस क्रम में नहीं आता है, तथा इसका क्वथनांक काफी अधिक है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका—1

समूह V B		समूह VI B		समूह VII B	
यौगिक	क्वथनांक (°सें०)	यौगिक	क्वथनांक (°सें०)	यौगिक	क्वथनांक (°सें०)
NH_3	—33·4	H_2O	100·0	HF	19·5
PH_3	—87·7	H_2S	—60·7	HCl	—84·9
AsH_3	—62·4	H_2Se	—41·5	HBr	—66·8
SbH_3	—18·0	H_2Te	— 1·8	HI	—35·4

इसी प्रकार की अपसामान्यतायें दूसरे समूहों में भी पायी जाती हैं, उदाहरणत: VII B समूह के हाइड्रोजन फ्लोराइड (HF) तथा V B समूह के अमोनिया (NH_3) में। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि यह तीनों हाइड्राइड (H_2O, NH_3 और HF) उन तत्वों के हाइड्राइड हैं जिनको कि आकार अपने समूह के तत्वों में सबसे छोटी है तथा जो सबसे अधिक ऋण विद्युतीय हैं।

इसो प्रकार की अपसामान्यतायें कार्बनिक द्रवों में देखी गयी हैं उदाहरणत: नार्मल पेन्टेन, एथिल ईथर तथा नार्मल ब्युटिल एल्कोहल का अणुभार लगभग बराबर है परन्तु नार्मल पेन्टेन का क्वथनांक सबसे अधिक है (देखिये तालिका-2)।

तालिका—2

यौगिक	अणुभार	क्वथनांक (°सें०)
n—पेन्टेन	72	36
एथिल ईथर	74	35
n—ब्युटिल एल्कोहल	74	118

ऐमीन (जिनमें कि—NH_2 समूह होता है) में भी इसी प्रकार की अपसामान्यतायें पायी जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जब भी कभी हाइड्रोजन एक प्रबल ऋण विद्युतोय परमाणु से संयोग कर यौगिक बनाती है तो उसका क्वथनांक अधिक होता है। इस प्रकार के यौगिकों में एक प्रकार का अंतराणुक आकर्षण होता है और इसलिये वाष्पन में अणुओं को अलग करने के लिये अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इसी अंतराअणुक आकर्षण पर ही हाइड्रोजन बंध का सिद्धान्त प्रतिपादित है।

जब कभी भी हाइड्रोजन का परमाणु किसी ऐसे तत्व के परमाणु से संलग्न होता है जो अधिक ऋण विद्युतीय है (जैसे F, O और N) तब दोनों परमाणुओं के साझे का इलेक्ट्रान युग्म हाइड्रोजन न्युक्लियस से इतना दूर हो जाता है कि वह बहुत अधिक धन विद्युती हो जाता है और एक प्रोटान जैसा आचरण करने लगता है।

ऐसी अवस्था में वह किसी भी ऋण विद्युती परमाणु की ओर आसानी से खिंच सकता है। उदाहरणतया हाइड्रोजन फ्लोराइड के एक अणु का हाइड्रोजन परमाणु दूसरे हाइड्रोजन फ्लोराइड के अणु के ऋण विद्युती फ्लोरीन के परमाणु की ओर खिंच जाता है और इस प्रकार हाइड्रोजन बंध का निर्माण हो जाता है :

F—H... F—H... F—H...
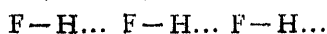
इस प्रकार हाइड्रोजन बंध के फलस्वरूप हाइड्रोजन फ्लोराइड के बहुत से अणुओं का बंधन हो जाता है और हाइड्रोजन फ्लोराइड, संगठित अणुओं $(HF)_n$ के रूप में हो जाती है।

ऑक्सीजन का परमाणु भी काफी ऋण विद्युती है और इस कारण से जल में भी हाइड्रोजन बंधन हो जाता है और जल संगठित अणुओं $(H_2O)_n$ के रूप में रहने लगता है :

```
  H         H       H
  |         |       |
H—O.....H—O...H—O...
```

हाइड्राक्सी यौगिक जैसे एल्कोहल भी इसी कारणवश संगठित अणु के रूप में रहते हैं :

```
O—H...O—H...O—H...
|      |      |
R      R      R
```
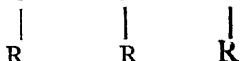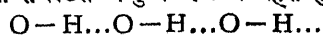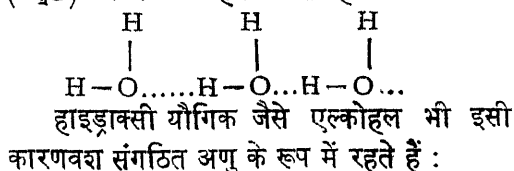
कुछ कार्बनिक यौगिक जैसे कार्बोक्सी एसिड तथा ऑक्साइम हाइड्रोजन बंध द्वारा द्वितयाणु बनाते हैं:

दाता तथा ग्राही—हाइड्रोजन बंध दो भिन्न-भिन्न अणुओं के बीच भी स्थापित हो सकता है; वह जो एकाकी इलेक्ट्रान युग्म देता है दाता या प्रोटान ग्राही अथवा हाइड्रोजन बंध क्षारक कहलाता है और दूसरा जो कि प्रोटान देता है प्रोटान दाता या हाइड्रोजन बंध अम्ल कहलाता है।

अंतरअणुक हाइड्रोजन बंध—हाइड्रोजन बंध एक ही अणु के दो भिन्न-भिन्न समूहों में भी स्थापित हो सकता है, उदाहरणार्थ, आर्थो-क्लोरोफ़ीनोल में —OH समूह का d— परमाणु क्लोरीन की तरफ खिंच जाता है और हाइड्रोजन बंधन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य आर्थो यौगिक भी हाइड्रोजन बंध की रचना करते हैं:

अंतरअणुक हाइड्रोजन बंध द्वारा कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जिसे चलावयवता कहतेहैं, उदाहरणार्थ हाइड्रोजन बंध के कारण बेन्ज़ो थायज़ोलीन—2—थिओन (I) दो रूप में रह सकता है। इस घटना को 'मीज़ोहाइड्रिक टाटोमेरिज़्म' कहा जाता है।

हाइड्रोजन बंध की अभिव्यक्ति

हाइड्रोजन बंध के कारण यौगिकों के लगभग सभी भौतिक गुणों में परिवर्तन आ जाता है (देखिये तालिका—3):

तालिका—3

भौतिक गुण	अंतः अणुक हाइड्रोजन बंध यौकिों का आचरण (उन यौगिकों गकी तुलना में जिनमें हाइड्रोजन बंध नहीं होता)
ग्राम आणिवक आयतन	कम होता है।
घनत्व	अधिक होता है।
ग्रामाणु-ध्रुवीयण	अधिक होता है।
उष्मा संवाहकता	अधिक होती है।
तापीय प्रसरण	थोड़ा कम होता है।
पृष्ठ तनाव	अधिक होता है।
पैराकोर	कम होता है।

हाइड्रोजन बंध का महत्व—हाइड्रोजन बंध का महत्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि यदि जल में हाइड्रोजन बंध न होता तो जल द्रव रूप में न होता, और इस कारणवश पृथ्वी पर प्राणि तथा वनस्पति जीवन भी न होता। इसके अलावा प्रोटीन व डी एन ए (डिऑक्सीराइबोन्युक्लीइक अम्ल) की संरचना में, आसंजक की क्रिया में, अधिशोषण व उत्प्रेरण में भी हाइड्रोजन बंध काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसके अलावा रेशे, कागज, कपड़ा, स्टार्च आदि हाइड्रोजन बद्ध यौगिक हैं। वास्तव में मनुष्य स्वयं एक हाइड्रोजन बद्ध पदार्थ है।

रसायन विभाग,
क्राइस्ट चर्च कालेज,
कानपुर—20800।

कॉस्मिक किरणें

डा. रणञ्जय सिंह

कॉस्मिक किरणों की बौछार पृथ्वी पर निरंतर हो रही है, ईंट तथा पक्के गारे का भी भेदन करने वाली इन किरणों की बौछार से हम घर के भीतरी भाग में प्रविष्ट हो कर भी नहीं बच सकते। कॉस्मिक किरणें वास्तव में अविश्वसनीय ऊर्जा वाले 'कण' हैं जो कि सौर-मण्डल के बाहरी या भीतरी भाग से हमारी पृथ्वी पर आते हैं।

'किरणें' कहलाते हुए भी, कॉस्मिक किरणें, प्रकाश किरणों अथवा उनके उच्च ऊर्जा पूरक भाग जैसे एक्स-किरणों तथा गामा-किरणों से भिन्न हैं। क्योंकि प्रकाश किरणें विद्युत चुम्बकीय तरंगें हैं जब कि कॉस्मिक किरणें, व्यवस्थित रूप से गतिमान 'कणों' का समूह मात्र हैं। इन कणों में निहित ऊर्जा मानव निर्मित कृत्रिम साधनों द्वारा त्वरित कणों की ऊर्जा से कहीं अधिक होती है। जेनेवा के प्रोटान-सिंक्रोट्रान से अब तक लगभग $3 \cdot 0 \times 10^{11}$ इ. वो. को उच्चतम ऊर्जा वाले कण पैदा किये जा सके हैं। परन्तु कॉस्मिक किरणों की अनुमानित ऊर्जा इसकी लगभग 10^8 गुना अधिक आँकी गयी है।

प्रोटान-सिंक्रोट्रान जैसी व्यवस्था से उत्पन्न कणों की सहायता से मनुष्य परमाणु की नाभिकीय संरचना के विषय में उत्तरोत्तर अपने ज्ञान वृद्धि का प्रयास कर रहा है। अधिक ऊर्जा वाला कण, नाभि को अधिक गहराई तक भेद सकने के कारण, नाभिकीय संरचना के विषय में अच्छी जानकारी देने में सहायक होता है। स्पष्ट है कि इस कार्य हेतु, ब्रह्माण्ड में उपस्थित अज्ञात श्रोतों निर्मूल्य प्राप्त होने वाली इन शक्तिशाली कॉस्मिक किरणों का उपयोग करके बहुत बड़ी आर्थिक बचत की जा सकती है। यही एक मुख्य कारण है कि मनुष्य का ध्यान इन किरणों की ओर आकृष्ट हुआ और इनका उपयोग करके, नाभिकीय भौतिकी में बहुत सी खोजें की गईं।

कॉस्मिक किरणों की खोज :—

इन किरणों की खोज बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उस समय हुयी जब कि वैज्ञानिक, α-किरणों रेडियम धार्मिता तथा गैसों के मध्य विद्युत विसर्जन पर प्रयोग कर रहे थे। प्रयोगों में प्रयुक्त उपकरणों में से एक 'स्वर्ण पत्र विद्युत दर्शक' यंत्र भी था। आवेशित किये जाने पर सोने की दोनों पतली पत्तियों में विमोचन उनके द्वारा प्राप्त किये गये आवेश पर निर्भर करता था। विद्युतदर्शी को पूर्ण रूपेण कुचालित्त कर देने उसका आवेश चालन द्वारा नष्ट न होकर उसी प्रकार बना रहता था। किन्तु एक्स किरणों या रेडियमधर्मी विकिरणों के समक्ष रखने पर विद्युतदर्शी के स्वर्ण पत्रों में संकुचन आ जाता था। विकिरण के कारण विद्युतदर्शी के चारों ओर की वायु जो कि धन एवं ऋण आवेशों को अलग रखे थी, आयनकृत होकर स्वर्ण-पत्रों में उपस्थित आवेश का चालन कर देती है।

विकिरणों की अनुपस्थिति में भी यह पाया गया कि वायु की विद्युत-कुचालकता धीरे-धीरे समाप्त सी हो जाती है तथा पूर्ण रूपेण कुचालित

विद्युतदर्शी के दोनों स्वर्ण पत्र आपस में मिल जाते हैं। इस घटना के कारण वैज्ञानिकों का ध्यान, एक ऐसे विभिन्न प्रकार के विकिरण की ओर गया जो किसी अज्ञात एवं अदृश्य श्रोत से चल कर वातावरण में चारों ओर उपस्थित हो। सन् 1910 में यह अनुमान लगाकर कि विकिरण वातावरण के बाहर से आते हैं, इनके श्रोतों का पता करने हेतु 'स्वर्ण पत्र विद्युतदर्शी को गुब्बारों रखकर वायुमण्डल में भेजा गया। 1912 तक यह जानकारी कर ली गयी कि ऊँचाई के साथ विकिरणों की तीव्रता बढ़ती जाती थी, तथा अधिक ऊँचाई पर स्वर्ण पत्रों का संकुचन अधिक तेजी से होता था। स्पष्टतया यह विकिरण वातावरण के बाहरी भाग से ही आते हैं अतः इन्हें 'कास्मिक किरण' कहा गया।

बाद वाले गुब्बारा प्रयोगों से यह भी पाया गया कि विकिरणों की तीव्रता लगभग 24 कि. मी की ऊँचाई तक, ऊँचाई के साथ बढ़ती है तथा 24 से 40 कि. मी के मध्य घटती है और उसके उपरान्त स्थिर रहती है। इन किरणों की भारी भेदन शक्ति के विषय में जानकारी अन्य प्रयोगों से कर ली गयी थी।

कॉस्मिक किरणों की प्रकृति :—

प्रारम्भ में इन किरणों को बहुत अधिक ऊर्जा वाली गामा-किरणों के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु बाद में अन्य प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप इन्हें 'आवेशहीन तरंग समूह' न माना गया। समुद्र तल पर ही कास्मिक किरणों की तीव्रता मापने पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि, ध्रुवों पर पहुँचने वाली किरणों की तीव्रता भूमध्य रेखा के पास वाली किरणों की तीव्रता से 10 प्रतिशत अधिक है। इसका कारण, पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के कारण भूमध्य रेखा के पास से किरणों का विक्षेपण ही हो सकता है। यह तभी सम्भव है जब विकिरण में आवेशित कणों की उपस्थिति मान ली जाय। इन विकिरणों के विक्षेपण के ढंग से यह भी पता चल गया, यह केवल धनात्मक आवेशों का ही समूह हैं। कास्मिक किरणों की तीव्रता में दिन तथा रात्रि का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ता है। अतः यह भी प्रकट है कि सम्पूर्ण कॉस्मिक किरणों का बहुत छोटा अनुपात ही सूर्य से प्राप्त होता है। और अधिक अनुपात का श्रोत कहीं सौर-मण्डल से भी बाहर है।

कास्मिक किरणें दो प्रकार की होती हैं; प्राथमिक किरणें जो कि बाह्य अन्तरिक्ष से मौलिक किरण के रूप में चल कर हमारी पृथ्वी के वातावरण को सतह पर टकराती हैं तथा अप्रधान किरणें जो कि वातावरण में उपस्थित परमाणुओं पर प्रधान किरणों की टकराहट से उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी की सतह पर पहुँचने वाली लगभग सम्पूर्ण किरणें अप्रधान किरणें ही होती हैं।

प्राथमिक किरणें :—

ये किरणें बाहर से वातावरण के भीतर लगभग 16 कि मी. की गहराई तक प्रविष्ट हो जाती हैं और उसके बाद अप्रधान किरणों में परिवर्तित हो जाती हैं। प्रधान किरणों में 86% हाइड्रोजन नाभिक (प्रोटान) 13% हीलियम नाभिक (α –कण) और शेष 1% में भारी तत्वों जैसे लीथियम, कार्बन, कैल्सियम और आयरन आदि के नाभिक उपस्थित रहते हैं जिनमें से अधिकांश का वेग प्रकाश वेग के बराबर ही रहता है।

वातावरण की वाह्य सतह पर इन किरणों का आगमन बहुत अधिक ऊर्जा के साथ होता है। फलतः वातावरण में उपस्थित परमाणुओं के नाभिकों को गहराई तक प्रविष्ट होकर ये किरणें परमाणुओं को पूर्ण रूप से विघटित कर देने के बाद नये शक्तिशाली कणों को जन्म देती हैं। उन कणों मे से एक पॉजीट्रॉन है। वातावरण

में ऊर्जा सम्बन्धित प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, शक्तिशाली गामा-किरण का जन्म होता है जोकि बाद में दो कणों इलेक्ट्रान तथा पॉजिट्रॉन में परिवर्तित हो जाती है। यह दोनों कण भार तथा आकार में बराबर किन्तु आवेश में क्रमशः एक ऋणात्मक तथा दूसरा धनात्मक होता है। इस प्रकार से प्रकट रूप से कुछ नहीं के स्थान पर दो पदार्थ कणों का जन्म होता है जबकि इनका जन्म वास्तव में गामा-किरणों की ऊर्जा के स्थान पर होता है।

वातावरण में गुब्बारे पर विशेष नाभिकीय एमल्सन वाली फोटो-ग्रैफिक प्लेटें भेजकर भी कॉस्मिक किरणों के आवागमन के विषय में पता किया जा सकता है। अन्य बहुत से उपकरण भी हैं किन्तु उनके काफी भारी एवं असुविधापूर्ण होने के कारण उन्हें पृथ्वी तल तक ही सीमित रखा गया। परन्तु ऊँचाइ के साथ-साथ कॉस्मिक किरणों की तीव्रता बढ़ने के कारण इनके अध्ययन हेतु शोध-केन्द्रों की ऊँचाई (पहाड़ी-चोटी) पर ही स्थापित किया जाता है।

अप्रधान किरणें :—

प्राथमिक किरणों में से बहुत कम किरणें ही पृथ्वी पर पहुँचती हैं। लगभग सम्पूर्ण प्रधान किरणें वातावरण में उपस्थित परमाणुओं से टकरा कर अप्रधान किरणें को जन्म देती हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि एक अप्रधान किरण एक सेकेण्ड में लगभय ·25 × ·30 वर्ग मी. क्षेत्रफल से टकराती हैं।

अनन्त प्रकार की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न कणों के विभिन्न प्रकार के प्रबन्ध का ही अप्रधान किरणों का नाम दिया जा सकता है। इनके अन्तर्गत आने वाले कणों में हाइपरान प्रोटान् एवं न्यूट्रान् हैं। इन कणों के साथ ही उच्च ऊर्जा वाली गामा किरणें तथा एक्स-किरणें भी उपस्थित रहती हैं एक प्रधान किरण अव्यवस्थित किन्तु रेखीय भाग का अनुसरण करने वाली अप्रधान किरणों के झरने के श्रोत का काम करती है

कॉस्मिक किरणों का स्रोत :—

पृथ्वी आने वाली कॉस्मिक किरणों में निहित उच्च ऊर्जा तथा उनकी तीव्र गति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनकी उत्पत्ति सम्भवतः किसी तारे के सुपरनोवा (Supernova) विस्फोट की अवधि में होती है। कम ऊर्जा वाले कण अन्तरिक्ष के चुम्बकीय क्षेत्र से गुजरते समय पुनः त्वरित होकर ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

पौधों के पुष्पण पर ताप का प्रभाव—"वसन्तीकरण"

अजीत कुमार पाण्डेय

जीवित प्राणियों में वृद्धि का होना स्वस्थ जीवन का द्योतक है। उपापचयन एवं वृद्धि जीवित प्राणियों के गुण धर्म हैं। वृद्धि जीवद्रव्य के संश्लेषण से ही सम्भव होती है। जीवित पदार्थो में वृद्धि गहन उपापचयिक तथा जैव-भौतिक क्रियाओं के फलस्वरूप होती है। पौधा एक परिपक्व अवस्था तक परिवर्धित हो करके प्रजनन हेतु फूल तथा फल देने लगता है। कायिक वृद्धि की अवधि हरेक पौधों में भिन्न-भिन्न होती है। एक फलीय पौधों के पुष्पण में कई वर्ष लगता है जबकि वार्षिक पौधा केवल कुछ ही महीनों में फूलने तथा फलने लगता है। मक्के के पौधे में जब तक पुष्पण नहीं होता जब तक कि पत्तियों की एक निश्चित संख्या नहीं निकल आती हैं। तथा पत्तियों की संख्या मक्के के किस्म पर आधारित रहता है। बांस जो कि जैमाइका (देश) के पर्वत का पूर्व निवासी है में 32 वर्ष के पूर्व या बाद में पुष्पण नहीं होता है। ताप और प्रकाश का पौधों की जनन प्रावस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है।

वसन्तीकरण में विशेषतः शरद वाले फसलों के बीजों का शीतोपचार करते हैं जिससे वे शीघ्र फूल तथा फल बनाने के योग्य हो जाते हैं। वसन्तीकरण का प्रभाव वंशानुगत नहीं होता है। कुछ पौधो के उगने के लिये कम तापमान की आवश्यकता होती है और इसके बिना उसमें फूल लगते ही नहीं। वसन्तीकरण की व्याख्या यों की जा सकती है कि "अंकुरण करते हुये बीज के उस शीतोपचार को जो पुष्पण को त्वरित करने में सहायक होता है, वसन्तीकरण कहते है!" वसन्तीकरण द्वारा द्विवर्षी पौधो की भांति फूलने तथा फलने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। ठण्डी जलवायु वाले प्रदेशो में इस प्रकार की समस्या सामने आयी जिसमें वहां शीतोपचार द्वारा जल्द पुष्पण कराया गया। यह कोई जरूरी नहीं है कि शीतोपचार सदैव शीतकारक ही हो। कुछ पौधों मे उच्च ताप से भी पुष्पण को त्वरित किया जा सकता है। शीतकाल में शीत के साथ-साथ छोटे दिन (अल्प दीप्तिकाली अवस्था) भी होते हैं। कुछ प्रान्तों में बोये गये बीजों का शीतोपचार प्रकृति द्वारा ही, भूमि के वर्फ से ढक जाने से होता है। इस क्रिया को कृत्रिम ढंग से करके पुष्पण को बढ़ावा देने को वसन्तीकरण कहते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि शीतोपचार द्वारा पौधों की शीत सहन करने की क्षमता के साथ-साथ शर्करा भी बढ़ जाती है; इसी से निम्न ताप पुष्प निर्माण के लिये आवश्यक उपादान है।

पौधों की भीतरी उपापचयी अवस्था की प्रेरणा जो जीवन में किसी समय मिली होती है, और बाद में प्रभावित करती है, उसे ही कार्यिकीय पूर्वानुकूलन कहते हैं। ताप और प्रकाश-प्रेरणा इसी सिद्धान्त पर कारगर हैं। इसका प्रयोग दीप्तिकालिता तथा वसन्तीकरण में होता है। पौधों में ताप-प्रावस्था, प्रकाश-प्रावस्था और जनन-प्रावस्था पायी जाती है। जाग्रत भ्रूण को आवश्यक 'ताप' और 'प्रकाश' मिल जाय तो पौधा इससे निरपेक्ष होकर बढ़ सकता है। पौधों की 'ताप-प्रावस्था' की आवश्यकता वसन्तीकरण

द्वारा पूरा किया जा सकता है, जिससे ये शीघ्र फूलने के योग्य हो जाते हैं। कपास, सोयाबीन, जूट तथा धान की कुछ जातियाँ, आदि की कुछ किस्मों के लिये उच्च ताप की आवश्यकता नहीं होती परन्तु शरद-गेहूँ को भारतीय जलवायु में भी इसकी नितान्त आवश्यकता होती है।

एकवर्षीय पौधे वसन्त में वृद्धि, गर्मी में पुष्पण और पतझड़ से पहले ही फल तथा बीज बनाने में समर्थ होते हैं। द्विवर्षी पौधों का यह अन्तर द्विवर्षी पौधों का शीतोपचार करके मिटाया जा सकता है जिससे यह भी दीप्तिकालिक उद्दीपन से प्रभावित होकर एक ही वर्ष में फूलने लगता है। पौधे के जीवनकाल में निम्न ताप का प्रभाव अंकुरण के पश्चात किसी भी समय लगाया जा सकता है।

कुछ विशिष्ट पौधों के अतिरिक्त सभी पौधों के फूलने के लिये पहले एक न्यूनतम वानस्पतिक वृद्धि अनिवार्य है। मूँगफली इन विशिष्ट पौधों का एक उदाहरण है। अनेक द्विवर्षी पौधों को वसन्तीकरण की आवश्यकता होती है। इन पौधों को अंकुरण के पूर्व एक शीतकाल मिट्टी में प्रसुप्त हालत में बिताना आवश्यक होता है। इनको पतझड़ में लगा दिया जाता है और जाड़े में इनका वही प्राकृतिक शीतोपचार हो जाता है।यदि शरद-गेहूँ जिन्हें वसन्तीकरण की आवश्यकता है, वसन्त में बो दिया जाता है तो इनमें वानस्पतिक वृद्धि तो होती है पर पुष्पण नहीं होता। वसन्ती-गेहूँ को इस प्रकार के उपचार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे वसन्त में बोने पर सामान्य रूप से उसी वर्ष फूलते-फलते हैं। अतः शरद-गेहूँ वस्तुतः द्विवर्षी पौधों की भाँति है जबकि 'वसन्ती-गेहूँ' एक वर्षी है। शरद-गेहूँ ओर वसन्ती-गेहूँ का यह अन्तर आनुवंशिक पाया गया है।

वसन्तीकरण की विधि एवं सिद्धान्त—इसमें बीजों को पहले जल में भिगोकर उन्हें फुला देने के बाद 0.5° सें० ताप पर (बीज के प्रकृति के अनुसार) दो या तीन सप्ताह तक रख देते हैं। शीतापचार के बाद बीजों को सुखाकर कुछ समय के लिये संग्रहण के बाद बो देते हैं। सोयाबीन, कपास, छोटे धान्य को वसन्तीकरण करने के लिये 20-30° सें० ताप उपयुक्त होता है। इससे निम्न तापमान का इन पर प्रभाव नहीं होता। वसन्तीकरण के समय वायु की आवश्यकता होती है। पौधे वसन्तीकरण के प्रति थोड़ी ही देर तक सुग्राह्य होते हैं।

बाल-प्रावस्था—वसन्तीकरण अंकुरण करते हुये बीज या पूरे पौधे का सम्भव है। इनमें वसन्ती का प्रभाव उसी समय होता है जब पौधे पुष्प बनने के लिये परिपक्वता की अवस्था में पहुँच चुके होते हैं। इस बाल-प्रावस्था का समय पौधे पौधे में भिन्न होता है। बाल-प्रावस्था तीव्र-प्रकाश, अतिरिक्त प्रकाश और प्रकाश संश्लेषण और संचित पदार्थ द्वारा निर्धारित की जा सकती है।

अवगम का स्थान—ऐसा विचार है कि शीर्षस्थ विभज्योत्पादक कम तापमान का अवगम है। पत्तियों के वसन्तीकरण के दो उदाहरण हैं। (1) स्ट्रेप्टोकार्पस में वसन्तीकृत बीजपत्र के एक भाग से फूलनेवाली शाखा निकल सकती है। (2) सामान्यतः लुनेरिया वाइनिस के पौधे से अलग की हुई कालिका-रहित पत्तियों से वानस्पतिक वृद्धि वाले पौधे ही मिलते हैं जबकि पत्ती के वसन्तीकरण द्वारा पुष्पी पौधे का पुनरुद्भवन हो सकता है। अतः इस परिस्थिति में अवगम के स्थान पर अत्यन्त मतभेद हैं।

वसन्तीकृत अवस्था को बनाये रखना—वसन्तीकरण का प्रभाव कोशिका विभाजन द्वारा संचारित होता है। हायोस्कमस के पौधे में वसन्ती कृत अवस्था को दीर्घ काल में कम से कम 100 दिनों तक बनाये रखा जा सकता है। कुछ लोग 100 दिनों तक इस अवस्था में रख सकने में समर्थ हुये हैं।

प्रेषणीय-उद्दीपन—रोपण द्वारा वसन्तीकरण अवस्था एक अंग से दूसरे अंग में प्रेषित हो सकती है। हेनबेन पौधे पर किये गये शोधकार्यों से ज्ञात हुआ है कि फ्लोरीजेन के अलावा कोई अन्य पदार्थ भी है जो वसन्तीकरण के माध्यम से पुष्पण में सहायक होता है। प्रयोगों के आधार पर कुछ वैज्ञानिक वर्नालीन के होने की धारणा को सत्य मानते हैं। इस प्रेषणीय-उद्दीपक को वर्नालीन कहते हैं। वर्नालीन को फ्लोरीजेन का पूर्वगामी अथवा फ्लोरीजेन को बनाने में उत्प्रेरक माना गया है। इसे हारमोन नहीं कहा जा सकता क्योंकि वसन्तीकरण के प्रभाव को अन्तरण करने की क्षमता कुछ ही पौधों में पायी जाती है।

अवसन्तीकरण—वसन्तीकृत बीजों को केवल सुखाकर कई सप्ताह तक सूखी अवस्था में रखने से अवसन्तीकरण किया जा सकता है। पालक के बीज के वसन्तीकरण से इनके पुष्पण का क्रान्तिक दिनमान 14 घन्टे से घटकर 8 घंटा हो जाता है। पुष्पी-प्रेरणा के लिये उद्यान घास को कम तापमान और 13 घन्टा से कम दीप्तिकाल तथा फूलों के बढ़ने और विकसित होने के लिये लम्बे दिन व ऊँचे ताप की आवश्यकता होती है।

पुष्प बनने की परिपक्वता—यह एक ऐसी अवस्था है जिसके पहले कोई भी उपचार पुष्पण को बढ़ावा देने में नितान्त असफल होता है। ठण्डे देशों में उगने वाले शरदीय एकवर्षी और द्विवर्षी पौधों में सबसे अधिक अन्तर यही है कि द्विवर्षी पौधे जब तक एक निश्चित आकार के नहीं हो जाते तब तक वसन्तीकरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। कुछ शरदीय एकवर्षी पौधों में पुष्प बनने की परिपक्वता अंकुरित बीज से ही मिल जाती है। द्विवर्षी पौधों में संश्लेषित आक्सीजन देने से पुष्प बनने की परिपक्वता शीघ्र आ जाती है। कभी-कभी जिबरेलीन शीतोपचार का स्थान ले सकता है। वसन्तीकरण से पौधे में फूल बनने की सभी क्रिया पूरी नहीं होती. इसके द्वारा पौधा लाभप्रद दीप्तिकाल का उपयोग करने में समर्थ होता है। ऐसा विचार है कि शीतोपचार किसी ऐसे पूर्वगमी की कमी के स्थान पर कार्य करता है जो पौधे द्वारा दीप्तिकालिक अनुक्रिया के लिये पूर्वावस्था में आवश्यकता है। जिन पौधों में शीतोपचार की आवश्यकता नहीं होती; इनमें यह पूर्वगामी विद्यमान रहती है या सामान्य ताप पर बन जाता हैं। इस परि-कल्पित पदार्थ को कुछ वैज्ञानिकों द्वारा "बी" (B) नाम दिया गया है। इस पदार्थ की प्रकृति तथा लक्षण के बारे में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। परन्तु वसन्तीकरण अभिक्रिया द्वारा पदार्थ "ऐ" (A) पदार्थ "बी" (B) में रूपान्तरित हो जाता है। कुछ लोगों के मतानुसार वसन्तीकरण के फलस्वरूप उपापचयन सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं।

पौधों में पुष्पण का नियन्त्रण एथीलीन, ऐसिटीलीन, नेप्थलीन, ऐसिटिक अम्ल और 2, 4—D द्वारा पौधों में सफलतापूर्वक किया गया है। इससे निश्चित है कि पौधों के वितरण को प्रकाश एवं अन्धकाल तथा तापमान नियंत्रित करते हैं।

भारतवर्ष में वसन्तीकरण सम्बन्धी प्रयोग चना, धान, गेहूँ, अलसी, कपास, जूट, मूँगफली, अरहर, सोयाबीन, आदि फसलों पर किये गये हैं। परीजा (भारतीय वनस्पतिज्ञ) ने वसन्तीकरण द्वारा गेहूँ में "जल की आवश्यकता" को कम किया। भारतीय गेहूँ के लिये निम्न ताप की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती, यदि हो भी तो नहीं के बराबर है। अतः वसन्तीकरण फसलों के उत्पादन बढ़ाने में काफी सार्थक सिद्ध हुआ है।

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग
किसान पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बस्ती

पूर्वजन्म की याद का वैज्ञानिक कारण

डा० बा० गो० जायसवाल
तथा
श्रीमती माधुरी जायसवाल

अनेक बार अखबारों की सुर्खियों में ऐसे समाचार छपते हैं कि अमुक स्थान पर जन्मा एक बालक अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में स्पष्टता से सब कुछ बतला रहा है। जन्म-स्थान, मकान की स्थिति, पूर्वजन्म में स्वयं क्या था, क्या करता था, कौन-कौन उसके रिश्तेदार थे, किस प्रकार उसकी मृत्यु हुई आदि···आदि।

ऐसे समाचार जन-सामान्य के मस्तिष्क एवं चेतना को झकझोर देते हैं तथा उनमें एक कुतूहल उत्पन्न कर देते हैं कि क्या कारण है कि उन्हें पूर्वजन्म का कुछ भी याद नहीं है, यहाँ तक कि वे विश्वास अथवा प्रमाण के साथ यह भी नहीं कह सकते कि पुनर्जन्म होता है या नहीं, जबकि समाचार में उल्लिखित बालक गए जन्म का हाल, बालक होते हुए भी पूर्ण स्पष्टता के साथ बतला रहा है। क्या उनकी चेतना में कुछ न्यूनता है? अथवा उस बालक की चेतना में कोई विशेषता? इस प्रकार का कुतूहल उचित भी है क्योंकि ऐसी विशेषता लाखों में एक में पाई जाती है। इसी कारण विभिन्न समयों में जिज्ञासु विद्वानों ने तथा कभी-कभी स्थानीय शासन ने भी इस ओर ध्यान दिया तथा इन घटनाओं का अध्ययन किया अथवा वैज्ञानिकों द्वारा करवाया। इससे "पुनर्जन्म" होता है, यह तथ्य तो सप्रमाण सम्मुख आ गया, परन्तु कुछ-कुछ बालकों में ही पूर्वजन्म की याद की क्षमता क्यों दृष्ट होती है, इसका कारण स्पष्ट नहीं हो पाया; जबकि अन्य अधिकांश प्राणी उससे अनभिज्ञ रहते हैं। इसी कारण के सम्बन्ध में इस लेख में कुछ सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अनेक लोगों की मान्यता है कि यह याद, उस व्यक्ति विशेष (लाखों में एक) की किसी परा-शक्ति के कारण रहती है, जबकि जन-समान्य में उस शक्ति का अभाव है परन्तु अनेक सत्य घटनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत इन प्रकरणों में भी सामान्यतम वैज्ञानिक नियमों का पालन ही परिलक्षित होता है।

नव भारत टाइम्स का 1976 का वार्षिकांक, "पराविद्या के रहस्य" पर है। उस पर पृष्ठ 63 से 70 तक एक लेख, "पुनर्जन्म की रहस्यमय घटनाएँ" छपा है, जिसमें इस प्रकार की देश-विदेश की अनेक प्रामाणिक घटनाओं का अध्ययन, गण्य मान्य अधिकारी विद्वानों द्वारा किया गया, पूर्ण विवरण सहित प्रस्तुत किया गया है। नीचे सारणी में इन घटनाओं का महत्वपूर्ण संक्षेप प्रस्तुत किया गया है। तर्क हेतु इन्हीं घटनाओं का अध्ययन कीजिये—

घटना क्रमांक	बालक का नाम	जन्म स्थान	जन्म तिथि	पूर्व जन्म का नाम	पूर्व जन्म का स्थान	मृत्यु की दि०	मृत्यु की कारण	अध्ययन-कर्त्ता
1.	इस्माइल	अदन (टर्की)	1956	अबीत सुजुलमस	पौन मील दूर अन्य नगर	31 1/1956	नौकरों द्वारा छड़ से हत्या	प्रो० एच० एन० बनर्जी
2.	गोपाल गुप्ता	दिल्ली	1956	शक्तिपाल शर्मा	सुखसंचारक कं० मथुरा	1948	भाई द्वारा गोली मारना	वीर कुमार अधीर
3.	कु० मधु मित्र	मैनपुरी	1969	श्रीमती पूनो	कंकरहिया मुहल्ला, मैनपुरी	1965	रेल से कट मरी	बलराम शास्त्री
4.	कु० शान्ति	दिल्ली	1926	श्रीमती लुडगी	मथुरा	1916	बच्चे के जन्म के समय	भारत सरकार द्वारा नियुक्त वैज्ञानिक समिति

थोड़े मनन से इन घटनाओं के सामान्य प्रेक्षण सम्मुख आ जाते हैं। सबसे पहिले "मृत्यु का कारण" स्तम्भ देखिये :—

घटना क्रमांक 1 में :—नौकरी द्वारा छड़ से हत्या।

घटना क्रमांक 2 में :—भाई द्वारा गोली मारना।

घटना क्रमांक 3 में :—रेल से कट कर आत्म हत्या।

घटना क्रमांक 4 में :—प्रसव के समय मृत्यु।

चारों घटनाओं में मृत्यु "सामान्य" नहीं है, परन्तु असामान्य प्रकार के हत्या, आत्म-हत्या अथवा प्रसव के समय उपचार की लापरवाही के कारण है। इस प्रकार की मृत्यु को "अकाल-मृत्यु" कहा जाता है। अतः इन प्रकरणों के अध्ययन से पहला तथ्य जो सम्मुख आता है, वह यह है कि पूर्व जन्म की याद उन प्रकरणों में ही दृष्ट होती है, जिनमें पूर्व जन्म का अन्त सामान्य न हुआ हो वरन वाह्य प्रयत्न द्वारा कराया गया हो। अतः ये सब प्रकरण "अकाल-मृत्यु" के हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण सामान्य प्रेक्षण, स्तंभ "मृत्यु का दिनांक" तथा "जन्म तिथि" के साथ-साथ अध्ययन करने से सम्मुख आता है :—

घटना क्रमांक 1 में :—दोनों ही 1956 के हैं।

घटना क्रमांक 2 में :—जन्म 1948 को व मृत्यु 1956 का है।

घटना क्रमांक 3 में :—जन्म 1965 की व मृत्यु 1969 का है।

घटना क्रमांक 4 में :—जन्म 1916 की व मृत्यु 1926 का है।

अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार की घटनाओं में गत जन्म के मृत्यु दिनांक तथा इस जन्म के जन्म दिनांक में अन्तर कुछ ही वर्षों का (अधिक से अधिक एक दो दशाब्द) पाया जाता है।

एक अन्य तथ्य स्वतः स्पष्ट है। वह यह कि वाह्य प्रयत्न (उदाहरणार्थ—हत्या, आत्म-हत्या आदि) से मृत्यु, यदा कदा ही होती है अथवा की जाती है। अतः "पूर्व जन्म की याद" की घटना की आवृत्ति प्रायः उसी कोटि की है, जिस कोटि

की वाह्य प्रयत्नों से मृत्यु की घटनाओं की आवृत्ति। सरल शब्दों में एक।

अब दूसरी बात देखिये।। वाह्य प्रयत्नों से कराई गई अस्वाभाविक मृत्यु में जिन प्रामाणिक प्रकरणों में पूर्व जन्म की याद पाई गई, उनमें सबके पुनर्जन्म अधिक से अधिक 10-12 वर्ष के भीतर हो पाया जाता है। इस प्रेक्षण का पूर्व जन्म की याद तथा याद के कारण से महत्वपूर्ण संबंध है।

मस्तिष्क से सभी पूर्वाग्रहों को निकाल कर विचार कीजिये। मानव जीवन की विशेषता उसका मस्तिष्क—उसकी बुद्धि अथवा उसकी "चेतना" है। इसी के कारण उसे इस जन्म की भूतपूर्व घटनाएँ याद रहती हैं।

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, पूर्व जन्म की याद उन्हीं प्रकरणों में पाई गई है, जहाँ पूर्व जन्म का अन्त अस्वाभाविक प्रकार से, वाह्य प्रयत्न द्वारा कर दिया गया है। अतःयह "अकाल मृत्यु" उस प्रकार को घटना हुई, जिस प्रकार कि अपने पथ पर अग्रसर होते किसी वेगवान पिन्ड को किसी वाह्य कारक उदाहरणार्थ किसी अवरोध से टक्कर द्वारा रोकने का प्रयत्न किया जाए। तब ऐसी अवस्था में हम देखते हैं कि टक्कर के पश्चात भी, "जड़त्व-आघूर्ण" के कारण, पिन्ड स्वयं की दिशा में ही, तब तक अग्रसर होता रहता है, जब तक कि उसका आवेगशून्य नहीं हो जाता। ठीक इसी प्रकार वाह्य-प्रयत्न (हत्या, आत्म-हत्या आदि) द्वारा कराई गई मृत्यु से, देह तो नष्ट हो जाती है, परन्तु मृत्यु सामयिक अथवा "स्वाभाविक-मृत्यु" न होने के कारण, उस व्यक्ति का "चेतना-आघूर्ण" उस "अकाल मृत्यु" के समय शून्य नहीं होता। वह अपनी दिशा में ही अग्रसर तथा सतत रहता है। अर्थात दूसरे जन्म में भी (चेतना सतत रहने के कारण) पूर्व जन्म की घटनाओं की स्पष्ट याद, सभी विवरणों सहित बनी रहती है, जो कि अन्य व्यक्तियों को आश्चर्यचकित कर देती है। ऐसे प्रकरणों में चेतना की दृष्टि से इन व्यक्तियों का पूर्वजन्म (जो कि अकाल मृत्यु द्वारा समाप्त हुआ था), ही चलता रहता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव है।

पूर्व जन्म में मृत्यु तथा वर्तमान जन्म की जन्म तिथि में अन्तर एकाध दशाब्द से अधिक नहीं पाया गया—इस सामान्य प्रेक्षण से उपरोक्त निष्कर्ष को बल प्राप्त होता है, क्योंकि यदि अस्वाभाविक मृत्यु न कराई गई होती तो स्वाभाविक रूप से इतने दिन तो और जीवन सम्भव हो सकता था।

स्मरण रहे कि इन उदाहरणों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें सामान्य मृत्यु के पश्चात भी गत जन्म की याद पाई गई हो। क्योंकि "सामान्य मृत्यु" तुलनात्मक दृष्टि से वेगवान पिन्ड की ऐसी अवस्था हुई, जब वेगवान पिन्ड स्वयं के वेग का ह्रास करता हुआ, शून्य वेग पर आकर स्वयं रुक गया हो। तब जड़त्व-आघूर्ण के सांतत्य का प्रश्न कहाँ रहता है? ठीक इसी प्रकार इस प्रकरण में नए जन्म के समय, चेतना-आघूर्ण भी शून्य हो जाता है। अतः सामान्यतया पूर्व जन्म की याद न रहना ही स्वाभाविक एवं विज्ञानसम्मत है।

ईदगाह हिल
भोपाल

●●

दसवें ग्रह की खोज

नरेश चन्द्र 'पुष्प'

हमारे सौर-परिवार में कुल कितने ग्रह हैं ? यदि हम एक खगोल वैज्ञानिक से यह प्रश्न पूछें तो वह लगभग इस प्रकार से उत्तर देगा : हमारे सौर परिवार में नौ ग्रह हैं परन्तु दसवां ग्रह भी हो सकता है। अन्तरिक्ष में दसवें ग्रह के होने की सम्भावना, अमेरिका का कैलोफोरनिया युनिवर्सिटी के डा० जोसेफ ब्रेडी की यह घोषणा कि उन्होंने दसवां ग्रह खोज लिया है, के साथ सत्य सिद्ध हो गयी है।

दसवें ग्रह की खोज वास्तव में कुछ अर्थों में खोज नहीं कही जा सकती क्योंकि न तो इसे दुर्बीनों के माध्यम से देखा गया है और न ही इसका चक्र ही खींचा गया है। दसवें ग्रह को वास्तव में गणितीय गणना के आधार पर 'खोजा' गया है जो ज्ञात ग्रहों की गति को प्रदर्शित करता है, विशेष तौर पर यूरेनस की गति को दिखलाता है। यूरेनस तथा दूसरे ग्रहों का गति को प्रदर्शित करने के लिए एक नवें ग्रह 'एक्स' की काल्पनिक उपस्थिति का सहारा लेना पड़ता है। यहाँ पर हम यह जानते हैं कि 'एक्स' गणितीय चिन्हों में अज्ञात संख्याओं के लिए और 'रोमन गणित' में 'दस' के लिए उपयोग में लाया जाता है।

ग्रहों के खोज की कहानी अट्ठारहवीं शताब्दी से आरम्भ होती है जब इंग्लैण्ड के खगोल वैज्ञानिक सर विलियम हरशेल ने सौर परिवार के एक नये, सातवें ग्रह-यूरेनस को ढूँढ़ निकाला था। उस समय खगोल वैज्ञानिक यही मानते थे कि सौर परिवार में केवल छः ग्रह हैं और यह थे—बुद्ध, शुक्र, धरती, मंगल, वृहस्पति और शनि जो सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं। सर विलियम ने यूरेनस की खोज के पश्चात् इसकी सूर्य से दूरी ज्ञात की और यह दूरी सूर्य से लगभग 1068×100000 किमी थी। इस खोज से अन्य खगोल वैज्ञानिक बहुत ही प्रभावित हुये और दूसरे अन्य अज्ञात ग्रहों की खोज की लालसा में अपनी-अपनी दुर्बीने अन्तरिक्ष की ओर मोड़ दीं लेकिन एक लम्बे अर्से तक उन्हें कोई सफलता नहीं मिल सकी।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, जब दैवीय पिण्डों का अध्ययन हो रहा था तक न्यूटन के यांत्रिक नियमों के अध्ययन से और फ्रांसीसी गणितिज्ञ, पोपरे साइमन लाप्लास के दैविक यांत्रिक सूत्रों' के आधार पर अन्य ग्रहों की उपस्थिति का आभास प्राप्त हुआ। इन सभी गणितीय शस्त्रों के सहयोग के आधार पर खगोल वैज्ञानिक परिचित ग्रहों को बिना दूरबीन से देखे ही उनका मार्ग प्रदर्शित कर सकते थे। लेकिन इन मात्र गणनाओं के आधार पर वे नये ग्रह की खोज कैसे कर सकते थे ? इसके लिए खगोल वैज्ञानी सबसे पहले गणितीय सूत्रों के आधार पर ज्ञात ग्रहों का मार्ग निर्धारित करते और फिर उसी मार्ग का टेलिस्कोप के सहयोग से अध्ययन करते। यदि निर्धारित मार्ग में कहीं पर भी कोई असंगति प्राप्त होती तो यह असगति उस अज्ञात ग्रह के कारण होती थी जो ज्ञात ग्रह को अपने गुरुत्वाकर्षण के द्वारा प्रभावित करता है।

ग्रहों के मार्ग में आयी हुई यह त्रुटि या असंगति ग्रहों के आपस में लगने वाले गुरुत्वाकषर्ण बल के कारण होती है। निर्धारित मार्ग में यह गड़बड़ी उस समय होती है जब एक ग्रह अपनी कक्षा में सुनिश्चित गति से घूम रहा है और तभी

उसके पास से गुजरता हुआ अन्य ग्रह उस पर अपना गुरुत्वाकर्षण प्रभाव डालकर उसको उसके मार्ग से विचलित कर देता है।

उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि शनि ग्रह $29\frac{1}{2}$ वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी कर लेता है जब कि यूरेनस ग्रह को सूर्य की एक परिक्रमा में 84 वर्ष लग जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शनि, यूरेनस की अपेक्षा कम समय में सूर्य की परिक्रमा पूरी कर लेता है अतः उसकी गति यूरेनस से अधिक है। इस कारण एक निश्चित समयान्तर में यूरेनस और शनि आस पास से गुजरते हैं। यहाँ पर शनि ग्रह यूरेनस पर अपना प्रभाव डालता है जिसके कारण यूरेनस अपने मार्ग से गुरुत्वाकर्षण प्रभाव के कारण विचलित हो जाता है। लेकिन जब वे दोनों एक दूसरे को पार करते हुए आगे निकल जाते हैं तो पुनः अपने पूर्व निर्धारित मार्ग पर आ जाते हैं। यूरेनस में होने वाला यह मार्ग विचलन वृहस्पति और शनिग्रह के गुरुत्वाकर्षण के कारण भीतर की ओर होता है। यदि यूरेनस में होने वाली मार्ग में यह त्रुटि ऐसे ग्रह के कारण होती है जो यूरेनस की अपेक्षा स्वयम् सूर्य से अधिक समीप है तो वह यूरेनस को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार किसी भी नये ग्रह की खोज करने के लिए ज्ञात ग्रहों के पूर्व निर्धारित मार्गों में आने वाली त्रुटियों या गड़बड़ियों का हम अध्ययन करते हैं। इन गड़बड़ियों में एक ग्रह की गति या तो तेज हो जाती है या वह और अधिक धीरे से चलने लगता है। इन ज्ञात ग्रहों के मार्गों में आने वाले विचलन यदि ज्ञात ग्रहों के द्वारा नहीं हुआ है तो यह अन्य किसी नये ग्रह के द्वारा हो सकता है। और इस प्रकार हम एक नये ग्रह को खोजते हैं।

सन् 1840 में तीन खगोल वैज्ञानिकों ने स्वतंत्र रूप से अलग-अलग इस समस्या को हल करने की चेष्टा की। जर्मनी में कार्यरत खगोल वैज्ञानिक एफ० डब्लू० एडामन। इस समस्या को हल करने के लिए कार्य करते रहे लेकिन आठवें ग्रह की खोज होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। जर्मन खगोलज्ञ की मृत्यु के बाद अंग्रेज खगोलज्ञ जे० सी० अदम्स और फ्रांसीसी खगोलज्ञ यू० टी० टी० लेवेरियर ने अलग-अलग जर्मन खगोलज्ञ के कार्य को आगे बढ़ाया और इस परिणाम पर पहुँचे कि एक आठवाँ ग्रह भी सौर परिवार में होना चाहिए जिसका आकार शनि और यूरेनस के लगभग हो और सूर्य से उसकी दूरी 8110×1000000 किलोमीटर होनी चाहिए। युवा खगोल ने अपने आठवें ग्रह की उपस्थिति की सम्भावना की रिपोर्ट ब्रिटिश एस्ट्रोनोमर रायल' सर जार्ज बिडेल को दी जिन्होंने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और मामूली सी बात की तरह लेकर उस पर टेलिस्कोप द्वारा खोज का कार्य आरम्भ नहीं किया कि अदम्स की गणना सत्य है या नहीं। फ्रांसीसी खगोलज्ञ ने यह देखा कि उसकी गणना से प्राप्त परिणाम पर ग्रानविच के अधिकारी कोई रुचि नहीं ले रहे हैं तो उसने अपनी रिपोर्ट बर्लिन के 'यूरेनिया परिवेक्षणालय' में अपनी गणना को टेलिस्कोमीय सत्यापन के लिए भेज दी। इस माने में फ्रांसीसी खगोलज्ञ लेवेरियर बड़ा भाग्यशाली निकला। उसकी रिपोर्ट 23 सितम्बर 1846 में बर्लिन में स्वीकार कर ली गई और उसी दिन 'यूरेनिया परिवेक्षणालय' के डाइरेक्टर जे० जी० जेली ने अपने टेलिस्कोप का मुख आकाश की ओर मोड़ दिया और आठवें ग्रह नेप्चून को खोज निकाला। आठवें ग्रह नेप्चून की वही दशा थी जो लेवेरियर द्वारा दरशायी गई थी। इसकी संहति, यूरेनस के बराबर थी। और इसकी कक्षा अन्य ग्रहों की कक्षाओं से कुछ हलकी झुकी हुई थी लेकिन यह सूर्य से लगभग 450 किलोमीटर समीप निकला जिसकी गणना लेवेरियर और आदम्स ने की थी।

एक बार नेप्च्यून की खोज हो जाने के पश्चात् खगोलज्ञों का ध्यान अन्य अज्ञात ग्रहों की ओर खिंच गया और उनको पढ़ने में पुनः लग गये। एक विवादास्पद बात यहाँ यह थी कि नेप्चून की दूरी जो पहले निर्धारित की गयी थी वह सही नहीं थी और देखने को मिला की नेप्चून की सूर्य से दूरी कम है न कि उतनी जितनी पहले गणनाओं के द्वारा तय की गयी थी। दूसरी विचारपूर्ण बात यह थी कि यह यूरेनस के मार्ग में आई सभी गड़बड़ियों को नहीं गिन रहा था इसके साथ ही नये ग्रह की कक्षीय दूरी प्रसिद्ध बोड-टाइटस के नियम का भी पालन नहीं करती थी! इस नियम की स्थापना आठवें ग्रह यूरेनस की खोज के पूर्व की गयी थी। और इसके सहयोग से किसी भी ग्रह की सूर्य से औसत दूरी खगोलिय इकाई में ज्ञात की जा सकती थी। एक 'खगोलिय इकाई' की औसत दूरी सूर्य और धरती के बीच की दूरी है या 208 × 100000 किमी है। बोड-टाइटस के नियम के आधार पर सूर्य से नेप्चूस के कक्षा की दूरी 38 खगोलीय इकाई होनी चाहिए जब कि वास्तविक दूरी केवल 30 खगोलीय इकाई है।

इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए लेवारियर ने नये ग्रह की स्थिति का अध्ययन करना आरम्भ किया और देखा कि यदि बोड-टाइटस का नियम नेप्चून के केस उपयोगन में लाने योग्य नहीं है तो एक और ग्रह होना चाहिए जो यूरेनस के मार्ग में गड़बड़ी पैदा करने वाले कारकों को, जो नहीं गिने गये थे, को शामिल करना चाहिए। अनेक गणनाओं के आधार पर खगोलज्ञों ने यह सुझाव दिया कि सूर्य से 45 और 100 खगोलीय समाई के मध्य एक नया ग्रह होना चाहिए। एक अमेरिकी खगोलज्ञ परसीपवेल लावेल, इस समस्या पर बारह वर्षों तक कार्य करता रहा और लेवारियर की गणनाओं के आधार पर एक नये ग्रह की स्थिति का पता लगा। वह 1905 से 1907, दो वर्षों तक एक नयी फोटोग्राफीय विधि के सहयोग से उस नये ग्रह की खोज करता रहा लेकिन उसे कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। उसने पुना लेवेरियर द्वारा उपयोग में लाये गये 'डेटा' पर विचार किया और पूर्व समस्या पर पुनः कार्य आरम्भ किया और 1915 में परिणाम प्रकाशित किये गये। लेकिन सन् 1916 में ही लम्वेल की मृत्यु हो गयी और उसका कार्य अधूरा ही रह गया। सन् 1929 में एक युवा खगोलज्ञ सी० डब्लू० टामबाउग ने 'लावेल परिवेक्षणालय' में अपना कार्य स्वतंत्र रूप से आरम्भ किया जहाँ किसी समय परसीववेल लवेल नवें ग्रह की खोज का कार्य आरम्भ किया था। टामबाउग को अपने कार्य में सफलता मिली और फरवरी 1930 को 'प्लूटो' नाम के नवें ग्रह को खोज निकाला। टामबाउग ने प्लूटो के चित्र लिये थे। लेकिन लावेल ने जिस प्रकार के ग्रह की परिकल्पना की थी, टामबाउग द्वारा लिये गये प्लूटो के चित्र में काफी भिन्नता थी। लावेल के अनुसार नये ग्रह की संहति धरती से सात गुना अधिक थी और यह सूर्य की पूरी एक परिक्रमा 282 वर्ष में पूरा करता था और उसकी कक्षा अक्ष से। 10° झुकी हुई थी।

लेकिन नवें ग्रह की खोज हो जाने पर पता चला की वह 249 वर्षों में सूर्य की पूरी परिक्रमा करता है और उसकी कक्षा कक्ष से 17° झुकी हुई है।

लावेल ने जिस प्लूटो की कल्पना की थी वह सही नहीं उतरी अतः यह लावेल का प्लूटो नहीं माना गया। इसके पश्चात् खगोलज्ञयों ने यह विश्वास करना शुरू कर कि सौर-परिवार में पूरे नौ ग्रह ही हैं। लेकिन दूसरी तरफ कुछ अन्य 'आकड़ों' के आधार यह विचार किया जाने लगा कि सौर परिवार में एक और ग्रह—दसवाँ ग्रह भी होना चाहिए।

अमरीका की कैलीफोरनीया युनीवर्सिटी के डा० जोजफ ब्रेडी की घोषणा से दशवें ग्रह की सम्भावना को पूर्ण समर्थन मिला है। डा० ब्रेडी ने 1700 वर्षों के मध्य प्रकट हुये हेली के धूमकेतु का विश्लेषण किया और पाया कि प्रत्येक 76 वर्ष के समन्यान्तर से यह प्रकट होता है। लेकिन इसकी अच्छी नामावली नहीं थी। हेली का घूमकेतु निश्चित तारीख से चार दिन पहले या चार दिन बाद प्रकट होता है। अनियमित तिथियों से प्रकट होने के कारण को यह सोचा गया कि यह गड़बड़ी किसी अज्ञात शक्ति के प्रभाव से होती है। डा० जोजेफ ब्रेडी ने दश-ग्रहों वाले परिवार का एक गणितीय माडल तैयार किया और 'आंकड़ों' को कम्प्यूटर के साथ जोड़ा। और इसके फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि सौर परिवार में दसवाँ ग्रह विद्यमान है। डा० ब्रेडी के अनुसार यह दसवां ग्रह शनि से तीन गुना भीमकाय है और 464 वर्षों में सूर्य का एक चक्कर लगाता है और सूर्य से इसकी दूरी अरब किलो मीटर है।

डा० ब्रेडी ने गणितीय आधार पर दशवें ग्रह के होने की घोषणा की है। लेकिन डा० ब्रेडी की बातों को सत्य सिद्ध के लिए दसवें ग्रह के फोटो लेने की आवश्यकता पड़ती है जो सम्भव नहीं हो सका है। लेकिन इसके लिए हमारे सामने कठिन समस्याएँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसकी खगोलीय दूरी इतनी अधिक है कि वर्तमान फोटो लेने वाली तकनीक के पकड़ में यह ग्रह नहीं आ पाता लेकिन भविष्य में यदि अधिक विकसित कैमरे का विकास हो सका तो इसका चित्र लेना सम्भव हो जायेगा। दूसरी कठिनाई यह है कि इसकी कक्षा आम धरातल से 60° झुकी हुई है और धरती से इसको देख पाना सम्भव कम है। लेकिन कौन कह सकता है कि भविष्य में अत्यधिक शक्तिशाली फोटो लेने वाली तकनीकों का विकास कर लेंगे और दसवाँ ग्रह तो दसवाँ ग्रह है ही हम इसके उपग्रहों को भी खोज लेंगे।

● ●

विज्ञान परिषद् के साधारण सभ्य एवं ग्राहकों से अनुरोध

आप पिछले वर्षों से विज्ञान परिषद् के माननीय सदस्य हैं एवं ग्राहक हैं। आशा है इस अवधि के दौरान आपने 'विज्ञान' को उपयोगी और रोचक पाया होगा। पत्रिका हिन्दी-विज्ञान के क्षेत्र में देश के सब से सस्ती और उपयोगी पत्रिका है। इसका वार्षिक शुल्क मात्र 6) रु० है। आपको विदित ही होगा कि इसका डाक-व्यय भी हम देते हैं।

कृपया यह देखें कि कहीं आपका वार्षिक चन्दा इस माह या अगले माह समाप्त तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा हो तो वार्षिक चन्दा हमें शीघ्र भेजने की कृपा करें, जिससे हम आपकी सदस्यता अगले वर्ष के लिए चालू रख सकें और समय पर अपनी सदस्यता सूची में सुधार कर सकें।

आप जानते ही हैं कि आप पत्रिका का शुल्क मनीआर्डर पोस्टल आर्डर द्वारा प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद के नाम भेज सकते हैं। कृपया शुल्क भेजते समय अपनी पुरानी ग्राहक संख्या का, जो पते के साथ छपी होती है, उल्लेख अवश्य करें।

—सम्पादक

● ●

शून्य गुरुत्व

राजेश जांगिड़

भारहीनता या शून्य गुरुत्व मानव के लिये एक नई चुनौती है जो अब अंतरिक्ष में नयी सीमाओं तक पहुँच रहा है। अनेक प्रयोगों के बावजूद कोई नहीं जानता कि मानव शरीर शून्य गुरुत्व के प्रति किस प्रकार प्रभावित होता है।

कक्षा में किसी अंतरिक्ष यान के अंदर शरीर तैरता है क्योंकि अवरोध के लिये कोई हवा नहीं होती है। शक्तिशाली हड्डी गठन व मांस पेशियों की जरूरत नहीं है हड्डियों में कैल्शियम ज्यादा हो जाता है। वजन कम हो जाता है, उसी तरह जैसे लम्बे समय तक बिस्तर पर पड़े रहने से रोगी का वजन कम हो जाता है। रक्त प्रसार में भी परिवर्तन होते हैं।

सोयूज—9 पर सोवियत अंतरिक्ष यात्रियों के अनुभव बड़े समस्या जनक रहे। इस यात्रा में निकोलायेव और सेवस्तियानोव 18 दिन अंतरिक्ष में रहे जो उस समय के लिये एक रेकार्ड था। पहले तो उन्होंने शरीर द्रव्यों की हानि अनुभव की लेकिन प्यास महसूस नहीं की। शून्य गुरुत्व में आदमी को सामान्य कैल्शियम व शरीर द्रवों की जरूरत अनावश्यक होती हैं। दूसरे उनकी नब्ज की दर सामान्य से नीची हो गयी और कसरत के समय भी उतनी हो रही। तीसरे उनके वजन में कमी हो गयी।

उनके पृथ्वी पर आने के बाद उनकी प्रतिक्रिया भी अजीब थी। उन्हें अंतरिक्ष यान में से उठाना पड़ा और पहले दिन ऐसा अनुभव हुआ मानो वे सामान्य से दुगने गुरुत्व के प्रभाव में है। यहाँ तक कि छोटी गतिविधियों से उनको थकान होने लगी और हृदय की धड़कन बढ़ गई। उनको सोने में भी दिक्कत महसूस हुई।

समस्या अंतरिक्ष की परिस्थितियों को सहन करने की नहीं, बल्कि पृथ्वी पर लौटने के बाद सामान्य परिस्थितियों में अपने को ढालने की है। अंतरिक्ष यान के अन्दर अंतरिक्ष-यात्री किस प्रकार के वातावरण में रहते हैं? देखा गया है कि यदि लम्बे समय तक विशुद्ध ऑक्सीजन के वातावरण में रहा जाय तो फेफड़े खराब हो जाते हैं। इसके अलावा ऑक्सीजन से आग जल्दी लगने का खतरा रहता है। सबसे आदर्श वातावरण ऑक्सीजन व नाइट्रोजन या हीलियम के मिश्रण का होता है। दबाव भी ठीक होना चाहिये। अंतरिक्ष यात्रियों द्वारा छोड़ी जाने वाली कार्बनडाई-ऑक्साइड के जज़्ब करने के लिए विशेष विधियों का प्रयोग किया जाता है।

अंतरिक्ष यान में जैवकचरे को ठिकाने लगाने की भी एक समस्या है। गुरुत्व के अभाव में कुछ भी नीचे नहीं गिरता। कुछ अंतरिक्ष यात्रियों ने डायरिया रोकने के लिये गोलियाँ लीं जिससे कचरा थैलों का इस्तेमाल न करना पड़े, जिन्हें वे खराब समझते थे। उड़ान के समय इन थैलों को बाहर नहीं फेंका जा सकता, हाँ अन्दर इनको सील किया जा सकता है, जिससे उनसे बदबू न आये।

राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय
हरसौली, जिला—अलवर (राज०)

● ●

बाल-विज्ञान

दीमक की कहानी उसी की ज़बानी

डा० ओम प्रसाद

मुझे पूरा विश्वास है कि आपने मुझे देखा अवश्य होगा और कभी-कभी लकड़ी अथवा किताबों इत्यादि में मुझे लगे देखकर शायद परेशान भी हुये हों कि आखिर मैं हूँ कौन तो आइये आज मैं स्वयं अपनी रामकहानी आप को सुनाती हूँ।

मेरा जन्म आज से करोड़ों वर्ष पूर्व कीट पतंगों के साथ हुआ था। यों तो मुझे ठंडी जलवायु ही पसंद है परन्तु मेरे बहुत से भाई बंधु गर्म देशों में भी पहुँच गये हैं। यद्यपि हमें बहुत से लोग सफेद चींटे भी कहते हैं परन्तु चीटियों से सिवाय हमारा थोड़ा बहुत आकार प्रकार मिलने के अलावा और कोई सम्बन्ध नहीं है। हम लोग साधारणतया समतल जमीन पर ही रहना पसंद करते हैं पर कभी-कभी समुद्र तल से 7,000 फीट की ऊंचाई तक चट्टानी पहाड़ों पर भी पहुँच जाते हैं।

हमारा भोजन मुख्यत: लकड़ी होता है जिसे हम बहुत स्वाद से खाते हैं। कभी कभार मौका लग जाने पर हम अन्य कीड़ों की त्वचा तथा अपने भाई बंधुओं के मृत शरीर को भी चट कर जाते हैं। जैसे आप लोगों को पानी की आवश्यकता होती है वैसे ही हमारा काम भी पानी के बगैर नहीं चल सकता। हम अपना घर वहीं बनाते हैं जहां पानी किसी न किसी रूप में मौजूद हो। रेगिस्तानों में जहां पानी की अत्यंत कमी होती है हम नागफनी, तथा अन्य रेगिस्तानी पौधों की जड़ के पास अपना घर बनाते हैं और वहाँ से अपने काम भर की नमी प्राप्त कर लेते हैं। आप लोग समझते हैं कि हम शरारत के कारण लकड़ी में छेद कर के इधर-उधर रेंगते हैं पर हम क्या करें हमारे परिवार के वे सदस्य जिनके ऊपर सारे कुन्बे के संचालन का कार्यभार रहता है वे सूर्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकते और इसी कारण मजबूर होकर सुरंगें बना कर उसमें विचरण करते हैं।

चित्र 1—दीमक कुन्बा

1. पंखदार दीमक 2. बिना पंख का दीमक जो राजा बनेगा 3. बिना पंख का दीमक जो रानी बनेगी 4. सेवक 5. साधारण सिपाही 6. नसेयुट सिपाही
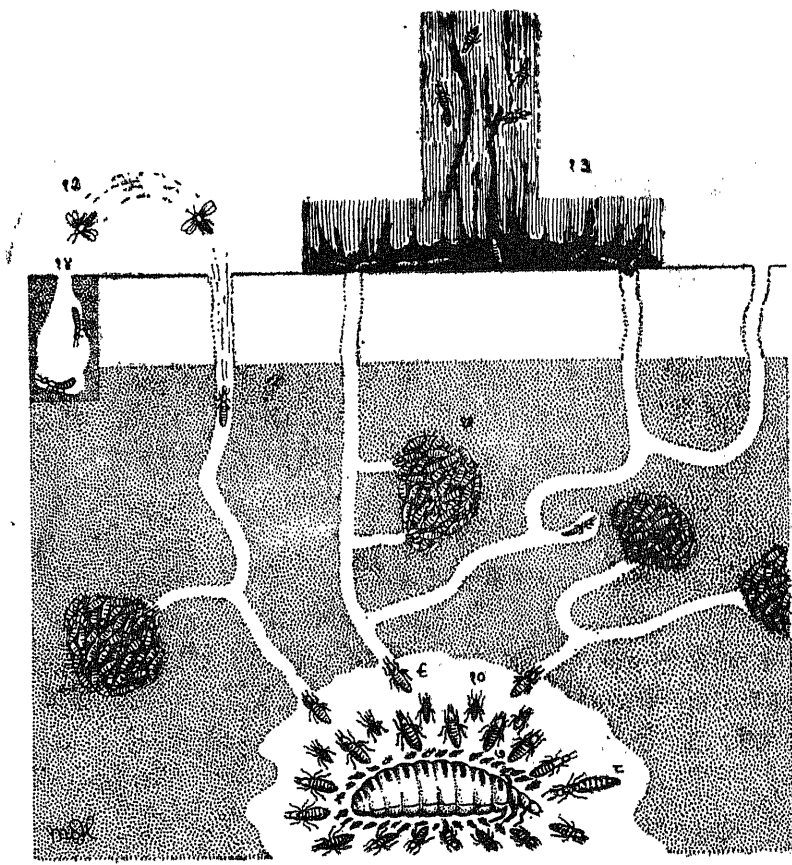
अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया में हम लोग ज़मीन पर ही ऊंचे-

चित्र—2

7. दीमक रानी अपने घर में 8. दीमक राजा 9. सिपाही 10 सेवक 11. पंखदार दीमक घर से बाहर निकलते हुये 12. सूखी लकड़ी में दीमक 13. नर मादा नये कुन्बे की स्थापना करने को तैय्यार।

ऊंचे टीले बना कर रहते हैं। इन्हें हम छोटे-छोटे मिट्टी के कणों को अपने शरीर से निकले एक चिपचिपे पदार्थ द्वारा जोड़ कर घर का रूप देते हैं। कभी-कभी तो हम इन्हें चालीस फुट की ऊंचाई तक पहुँचा देते हैं। हमारे घरों के बाहर की ओर काम-काज व दौड़ धूप के लिये सुरंगें होती हैं तथा भीतर की ओर रनिवास एवं बच्चों के पालन-गृह होते हैं। रनिवास में रानी अपने नौकर-चाकरों एवं सिपाहियों के साथ रहती है।

हालांकि हमको बुरा कहा जाता है पर अब लकड़ी में छेद करना तो हमें जिंदा रहने के लिये करना ही पड़ता है वर्ना हमारे घरों में हमारे साथ कितने ही हमारे कीट पतंग भाई बहन भी आकर रहते हैं और हम इन्हें मेहमान की तरह रखते हैं। अफ्रीका में में तो लोग हमारे घरों को तोड़ कर उसमें खाना पकाने का तंदूर बना लेते हैं तथा हमारे मेहनत से बनाये हुये घरों को तोड़ कर उसकी मिट्टी अपने घरों में लीपने पोतने के काम लें आते हैं। अफ्रीका एवं दक्षिणी अमेरिकावासी

तो हमें तेल में भून कर खा भी जाते हैं। यद्यपि हमारा दोष यह है कि हम अच्छी लकड़ी में छेद कर के उसे खराब कर देते हैं पर सड़ी हुई लकड़ी को भी तो हम खा-खा कर चूरे के रूप में मिट्टी में मिला देते हैं और इस प्रकार भूमि को उपजाऊ बनाते हैं। अब हमारे इतनी समझ कहाँ कि कौन लकड़ी अच्छी है और कौन खराब। हमारा दिमाग अगर इतना विकसित होता तब हम ऐसी गलती क्यों करते।

हम लोग कितने भी क्षुद्र जन्तु क्यों न हों पर हम अपने काम के लिये किसी पर निर्भर नहीं रहते। आप ही की तरह हम भी एक सामाजिक प्राणी हैं और सदा अपना एक कुन्बा बना कर रहते हैं। हमारे कुन्बे में हर तरह के लोग रहते हैं। और ये कई जातियों में बँटे रहते हैं। सर्व प्रथम जनन कार्य करने वाले नर एवं मादा की एक जाति होती है तथा हमारी रक्षा करने वाली एवं लड़ाई लड़ने वालों की एक जाति होती है जिन्हें सिपाही कहते हैं। तीसरी व सबसे महत्व-पूर्ण जाति मज़दूरों की होती है। हमारे कुछ उच्च वर्गीय समाज में इन जातियों की संख्या और बढ़ जाती है।

हमारी जनन जाति की उत्पत्ति बहुत बड़ी संख्या में होती है इनमें से एक नर व एक मादा साथ हो लेते हैं तथा एक नये कुन्बे की संरचना करते हैं। इस नर एवं मादा को राजा तथा रानी कहा जाता है। राजा रानी की जनन क्रिया आसानी से शुरू नहीं हो पाती क्योंकि इनकी उत्पत्ति के बाद बहुत सी घातक शक्तियां इन्हें समाप्त करने पर लगी रहती हैं और बहुत थोड़े जोड़े ही अपना कार्य पूरा कर पाते हैं। जो जोड़े सुरक्षित बच जाते हैं वे अपने परों को गिरा देते हैं और ज़मीन में या लकड़ी में अपना छोटा सा घर बना कर जनन कार्य शुरू कर देते हैं। और ये ही उस कुन्बे के राजा एवं रानी बनते हैं। ये जीवन पर्यन्त एक दूसरे का साथ निभाते हैं। कुछ जातियों में जहाँ नरों की अपेक्षा मादा की संख्या कम होती है रानी को कई राजाओं के साथ रहना पड़ता है।

हमारी सिपाहीयों जाति में भी नर एवं मादा दोनों होते हैं। सिपाही लोग पूर्णतयः परिपक्व नहीं हो पाते हैं। ये भी बिना पर के होते हैं पर इनके शरीर पर एक मोटा कवच सा होता है तथा इनका सर रंगीन होता है। हमारे सिपाही दो प्रकार के होते हैं एक के जबड़े बहुत विकसित होते हैं और इन्हीं से शिकार को पकड़ते हैं दूसरे के जबड़े तो छोटे होते हैं पर इनके मुँह में एक लम्बी पिचकारी सी बनी होती है जिससे ये दुश्मनों पर एक चिपचिपा पदार्थ छिड़क कर उन्हें बेकाम कर देते हैं।

हमारे कुन्बे की मुख्य जनसंख्या मजदूर जाति होती है। ये बेचारे पीले रंग के होते हैं और अधिकतर नेत्रविहीन होते हैं। आंख न होते हुए भी ये कुन्बे का सारा काम जैसे राजा रानी को भोजन कराना, सिपाहियों को भोजन कराना, अंडों की देखभाल करना, रानी की सेवा करना व भविष्य के लिये रसद जुटाने इत्यादि का काम करते हैं।

यद्यपि हम क्षुद्र हैं परन्तु हमारा संचालन व सामाजिक जीवन क्या आप लोगों से किसी तरह भी खराब है। आप हमसे नफरत करें ठीक भी है पर हमारा आप का क्या मुकाबला हम तो अपने में ही खुश हैं।

जीवविज्ञान विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

● ●

अतिस्वन कंकार्ड—नीले आकाश की ओर

अखिल प्रकाश त्रिपाठी

यों तो अतिस्वन विमानों की दुनिया में कई विमानों के नाम जोड़े जा सकते हैं जो आधुनिक संयंत्रों से युक्त होकर सफल व्यापारिक उड़ानें भर रहे हैं लेकिन अतिस्वन विमान कंकार्ड अपने आप में एक उपलब्धि है जो ध्वनि की गति से भी दूनी गति (मैक-२) से उड़ता है। यह विमान ब्रिट्रेन एवं फ्रांस के सहयोग से फ्रांस में बनता है जिसके कुछ संयंत्र ब्रिटेन में बनते हैं एवं फ्रांस में इसको अन्तिम रूप दिया जाता है।

विमान उड़ने के एक घण्टा पहले उसकी जाँच की जाती है, टंकियों में ईंधन भरा जाता है उड्डयन अभियंता विशेष रियेक्टर्स की जाँच-तालिका की पूरी तरह से जाँच करते हैं। उसके बाद फ्लाइट कमांडर के साथ सह-चालक रिंग मैरोल प्रश्नों के पूरे पृष्ठ की जाँच करता है। यान चालक एवं जाँच अभियन्ता सभी मिलकर इलेक्ट्रानी संयंत्रों, दबाव, षष्ठी कोलीजन व्लिंकिंग लाइट्स, हाइडालिक सिस्टम, ताप गेज, शटर्स, कक्ष दूरभाष आदि की भली भाँति जाँच करते हैं। जाँच के दौरान कर्मीदल का एक व्यक्ति हर बार एक गियर खींचता है डायल की जाँच करता है एवं सब कुछ सामान्य तथा ठीक हैं कि सन्तुष्टि कर लेता है। इसके बाद सभी इलैक्ट्रानी घड़ियों को एक प्रमाणिक समयानुसार मिला दिया जाता है।

रेडियो दूरभाष से फ्लाइट कमांडर ने नियंत्रण कक्ष से उड़ने की अनुमति माँगी, नियंत्रण कक्ष से स्वाकृति मिल गयी तथा मौसम सम्बन्धी जानकारी के साथ एक उड़ानपट्टी विशेष से उड़ान भरने का निर्देश भी मिला। अभियन्ता ने एन्जिन नम्बर तीन को चालू करने के लिये ग्राउन्ड स्टाफ को सावधान किया। ग्राउन्ड स्टाफ से सब ठीक है की स्वीकृति मिलते ही रियेक्टर नम्बर तीन में भारी मात्रा में ऊँचे दबाव पर हवा भेजी जाती है। पर्याप्त दबाव हो जाने पर ईंधन प्रवाहित करके इंजिन चालू कर दिया जाता है, इसी प्रकार इंजिन नम्बर चार, दो, तथा एक भी एक-एक करके चालू किये जाते हैं आग से सुरक्षा के लिये चार अग्नि शामक भी चारों इंजिनों के पीछ रखे जाते हैं।

फ्लाइट कमांडर एवं सह-चालक फिर से जाँच करते हैं कि सब कुछ ठीक ठाक है या नहीं। अब हवाई ब्रेक तथा अल्टीमीटर की अन्तिम जाँच करके टेप रिकार्डर चालू कर दिया जाता है। यह तैंतीस ट्रैक टेप रिकार्डर है जो पूरी उड़ान के दौरान प्रति सेकेण्ड दस हजार उड़ान सूचनाओं के अन्तर से 2,000 नियंत्रण विन्दुओं द्वारा जारी की गयी उड़ान सूचनाओं को अंकित करेगा।

अब कंकार्ड पहले से निश्चित उड़न पट्टी पर उड़ान भरने के लिए जाता है। नियंत्रण कक्ष से उड़ान भरने की अनुमति मिलते ही—टेक-आफ स्पीड वी-वन-165 नाट्स, वी-आर-186 नाट्स, तथा वी-टू-205 नाट्स होते ही केवल तीस सेकेण्ड में विमान अपनी उड़ान भर लेता है। सभी इंजिन 4, 3, 2 तथा 1 अधिकतम गति से चलते हैं तथा रियेक्टरों में ईंधन की भारी मात्रा छोड़ी जाती है। चार शक्तिशाली

ओलिम्पस इंजिनों से विमान पर 72 टन का दाब पड़ रहा है। वी-वन का अन्त 25 सेकेण्ड्स, वी-आर-30 सेकेण्ड—अब विमान उड़ने ही वाला है। लो विमान की गति वी-टू भी पहुँच गयी। 100 मीटर प्रति सेकण्ड की उड़ान एवं 380 किलोमीटर प्रति घण्टे के वेग से, प्रथम रौलिंग के 40 सेकण्ड बाद विमान ऊपर उठ जाता है।

यकायक जमीन से दूर तेजी से खिंचे जाने का आभास होता है। इसलिये लैंडिंग गियर खींचे जाते हैं। कंकार्ड, अन्य विमानों के विपरीत, असाधारण ऊँचे कोण 20° पर आकाश में ऊपर चढ़ता है। दूसरे विमानों की अपेक्षा इसमें यात्रियों को जरा ऊँची ध्वनि का अनुभव होता है। लेकिन उड़ने के कुछ सेकण्डों बाद शोर कम हो जाने के कारण यात्रियों को कोई असुविधा नहीं होती क्योंकि विमान चालक अब शोर-कम करने के नियम का पालन करते हैं अब तीव्र प्रज्वलन बन्द कर दिया जाता है। अब कंकार्ड सामान्य विमानों की भाँति हो जाता है, जिसकी गति उनसे दुगुनी है। ब्रिट्रिश एवं फ्रांसीसियों की मान्यतानुसार ये विमान DC—8 और बोईंग—707 से कम शोर करता है।

विमान के विशेष रूप से बने हवाई पर्ण के कारण यह प्रचण्ड वायु के बीच भी पूर्णतः सामान्य रूप से उड़ता है। अनुमति मिलते ही कंकार्ड अपनी ऊँचाई पर चढ़ेगा क्योंकि अभी यह जमीन से केवल 7, 500 मीटर की ऊँचाई पर ही है। कंकार्ड अब अतिस्वन विमानों द्वारा प्रयुक्त रास्ते पर उड़ान भरने लगता है।

चालक कक्ष में कर्मीदल लगातार डायल की जाँच परख करते रहते हैं। अभियन्ता, रियेक्टर के ईंधन-खर्च एवं ताप की बड़ी सावधानी से जाँच करते हैं यह 350,000 अश्वशक्ति का होता है। 175 टन, कार स्टील, मैगनीज, एल्यूमीनियम, रिटेन तथा इलेक्ट्रानिक्स मिश्र धातु से निर्मित कंकार्ड आकाश को चीरते हुए आगे बढ़ता है।

अब विमान चालक नियंत्रण कक्ष को अपनी स्थिति की सूचना देती है। एक हल्की गड़गड़ाहट के साथ यिमान की गति थोड़ी और तेज हो गयी। ऊष्मक फिर चालू कर दिया गया जिससे विमान अदृश्य ध्वनि अवरोध को आसानी से पार करके, अतिस्वन विमानों की सीमा में प्रवेश कर सके। एकाएक धक्के के साथ विमान वेग से आगे बढ़ा। इस समय विमान 1000 कि० मीटर प्रति घण्टे के वेग से उड़ रहा होता है। बाद में यह अन्ततः विमान मैक। (1,130 कि० मी०/घण्टे) की रफ्तार से उड़ता है लगा। कुछ कुछ सेकेण्डों तक विमान कक्ष में थाड़ा कम्पन होता है लेकिन, कम्पन इतना कम होता है कि शायद ही किसी का ध्यान इस ओर जाये।

मैक के ऊपर उड़ान भरने वाले सभी विमानों की भाँति कंकार्ड भी धमाके की आवाज़ करना शुरू करता है लेकिन इस धमाके का मिलिट्री विमानों द्वारा ज्वलन के दौरान हुआ धमाके से कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि ये विशेष रूप से विमान उड़ने के रास्ते में बार-बार हुआ धमाका वायुमण्डलीय दबाव में भिन्नता के कारण होता है।

वास्तव में धमाके की आवाज़ दो प्रकार की होती है पहली प्रकार के धमाके की आवाज़ विमानों के मैक के अधिक वेग से उड़ने पर होती है इस स्थिति में शोर दूर की गरजन जैसी होती है और अगर विमान अधिक ऊँचाई पर हो तो गड़गड़ाहट अधिक हो सकती है। जबकि दूसरे प्रकार का धमाका, तब होता है जब विमान उपस्वन गति से अतिस्वन गति धारण करता है अथवा अतिस्वन गति से उपस्वन गति धारण करता है तब होता है। यह धमाका पहले से तिगुना-चौगुना ज़ोरदार होता है जिसे दूर नहीं किया जा सकता। अधिकतर ऐसा समुद्र के ऊपर उड़ान भरते समय ही होता है लेकिन कभी-कभी यह पृथ्वी के ऊपर या बस्ती के ऊपर भी हो

जाता है। उड़ने के 28 मिनट बाद विमान इस स्थिति में आता है

ईंधन के बचाव के लिए हीटर को बन्द कर दिया जाता है। अब कंकार्ड 13,000 मीटर की ऊँचाई पर 1,700 कि० मी० प्रति घण्टे से भी अधिक के वेता से उड़ रहा होता है। बाहर का तापक्रम शून्य से भी कम—56 है। वायु प्रतिरोध के कारण विमान के कुछ विशेष भागों का ताप बढ़कर 120° तक हो जाता है जिसमें कोई भी चीज आसानी से भूनी जा सकती है। स्वयं विमान का भी प्रसरण 20 से० मी० तक हो जाता है जिसका आभास उसमें बैठे यात्रियों को नहीं हो पाता है।

वातानुकूलन से कक्ष का ताप 20° सें० से 22° सें० पर एवं आन्तरिक दाब 16,00 से 1800 मीटर तक की ऊँचाई पर होने वाले दबाव के बराबर रखा जाता है विमान अपनी अधिकतम निर्धारित ऊँचाई पर उड़ता है। यह ऊँचाई अन्य व्यापारिक यानों की ऊँचाई से करीब 15,000 मीटर अधिक पर है। कंकार्ड मैक-मैक 2,130 कि० मी० प्रति घण्टे की रफ्तार से उड़ रहा है जो अन्य विमानों की अपेक्षा ढाई गुना अधिक है।

उड़ते समय वायु की दशा का विमान के वेग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जो कि उन यान चालकों का, जो अनुकूल दिशा खोजते हैं। हमेशा का सरदर्द है। परन्तु केकार्ड इसका विकल्प हैं क्योंकि 20 से 30 नाट्स की हवा 1200 नाट्स प्रति घंटे के वेग से उड़ रहे विमान पर कोई अधिक प्रभाव नहीं डाल सकती, अनुकूल होने पर दो मिनट की बचत तथा प्रतिकूल स्थिति में उतनी ही हानि होती है।

प्रत्येक रियेक्टर में छोड़ी जा रही ईंधन की मात्रा को भी एक यंत्र बताता है जिससे पेट्रोल एवं हवा की क्षति को इलेक्ट्रोमीक संयंत्र द्वारा नियंत्रित किया जा सके। विमान में भिन्न-भिन्न प्रकार के 1000 परिपथ होते हैं। भिन्न प्रकार के 20,000 पदार्थों पर जाँच के उपरांत यह नियंत्रण विधि प्रयोग में लायी गयी है।

उड़ान के दौरान कर्मी दल की सबसे बड़ी परेशानी ईंधन होती है। विमान को तेजी से ऊपर ले जाने के लिए विशेष रूप से तीव्रगामी ज्वलन का किया जाता है। इसमें ईंधन बहुत भारी मात्रा में खर्च होता है।

विशेषत: ध्वनि सीमा पार करते समय सबसे अधिक ईंधन की खपत होती है, इस उड़ान में अब तक 12 टन ईंधन खर्च हो गया होगा।

जब कंकार्ड 19,000 मीटर की ऊँचाई को पार कर लेता है तो ईंधन की खपत घट जाती है। वायुमण्डल के संभावित तापमान —56° से 51° हो जाने के कारण अधिक ईंधन की आवश्यकता पड़ रही है। कॅकार्ड को अपनी संतुलित-स्थिति बनाए रखने के लिये है इसकी स्थिति में कुछ झुकाव करना पड़ता है। इसकी स्थिति में कुछ झुकाव करना पड़ता है इसलिए कंकार्ड की सभी सोलह टंकियों में प्रत्येक 30 सेकेण्ड पर एक टन की दर से ईंधन का अद्‌भुत स्थानातरण आरम्भ हो जाता है।

कंकार्ड के ईंधन ओलिम्पस 539 एम० के० 602 रियेक्टर्स, ध्वनि एवं प्रदूषण अवरोधकों से लैस हैं। अधिक ऊँचाइयों पर विमानों से एक वर्ष में निकली गैस की मात्रा, मुश्किल से एक मध्यम श्रेणी के ज्वालामुखी से निकली गैस का एक हजारहवाँ भाग होती है। कंकार्ड के उड़ने से ओज़ोन गैस के नष्ट हो जाने की आशंका व्यक्त की गयी है जिससे परा बैंगनी विकिरण के प्रभावित होने के कारण कैंसर जैसे रोगों के होने की संभावना बढ़ सकती है।

इस समय विमान नीचे उतरने की तैयारी उतरते समय यान चालक राडार पर नियंत्रण

[शेष पृष्ठ 32 पर

विज्ञान-वार्ता

पौधों में लिंग परिवर्तन

केवल मादा फूलों से ही फल उपजता है। देहली विश्वविद्यालय के बनस्पति शास्त्रियों ने यह तरीका खोज लिया है जिससे नर फूलों को मादा फूलों में बदला जा सकता है। इस क्रिया में फूलों पर कुछ विशिष्ट हार्मोनों का छिड़काव किया गया। 'जिबरेलिन्स' नामक हार्मोन से मादा को नर में तथा 'एथेफोन' नामक हार्मोन से नर को मादा में परिवर्तित किया जा सका। डॉ॰ मोहन राम के अनुसार चूँकि पौधों में नर की अपेक्षा मादा अधिक होता है, इस लिंग परिवर्तन के द्वारा चरस व गाँजा की उपज में वृद्धि की जा सकती है। काजू के वृक्ष में नर फूल मादा फूलों की तुलना में अधिक होते हैं और उनमें से केवल 4% मादा फूल ही काजू फल देते हैं। यदि आंशिक रूप से भी नर फूलों को मादा फूलों में बदल दिया जाय तो काजू की उपज बहुत बढ़ जायगी जिससे विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। चावल तथा गेहूँ की उपज पर इस लिंग परिवर्तन का प्रभाव नहीं पड़ सकता क्योंकि ये द्विलिंगी पौधे होते हैं और नर तथा मादा दोनों एक ही फूल में विद्यमान होते हैं नारियल की उपज भी इस विधि से बढ़ाई जा सकती है।

सौर कुकर

'सन बास्केट' नामक सूर्य की गर्मी से चलने वाले एक सीधे सादे कुकर का डिजाइन हैदराबाद की इण्टर नेशनल क्राफ्ट रिसर्च इन्सटीट्यूट फार द सेमी ट्रॉफिक्स नामक संस्था से सम्बद्ध अर्थशास्त्री एम॰ फॉन आयेन ने हाल ही में किया है। इस कुकर के भीतर बाँस की एक बास्केट है जिसने आटे, रद्दी कागज और मेथी का अस्तर दिया हुआ है। इन सब चीजों को प्लास्टर से जोड़ा गया है। सतह में सिल्वर पेपर लगा है इसका दाम 50 रु॰ है। बास्केट के बीच में टीन का अथवा किसी और चीज का बर्तन रखकर खाना पकाया जाता है।

सौर गणक

सूर्य की गर्मी से चलने वाली हिसाब लगाने वाली विश्व की यह पहली मशीन हाल के हनोवर मेले में प्रदर्शित की गई थी। सूर्य के ताप से चलने वाली इस मशीन के लिये बैटरी की जरूरत नहीं पड़ती। जैसे ही सूरज की गर्मी इसमें पहुँचती है यह काम करने लगती है। इस मशीन के निर्माता इसे 300 मार्क (1 मार्क = 3 रु॰ 40 पै॰) की क़ीमत पर उपलब्ध कराने की सोच रहे हैं। यह 10 हजार घण्टे तक काम कर सकती है। इस मशीन में दशमलव और स्मृति चिह्न तरल रूप में दिखाये गये हैं।

आँख का आपरेशन टी वी. पर

पहले केवल दो व्यक्ति ही आँख का जटिल ऑपरेशन देख सकते थे अब पूरा क्लास रूप आँख का ऑपरेशन होते देख सकता है। यह इसलिए संभव हो सका है कि आँख का ऑपरेशन करने वाला डॉक्टर जिस माइक्रोस्कोप का इस्तेमाल करता है उसका सम्बद्ध एक क्लोज्ड सरकिट टी वी कैमरा से जोड़ दिया जाता है जो पूरे ऑपरेशन को परदे पर दिखा देता है।

पुस्तक समीक्षा

कार्बनिक रसायन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त : लेखक सुरेशचन्द्र आमेटा पृष्ठ संख्या 245 प्रकाशक : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, मूल्य 12·00 रु०

हाल ही में कार्बनिक रसायन के अन्तर्गत कार्बनिक अभिक्रियाओं की क्रियाविधि जानने के उद्देश्य से प्रचुर कार्य हुआ है। यह कार्य अत्यन्त उपयोगी है। इससे परिचित कराने वाली सम-सामयिक व्याख्याओं की नितान्त आवश्यकता है। फलस्वरूप प्रस्तुत पुस्तक, जो इसी उद्देश्य की पूर्ति से, रसायन के एक प्राध्यापक द्वारा लिखी गई है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लेखक ने चुनौती स्वीकार करते हुये हिन्दी में अधुनातन सामग्री प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है वह श्लाघनीय अवश्य है। पुस्तक में छह अध्याय हैं।

1. परमाणवीय संरचना एवं रासायनिक बंधन 2. संरचना एवं अभिक्रिया क्षमता 3. अम्ल एवं क्षारक 4. अगतिज विधियाँ 5. गतिज विधियाँ 6. द्विध्रुव आघूर्ण एवं स्पेक्ट्रम-विज्ञान

पुस्तक में भाषा सम्बन्धी तथा छपाई सम्बन्धी जो त्रुटियाँ हैं उन्हें इंगितमात्र किया जा रहा है। किसी भी उच्चस्तरीय पुस्तक में ऐसी त्रुटियों का होना अखरने वाला है और उससे ऐसा लगता है कि लेखक ने प्रूफ शोधन में अथवा पुस्तक में एकरूपता स्थापित करने की ओर ध्यान नहीं दिया।

सबसे बड़ी त्रुटि है संदर्भों का केवल अंग्रेजी में दिया जाना। पूरी पुस्तक में जितनी भी तालिकायें हैं उनका अंकन ठीक से नहीं हुआ। चित्रों का उद्धरण एवं उनका निर्देश भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य की बात यह है कि पुस्तक के अन्त में हिन्दी अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली नहीं पाई जाती, न ही पुस्तक के अन्त में अनुक्रमणिका है।

छपाई सम्बन्धी विवेचना करने पर देखा गया कि पुस्तक का कागज ठीक न होने से अक्षर ठीक से उपटे नहीं या भद्दे हो गये हैं, चित्रों को किसी कुशल कलाकार से नहीं तैयार कराया गया।

भाषा सम्बन्धी त्रुटियों में प्रमुख है 'यह' के स्थान पर सर्वत्र 'ये' का प्रयोग जो अशुद्ध है। कोशिश, तरीका, अगर जैसे उर्दू शब्दों के स्थान पर सरल हिन्दी समानार्थी प्रयुक्त हो सकते थे। पारिभाषिक शब्दों में (Temperature) के लिये एक स्थान पर तापक्रम है तो दूसरे स्थान पर ताप। समितिय शब्द भी अशुद्ध रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार पृष्ठ 93 पर इन्डक्टोमेट्री, सेक्रेफीशियल जैसे शब्द व्यवहृत हैं जिनके हिन्दी समानार्थी नहीं दिये गये। पृष्ठ 73 पर प्रयुक्त "आश्रम" का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कई स्थानों पर शब्द टूटकर दूर-दूर छपे हैं। यही नहीं पृष्ठ 39 तथा 41 में जो स्थान छुट गया है, उससे प्रतीत होता है कि छपाई में बिल्कुल ध्यान नहीं दिया नहीं गया।

उपर्युक्त से लगता है कि लेखन तथा प्रकाशन—ये दोनों कार्य जल्दी में सम्पन्न हुये हैं। विश्व-विद्यालयों में हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने में ऐसी पद्धति से लाभ के बजाय हानि होने की सम्भावना है अत: लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही को तत्परता से कार्य करना चाहिए।

आशा है अगले संस्करण में उक्त त्रुटियों पर ध्यान दिया जावेगा और इस उपयोगी पुस्तक का उद्धार हो सकेगा।

शिवगोपाल मिश्र

संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट

(1975-1976)

विज्ञान परिषद् सन् 1913 में संस्थापित हुआ और पिछले 63 वर्षों से इसका प्रधान कार्यालय इलाहाबाद में है।

(क) यह संस्था एक अखिल भारतीय संस्था है जिसके उद्देश्य हैं :—

(क) भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य की रचना,

(ख) वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रचार करना,

(ग) वैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसन्धान के कार्य को प्रोत्साहित करना,

(घ) देश की वैज्ञानिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्ष करके परामर्श देना। पिछले 63 वर्षों से अपने उद्देश्यों की सफलता के लिए यह निरंतर प्रत्यनशील रहा है। सौभाग्य से देश के अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों तथा विद्वानों ने परिषद् की निस्वार्थ सेवा की और आज भी करते हैं। हमारा विश्वास है कि देश के आर्थिक और सामाजिक उत्थान के लिए विज्ञान और तकनीकी का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है और इससे भी आवश्यक है, देश में वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रचार। जन साधारण और गाँवों में विज्ञान और तकनीकी फैलाने के लिए सारा वैज्ञानिक साहित्य और सारी वैज्ञानिक उपलब्धियां भारतीय भाषाओं में और सरल भाषा में होना आवश्यक है। हमारा यही ध्येय है और इसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहें हैं और अगले वर्ष अधिक उत्साह से प्रयत्नशील रहेंगे।

परिषद् में इस समय कुल 73 आजीवन सभ्य और 42 साधारण सभ्य हैं। मासिक पत्रिका 'विज्ञान' के इस वर्ष 556 और अनुसन्धान पत्रिका के 230 ग्राहक हैं।

'विज्ञान' के प्रकाशन हेतु उत्तर प्रदेश सरकार से 2000 रु० का अनुदान मिलता है। सी० एस० आई० आर० दिल्ली से इस वर्ष 8962 रु० का विशेष अनुदान मिला है। फलस्वरूप विज्ञान का प्रकाशन अबाध रूप से चलता रहा और इसके प्रकाशन पर इस वर्ष 13304 रु० 13 पैसा व्यय हुआ।

परिषद् द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक शोध पत्रिका के लिए सी० एस० आई० आर० दिल्ली से प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी 10000 रु० एवं स्टैट सी० एस० आई० आर० लखनऊ से 5000 रु० प्राप्त हुए। इसके सभी अंक समय से प्रकाशित हुए और उन पर 18100 रु. 14 पै. व्यय हुआ है।

28 अगस्त 1975 को विज्ञान परिषद् का वार्षिक समारोह बड़े ही धूमधाम से विजयनगरम हाल में मनाया गया। इस अवसर पर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री माननीय हेमवन्ती नन्दन बहुगुणा पधारे थे। उन्होंने परिषद् की कार्यवाही और प्रगति को ध्यान से सुना, भवन को देखा और यथासम्भव सहायता का आश्वासन दिया था। किन्तु खेद है कि इस सम्बन्ध में अभी प्रगति नहीं हो सकी है।

गतवर्षों की भाँति हमने अनुसन्धान गोष्ठियों का आयोजन किया जिनमें एक वाल्टेयर साइन्स कांग्रेस के अवसर पर प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई तथा दूसरी परिषद् भवन में डा० भण्डारी, भौतिक विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के सारगर्भित यू० जी० सी० भाषण द्वारा सम्पन्न हुई।

परिषद् के पास विनिमय में प्राप्त देशी तथा विदेशी जर्नलों का अपूर्व संग्रह है। साथ ही हिन्दी में प्रकाशित विज्ञान की पुस्तकों का भी।

यह वाचनालय पूरे सत्र तक चलाया गया, जिससे विद्यार्थियों ने लाभ उठाया। विदेशों से प्राप्त शोध-पत्रिकाओं से विश्वविद्यालय के शोध-छात्रों ने भरसक लाभ उठाया है।

हिन्दी में वैज्ञानिक लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए परिषद् प्रति वर्ष स्वामी हरिशरणानन्द स्वर्ण पदक प्रदान करती है। इस वर्ष दो स्वर्ण-पदक प्रदान करने का निश्चय किया है। पहला पदक श्री आर० पी० प्रधान की कृति 'द्रव्य सामर्थ्य' पर और दूसरा श्री नन्दलाल बोशदिया को उनकी कृति 'यक्ष्मा की पाठ्य पुस्तक' पर। लेखकों को उनके पदक प्रदान किये गये।

परिषद् की व्याख्यानशाला अधूरी है जिसके लिए धन-संचय करने का निश्चय किया गया। भवन-फण्ड में इस वर्ष भी श्री लोकमणिलाल जी ने 10,000 रु० का अनुदान दिया। इसके अतिरिक्त डा० गोविन्दराम जी तोशनीवाल, चेयरमेन, तोशनीवाल इन्डस्ट्रीज, अजमेर 5000 रु. डा० शिवप्रकाश से 250 रु., एवं हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, उ० प्र० लखनऊ से 4200 रु. प्राप्त हुए। डा० शिवगोपाल मिश्र ने भी 251 रु. देने का आश्वासन दिया है। दरबारी इन्डस्ट्रीज की ओर से 500 रु. का अनुदान मिला। इस प्रकार कुल 20201 रु. इस वर्ष प्राप्त हुआ है। इसे मिलाकर अब तक 61280 रु. भवन फण्ड में जमा हो चुके हैं।

यह भी निश्चय हुआ कि व्याख्यानशाला को पूरा करने के लिए इसका निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जाय।

कार्यालय का कार्य बढ़ जाने के कारण इस वर्ष 'विज्ञान' तथा वाचनालय को सुव्यवस्थित करने के लिए एक लिपिक की नियुक्ति 100 रु. मासिक पर अंशकालिक की गयी है जिस पर श्री हंसराज सिंह कार्य कर रहे हैं।

वाचनालय के लिए हमें अब रेक बनवाना आवश्यक हो गया है तथा परिषद् की चहारदीवारी को और ऊँचा बनवाना भी जरूरी है।

उत्तर प्रदेश सी० एस० आई० आर० को अनुसन्धान पत्रिका के लिए प्राप्त होने वाली निधि में वृद्धि करने के लिए अनुरोध करना होगा जिससे अनुसन्धान पत्रिका के पृष्ठों में जो वृद्धि की गई है, स्थायी रहो रखी जा सके।

(कृष्णजी)
प्रधान मंत्री

[पृष्ठ 28 का शेषांश]

कक्ष एवं हवाई अड्डों की स्थिति का निरोक्षण करता है। यान की गति कम कर दी जाती है, मैकमीटर सूचक का सूचकांक नीचे गिरता है। 1·8 मैक, 1·5 मैक (अर्थात 1600 कि० मी० प्रति घंटा यह वेग तब का है जब यान उतरकर 36000 फुट (11,000 मीटर) के आस-पास की ऊँचाई पर उड़ रहा होता है।

अब विमान अतिस्वन से उपस्वन वायुमण्डल में प्रवेश करता है। दुहरे धमाके की आवाज के साथ कंकार्ड अपनी 'सामान्य' स्थिति में आ गया। किसी को भी हवाई घर्षण के कारण हो रही ज़ोरदार आवाज़ के अतिरिक्त कोई असाधारण अनुभव नहीं होता है।

केवल दस मिनट में ही यान 18,000 मीटर से 7,000 मीटर की ऊँचाई पर उतर आता है, अब यह उड़ने के वेग 250 कि० मी० प्रति घंटे तथा 20° से कम कोण पर हवाई पट्टी पर उतरते हैं। माइक पर प्रसारित होता है कि यान की दूरी ज़मीन की सतह से शून्य फिट ! यान हवाई पट्टी पर उतर कर अन्तिम लक्ष्य की ओर दौड़कर रुक जाता है।

रसायन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

भाग 113 संख्या 9
भाद्र 2033 विक्र०
सितम्बर 1976

विषय सूची

झूठ संसूचक

डा० महेश कुमार शर्मा

पिछले दिनों समाचार-पत्रों में एक खबर छपी थी। लोक सेवा आयोग कार्यालय नई देहली में सुबह एक दिन कोषाध्यक्ष महोदय ने सूचना दी कि उनकी तिजोरी से लगभग 43000 रुपये गायब हैं। कर्मचारियों से साधारण पूछताछ करने पर चोर का पता न लगाया जा सका। परन्तु झूठ संसूचक की सहायता से संध्या तक यह पता लगा लिया गया कि कोषाध्यक्ष महोदय झूठ बोल रहे थे और उन्होंने ही उन रुपयों का गबन किया था।

झूठ संसूचक का उपयोग व्यक्तियों पर सरलता से और बिना उनकी जानकारी के किया जा सकता है। यह यंत्र पुलिस, निजी उद्योगों और बीमा कम्पनियों द्वारा इस्तेमाल किया जा रहा है। न्यायालय में किसी मुकदमे की सुनवाई में अभियोगी, अभियुक्त और गवाहों के बयानों की सत्यता के विषय में इस उपकरण द्वारा पता लगाया जा सकता है। निजी कारखानों और कार्यालयों में इसका उपयोग पूर्व-नियुक्ति इन्टरव्यू में चुनने चोरियों का पता लगाने और कर्मचारियों की समय-समय पर जाँच-पड़ताल के लिये किया जाता है। बीमा कम्पनियां, प्रार्थी के टेप रेकार्ड किये हुये इन्टरव्यू से झूठ संसूचक का उपयोग करके पता लगा लेती हैं कि प्रार्थी का पावना मिथ्या तो नहीं है। इसका उपयोग अनेक व्यक्तिगत विषयों, उदाहरण, राजनीतिक निष्ठा और पार्टी सम्बन्धों के विषय में पता लगाने के लिये भी किया जा सकता है। व्यक्तिगत विषयों की जाँच-पड़ताल करने पर, लोगों में विरोध उत्पन्न हो सकता है।

इनके अतिरिक्त झूठ संसूचक का उपयोग चिकित्सा और मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के निम्नलिखित क्षेत्रों में भी किया जाता है: कृत्रिम निद्रा, विश्रांति, व्यवहार उपचार, मनश्चिकित्सा और औषधियों द्वारा रोग-निदान और उनके प्रभाव, वायुयान-चालकों तथा अंतरिक्ष-यात्रियों के वाचिक रेडियो संचार के अध्ययन में।
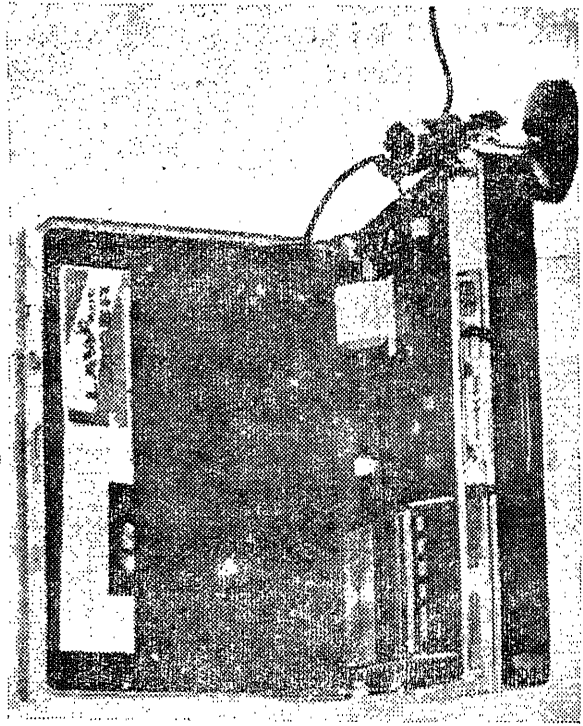
चित्र—1 झूठ संसूचक यंत्र

आइये, अब हम विचार करें कि झूठ संसूचक यंत्र से किस प्रकार झूठ-सच का पता लगाया जाता है। यह नया आविष्कार वाणी-विश्लेषण पर कार्य करता है। यह उपकरण प्रतिबल और आकुलता के परिवर्तनों को मापता है जो अधिकतर उस समय होते हैं, जब लोग झूठ बोलते हैं और विशेष तौर पर जब वे पकड़ जाने के भय से व्याकुल हों। चित्र (1) में झूठ संसूचक दिखाया गया है। यह यंत्र टेपरेकार्डर, विश्लेषक और चार्ट रेकार्डर से मिलकर बना होता है। इस उपकरण का पॉलीग्राफ, हृदय स्पन्द, स्वेद ग्रन्थि क्रिया और श्वसन के परिवर्तनों का पता लगाता है। ये सभी क्रियाएँ भावात्मक परिवर्तनों को प्रकट करती हैं।

मानव के मुख से वाणी का जनन तीन क्रियाविधियों द्वारा होता है। (1) वाक्-तंतुओं का कम्पन, (2) सिर के भीतर गुहिकाओं का अनुनाद और (3) मुख और गले के भीतर पेशियों का कम्पन। मुख और गले की पेशियाँ स्वतः बिना किसी प्रतिबल प्रभाव के 8-12 हर्ट्स पर सामान्यतः रूप से कम्पन करती हैं और वाणी के इस स्पष्ट और उल्लेखनीय इंफ्रासोनिक आवृत्ति-मॉडुलित भाग के विश्लेषण पर यह नया झूठ संसूचक उपकरण कार्य करता है। पेशियाँ बहुत शीघ्रता से दृढ़ हो जाती हैं और इनका कसाव भिन्न-भिन्न शब्दों पर भिन्न-भिन्न होता है और इस प्रकार उन शब्दों या वाक्य खण्डों को, जिनके कारण प्रतिबल होता है, ढूँढ़ा जा सकता है। मनुष्य जब प्रतिबल से प्रभावित होता है, तो पेशियों का यह सूक्ष्म कम्पन कम या लुप्त हो जाता है। शब्द "हाँ" पर प्रतिबल और अप्रतिबल का प्रभाव, झूठ संसूचक के चार्ट द्वारा चित्र (2) में दिखाया गया है।

झूठ संसूचक कार्य विधि आकुलता पर निर्भर करती है, परन्तु आकुलता, झूठ के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी उत्पन्न हो सकती है, उदाहरणत, के लिये भय, अपराध, क्रोध या क्लेश अवस्थाओं में व्यग्र होने के कारण, किसी व्यक्ति द्वारा बोला गया सत्य भी मिथ्या लग सकता है। हृदय रोग, सिर की पीड़ा, जुकाम-सर्दी या थकावट भी परिणामों पर प्रभाव डाल सकते हैं। इसके साथ ही जो व्यक्ति यह विश्वास करता है कि वह सच बोल रहा है और झूठ बोलने में अपने को दोषी नहीं समझता है और न ही वह भयभीत होता है, उस व्यक्ति के विषय में ठीक प्रकार से पता लगाना, इस उपकरण के लिये कठिन होता है।

इन कठिनाइयों को कुछ हद तक चार प्रकार से दूर किया जा सकता है। (1) सबसे पहले झूठ संसूचक ऑपरेटर बहुत अधिक प्रवीण, शिक्षित और अनुभवी होना चाहिये, (2) जिस व्यक्ति पर यह यंत्र उपयोग किया जा रहा हो, उसे प्रश्नों की पूर्ण सूची अग्रिम रूप से दिखा दी जाती है, (3) उससे कुछ तटस्थ प्रश्न भी पूछे जाते हैं, जिनके उत्तर में उस व्यक्ति को विशेष रूप से झूठ बोलना पड़ता है, (4) यदि कोई व्यक्ति किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रतिबल दिखाता है, उदाहरण के लिये क्या आपने पिछले छः महीनों में सौ से अधिक रुपये चुराये हैं? तो उससे कुछ और अधिक प्रश्न पूछे जाते हैं, ताकि यह निश्चित हो जाये कि इस प्रतिबल का किसी अन्य पिछली चोरी से सम्बन्ध तो नहीं है और न ही यह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा चोरी किये जाने के कारण है, जिसकी कि उसे जानकारी है।

वास्तविक झूठ संसूचक परीक्षण में अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं जिनसे झूठ बोलने से उत्पन्न व्यग्रता को स्पष्ट रूप से अन्य कारणों से उत्पन्न आकुलता से पृथक किया जाता है। इस प्रारूपिक परीक्षण को बहु-क्षेत्रीय तुलनात्मक जाँच कहते हैं। उस संदिग्ध मनुष्य से जिस पर कुछ धन चुराने का अभियोग है, निम्नलिखित प्रश्न पूछे जा सकते हैं और उससे कहा जाता है कि इनके उत्तर वह केवल हाँ या न में दे। साथ ही उसे

झूठ संसूचक परीक्षण के विषय में भली प्रकार से समझा दिया जाता है और ये प्रश्न परीक्षण आरम्भ करने से पहले उसे दिखा दिये जाते हैं।

(1) क्या आज रविवार है ?

(2) क्या आपको भय है कि मैं आपसे कोई ऐसा प्रश्न पूछूँगा, जिसके विषय में हमने पहले से ही बातचीत नहीं की है ?

(3) क्या आप खोये हुये धन और घड़ी से संबन्धित सभी प्रश्नों के उत्तर सच्चाई से देंगे ?

(4) क्या आपको नीला रंग अच्छा लगता है ?

(5) क्या आपको मालूम है कि किसने खोया हुआ धन चुराया है ?

(6) क्या आप टेलीविज़न देखना पसन्द करते हैं ?

(7) क्या आपने खोया हुआ धन चुराया है ?

(8) क्या आपको लाल रंग भाता है ?

(9) क्या आपको पूरी तरह विश्वास है कि मैं आपसे ऐसा प्रश्न नहीं पूछूँगा, जिसके विषय में हमने पहले से ही वाद-विवाद नहीं किया है ?

(10) क्या आपने घड़ी चुराई है ?

सन्देहयुक्त मनुष्य द्वारा दिये गये इन प्रश्नों
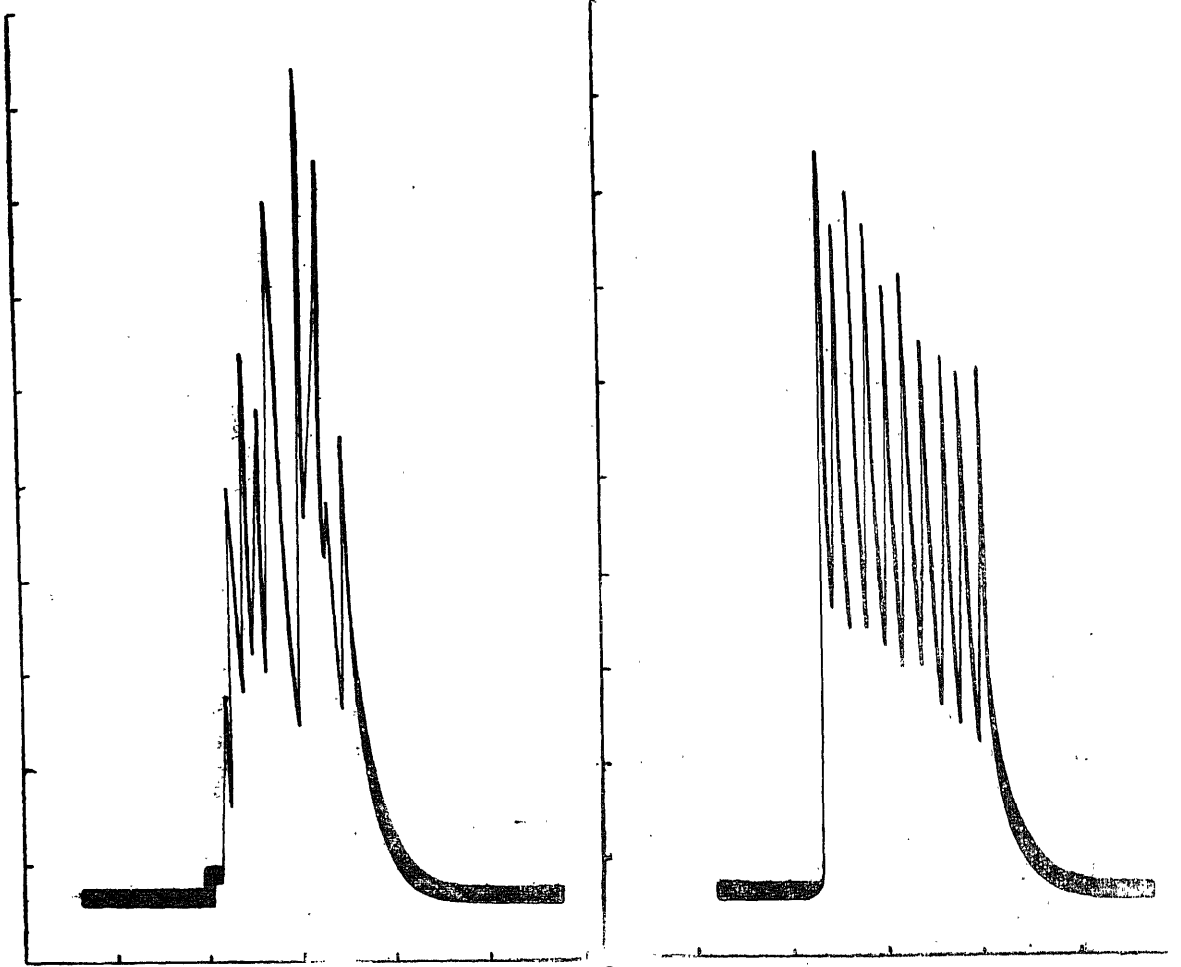
चित्र—2

के उत्तर में प्रतिबल क्रमशः निम्नलिखित कारणों से होता है।

(1) यह पहला प्रश्न है और प्रतिबल बहुधा माइक्रोफोन की प्रारंभिक आवाज और गड़गड़ाहट के कारण होता है।

(2) प्रश्न (2) के उत्तर में प्रतिबल किसी अन्य विषय की आकुलता के कारण हो सकता है।

(3) संदिग्ध व्यक्ति को असत्य रूप से बताया जाता है कि एक घड़ी भी चुराई गई है, इसलिये यहाँ प्रतिबल झूठे अभियोग लगाने से उत्पन्न चिन्ता के कारण हो सकता है।

(4) प्रश्न (4) के उत्तर में यदि वह प्रतिबल दिखाता है तो वह केवल साधारणतः चिन्तित है।

(5) असम्बद्ध व्याकुलता से भिन्न, इस प्रश्न के उत्तर में प्रतिबल चोर को पहिचानने के कारण हो सकता है, यदि वह स्वयं चोर नहीं है।

(6) प्रश्न (4) के उत्तर के समान ही।

(7) असंगत व्याकुलता से पृथक, प्रश्न (7) के उत्तर में प्रतिबल यह प्रकट करता है कि संदिग्ध व्यक्ति अपराध करने के कारण स्वयं को दोषी समझता है।

(8) प्रश्न (4) में उस व्यक्ति से नीले रंग की पसन्द के पश्चात, अब लाख रंग के विषय में पूछा जा रहा है, यहाँ प्रतिबल मनोवैज्ञानिक दुर्बलता से उत्पन्न चिन्ता के कारण हो सकता है।

(9) प्रश्न (2) के उत्तर के ही समान।

(10) प्रश्न (3) के उत्तर के ही समान।

यह झूठ संसूचक परीक्षण एक बार पुनः उस व्यक्ति पर दोहराया जाता है। यदि दोनों ही समय प्रश्न (7) के उत्तर में उसका प्रतिबल अन्य प्रश्नों के उत्तर की तुलना में अधिक होता है तो हम उस संदिग्ध मनुष्य को अपराधी घोषित कर सकते हैं।

झूठ संसूचक उपकरण से परिणाम लगभग 10 प्रतिशत तक सही पाये गये हैं। इन परिणामों को कुछ हद तक परीक्षण की पुनरावृत्ति और प्रतिबल के कारणों की भली प्रकार जाँच द्वारा संशोधित और सुधारा जा सकता है।

इस परीक्षण के परिणाम को वस्तुतः कानूनी तौर पर मान्यता प्राप्त नहीं है, परन्तु किसी जाँच के मार्ग निर्देशन में इससे काफी सहायता मिलती है। संदिग्ध व्यक्तियों पर इस यंत्र के उपयोग से, निरपराध व्यक्तियों को एक-एक करके अभियोग से मुक्त किया जा सकता है और अन्त में अपराधी का पता लगाकर उसे अपने अपराध को स्वीकार कराने में, यह यंत्र एक उत्तम और प्रभावी साधन है। झूठ संसूचक का वर्तमान मूल्य लगभग 50,000 रुपये है।

वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी
यंत्र अनुसंधान एवं विकास
संस्थान, देहरादून (उ० प्र०)

हिन्दी आपकी भाषा है— विज्ञान का प्रसार इस भाषा के माध्यम से करें।

मंगल ग्रह पर बढ़ते विजय के चरण

दीपक वि० शास्त्री एवं डॉ० विजयेन्द्र रा० शास्त्री

"अभी य ऋक्षा निहितास उच्चा,
नक्तं ददश्रे कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि,
विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ।।
[१-५-२४-१०; ऋग्वेद]

ऋग्वेद के इस ऋचांश का भावार्थ है कि 'ये तारे एवं सप्तर्षि मण्डल गगन में बहुत ऊँचाई पर स्थित हैं, रात्रि में तो दिखते थे, दिन में कहाँ लुप्त हो गये ? चन्द्रमा भी रात्रि में ही प्रकाशित हुआ करता है। वास्तव में वरुणदेव के नियम भी अटल हैं।"

विश्व के प्राचीनतम ज्ञानग्रंथ का यह उद्धरण स्पष्टतः दिग्दर्शित करता है कि सभ्यता एवं ज्ञान के शैशवकाल से ही मानव मन में अन्तरिक्ष एवं उसकी अद्भुत वस्तुओं, विचित्र घटनाओं के प्रति प्रबल जिज्ञासा रही है। ऐसे उद्धरण अन्य पुरातन संस्कृतियों, जैसे बेबीलोनियन, खाल्डियन, मिश्र, चीन, ग्रीस आदि के ज्ञान ग्रंथों में भी पाये जाते हैं।

हम सरलतापूर्वक कल्पना कर सकते हैं कि रात्रि के निबिड़ अन्धकार में अल्पविकसित मानव जब गगन-मण्डल में तारक दीप टिमटिमाते देखता होगा एवं उनके मध्य घटते बढ़ते, लुप्त होते पूर्ण होते, ग्रहण ग्रस्त होते हुए चन्द्रमा को देखता होगा, जब सूर्योदय होता होगा और उसके प्रकाश में ये सब आकाशीय पिण्ड लुप्त हो जाते होंगे, विद्युत् की कड़क, उल्कापात, झंझावात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि जब होते होंगे तो उसके मन एवं बुद्धि, आश्चर्य एवं भय, विस्मय तथा जिज्ञासा से परिपूर्ण हो जाते होंगे। जब पक्षी स्वच्छन्द रूप से आकाश में उड़ते होंगे, तो उसकी भी आकांक्षा होती होगी गगन में मुक्त विचरण एवं बादलों के पार चन्द्रमा के अप्सरा लोक में मुक्त विहार करने की, और इन आकाशीय पिण्डों का रहस्य जानने की। बिजली की कड़क, उल्कापात, झंझावात, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि, ग्रीष्म एवं शीत आदि ऋतुएं भी उसके सामने आश्चर्य एवं भय तथा समस्याएं उत्पन्न करते होंगे। इन्हीं कल्पनाओं, जिज्ञासाओं, आश्चर्यों, ज्ञान पिपासा तथा समस्याओं से जूझने की प्रवृत्ति ने खगोल विज्ञान एवं अंतरिक्ष विज्ञान को जन्म दिया है, जो कि प्रागैतिहासिक युग से ही विकसित होते हुए आज इस स्थिति पर पहुँच गये हैं कि पृथ्वी, चन्द्र, मंगल एवं शुक्र के आसपास मानव निर्मित कृत्रिम उपग्रह परिक्रमा कर रहे हैं। 20 जुलाई 1969 को मानव द्वारा चन्द्र पृष्ठ पर चरण रखे जाने के पश्चात् अभी अभी 20 जुलाई 1976 को अमेरिका ने अपने अंतरिक्ष यान वाइकिंग-I, के लैंडर को मंगल के पृष्ठ पर उतार कर वहाँ के रहस्यों को क्रमशः उद्घाटित करना, प्रारंभ कर दिया है।

आइये, मंगल ग्रह से संबंधित खोजों और उपलब्धियों के क्रमिक ऐतिहासिक विकास, दार्शनिक पृष्ठभूमि, प्रयोगात्मक एवं फलित ज्यौतिषपरक जानकारी, वर्तमान में हो रही उपलब्धियों, भावी योजनाओं एवं सम्भावनाओं के संबंध में चर्चा करें।

यह आश्चर्य का विषय है कि मंगल के संबंध

में स्पष्ट उल्लेख न तो वेदों में है, न ईश, केनादि उपनिषदों में, और न शतपथ, ताण्डय आदि ब्राह्मण ग्रंथों में ही मिलते हैं। "अभी ये पंचोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिव" ऋचा से कुछ विद्वानों ने पाँच ग्रहों के ज्ञान के संबंध में विवादास्पद सन्दर्भ निकालने का प्रयत्न किया है। परवर्ती रचना वेदाङ्ग ज्यौतिष में जो कि क्रमिक रूप से ऋक्, यजु एवं अथर्व वेदों में विकसित हुई, सर्वप्रथम पितामह द्वारा महर्षि काश्यप को उपदिष्ट एवं वेदांग ज्यौतिष के परवर्ती खंड अथर्ववेद ज्यौतिष में मंगल सम्बन्धी सन्दर्भ आये हैं। "आदित्य सोमो भौमश्च तथा बुध वृहस्पती" श्लोकांश में मंगल का नाम भौम तथा अन्य श्लोक में लोहिताङ्ग आया है। आश्वलायन पारस्कर, एव बौधायन जैसे श्रौत एव गृह्य सूत्रों में, निरुक्तों में, पाणिनीय व्याकरण में तथा मनु स्मृति में भी मंगल ग्रह संबंधी स्पष्ट सन्दर्भ नहीं हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में एक स्थान पर "सूर्यः सोमो महीपुत्र" "सोमपुत्रो वृहस्पतिः" श्लोकांश आया है जिसमें मंगल हेतु 'महीपुत्र' शब्द प्रयोग में लाया गया है। भारत में मंगल को कुज, भौम, महीपुत्र, क्षितिसूनु, अवनिज आदि नामों द्वारा पृथ्वी का पुत्र मानने को परंपरा कब क्यों और कैसे विकसित हुई, यह शोध का एक रोचक विषय हो सकता है। वैसे पश्चिम में मंगल को एरेस एवं मार्स नामों के अर्थानुसार युद्ध के देवता का नाम दिया गया है। संभवतः मंगल के लाल एवं दहकते अंगारे के समान लाल रंग के कारण इसका संबंध युद्ध से, जिसमें कि रक्तपात होता है, जोड़ा गया हो। भारतीय ज्यौतिष में भी मंगल के रुधिर, लोहिताङ्ग, अङ्गारक आदि कई पर्यायवाचक नाम हैं। उज्जैन में प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार मंगल की सर्वप्रथम खोज उज्जैन के ज्यौतिषियों ने ही की थी। यहाँ का मंगलनाथ मंदिर इसी घटना का प्रतीक माना जाता है।

महाभारत में मंगल संबंधी पर्याप्त सन्दर्भ प्राप्य हैं। विभिन्न पर्वों में "बुधोङ्गारक एव च" "भृगुसूनधरापुत्रौ", "कृत्वाचाङ्गारको वक्रं", मघास्वाङ्गारको वक्रः," "लोहिताङ्गे व्यवस्थितः" आदि जैसे सन्दर्भ हैं। वाल्मीकीय रामायण एवं कालिदास साहित्य में भी मंगल का स्पष्ट उल्लेख संदिग्ध है किन्तु सूर्य-सिद्धान्त, वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका, शाकल्यसंहितोक्त ब्रह्मसिद्धान्त एवं आर्यभटीयम् में मंगल संबंधी स्पष्ट गणनाएँ हैं। आर्यभट के पश्चात् तो भास्कराचार्य के युग से लेकर आज तक भारत में मंगल सम्बन्धी ज्ञान का विकास होता रहा है जिसके प्रमाण राज-मृगाङ्क, ग्रहलाघव, सिद्धान्त शिरोमणि, सिद्धान्त तत्व विवेक आदि ग्रंथों में हैं। बेबीलोनिया, ग्रीस, मिश्र, एवं चीन में भी मंगल के संबंध में ज्ञान विकसित होता रहा। हिपार्कस एवं टॉलमी के नाम एवं उनकी कृतियाँ इस संबंध में प्रेक्षणीय हैं।

मानव मनीषा ने, ग्रहों के जनकल्याणपरक प्रभावों एवं जीवन की घटनाओं और भविष्य जानने की संभावनाओं के संबंध में भी खोज की जिसके कारण फलित ज्यौतिष का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ है। मंगल के संबंध में पूर्व एवं पश्चिम में फलित ज्यौतिषपरक सांख्यिकी खोजें भी हुई हैं। वराहमिहिर की वृहत्संहिता, वृहत्पाराशरी जैमिनीसूत्र, सारावली आदि सहस्त्रों आर्ष ग्रंथों में भी फलितज्यौतिषपरक विस्तृत जानकारी उपलब्ध है।

कालपुरुष के पृष्ठ एवं उदर में मंगल का स्थान माना गया है। "गोः सत्वम्" के अनुसार यह पौरुष एवं सत्व का कारक माना गया है।" आरः सनेसः" के अनुसार मंगल सेनापति है। यह मज्जा एवं पित्त का कारक है। इसकी प्रकृति शुष्क, स्वभाव उग्र एवं रस काषाय है। यह मेष एवं वृश्चिक राशियों का स्वामी है।

उच्च राशी मकर एवं नीच राशी कर्क है। यह पापग्रह, दक्षिण मुख मनुष्य लोक का अधिष्ठाता, मध्यान्ह का स्वामी एवं दक्षिण दिशा

में बली होती है। मंगल की भिन्न ग्रहों एवं भावों तथा विभिन्न राशियों में स्थितियोंवश विभिन्न फल होते हैं।

मंगल के संबंध में वस्तुनिष्ट एवं प्रयोगपरक ज्ञान सोलहवीं शताब्दि के पश्चात् प्रारंभ हुआ जबकि गैलेलियो ने दूरदर्शक का आविष्कार किया। कोपरनिकस एवं कैपलर ने यह घोषणा कर, कि मंगल पृथ्वी की नहीं वरन् सौर मण्डल के केन्द्र सूर्य की परिक्रमा करता है। नये वैज्ञानिक युग का सूत्रपात किया। अठारहवीं शताब्दि में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक कान्ट ने पदार्थात्मक बादल या नीहारिका के संघननवश सूर्य, मंगल एवं पृथ्वी आदि ग्रहों की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसकी परिपुष्टि प्रसिद्ध गणितज्ञ लाप्लास ने 18वीं शताब्दि के अन्त में की। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में तथा बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में चेम्बरलिन, मॉल्टन, सर जेम्स जीन्स आदि सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों में किसी अन्य तारे के आकर्षणवश सूर्य के टुकड़े के विच्छिन्न होने के कारण मंगलादि ग्रहों की उत्पत्ति का सुप्रचलित सिद्धान्त प्रस्तुत किया। गत चार दशकों में जर्मनी के ज्यौतिषी वैजसेकर एवं अमेरिकन वैज्ञानिक (खगोलज्ञ) रसेल एवं अन्य ने परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इन दिनों यन्त्रोपकरणात्मक, प्रायोगिक, दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में तीव्र गति से विकास हुआ है। विश्व की आधुनिक प्रयोगशालाओं में सक्षम एवं शक्तिशाली दूरदर्शकों द्वारा प्राप्त चित्रों एवं कॉम्प्यूटरों द्वारा की गई गणनाओं के फलस्वरूप मंगल के संबंध में प्रभूत जानकारी प्राप्त हुई है।

ज्ञात वैज्ञानिक तथ्यों के अनुसार मंगल पृथ्वी से लगभग एक सौ बयालीस लाख (142,000,000) मील दूर है। जबकि पृथ्वी केवल 93 लाख मील।

यह सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी की अपेक्षा 322 दिन अधिक में अर्थात् 687 दिनों में करता है। कभी-कभी मंगल पृथ्वी के अत्यन्त निकट—35 लाख मील तथा कभी बहुत दूर—234 लाख मील दूर तक चला जाता है। 1956 अगस्त में यह पृथ्वी के अत्यन्त निकट था। प्रति सत्रह वर्षों में पृथ्वी से इसकी दूरी न्यूनतम हो जाती है। मंगल का व्यास लगभग 4200 मील है जबकि पृथ्वी का इससे दुगना यानी 8000 मील। पृथ्वी अपनी धुरी से $23\frac{1}{2}°$ का कोण बनाती है और मंगल 24° का कोण बनाता है। मंगल ग्रह पृथ्वी की तुलना में 10 गुना हलका है एवं इसका आयतन पृथ्वी से लगभग छः गुना कम। मंगल का गुरुत्वाकर्षण भी लगभग $2\frac{1}{2}$ गुना कम है। जो भार पृथ्वी पर 14 कि०ग्रा० होगा वही मंगल पर 5 कि० ग्रा० ही होगा।

मंगल पर भी वसंत, ग्रीष्म, पतझड़ एवं शीत ऋतुएँ होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में वसन्त 200 दिन की, ग्रीष्म 182 दिन की शीत 160 दिन की एवं पतझड़ ऋतु 182 दिन की होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में कुछ भिन्न स्थिति होती है। इसके मध्य क्षेत्र में दिन का माध्यमिक ताप 30° सेंटीग्रेड रहता है जबकि रात्रि में यह—50° सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है। ध्रुवीय क्षेत्रों में तो यह —90° सेंटीग्रेड तक भी उतर जाता है। पृथ्वी का एक ही प्राकृतिक उपग्रह चन्द्रमा है जबकि मंगल के दो—फोबोस अर्थात् क्रूर एवं डेइयोस अर्थात् घृणा। पृथ्वी के दिन-रात 24 घंटे के होते हैं जबकि मंगल के $24\frac{1}{2}$ घंटे के। फोबोस बड़ा विचित्र है। यह बहुत हलका है और तीव्र गति से यह तीन प्रदक्षिणाएँ दिन और रात्रि में ($24\frac{1}{2}$ घंटे में) कर लेता है। अर्थात् तीन बार उदित एवं अस्त होता है। यह सदा ही पश्चिम में उदित होकर पूर्व में अस्त होता है। मंगल के उत्तरी ध्रुव पर विशाल वर्फीली टोपी है जो मंगलीय गर्मी में सिकुड़ती है और ठंड में बड़ी हो जाती है। अमेरिकन ज्योतिषी कुईपर ने सन्

1947 में मंगल के वायुमण्डल में जल की उपस्थिति सिद्ध की। वहाँ पर कार्बन डाइ ऑक्साइड भी है। आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी एवं मंगल के मध्य बहुत साम्य स्थापित कर दिया है। आश्चर्य होता है कि तीक्ष्ण प्रतिभा संपन्न भारतीय मनीषियों, महर्षियों एवं ज्योतिषियों ने मंगल एवं पृथ्वी के मध्य अत्यन्त निकट का—माता एवं पुत्र का संबंध स्थापित कर दिया था। सन् 1877 में जबकि हॉल में मंगल के दो उपग्रह खोजे, इटली के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी शिया परेली ने मंगल के पृष्ठ पर नहरों जैसी रेखाएं प्रेक्षित कीं जिन्हें उसने आकार एवं संख्या में परिवर्तनशील पाया। सन् 1890 में शिया परेलो के अंधे हो जाने के पश्चात् एरीज़ीना के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पर सिवल लॉवेल ने 1890 से 1916 के मध्य पर्याप्त सूक्ष्म अध्ययन किया। लॉवेल ने मंगल के कई नक्शे बनाये। बर्नार्ड नामक वैज्ञानिक ने 1930 में एन्टोनियाडी ने लॉवेल के दूरदर्शियों से भी अधिक सशक्त दूरदर्शी का प्रयोग कर नहरों की उपस्थिति के संबंध में संदेह उत्पन्न कर दिया। 1952 से 56 के मध्य ब्रिटिश ज्योतिषी पेट्रिकपूर ने भी मंगल के विस्तृत नक्शे बनाये।

मंगल ग्रह पर जीवन, वनस्पति अतिमानव आदि की उपस्थिति की कल्पना का बीज सर्वप्रथम शिया परेली ने ही बोया था। वैसे, पाश्चात्य जगत् में इसी संबंध में गल्पकथाएं शताब्दियों से प्रचलित हैं विज्ञान कथा लेखक एच० जी० वेल्स, बर्न एवं क्लार्क के गल्पों एवं उपन्यासों में इस संबंध में जनसामान्य में जिज्ञासा एवं हलचल मचा दी।

मंगल से संबंधित खोज हेतु सर्वाधिक प्रभावी कार्य किया रूस एवं अमेरिका ने। 1965 में अमेरिका के अन्तरिक्ष यान मैरिनर-4 ने तथा 1969 में मैरिनर-7 ने मंगल ग्रह के चित्र भेजे। 13 नवंबर 1971 को मैरिनर-9 मंगल की प्रदक्षिणा करने में सफल हुआ किंतु दिसंबर तक मंगल पर आँधी चलने के कारण उपयोगी चित्र नहीं भेज सका। तत्पश्चात् तीन रूसी यान भी मंगल की कक्षा में पहुँच चुके हैं किंतु सर्वाधिक प्रभावी एवं आजकल बहुचर्चित अभियान है वाइकिंग 1 एवं 2 का।

वाइकिंग-1; 20 जुलाई 1976 को सत्तर करोड़ आठ लाख किलोमीटर की यात्रा करके अपने लैंडर को मंगल पृष्ठ पर उतार चुका है। वाइकिंग-1 के दो खंड हैं। ऑर्बिटर और लैंडर, लैण्डर से मंगल के जीव विज्ञान, आणविक संरचना, मृत्तिका विश्लेषण, क्रोमैटोग्राफी आदि का कार्य करेगा। एक यान्त्रिक हाथ मिट्टी खोदकर वहीं मास स्पेक्ट्रीमीटर, एक्स-रे फ्लोरेसंस, स्पेक्ट्रोस्कोपी आदि की सहायता से विश्लेषण करेगा। 21 जुलाई को पासाडेना केन्द्र से प्राप्त समाचार के अनुसार मंगल पर नाइट्रोजन एवं आर्गन गैसें भारी मात्रा में हैं। वहाँ पर नाइट्रोजन केवल 3% है जबकि पृथ्वी पर 80% है। वाइकिंग के लैंडर यान की प्रथम रात्रि को वहाँ पर 15 मील प्रति घंटा की गति से हवा बह रही थी। मंगल पर पानी बर्फ के रूप में है। वहाँ की लाल भूरी जमीन चट्टानों एवं पत्थरों से भरी है। 23 जुलाई एवं उसके पश्चात् 3 अगस्त को वाइकिंग के यान्त्रिक हाथ में कुछ गड़बड़ियाँ उत्पन्न हुई थीं जिन्हें सुधार लिया गया। 8 अगस्त को प्राप्त समाचार के अनुसार मंगल पर की गई खोजों से संकेत मिलते हैं कि वहाँ पर कई वर्षों पूर्व जीवन था।

ऑर्बिटर में दो टेलीविजन कैमरे, एक अवरक्त वर्णक्रममापी तथा एक इन्फ्रारेड रेडियोमीटर लगे हैं जिनकी सहायता से मंगल के वायुमंडल में उपस्थित धूलि कण, ताप, ग्रह के एवं वहाँ के आकाश के रंग आदि का अनुसन्धान किया जा रहा है। मंगल ग्रह से अनेक सन्देश प्राप्त हो रहे हैं जिनके विश्लेषण की हमें राह देखनी होगी।

चिकित्सा विज्ञान के प्रणेता

नरेश चन्द्र 'पुष्प'

प्राचीन इतिहास पर जब हम एक तीव्र दृष्टिपात करते हैं तो हम देखते हैं कि उस अवैज्ञानिक युग में भी ग्रीस का भी विकसित अवस्था में था और लोक साहित्य, लोक संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में काफी प्रगति की थी। उस युग में ग्रीस ने प्रखर धारणाओं की स्थापना की थी और ऐसे महान व्यक्तियों को जन्म दिया था जिनकी छाप आज भी धुलित नहीं हो सकी है। प्राचीन युग में विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते हुये ग्रीस देश ने अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। कहना न होगा कि ईसापूर्व पांचवीं शताब्दी में ग्रीस ने एक ऐसे 'काल' को जन्म दिया जिसे आज भी ग्रीस का स्वर्णकार कहा जाता है। ईसा पूर्व की पांचवीं शताब्दी स्वर्णकाल के नाम से जगप्रसिद्ध है। क्योंकि इस शताब्दी के मध्य ग्रीस में ऐसे महान व्यक्तियों को जन्म दिया जिनकी धाक आज भी विद्यमान है। सुकरात और प्लेटो जैसे दार्शनिक पेरीकिल जैसा राजनीतिज्ञ, एस्कालस, सोफेनिक्स, यूरीपिड़ान, पिन्डर और एरिस्टोफेन्स जैसे कवि; जोनोफोन हेरोडोटस युसाइडिडिस जैसे इतिहासकार; फिडियास जैसा मूर्तिकार और हिप्पोक्रेट्स जैसा ख्यातिप्राप्त चिकित्सक इसी शताब्दी की देन है।

हिप्पोक्रेट्स ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी का ख्याति प्राप्त चिकित्सक था। उसके बारे में आज भी अनेकों कहानियाँ कही सुनी जाती हैं। लेकिन ये सभी कहानियां काल्पनिक और पौराणिक हैं। इन कहानियों में कोई भी सत्यता नहीं है। हिप्पोक्रेट्स ने अपने जीवन-काल में इतनी ख्याति अर्जित कर ली थी और अपनी नई चिकित्सा पद्धति के आधार पर लोगों का इतना मन मोह लिया था कि ग्रीसवासी उसे शंका की दृष्टि से देखने लगे थे। वे कहा करते थे कि आज तक कोई भी चिकित्सक ग्रीस में पैदा नहीं हुआ जैसा कि हिप्पोक्रेट्स है। अतः यह कोई मानवीय शक्ति नहीं, अवश्य ही कोई दैवीय शक्ति है। धीरे-धीरे सारे ग्रीस में इस धारणा का विस्तार हो गया कि हिप्पोक्रेट्स को ईश्वर ने एस्कुलैपिस से धरती पर लोगों की सेवा करने के लिए भेजा है। और 'घावों को भरने वाला देवता' है।

आरंभिक जीवन

हिप्पोक्रेट्स का जन्म कॉस के आइसलैंड पर ईसा पूर्व 460 में हुआ था। उसके पिता उस समय चिकित्सक थे। अतः हिप्पोक्रेट्स को आरम्भ से ही चिकित्सक और औषधियों का सामिप्य प्राप्त था। उसकी इस विद्या में भी आरम्भ से गहन अभिरुचि थी। अतः कुछ बड़े होते ही हिप्पोक्रेट्स ने अपने पिता से औषधियों संबंधित अध्ययन शुरू कर दिया और एस्कुलैपिस के मंदिर और निकट ही स्थित नाइडोस के एक विद्यालय में चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा लेना आरम्भ कर दी। शिक्षा समाप्त होने पर हिप्पोक्रेट्स ने पेसेली, थ्रेसी और डेलोस की यात्रायें की। यहाँ अपने अस्पताल खोले और लोगों की सेवा करना आरम्भ किया। हिप्पोक्रेट्स के दोनों बेटे—ड्रेको और थिलैलस तथा पोता पॉलीबस भी आगे चलकर प्रसिद्ध चिकित्सक हुये। ईसा पूर्व

375 में हिप्पोक्रेट्स की पेसेलो में मृत्यु से गई। कुछ इतिहासकारों के अनुसार हिप्पोक्रेट्स की मृत्यु 377 और 359 के मध्य हुई।

हिप्पोक्रेट्स के जितने भी परम्परागत चित्र देखने में मिलते हैं उनके बारे में विचार किया जाता है कि ये चित्र मात्र कल्पित हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में हिप्पोक्रेट्स की एक मूर्ति रखी है जिसके बारे में भी कई विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति हिप्पोक्रेट्स की नहीं बल्कि दार्शनिक क्रिमीफर की है। किन्तु प्रो० ल्युसीनों लॉरेन्जो ने 1933 में कॉस के आइसलैण्ड से एक मूर्ति खोज निकाली है जिसे निष्पण रूप से हिप्पोक्रेट्स की मूर्ति कहा जाता है।

नवीन चिकित्सा पद्धति

यह तो नहीं कहा जा सकता कि हिप्पोक्रेट्स के पूर्व रोगियों की चिकित्सा नहीं हुआ करती थी। उस समय भी ग्रीस में सैकड़ों चिकित्सक थे और पहले भी हो चुके थे। लेकिन इन चिकित्सकों की चिकित्सा प्रणाली परम्परागत और अवैज्ञानिक थी। लेकिन हिप्पोक्रेट्स ने सर्वप्रथम इस प्राचीन परम्परागत चिकित्सा प्रणाली को एक नया मोड़ दिया और इसे वैज्ञानिक आधार पर लागू किया। उस समय कहा जाता था कि घावों का भरना एक जादू (रहस्य) है और यह दैवीय शक्ति द्वारा संपन्न होती है। यदि ईश्वर न चाहे तो घावों का भरना संभव नहीं। लेकिन हिप्पोक्रेट्स ने इस धारणा को स्वीकार नहीं किया और दुनियां के समक्ष अपने नये विचार प्रयुक्त किये। उसने अपने कार्य परम्परागत पद्धति से अलग कर स्वतंत्र रूप से मौलिक अध्ययन तथा परीक्षणों पर आधारित किया। उसने अपनी चिकित्सा प्रणाली को सहज बनाने के लिये इसे अनेक भागों में विभक्त किया और उसे वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा की। हिप्पोक्रेट्स द्वारा इस चिकित्सा पद्धति को अनेक भागों में बाँटा गया जिसे आज के चिकित्सक उपयोग में ला रहे हैं। या यों कहिये की सारी नवीन चिकित्सा प्रणाली हिप्पोक्रेट्स की चिकित्सा प्रणाली पर आधारित है। हिप्पोक्रेट्स अपने रोगियों की चिकित्सा करने के पूर्व उस रोगी का इतिहास पूछता जिसे आज के संदर्भ में 'केसहिस्ट्री' कहते हैं। रोगी का पूर्व इतिहास जान लेने के बाद हिप्पोक्रेट्स रोगी के रोग चिन्हों का अध्ययन करता जिसे आज 'सिम्पटैम्प ऑव डिज़ीज' कहते हैं। रोग चिन्हों का गहनता से अध्ययन करने के बाद वह इस रोग के कारणों को जानने का प्रयत्न करता जिसे अब 'कॉज ऑफ डिज़ीज' कहते हैं। इतना सब करने के पश्चात हिप्पोक्रेट्स रोग का निर्धारण करता जिसे आज के संदर्भ में 'डाइग्नोसिस' कहते हैं। रोग का निर्धारण कर लेने के पश्चात् वह इस रोग में दी जा सकने वाली औषधियों के गुणधर्मों, उनकी प्रक्रियाओं और शरीर पर उसके प्रभाव का अध्ययन करता तब कहीं जाकर वह अपने रोगी को औषधि देता जिसे आज हम 'केमोथेरेपी' कहते हैं। जबकि पूर्व और वर्तमान चिकित्सक रोगी तथा रोग का बिना गहन अध्ययन किये ही चिकित्सा करने और संभावित औषधि दे दे। यदि रोगी ठीक हो जाता तो ठीक वरना व्यर्थ। लेकिन हिप्पोक्रेट्स ने इस प्रकार से की जाने वाली परम्परागत चिकित्सा प्रणाली का परित्याग किया और इसमें इसको एक नया मोड़ देकर इसे वैज्ञानिक आधार दिया। अतः हिप्पोक्रेट्स द्वारा दी गई नवीन चिकित्सा प्रणाली परम्परागत चिकित्सा प्रणाली से कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई और धीरे-धीरे विकसित होते-होते आज की स्थिति में पहुँच गई है। आज हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि वर्तमान चिकित्सा प्रणाली रोगी की 'केस हिस्ट्री', 'सिम्पटम ऑफ डिज़ीज', 'कॉज ऑव डिज़ीज', तथा 'डाइग्नोसिस' पर ही आधारित है। अतः आज हिप्पोक्रेट्स को वर्तमान चिकित्सा प्रणाली का प्रणेता कहा जाता है।

आज जब कोई शिक्षित चिकित्सक औषधि चिकित्सा के क्षेत्र में पदार्पण करता है तो उसे एक परम्परागत शपथ लेनी पड़ती है और उसे इस शपथ का अपने जीवन-काल में निर्वाह करना पड़ता है। इस शपथ को हिप्पोक्रेट्स की शपथ कहते हैं। हिप्पोक्रेट्स ने पुरानी परम्परागत चिकित्सा पद्धति को समाप्त किया और नई चिकित्सा प्रणाली को जन्म दिया जिस पर आज की सारी चिकित्सा पद्धति आधारित हिप्पोक्रेट्स ने अपने विस्तृत प्रयोगों के आधार पर कुछ नये विचारों की भी स्थारना की जिसे आज भी नहीं भुलाया जा सकता है। उसके कुछ वचार इतने प्रसिद्ध हो सके हैं कि आज कहावतों के रूप में भी कहे जाते हैं—

—"जीवन लघु है लेकिन कला सीमाहीन, संकट शीघ्रगामी है। परीक्षण आपत्तिपूर्ण और निर्णय कठिन।"

—"मांसपेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन मृत्यु का संकेत है। (आज के संदर्भ में टिटेनस)।"

—"यदि निद्रा के कारण मुर्छा का नाश होता है तो शुभ है।"

—"शीतऋतु में निमोनियां, फेफड़े का दर्द, मस्तक का घूमना, सिर दर्द, ठंडक, मुर्छा, मिर्गी का रोग, हो जाया करते हैं।"

हिप्पोक्रेट्स ने ही सर्वप्रथम 'रक्त का परि-वहन' शब्द का इस्तेमाल किया था। इस संबंध में उसने कहा—"इस शरीर में असंख्य रक्तवाहनियां फैली हुई हैं। ये सभी वाहनियां एक प्रमुख वाहनी से निकलती हैं। लेकिन मुझे यह ज्ञात नहीं है कि ये कहाँ से निकलती हैं और कहाँ समाप्त होती हैं। इन वाहनियों में उद्रेक गति और द्रव भरा होता है। हिप्पोक्रेट्स ने फेफड़ों तथा स्पाइन के क्षय रोग की भी सही व्याख्या की थी। उसने मले-रिया रोग का सही अध्ययन किया था और सेमी-टरटियन, टरटियन, क्वार्टन, क्वार्टन सेप्टेन और नॉनन प्रकारों की चर्चा की थी। जॉन चाइनो (1777-1836) और विलियम स्टोकम (1848) ने एक त्रुटि संगत श्वसन अवस्था की खोज की थी जिसकी सर्वप्रथम चर्चा हिप्पोक्रेट्स ने ही अपने समय में कर दी थी।

हिप्पोक्रेट्स ने शल्यन करने की दशा को इस प्रकार लिखा है:—'शल्यन के लिए आवश्यक वस्तुयें—रोगी, शल्यक, सहयोगी, उपकरण तथा प्रकाश। शल्यक खड़ा हो या बैठा, उसे ऑपरेशन करने वाला रोगी का अंग थोड़ा ऊपर उठाये रखना चाहिये और उस पर सीधा या तिरछा प्राकृतिक या कृत्रिम प्रकाश निरन्तर गिराते रहना चाहिये।

हिप्पोक्रेट्स ने उन रोगियों के चेहरे का वर्णन किया है जो मृत्यु के समीप होते हैं—'नुकीली नाक, धँसी हुई आँखें, मुर्झाया चेहरा, और ठंडे कान।' इन चिह्नों को हिप्पोक्रेट्स के चिह्न कहते हैं।

न्यू हैदराबाद
केदार नाथ मार्ग
लखनऊ 220007

शारीरिक रोगों का मानसिक इलाज

प्रकाश चन्द्र स्वर्णकार

क्या आपको विश्वास आयेगा कि आपको रोग, पीड़ा या कष्ट किसी शरीरिक रोग का परिणाम नहीं है ? क्या यह संभव नहीं हैं कि आपका शारीरिक कष्ट आपके मस्तिष्क की उपज हो ?

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा अनुसन्धान के अनुसार प्रायः रोगियों के कष्टों की जड़ें उनके मस्तिष्क में होती हैं उनका कारण कोई बाहरी रोग नहीं होता है। इसलिए ऐसे रोगियों का शारीरिक इलाज के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक उपचार आवश्यक है।

दो सौ वर्ष पूर्व चिकित्सा का आध्यात्मिकता से गहरा सम्बन्ध समझा जाता था। डाक्टरों ने यह खोज कर यह सिद्ध किया कि शारीरिक रोग केवल शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और उनका इलाज भी शारीरिक दृष्टि से होना चाहिये। जैसे :—रोग फैलाने वाले कीटाणु का इलाज किया जाय तो रोग नहीं फैलेगा।

शुरू-शुरू में चिकित्सा, धर्म और जादू का आपस में चोली-दामन का साथ था। नीम वहशी कबीलों में अब भी चिकित्सक धार्मिक गुरू माना जाता है और शारीरिक रोग का इलाज भी जादू-टोने से करता है।

दो सौ वर्ष दीर्घावधि के बाद आज शारीरिक और मानसिक रोगों में गहरा संबंध जोड़ा जा रहा है और चिकित्सा मनोवैज्ञानिक के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ इस आन्दोलन में अग्रणी हैं। डाक्टर फ्लीडर्ड ने अपनी पुस्तक से सहस्त्रों लोगों की आँखें खोल दीं और उन्होंने अपनी पुस्तक में अनेक रोगियों के उदाहरण देकर शारीरिक और मानसिक रोगों में गहरा संबंध स्थापित किया।

एक अस्पताल में एक 21 (इक्कीस) वर्षीय रोगी ने प्रवेश किया। कुछ समय तक तो उसकी दशा ठीक रही किन्तु फिर एकाएक दशा बिगड़ती चली गयी। डाक्टर परेशान हो गया बिना किसी शारीरिक रोग के रोगी सिर में पीड़ा अनुभव करता और उसे मितली होती। जब औषधियों से यह दशा न संवर सकी तो डाक्टर ने रोगी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आरंभ किया कि शायद रोगी के बचपन की मनोवृत्तियों से वर्तमान कष्टों का पता चल सके। डाक्टर ने रोगी के बचपन की हालत का पता किया और शीघ्र ही इस निर्णय पर पहुँचा कि रोगी की मानसिक उलझन शारीरिक रोग का रूप धारण किये हुये है।

डाक्टर ने कहा कि यह रोगी जब 5-6 वर्ष का बच्चा था उस समय उसका पिता एक दुर्घटना में ज़ख्मी हो गया था। उसके बाद 14-15 वर्ष तक पिता को सिर दर्द और मितली की शिकायत रही जिससे रोगी बहुत प्रभावित हुआ।

18 वर्ष की एक दुर्घटना में रोगी के सिर में चोट लगी, जिससे कुछ दिन तक साधारण सा सिर दर्द होता रहा अब जब वह अस्पताल में भरती हुआ तो उसे यह चिन्ता सताने लगी कि कहीं वह भी अपने पिता की तरह वर्षों तक कायम रहने वाले सिर दर्द का शिकार न हो

जाए। उसके इस भय ने वास्तविक रूप धारण कर लिया गया।

डाक्टर ने रोगी को बतलाया कि कुछ वर्ष पूर्व जब उसके सिर में चोट आई थी तो दिमाग के किसी भाग में चोट नहीं लगी थी। उस समय उसे जो दर्द हुआ था वह उसके भय का परिणाम था। डाक्टर ने कहा कि जब तक वह अस्पताल में है, वह अधिक से अधिक व्यस्त रहने का प्रयत्न करे अन्य रोगियों से बात करें या पत्र पत्रिकायें और पुस्तकें पढ़े। कोई ऐसा हुनर सीखे जिसको वह बिस्तर पर लेटे-लेटे ही पूरा कर सके। रोगी ने डाक्टर के परामर्श पर कार्य व्यस्त रहने पर अपनी रज़ा-मन्दी प्रकट की। एक सप्ताह के अंदर ही अंदर रोगी का सिर दर्द और मितली समाप्त हो गयी। बचपन से जो भय उसके मन मस्तिष्क में समाये थे उनकी जड़ें उखड़ गयीं।

रोगी घटनाओं से चिकित्सा मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त स्पष्ट होता है। उसका आरंभ बचपन से होता है। बच्चे के भय और भावनात्मक उथल-पुथल तुरन्त ही अपना प्रभाव नहीं डालते अपितु कई-कई वर्षो बाद प्रकट होते हैं। जबकि बच्चा बड़ा हो जाता है। और बचपन की घटनाएं विस्मृत हो जाती हैं; किन्तु वास्तव में ये घटनाएं विस्मृत नहीं होतीं, जवानी के उन क्षणों की प्रतीक्षा करती हैं जबकि उन्हें उभरने और पुनः चेतना स्तर पर आने का अवसर मिलता है। कभी-कभी ऐसे भय केवल मानसिक रोग जैसे—पागलपन—का रूप धारण कर लेते हैं। कभी ऐसे शारीरिक रोग का रूप लेते हैं जिनका कारण नहीं समझ में आता। ऐसा तब होता है जबकि बच्चे को तीव्र आघात लगे जैसे – किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाये। उस अकस्मात मृत्यु से बच्चे की भावनाओं में उथल-पुथल मच जाती है और वह किसी प्रकार का शारीरिक विकार न होते हुये भी मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ हो जाता है।

बच्चा जब अपने किसी प्रियजन माँ, बाप, भाई, बहन या चाचा या मामा को किसी रोग से ग्रस्त देखता है, उस रोग में प्रिय जन की मृत्यु हो जाती है तो बच्चा कुछ दिनों बाद उस रोग को भूल जाता है। परन्तु वर्षों के बाद किसी क्षण वे भूली बिसरी यादें पुनः उभरती हैं और नवयुवक को अपने शिकंजों में जकड़ लेती हैं। इसलिए ये न समझे कि ये रोग काल्पनिक होते हैं। ये वास्तव में रोगों की तरह प्रकट होते हैं और रोगी पीड़ा अनुभव करता है। उसका हृदय कमजोर पड़ जाता है. अंग बिवश नजर आते हैं इसकी पुष्टि डाक्टरी जांच से की जाती है केवल इस शारीरिक अवस्था का कारण समझ में नहीं आता, जैसे उदर पीड़ा को लें। ऐसी घटना का आरम्भ तो बचपन की दुर्घटना से होता है। उदर के रगें और पुट्ठे कमज़ोर हो जाते हैं। और शनैः-शनैः रोगी उदर कैंसर जेसे भयानक रोग का शिकार हो जाता है। बचपन में किसी भय या दुर्घटना से शरीर के अधिकांश अंग और स्नायु तत्काल प्रभाव स्वीकार करते हैं।

डा० डनबार ने हृदय के रोग का उदाहरण प्रस्तुत किया जिससे प्रतिवर्ष सैकड़ों, करोड़ों मनुष्य संसार के प्रत्येक भाग में अपने प्राण गँवाते हैं। स्वयं लेखक कई वर्षों तक एक अस्पताल में हृदय के रोगियों का अध्ययन करता रहा। उनकी खोज है कि पचास प्रतिशत रोगियों के जीवन की घटनाएँ बताती है कि उन्होंने अपने प्रियजनों को हृदय के रोग और उसके कारण मरते देखा। इससे यह कहा जा सकता है कि यह पुश्तैनी है किन्तु तसवीर का दुसरा पहलू भी नहीं भूलना चाहिये।

अधिकांश रोग बचपन से आरम्भ होते हैं। यदि बच्चों की शिक्षा दीक्षा में सावधानी बरतनी चाहिये उनको किसी भावनात्मक उथल-पुथल का शिकार न होने दिया जाय।

विज्ञान क्लब, नाथद्वारा से

इलेक्ट्रॉन

श्याम लाल काकानी

ऐतिहासिक दृष्टि से इलेक्ट्रॉन की खोज आधुनिक भौतिकी का प्रारंभिक स्थल माना जाता है। इलेक्ट्रॉन की खोज सन् 1897 में अंग्रेज भौतिकविद् सर जे० जे० टॉमसन ने कैथोड किरणों के अध्ययन के समय की। उन्हें इस महत्त्वपूर्ण खोज के लिए सन् 1906 में सर्वाधिक सम्मान का नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया।

अब तक ज्ञात मूल या उप परमाण्वीय कणों में इलेक्ट्रॉन ही सबसे लघु कण है। इलेक्ट्रॉन पर आवेश को एकांक विद्युत ऋण आवेश माना गया है। आवेश मापने के लिए इलेक्ट्रॉन पर आवेश एक इकाई का कार्य करता है। धातुओं में विद्युत-धारा का चालन इलेक्ट्रॉनों के प्रवाह से ही होता है। तत्वों के रासायनिक गुणों के लिए इलेक्ट्रॉन (बाह्यतम कक्षा में) ही उत्तरदायी होते हैं। परमाण्विक भौतिकी में इसके अत्यधिक महत्व को देखते हुए हम इलेक्ट्रॉन एवं इसके गुणों के बारे में जानकारी प्रदान करेंगे।

इलेक्ट्रॉन चुम्बकीय एवं विद्युत क्षेत्रों द्वारा विक्षेपित होता है। इस तथ्य का उपयोग कर सर जे० जे० टॉमसन ने इलेक्ट्रॉन पर आवेश एवं उसके द्रव्यमान की निष्पत्ति $\left(\frac{e}{m}\right)$ का मान ज्ञात किया $\frac{e}{m}$ का आधुनिक स्वीकृत मान $(1{\cdot}758897 + 0{\cdot}000032) \times 10^{11}$ कूलॉम/किग्रा० है। व्यावहारिक परिकलनों के लिए $\frac{e}{m}$ का मान $1{\cdot}76 \times 10^{11}$ कूलॉम/किग्रा० लेते हैं।
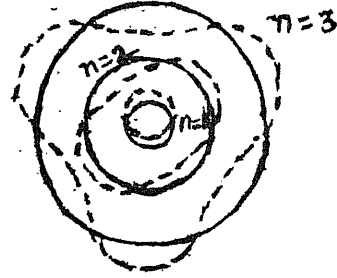
चित्र—1

सन् 1914 में राबर्ट ए० मिलिकन ने इलेक्ट्रान पर आवेश का यथार्थ मान ज्ञात करने के लिए बिन्दुपात पद्धति का प्रयोग किया। उनके नाम के पश्चात् इस विधि को मिलिकन बिन्दुपात पद्धति कहते हैं। मिलिकन ने अपने प्रयोग को कई बार दोहराया, लेकिन प्रत्येक बार उन्होंने पाया कि सभी तेल बिन्दुओं पर आवेशों का मान एक निश्चित मान ($e = 1.64 \times 10^{-19}$ कूलॉम) का बहुल समाकल ही प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इलेक्ट्रॉन पर आवेश $1{\cdot}64 \times 10^{-19}$ कूलॉम होना चाहिए। आधुनिक प्रयोगों से इलेक्ट्रॉन पर आवेश का मान $(1{\cdot}60210 \pm 0.00007) \times 10^{-19}$ कूलॉम प्राप्त होता है। व्यावहारिक परिकलनों के लिए इलेक्ट्रॉन पर आवेश $e = 1{\cdot}6 \times 10^{-19}$ कूलॉम लेते हैं।

आवेश की क्वांटम प्रकृति : मिलिकन के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि विद्युत आवेश का एक क्वांटम होता है जिसका मान इलेक्ट्रॉन पर आवेश के तुल्य होता है। अभी तक किसी भी परमाण्वीय कण पर आवेश का मान इलेक्ट्रॉनी

आवेश से कम प्राप्त नहीं हुआ है। परमाण्वीय कणों पर आवेश का मान सदैव इलेक्ट्रॉनी आवेश के तुल्य या इसका बहुत समाकल ही पाया जाता है। इस कारण से इलेक्ट्रॉनी आवेश को आवेश का एक क्वांटम माना गया है। सैद्धांतिक दृष्टि से वैज्ञानिक गैलमान ने $\frac{e}{3}$ एवं $\frac{2e}{3}$ आवेशों की उपस्थिति की संभावना क्वार्क्स के रूप व्यक्त की है लेकिन अभी तक प्रायोगिक आधार पर इनकी पुष्टि संभव नहीं हो सकी है। यदि क्वार्क्स की उपस्थति की प्रायोगिक पुष्टि संभव हो सकी तो आवेश की इकाई में अवश्य अन्तर आ जायगा परन्तु इससे आवेश संरक्षण नियम पर किसी प्रकार से प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मुक्त इलेक्ट्रॉनों के गुण : मुक्त इलेक्ट्रॉन से हमारा तात्पर्य ऐसे इलेक्ट्रॉन से है जो परमाण्वीय बंधन बलों से नियुक्त है। इलेक्ट्रॉन पर आवेश, इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान, आकार, चुंबकीय आघूर्ण एवं इसकी योग्यता ऐसे गुण है जो इलेक्ट्रॉन को निरूपित करते हैं।

अभी तक इलेक्ट्रॉन का आकार प्रयोगों की सहायता से ज्ञात करना संभव नहीं हो सका है और न ही इसकी आंतरिक संरचना के बारे में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं। संघट्टित इलेक्ट्रॉन पुंजों पर उच्च ऊर्जा प्रयोगों से यह प्रदर्शित होता है कि विद्युत् गतिकी के नियम जिसमें इलेक्ट्रॉन को एक बिन्दु आवेश की तरह माना गया है, $\sim 10^{17}$ मीटर की दूरी तक वैध पाये गये हैं। सन् 1925 में द ब्रोगली ने सैद्धान्तिक आधार पर यह प्रदर्शित किया कि p संवेग वाले एक कण के साथ $\frac{h}{p}$ तरंग दैर्ध्य की द्रव्य तरंग संबंधित होती है, जहाँ h प्लांक का स्थिरांक है। डेविसन एवं गर्मर ने सन् 1927 में द ब्रोगली परिकल्पना की प्रायोगिक पुष्टि प्रदान की। अब इलेक्ट्रॉन को तरंगों के एक समूह द्वारा प्रदर्शित किया जाता है एवं इसकी तरंग दैर्ध्य की कोटि में इसे स्थानीयित (लोकेलाइजड) नहीं किया जा सकता है।

इलेक्ट्रॉन का चक्रण एवं चुंबकीय आघूर्ण होते हैं। ये दोनों गुण परमाणु स्पेक्ट्रम के कई लक्षणों की व्याख्या करते हैं। जैसा कि ध्रुवित पुंजों पर प्रयोग प्रदर्शित करते हैं चक्रण एवं चुंबकीय आघूर्ण मुक्त इलेक्ट्रॉन के आधारभूत गुण है।

सन् 1932 में एन्डरसन ने एक धनात्मक आवेशित कण, जो अन्य सभी लक्षणों में इलेक्ट्रान के समरूप होता है, पोज़िट्रॉन की खोज की वियुक्त रूप में इलेक्ट्रॉन एवं पोजिट्रॉन रेडियो-ऐक्टिव क्षय के विपरीत स्थायी रहते हैं लेकिन द्रव्य की उपस्थिति में इलेक्ट्रॉन, पोजिट्रॉन से मिलकर विलुप्त हो जाता है।

इलेक्ट्रॉन के सिद्धांत :

किसी भी तत्व के परमाणु में इलेक्ट्रॉन की भूमिका मुख्यतया इस पर कार्यकारी विद्युत चुंबकीय बलों से निर्धारित की जाती है क्योंकि इस बल की तुलना में इस पर कार्यकारी गुरुत्वीय एवं न्यूक्लीय बल अत्यधिक क्षीण होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थ के अधिकांश गुणों जैसे दैनिक जीवन में समागम होने वाले, की व्याख्या विद्युत् गतिकी से ही करते हैं। विद्युत् गति की भौतिकी की वह शाखा है जो विद्युत् चुंबकीय क्षेत्र में इलेक्ट्रॉन के व्यवहार से संबंधित है।

चिरसम्मत भौतिकी इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान को इसके वास्तविक आकार से संबंधित करता है। आजकल यह संबंध द्रव्यमान एवं ऊर्जा की तुल्यता ($E=mc^2$) को मानकर सरलता से स्थापित कर देते हैं। इसके अनुसार इलेक्ट्रॉन की चिरसम्मत त्रिज्या $\sim 1.4\times10^{15}$ मीटर होनी चाहिये। इलेक्ट्रॉन के बारे में यह धारणा पूर्णतया कृत्रिम प्रतीत होती है क्योंकि एक स्थिर गोलीय

चित्र—2

सभी प्रेक्षणीय गुणों में इलेक्ट्रॉन के समरूप होता है। अतः म्यू मेसॉन को इलेक्ट्रान की एक उत्तेजित अवस्था माना जा सकता है। इससे अवश्य यह प्रकट होता है कि इलेक्ट्रॉन की किसी प्रकार की आंतरिक संरचना अवश्य होनी चाहिये।

इलेक्ट्रॉन चक्रण : हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि पृथ्वी, सूर्य के चारों ओर कक्षीय गति के साथ-साथ अपनी अक्ष के चारों ओर घूर्णन या चक्रण करती है। यही कारण है कि पृथ्वी का पूर्ण कोणीय संवेग इसके कक्षीय कोणीय संवेग और चक्रण कोणीय संवेग का सदिश योग होता है। अनुरूपता के आधार पर हम यह संदेह कर सकते हैं कि एक परमाणु में बद्ध इलेक्ट्रॉन चक्रण करता है। लेकिन इलेक्ट्रॉन की आंतरिक संरचना की जानकारी के अभाव में हम इलेक्ट्रॉन की व्याख्या गोलीय चक्रण करते हुए एक कण के रूप में नहीं कर सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि इलेक्ट्रॉन के चक्रण कोणीय संवेग का परिकलन हम उस प्रकार से नहीं कर सकते हैं जिस प्रकार से पृथ्वी के चक्रण कोणीय संवेग की गणना उसकी त्रिज्या एवं कोणीय वेग के पदों के रूप में करते हैं। इलेक्ट्रॉन चक्रण का विचार सर्वप्रथम सन् 1926 में दो भौतिकशास्त्रियों जी ऊलेनबेक और एस. गाउटस्मिट ने एक इलेक्ट्रॉन परमाणुओं के स्पेक्ट्रम के विशिष्ट लक्षणों की व्याख्या के लिए रखा था। सन् 1924 में स्टर्न एवं गेरलाच ने प्रयोग से इलेक्ट्रॉन स्पिन या चक्रण की प्रायोगिक पुष्टि प्रस्तुत की। निसंदेह स्पेक्ट्रोस्कोपी के क्षेत्र में यह एक महान क्रांतिकारी कदम था।

आवेश स्थिर नहीं होता है एवं ऐसे किसी बंधन की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है जिसका उद्गम विद्युत-चुंबकीय न हो।

डिराक द्वारा विस्तरित क्वांटम सिद्धान्त सफलतापूर्वक इलेक्ट्रॉन तरंग के घटकों के रूप में इलेक्ट्रॉन स्पिन (चक्रण) की व्याख्या करता है। यह सिद्धान्त इलेक्ट्रॉन के चुंबकीय आघूर्ण के मान की भी प्रागुक्ति करता है जो प्रायोगिक मान के साथ श्रेष्ठ सहमति प्रकट करता है। इस सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि इलेक्ट्रॉन ऋणात्मक एवं धनात्मक दोनों ऊर्जा अवस्थाओं में उपस्थित में होना चाहिये। प्रकृति में हम केवल इलेक्ट्रॉन की धनात्मक अवस्थाओं से ही परिचित हैं।

यह उल्लेखनीय है कि अस्थिर μ (म्यू) मेसॉन जो अंतरिक्ष किरणों में पाया जाता है द्रव्यमान के अतिरिक्त (μ मेसॉन का द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान का लगभग 207 गुना होता है) अन्य

इलेक्ट्रॉन विवर्तन एवं इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप :

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि द ब्रोगली परिकल्पना के अनुसार इलेक्ट्रॉन के साथ

तरंग भी संबद्ध होती है। तरंग दैर्घ्य (Λ) का मान निम्न सूत्र से ज्ञात कर सकते हैं।

$$\lambda = \frac{h}{n.v}$$

जहाँ h → प्लांक का स्थिरांक, m इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान एवं v वेग है।

यदि इलेक्ट्रॉन के साथ तरंग संबद्ध होती है तो इलेक्ट्रॉन किरण पुंज से विवर्तन की घटना प्रदर्शित होनी चाहिये। सर्वप्रथम सन् 1927 में डेविसन एवं गरमर ने इलेक्ट्रॉन किरण पुंज को क्रिस्टल पर गिराकर यह प्रदर्शित किया कि इलेक्ट्रान किरण पुंज का विवर्तन होता है।

इलेक्ट्रॉन की तरंग प्रकृति का इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) की रचना में उपयोग किया गया है। तीव्र वेग से गति करने वाले इलेक्ट्रॉन पुंज का विद्युत् एवं चुंबकीय क्षेत्रों द्वारा उसी प्रकार केन्द्रित किया जाता है जिस प्रकार प्रकाश किरणों को काँच के लेन्सों द्वारा केन्द्रित किया जाता है।

इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी, प्रकाशिक सूक्ष्मदर्शी के समान सिद्धांत पर ही कार्य करता है। टंगस्टन के तंतु F से उत्सर्जित होने वाले इलेक्ट्रॉनों को लगभग 60000 वोल्ट विभवांतर से त्वरित किया जाता है। इन उच्च वेग प्राप्त इलेक्ट्रॉनों को चुंबकीय संग्राही लेन्स की सहायता से केन्द्रित किया जाता है। यह बिम्ब एक दूसरे चुंबकीय लेन्स के फोकस से थोड़ा बाहर की ओर होता है। दूसरा चुंबकीय लेन्स सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्य का कार्य करता है। प्रकीर्णित होने वाले इलेक्ट्रॉन चुंबकीय अभिदृश्य से गुजरने के पश्चात् आवर्धित प्रतिबिम्ब बनाते हैं। चुंबकीय प्रक्षेपण लैन्स के लिए बिम्ब का कार्य करता है। प्रक्षेपण लेन्स से इसका उलटा तथा बड़ा प्रतिबिम्ब लैंस से दूर प्रतिदीप्तशील पर्दे या फोटोग्राफिक प्लेट पर बनता है।

सम्पूर्ण उपकरण को एक उच्चकोटि के निर्वातित वायुरोधी धातु केस में बन्द रखते हैं। बिम्ब एवं फोटोग्राफिक प्लेट को उनकी स्थितियों में बिना निर्वात को प्रभावित किये हुए रखने की व्यवस्था होती है।

इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी की आवर्धन क्षमता लगभग 50,000 एवं विभेदन क्षमता सामान्य सूक्ष्मदर्शी की तुलना में लगभग 1,20,000 गुना होती है।

उच्च आवर्धन एवं विभेदन क्षमता के कारण इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप का उपयोग भौतिकी में क्रिस्टलों एवं परमाणुओं की सूक्ष्म संरचना का अध्ययन करने एवं रसायन विज्ञान में कोलाइड़ों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने में करते हैं। इससे जीवाणुओं को बहुत ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है अतः रोग फैलाने वाले कीटाणुओं के अध्ययन में भी इसका प्रयोग किया जाता है। धातुकर्म में इसका प्रयोग अयस्कों को छांटने तथा संसाधन करने, अज्ञात पदार्थों की संरचना का विश्लेषण करने में होता है। में उद्योगों इसका प्रयोग धागों की संरचना के अध्ययन में जैसे स्नेहक तेलों के शोधन, पेन्ट के संघटन में होता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप मानव के लिए एक वरदान है।

भौतिकी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, शाहपुरा
जिला-भीलवाड़ (रा०)

मंगल---जिसका आसमान नीला और धरती रक्तवर्ण है

संकलित

मंगल ग्रह का आकाश नीला है, धरती का रंग लाल है तथा चट्टानों का रंग भूरा-हरा काला है। मंगल ग्रह के वायुमण्डल के सम्बन्ध में जो नवीनतम जानकारी उपलब्ध हुई है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय मंगल ग्रह का वायुमण्डल लगभग वैसा ही रहा होगा जैसा वायुमण्डल आज हमारी पृथ्वी पर विद्यमान है।

अब तक वाइकिंग—1 अन्तरिक्षयान ने मंगल के धरातल से जो आंकड़े प्रेषित किये हैं, उनके आधार पर पैसाडीना (अमेरिका) स्थित 'जेट प्रोपल्सन' प्रयोगशाला के वैज्ञानिक उक्त निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

ब्राउन यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक डा० टामस मच ने 21 जुलाई को मंगल ग्रह के धरातल से भेजे गये प्रथम चित्रों का अवलोकन करने के बाद, यह राय प्रकट की है कि चन्द्रमा की अपेक्षा मंगल अधिक मैत्रीपूर्ण ग्रह प्रतीत होता है। उन्होंने कहा कि मंगल ग्रह के रेगिस्तानी क्षेत्र का चित्र अमेरिका के एरिजोना राज्य में विद्यमान रेगिस्तानी क्षेत्र से बहुत अधिक मिलता-जुलता है।

मंगल के वायुमण्डल के सम्बन्ध में वाइकिंग—1 ने जो आंकड़े पृथ्वी को प्रेषित किये हैं, उनके अनुसार, मंगल के वायुमण्डल में अरेगोन गैस का अनुपात 2 प्रतिशत और नाइट्रोजन का अनुपात लगभग 3 प्रतिशत है जबकि पृथ्वी के वायुमण्डल में अरेगोन गैस का अनुपात 1 प्रतिशत तथा नाइट्रोजन का अनुपात 78 प्रतिशत है डा० माइकेल मेकलोरी (हारवर्ड विश्वविद्यालय) के अनुसार मंगल ग्रह के वायुमण्डल में विद्यमान नाइट्रोजन की वर्तमान मात्रा में सूक्ष्म जीवाणु पनप सकते हैं—यदि अतीत में किसी समय मंगल ग्रह के धरातल पर जल प्रचुर परिमाण में रहा होगा तो वहाँ जीवन का प्रादुर्भाव हुआ होगा। कारबन डाईआक्साइड मंगल ग्रह के वायुमण्डल का एक प्रभु तत्व है। यद्यपि कुछ परिमाण में इसमें आक्सीजन भी विद्यमान है।

मंगल का आकाश नीले रंग का नजर आता है क्योंकि वायुमण्डल में व्याप्त धूल के कण सूर्य के प्रकाश को छितरा देते हैं। यह प्रक्रिया लगभग वही है जिसके कारण अपेक्षाकृत घना वायुमण्डल होने पर भी हमारी पृथ्वी पर आकाश नीला नजर आता है।

धरातल पर जारण की प्रक्रिया सक्रिय रहने के कारण मिट्टी का रंग लाल नजर आता है—इसकी तुलना पृथ्वी पर जंग लगने की प्रक्रिया से की जा सकती है। डा० मच के अनुसार इसका कारण ऋतु क्षरण हो सकता है। वायुमण्डल में धरातल पर मौजूद जल और आक्सीजन की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ऋतु-क्षरण की यह प्रक्रिया घटित होती है।

वायुमण्डल के सम्बन्ध में प्राप्त आंकड़ों से यह भी पता चलता है कि अतीत में किसी समय मंगल का वायुमण्डल पृथ्वी के वायुमण्डल के समान रहा होगा (उस समय मंगल के वायुमण्डल में नाइट्रोजन उतनी ही मात्रा में रही होगी जितनी मात्रा में वह आज पृथ्वी के वायुमण्डल में है)। सम्भवतः उस समय मंगल का वायुमण्डल

भी अधिक घना रहा होगा तथा ग्रह के धरातल पर जल भी विद्यमान रहा होगा। तात्पर्य यह कि उस समय मंगल ग्रह पर वह सभी तत्व—सौर ऊर्जा, जल, नाइट्रोजन, कारबन और फासफोरस—विद्यमान रहे होंगे जो जीवन के आविर्भाव एवं विकास के लिए आवश्यक है।

डा० मेकलोरी द्वारा प्रतिपादित एक सिद्धान्त के अनुसार—इसकी पुष्टि मंगल ग्रह से प्राप्त आंकड़ों द्वारा भी हो रही है—अतीत में किसी समय मंगल ग्रह के वायुमण्डल में विद्यमान नाइट्रोजन वायुमण्डल से बाहर निकल गया होगा। लेकिन, नाइट्रोजन और आक्सीजन से अधिक भारी होने के कारण अरेगोन गैस वायुमण्डल से बाहर नहीं निकल पाई होगी। मंगल ग्रह के वायुमण्डल में अरेगोन गैस आज जितनी मात्रा में विद्यमान है, उसको आधार बना कर उस तत्व को माप सकने में समर्थ हो सकते हैं जो वायुमण्डल से बाहर निकल गया है।

सोवियत वैज्ञानिकों के अनुसार मंगल ग्रह के वायुमण्डल में अरेगोन गैस का अनुपात लगभग 30 प्रतिशत था लेकिन वाईकिंग—1 द्वारा प्रेषित आंकड़ों के अनुसार यह अनुपात केवल 2 प्रतिशत है। फिर भी, पृथ्वी के वायुमण्डल में विद्यमान अरेगोन गैस की मात्रा की तुलना में यह अनुपात दूना है और इसे काफी अधिक कहा जा सकता है। इससे यह प्रकट होता है कि पृथ्वी की तरह मंगल ग्रह के जीवन के प्रथम 1 अरब वर्षों की अवधि में ज्वालामुखी बहुत सक्रिय थे तथा इस अवधि में ग्रह के गर्भ से बहुत अधिक मात्रा में गैस निकल कर वायुमण्डल में व्याप्त हो गयी थी।

मंगल ग्रह के वायुमण्डल से आक्सीजन और हाइड्रोजन की जितनी मात्रा बाहर निकल चुकी है, वह सम्पूर्ण ग्रह पर बर्फ की तीन मीटर मोटी परत डालने के लिए पर्याप्त थी। मंगल ग्रह के धरातल का लाल रंग इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि जारण की प्रक्रिया जल और आक्सीजन के संयोग से हुई है।

वैज्ञानिक इस बारे में एकमत हैं कि यद्यपि मंगल ग्रह का अधिकांश जल नष्ट हो चुका है फिर भी पर्याप्त जल जमी हुई शक्ल में अब भी बचा हुआ है।

पृथ्वी की अपेक्षा मंगल बहुत ठण्डा है, उसके धरातल का औसत तापमान अब जल के जमाव बिंदु से भी कहीं नीचे है, हालांकि, वाइकिंग—1 का अवतरण स्थल दिन में इतना गर्म हो जाता है कि वहां जमी वर्फ पिघल जाती है।

भूगर्भशास्त्रियों की राय है कि ग्रह के धूल भरे धरातल के नीचे जमे हुए जल की तहें (धूल और जल का मिला हुआ रूप) विद्यमान हैं। इस स्रोत से मंगल के वायुमण्डल को निरन्तर जल सुलभ होता रहेगा।

यद्यपि मंगल ग्रह के वायुमण्डल में पृथ्वी की तुलना में नाइट्रोजन की मात्रा काफी कम है फिर भी वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इतनी मात्रा में भी वहाँ सूक्ष्म जीव पनप सकते हैं। डा० मेकलोरी का कहना है कि पृथ्वी के वायुमण्डल में नाइट्रोजन जितनी मात्रा में विद्यमान है उसका अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता है।

वायुमण्डल में नाइट्रोजन जिस रूप मे विद्यमान रहता है, वह पौधों और जीवों के लिए लगभग बेकार रहता है। पौधों और जीवों के सूक्ष्म कोषों द्वारा यह नाइट्रोजन तभी जज्ब होता है जबकि लिग्यूम या बैक्टीरिया द्वारा नाइट्रोजन के दो अणु अलग-अलग कर दिये जाते हैं। डा० मेकलोरी का अनुमान है कि नाइट्रोजन का उपयोग करने में मंगल ग्रह पर विद्यमान सूक्ष्म जीवों को—यदि उनका अस्तित्व है—कुछ अधिक चतुराई और होशियारी से काम लेना पड़ता होगा। यह भी हो सकता है कि मंगल ग्रह का वायुमण्डल स्वयं ही उनकी समस्या का समाधान कर देता हो।

मंगल ग्रह के वायुमण्डल के ऊपरी भाग पर सूर्य का जो प्रकाश पड़ता है उससे नाइट्रोजन के अणु खण्डित होकर नाइट्रोजन आक्साइड का सृजन कर देते होंगे। यही नाइट्रोजन आक्साइड वर्षा के रूप में धरातल पर गिरता होगा तथा मंगल ग्रह की धरती को लाखों टन प्राकृतिक उवर्रक सुलभ करता होगा। पृथ्वी की जीवन-प्रणाली के लिए प्रति वर्ष 10 करोड़ टन नाइट्रोजन की जरूरत पड़ती है। इसमें वह मात्रा शामिल नहीं है जो कृत्रिम उर्वरकों के रूप में पनपती है।

मंगल ग्रह पर जीवन के अस्तित्व की सम्भावना को सीमित करने वाला प्रमुख तत्व धरातल पर द्रवीभूत जल का आभाव है जिसने जारण क्रिया के द्वारा वहां की मिट्टी को लाल रंग में बदल दिया है तथा धरातल पर उन असंख्य जल मार्गों का निर्माण किया है जो वाइकिंग-1 द्वारा भेजे चित्रों में साफ़ नज़र आता है।

[पृष्ठ 29 का शेषांश]

मंगल संबंधी खोजों का विज्ञान एवं दर्शन त्र की विविध शाखाओं के चिन्तनात्मक एवं प्रयोगात्मक पक्षों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा एवं एक नूतन इतिहास बनेगा. इसीलिये अभी से ही भविष्य के संबंध में वैज्ञानिकों ने मानव को मंगल पृष्ठ पर उतारने की स्पष्ट योजनाएँ बना रखी हैं। अमेरिका से अप्रैल 1985 में एक, मानवयुक्त अंतरिक्ष यान प्रस्थान करेगा एवं वर्द्धित वेग से सन् 1986 में मंगल पर उतरेगा एवं इस यान के लगभग $1\frac{1}{2}$ माह मंगल पर व्यतीत कर 1986 के अन्त तक पृथ्वी पर लौट आयेंगे।

आइये, मंगल पर मानव की विनम्र विजय हेतु हम मंगल कामनाएँ करें एवं आशा करें कि इस सच्चिदानन्दमय ब्रह्माण्ड में जहाँ-जहाँ भी जीवन है, चेतना है, मानवता है, वहाँ-वहाँ पृथ्वी के मानव प्रेम, शान्ति एवं दया का मंगलमय संदेश ले जायें।

विक्रम विश्वविद्यालय परिक्षेत्र, उज्जैन

वाइकिंग-1 से मंगल ग्रह पर जीव की उपस्थिति के बारे में संदिग्ध सूचना मिली। इसकी पुष्टि के लिये अब सं० रा० अ० ने मंगल पर वाइकिंग-2 उतारा है। यह यान मंगल ग्रह के उत्तरी ध्रुव के निकट उतरा है जिसका नाम वैज्ञानिकों ने 'यूटोपिया' रखा है।

पेट्रोल की आत्म-कथा

राणू लाल सुथार

बच्चों, जिस रूप में तुम मुझे आज देख रहे हो इस रूप में मुझे मनुष्य ने करोड़ों वर्षों के प्रयत्न के बाद प्राप्त किया।

सर्व प्रथम यह प्रश्न उठता है कि मैं कैसे बना! इसकी भी एक लम्बी कहानी है। जैसा कि तुम जानते ही हो कि कई वर्षों पहले पृथ्वी पर ज्वालामुखी और भूकम्पों का प्रकोप ज्यादा था। इस ज्वालामुखी और भूकम्पों के कारण पृथ्वी एक ऐसे कमजोर स्थान से फटी जिससे पृथ्वी के अन्दर जीव-जन्तु, पेड़-पौधे का समावेश हो गया। कई वर्षों के बाद ये ही जीव-जन्तु और पेड़-पौधे सड़-कर गलकर द्रव के रूप में रूपान्तरित हो गये हैं। और मैं एक जगह इकट्ठा हो गया। पृथ्वी के अन्दर ताप और दाब के कारण मैं एक ऐसे कमजोर स्थान में से भूपटल पर गाढ़े भूरे द्रव के रूप में आ गया।

कुछ वर्षों की बात है कि एक व्यक्ति मेरे पास से अंगारे ले जा रहा था। वे अंगारे हवा के कारण मुझ पर गिर गये और मैं अग्नि के समान भभक उठा। उस समय के वैज्ञानिकों ने सोचा कि यह ईंधन के रूप में काम आता है तो मुझे मशीनों द्वारा बाहर निकाला गया। इस अवस्था में मैं काला भूरा गाढ़ा द्रव के रूप में रहता हूँ।

फिर मेरा विभिन्न चीज़ों में उपयोग करने के लिए मुझे एक सिलेन्डर में गर्म किया जब ताप 70° सें० कर दिया तो मैं ईथर के रूप में परणित हो गया तथा इसका उपयोग विलायक के रूप में मानव ने किया। 70° सें० 90° सें तक गर्म करने से मैं पेट्रोल के रूप में आ गया। जिसका उपयोग मानव मोटर और हवाई जहाज इत्यादि के अन्दर पेट्रोल का उपयोग किया गया। 90° से 150° सें० तक गर्म करने से मैं बैन्ज़ीन में बदल गया जो आजकल कपड़े धोने के काम आता है। 150° से 300° सें० तक गर्म करने से मैं केरोसिन के अन्दर बदल गया जो दैनिक जीवन में हर समय काम आता है। 300° से 350°सें० तक गर्म करने से मैं डीज़ल के अन्दर परणित हो गया जिसका उपयोग ट्रकों वाहनों के अन्दर किया जाता है। फिर मुझे गर्म किया गया तो मैं कोक और कोक से मोम और मोम से वैसलीन तथा वैसलीन से कोलतार प्राप्त किया गया।

इस प्रकार मानव ने मुझे अधिक ताप देकर विभिन्न भागों में विभाजित कर दिया और आज मैं मानव का उपयोगी द्रव पदार्थ बन गया हूँ।

अतः मेरी एक लम्बी कहानी है और आपको आश्चर्य होगा कि मेरे बिना मानव का मशीनी काम अधूरा ही रह जायगा।

—विज्ञान शिक्षक शिविर, जोधपुर से

विज्ञान-वार्ता

दंतक्षय रोकने के लिये वार्निश

यदि आप अपने दांतों को क्षय रोग से बचाना चाहते हैं तो वार्निश का प्रयोग करें। यह वार्निश मास्को अनुसंधान संस्थान ने तैयार की है। उक्त बायो-वार्निश का लेप दांतों पर करने के बाद उसे कुछ घंटों के बाद ही हटा दिया जाता है, परन्तु एक बार कुछ देर के लिए किए गए इस लेप के प्रभाव से ही दांत छः माह तक सुरक्षित रहते हैं, इस प्रकार प्रति छः माह के पश्चात उक्त बायो-वार्निश करते रहने से दंतक्षय से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

पानी से चलने वाली कार

उत्तरी फ्रांस के एक गैरेज मालिक ने एक ऐसी कार तैयार की है जो अधिकतर पानी से चला करेगी।

55 वर्षीय जां दैब्री ने 20 वर्षों तक प्रयोग करके अपनी कार को आधे पानी और आधे एल्कोहल से चलाने में सफलता प्राप्त कर ली है। कार को पानी व एल्कोहल के मिश्रण से चलाने के लिए कार के इंजन पर एक ब्लैक बाक्स यंत्र लगाना पड़ता है। जां दैब्री की यह कार उक्त मिश्रण की मदद से 103 किमी० प्रति घण्टे के दर से चली और 140 किमी० चलने में केवल 17 लीटर मिश्रण खर्च हुआ।

कैंसर के रोकथाम में दही

दही, दूध की अपेक्षा अधिक पौष्टिक है। यह घोषणा करनाल के राष्ट्रीय डेरी शोध संस्थान के वैज्ञानिकों ने पर्याप्त अध्ययन के बाद किया है। दही का 91% अंश व्यक्ति का शरीर एक घण्टे में ही आत्मसात कर लेता है जब कि इतने समय में दूध का केवल 32% ही आत्मसात हो पाता है। वैज्ञानिकों ने यह भी दावा किया है कि दही के प्रयोग से कई प्रकार के कैंसर रोगों की रोकथाम संभव है।

चमत्कारिक पोशाक

किसी दुर्घटना में घायल व्यक्ति के शरीर से रक्त का बहाव रोकने के लिये सोवियत संघ के चिकित्सा प्राद्यागिकी संबंधी अखिल संघीय शोध संस्थान ने एक उपकरण बनाया है जो रक्त बह जाने पर मृत्यु के विरुद्ध संरक्षण देता है। इसे पहनने में कुछ सेकण्ड ही लगता है। यह पोशाक हृदय गति के समान गति से ही संपीडित वायु की एक लहर रोगी के शरीर में प्रवाहित करती है जो रक्त को रक्त नलिकाओं में पीछे की ओर ठेलने लगती है। कठिन परिश्रम के बाद 10 मिनट तक इसे पहन कर मनुष्य तरोताजा भी अनुभव करने लगता है।

● ●

पुस्तक समीक्षा

भारत की सम्पदा : पूरक खण्ड मत्स्य और मात्सियकी : प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, नई दिल्ली 1975 पृष्ठ 165

'मत्स्य और मात्सियकी' पूरक खण्ड का प्रकाशन भारत की सम्पदा की गौरवशाली परम्परा की अगली कड़ी है। इस खण्ड की विशेषता है एक ही व्यक्ति के द्वारा अनूदित किया जाना और विषय की दृष्टि से इसकी समग्रता।

निस्सन्देह भारत के लिये मत्स्य उद्योग सम्भावनाओं से ओतप्रोत है। भारत के विशाल समुद्री तट, उसकी नदियाँ, झीलों तथा जलाशयों को देखते हुये उनमें अनुकूल मत्स्य प्रजातियों का संवर्धन एक रोचक विषय है जिसके सम्बन्ध में समग्र सामग्री को आधुनिकतम आँकड़ों से युक्त करके इस पूरक खण्ड के रूप में प्रकाशित किया गया है। मत्स्यों की जातियों-प्रजातियों के मानक नामों के साथ-साथ विभिन्न प्रान्तों एवं भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली का समावेश पुस्तिका की उपयोगिता को बढ़ाने वाला है।

सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में, हिन्दी के माध्यम से, प्रत्येक अनुसंधित्सु तथा पुस्तकालय के लिये यह अनिवार्य है। रंगीन चित्रों, आरेखों आदि की बहुलता के साथ ही पुस्तिका की छपाई निर्दोष है। प्रसन्नता होती है यह पाकर कि पुस्तक भर में छोटी मोटी नाम के लिये अशुद्धियाँ हैं। सम्पादक तथा सहायक सम्पादक बधाई के पात्र हैं।

अन्त में इस पुस्तक की भाषा एवं पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहूँगा। मात्स्यिकी शब्द आवरण पृष्ठ पर जिस वर्तनी के साथ प्रयुक्त है वह पृष्ठ 1, 5, 16 आदि में मातस्यिकी' के रूप में और अन्यत्र 'मात्स्यिकी' रूप में पाया जाता है। आश्चर्य होता है कि इस त्रुटि की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया गया।

'मछली' तथा 'मत्स्य' ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त मिलते हैं पहली स्त्रीलिंग रूप में और दूसरा पुल्लिंग रूप में। इसी प्रकार मछली घर और मत्स्य गृह (पृ॰ 56 तथा 17)।

प्रथम पृष्ठ में 'मिलिअन' शब्द के प्रति न जाने क्यों इतना व्यामोह है कि इसे इसी रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

पृष्ठ 15 पर एक शब्द Chela है जिसका उच्चारण चीला किया गया है किन्तु सामान्य रूप से यह 'चेला' नाम से पुकारा जाता है।

अनुवाद चाहे कितनी ही सतर्कता से क्यों न किया जाय अंग्रेजी की छाप अमिट रह जाती है। ऐसे कुछ उदाहरणों को मात्र इंगित किया जा रहा है। सम्पादकों को चाहिए था कि इन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कर दिये होते।

शिकार का पर्याप्त भाग इससे बनता है (पृ 129)
—के लिये पर्याप्त माँग में है (पृ 130)
मानसून की समाप्ति की ओर सामान्य रूप से पाई जाती है
—दिखाई देना एक वार्षिक घटना है।
जातियाँ महत्वपूर्ण मात्स्यिकी का निर्माण करती हैं
मात्स्यिकी में यह तृतीय स्थान रखती है (पृ 5)
यह मछली --तालाबों में उन्नतिशील है (पृ 13)
यह मछली स्थानीय रूप से खाई जाती है (पृ 16)
--नीलगिरि में प्रवेश कराई गई है (पृ 21)
किशोरों की अपेक्षा खाद्य रूप में अधिक अच्छी होती हैं (पृ 52)
ग्रहण की जाने वाली मछलियाँ (पृ 63)
मत्स्य ग्रहण चल रहा है (पृ 173)
आशा है अगले संस्करण में भाषा शुद्धि की ओर और भी अधिक ध्यान दिया जावेगा।

—शि॰ गो॰ मिश्र

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 113 संख्या 10
क्वार 2033 विक्र०
अक्टूबर 1976

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

खनिजों की पहचान

प्रभाकर भट्ट एवं ओम प्रकाश

वे पदार्थ जिनकी परमाण्वीय और रासायनिक रचना निश्चित होती है, तथा जो प्रकृति में अकार्बनिक क्रियाओं के फलस्वरूप बनते हैं, खनिज कहलाते हैं।

इस आधार पर प्रकृति में पायी जाने वाली सभी गैसों जैसे, कार्बन-डाइ-आक्साइड, आक्सीजन, हाइड्रोजन एवं भाप इत्यादि खनिज कही जा सकती हैं। परन्तु कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जो उद्योग, जन-साधारण आदि की दृष्टि में खनिज माने जाते हैं जैसे, कोयला, चूना, पत्थर, पेट्रोलियम, मिट्टी का तेल आदि खनिजों की सूची में नहीं आते। लेकिन आजकल इन पदार्थों को भी अपवाद स्वरूप खनिज माना जाता है। इसका कारण यह है कि ये प्रायः जैव वैज्ञानिक क्रियाओं से बने पदार्थों के मिश्रण हैं।

खनिजों की पहचान

खनिजों की पहचान उनके रासायनिक एवं परमाण्वीय संगठन के आधार पर ही की जा सकती है, परन्तु इसके लिये सुसज्जित प्रयोगशाला भी चाहिये। भू-वैज्ञानिकों के पास सभी स्थान पर ऐसे उपकरण नहीं होते कि तुरन्त ही खनिज का रासायनिक एवं परमाण्वीय संगठन ज्ञात कर लें। अतः उनकी पहचान उनके भौतिक गुणों के आधार पर कर लेते हैं, और बाद में अपने निष्कर्षों की पुष्टि प्रयोगशाला में करते हैं।

खनिज निम्न भौतिक गुणों, के आधार पर पहचाने जाते हैं—

(क) प्रकाश आधारित गुण यथा रंग, द्युति, स्फुरदीप्ति, प्रकाश भ्रामकता आदि।

(ख) स्वाद, गंध और स्पर्श आधारित गुण।

(ग) समुच्चयन आधारित गुण जैसे, आकार, बहुरूपता, कठोरता, विदलन आदि।

(घ) आपेक्षिक घनत्व, विलेयता आदि।

(ङ) चुम्बकत्व, प्रस्फुटन एवं अन्य गुण।

प्रकाश आधारित गुण

रंग—खनिजों की पहचान में रंग एक महत्वपूर्ण गुण है, परन्तु कुछ पदार्थ जैसे कोरंडम, क्वार्टज़ आदि एक से अधिक रंगों में पाये जाते हैं। कोरंडम कत्थई से लेकर गहरा लाल एवं गहरा नीला हो सकता है। इसी प्रकार क्वार्टज जो साधारणतयः रंगहीन या सफेद होता है कभी-कभी गुलाबी-पीले हरे, कत्थई अथवा काले रंग में भी मिलता है। खनिज के रंग पर उसमें उपस्थित अपद्रव्यों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

शुद्ध खनिज का रंग उसके अवयवी आयनों की प्रकृति एवं व्यवस्था पर निर्भर करता है। खनिज जिनमें मुख्यतः सोडियम, पोटैशियम, स्ट्राँशियम, बेरियम, एलुमीनियम आदि के आयन होते हैं, रंगहीन अथवा हल्के रंग के होते हैं जब कि लौह, क्रोमियम, टाइटेनियम, वेनेडियम, ताँबा, कोबाल्ट, निकिल, मैंगनीज आयन युक्त खनिज गहरे रंग के होते हैं।

कार्बन और हीरे के रंग में अन्तर भिन्न परमाणु व्यवस्था के कारण होता है। खनिज का

रंग तत्व की खनिज में संयोजकता पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ—फेरस (Fe^{++}) युक्त खनिज प्रायः हरे एवं फेरिक (Fe^{+++}) कत्थई-पीले होते हैं। फेरस एवं फेरिक आयनों की साथ-साथ उपस्थिति खनिज को नीला अथवा गहरा रंग प्रदान करती है।

कुछ खनिजों जैसे, कापर पायराइट आदि की ऊपरी सतह वायुमण्डल के प्रभाव से धुँधली पड़ जाती है।

चूर्ण का रंग—खनिज-चूर्ण का रंग खनिज के रंग से भिन्न हो सकता है। लौह खनिज हीमेटाइट का रंग काला होता है, जब कि चूर्ण का रंग लाल होता है। खनिज के चूर्ण का रंग जानने हेतु उसे चाकू से खुरचा अथवा चीनी मिट्टी के टुकड़े पर रगड़ा जाता है।

द्विवर्णता (दुधियापन)—हीरा, ओपल, मून स्टोन आदि जो कि रत्न हैं, के विभिन्न समय पर विभिन्न रंग दिखाई पड़ते हैं। ऐसा प्रकाश की खनिज की सतहों से गुजरते समय अपने अवयवी रंगों में विभक्त हो जाने के कारण होता है।

द्युति—खनिज की सतहों में प्रकाश परावर्तन के कारण द्युति उत्पन्न होती है। खनिजों की द्युति धात्विक एवं अधात्विक होती है। अधात्विक द्युति काँचीय, रेज़िनी, मोतिया रेशमी, हीरक आदि प्रकार की हो सकती है।

सोना, गैलेना आदि की द्युति धात्विक होती
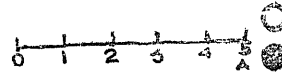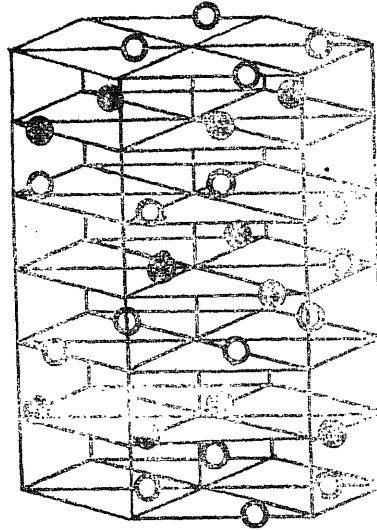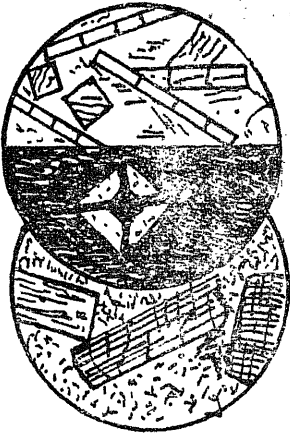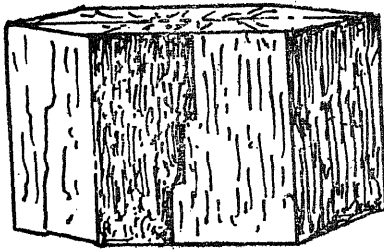
है। क्वार्टज, रॉक साल्ट, पहाड़ी नमक की द्युति कांचीय होती है।

रेज़िन सदृश द्युति ओपल, एम्बर अथवा जिंक ब्लेण्ड की कुछ किस्मों की होती है। मोतिया द्युति मोती, गोरा पत्थर, ब्रूसाइट, सेलेनाइट की होती है।

रेशमी द्युति रेशेदार खनिज जैसे जिप्सम, सेटिनस्पार आदि प्रदर्शित करते हैं। हीरक द्युति हीरे में होती है।

यह जरूरी नहीं है कि सभी खनिज द्युतिमय ही हों। अनेक खनिज भद्दे एवं चमकीले होते हैं।

स्फुरदीप्ति—कुछ पदार्थ गर्म करने, रगड़े जाने, पराबैंगनी किरणों या विकिरणों से उद्भासित किये जाने पर प्रकाश उत्सर्जित करते हैं। यह गुण स्फुरदीप्ति कहलाता है। फ्लोरस्पार चूर्ण लोहे की चादर पर गर्म किये जाने पर स्फुरदीप्ति बन जाते हैं। क्वार्टज़ के टुकड़ों को आपस में रगड़ने पर, हीरा, लाल आदि एक्स-किरणों से उद्भासित करने पर स्फुरदीप्त प्रकाश उत्सर्जित करते हैं।

स्वाद और गंध—स्वाद एवं गंध से कम ही खनिजों की पहचान की जा सकती है। पहाड़ी नमक का स्वाद नमकीन, हरा कसीस का कसैला होता है।

पाइराइटों या सल्फाइडों के जलने से गंधक जैसी गंध आती है। कुछ किस्म के क्वार्टज़ या चूना पत्थर को गर्म करने से सड़े अण्डों की गंध आती है।

समुच्चयन पर आधारित गुण

खनिज ठोस, द्रव और गैस तीन अवस्थाओं में पाये जाते हैं। नाइट्रोजन, आक्सीजन आदि गैसीय खनिज पानी, पारा, पेट्रोलियम द्रव खनिज एवं अन्य ठोस खनिज होते हैं।

अधिकांश खनिज क्रिस्टलीय होते हैं। क्रिस्टल पूर्णतयः विकसित नहीं होते एक खनिज के क्रिस्टल विभिन्न रूपों के मिश्रण होते हैं। खनिजों की पहचान में उनका क्रिस्टलीय रूप बहुत सहायक होता है। नीचे कुछ क्रिस्टलीय आकार दिये जा रहे हैं।

सूच्याकार—सुई सदृश बारीक क्रिस्टल, जैसे—नेट्रोलाइट, सूच्याकार गंधक आदि।

बादमाकार—बादाम की तरह जैसे; ज़िओलाइट खनिज जो लावा की बादामाकार गुहिकाओं में क्रिस्टलित होता है।

क्षुराकार—संग्रहालयों में सुरक्षित करने योग्य कायोनाइट के नमूने।

गच्छाकार—अंगूर के गुच्छों सदृश जैसे—चेलकेडोनी।

कोशिकाकार—कोशिकाओं की तरह जैसे—निकिल पायराइट।

स्तम्भाकार—स्तम्भ के समान उदाहरणार्थ-हार्न ब्लैण्ड।

ग्रन्थिकाकार—इसके अन्तर्गत गोलाकार, अण्डाकार आदि आकार भी शामिल हैं।

द्रुमाकार—दरारों में दब जाने से खनिज द्रुमाकार हो जाते हैं जैसे—द्रुमाकार मैंगनीज डाइ आक्साइड।

रेशेदार—सेटिनस्पार और ऐस्बेस्टस खनिज हैं।

शल्कि—ऐसी पतली पर्तों युक्त जिन्हें अलग किया जा सके जैसे—अभ्रक।

दानेदार—मोटे अथवा महीन दानों से युक्त।

पटलित—वुलस्टोनाइट की भाँति अलग हो जाने वाले पटलों से युक्त।

मसूराकार—मसूर की आकृति सदृश।

स्तनाकार—एक दूसरे को काटने वाले गोलों की तरह। उदाहरण—मेलाकाइट।

वृक्काकार—वृक्क की आकृति जैसे—हीमेटाइट।

तारक—तारा सदृश। उदाहरण वेवलाइट।

विशेष परिस्थितियों में कुछ खनिज उन रूपों में क्रिस्टलित हो जाते हैं जो उनके वास्तविक रूप नहीं होते। इन्हें कूट रूपी कहते हैं।

कभी-कभी एक ही संरचना वाले खनिजों के भीतर भौतिक गुण पूर्णतय: भिन्न होते हैं। इस गुण को बहुरूपता या अपररुपता कहते हैं। एरागोनाइट का घनत्व और कठोरता केल्साइट से काफी अधिक होती है यद्यपि रासायनिक दृष्टि से दोनों कैल्सियम हैं।

हीरा और ग्रेफाइट बहुरुपता के अन्य उदाहरण हैं। सबसे विचित्र उदाहरण हैं: एनाटिज़, ब्रूकाइट और स्टाइल। ये तीनों टाइटेनियम-डाइ-आक्साइड हैं। इनमें एनाटिज़ का अपेक्षित घनत्व 3·9; ब्रुकाइट का 4·15 और स्टाइल का 4·25 है।

कठोरता—खनिज परीक्षण में कठोरता एक महत्वपूर्ण गुण है। खनिजों की कठोरता रेती से घिस कर अथवा एक खनिज से दूसरे को खरोंच कर ज्ञात की जाती है। घिसने पर बने चूर्ण और उत्पन्न आवाज से कठोरता का आभास लगाया जा सकता है।

कठोरता का प्रचलित पैमाना म्हो पैमाना है। इसमें कुछ खनिजों की कठोरता को मानक मान कर दूसरों की इनसे तुलना की जाती है।

सबसे कम कठोरता गोरा पत्थर की और सबसे अधिक हीरे की है। मानक खनिजों की कठोरता क्रमानुसार बढ़ती है। दो खनिजों के बीच कठोरता अन्तराल लगभग बराबर होता है, परन्तु हीरा कोरण्डम से 30 गुना कठोर है।

म्हो के कठोरता पैमाने में एपेटाइट के बदले खिड़की वाला काँच तथा क्वार्टज़ के स्थान पर फिलन्ट प्रयोग किया जा सकता है।

कठोरता ज्ञात करने के लिये खनिज से मानक खनिजों को खुरचा जाता है। खनिज जिस मानक खनिज पर खरोंच लगा देता है, उससे खनिज की कठोरता अधिक, एवं जिस मानक खनिज पर खरोंच नहीं लगा पाता, उससे कम होती है। उदाहरणार्थ, कोई खनिज आर्थोक्लेज फेल्सपार (कठोरता 6) को तो खरोंच सकता है, परन्तु क्वार्टज़ (कठोरता 7) को नहीं, तो खनिज की कठोरता 6 एवं 7 के बीच होगी।

नाखून या चाकू से खरोंच कर भी खनिज की कठोरता, का अनुमान लगाया जा सकता है। नाखून से म्हो पैमाने के अनुसार 2 से 3 तक कठोरता वाले खनिजों पर खरोंच लगता है। विभिन्न आदमियों के नाखून की कठोरता भिन्न होने से यह कोई मानक परख नहीं है।

नरम खनिज पर कठोर खनिज की स्पष्ट खरोंच लगनी चाहिये। खरोंच जानने के लिये खनिज पर फूँककर (सम्भव हो तो चखकर) चूर्ण हटाकर, खरोंच लेंस से देखना चाहिये। अनेक बार ऐसा करने पर खनिज पर कठोर खनिज से लकीर बन जाती है, परन्तु फूँक कर खरोंच लेन्स से देखने पर उसमें कठोर खनिज की अपेक्षा नरम खनिज पर बनी खरोंच में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

कठोरता सतह पर उस जगह ज्ञात की जाती है जहाँ मिट्टी अथवा खनिज के कठोरता परमाण्वीय प्रतिरूप पर निर्भर करती है यह कणों की सघनता और रचक आयनों की संयोजकता के साथ बढ़ती है, पर आयन के आकार के साथ घटती है।

कभी-कभी एक ही खनिज में विभिन्न सतहों पर कठोरता भिन्न-भिन्न होती है परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। कायोनाइट के विभिन्न सतहों पर कठोरता 5 से 7 तक हो सकती है।

विभंग और विदलन

दबाव डालने अथवा हथौड़ा मारने पर खनिज बेडौल आकार में टूट जाता है। इसके विपरीत रवेदार खनिजों में चाकू की धार जैसे तेज औजार खनिज को पर्तों में विभक्त किया जा

सकता है। इस प्रकार प्राप्त परत की सतह चिकनी और सपाट होती है। विदलन के साथ-साथ खनिजों के सपाट सतहों में फटने का गुण विभिन्न सतहों की परमाण्वीय संरचना पर निर्भर करता है।

विदलन के साथ-साथ फटने का गुण दिखाने वाले खनिज अभ्रक, गैलीना आदि हैं। कभीं-कभी स्लेट जैसी शैल भी दरारों के साथ-साथ चिकने धरातलों में फट जाती है परन्तु शैलों की ये दरारें पुनः क्रिस्टलन से बन जाती हैं।

आपेक्षिक घनत्व—आपेक्षिक घनत्व एक महत्वपूर्ण गुण है; आपेक्षिक घनत्व भी रचक तत्वों के परमाणु भार एवं परमाणु सघनता पर निर्भर करता है। यह निम्न सारिणी से स्पष्ट है।

खनिज	सूत्र	धनायन का परमाणु भार	आपेक्षिक घनत्व
सेलसटाइन	$SrSO_4$	87.63	2.9
बेराइट्स	$BaSO_4$	137.36	4.5
एंग्लेसाइट	$PbSO_4$	207.21	6.3

ग्रेफाइट की संरचना

परमाणुओं की सघनता का आपेक्षिक घनत्व पर प्रभाव हीरा और ग्रेफाइट से स्पष्ट हो जाता है। सघन परमाणु वाले हीरे का आपेक्षिक घनत्व 2·54 जबकि अपेक्षाकृत विरल परमाणु वाले खनिज ग्रेफाइट का 2·37 होता है।

अधात्विक खनिजों का आपेक्षिक घनत्व प्रायः 2·6—2·8 और धात्विक खनिजों का लगभग 5·0 होता है।

विलेयता

खनिज को पानी में घोलकर उसकी विलेयता ज्ञात की जाती है, जो खनिज पानी में घुल जाते हैं उन्हें विलेय और जो नहीं घुलते हैं उन्हें अविलेय कहते हैं।

चुम्बकीय एवं अन्य गुण

प्रायः लौह खनिज चुम्बकीय होते हैं, पर सभी नहीं। चुम्बकत्व खनिज में विद्यमान लोहे की मात्रा पर निर्भर करता है। चुम्बकत्व का उपयोग करके लौह खनिज को अन्य खनिजों से अलग किया जा सकता है।

प्रबल चुम्बकत्व वाले खनिज मोनेटाइट;

[शेष पृष्ठ 21 पर

सब्ज़ियों के हानिकारक फतिंगें और तितलियाँ

जयप्रकाश नारायण शुक्ल

आपने अनेक प्रकार के हानिकारक एवं लाभ-प्रद कीड़ों के नाम सुना होगा, अस्तु स्वभावत: इन कीड़ों के बारे में जानने के लिये आपके मन में अवश्य जिज्ञासा उत्पन्न होती होगी कि ये कीड़े हमारे लिये किस प्रकार उपयोगी अथवा हानि-कारक सिद्ध होते हैं ? जन्तु जगत में पाये जाने वाले कीड़ों के बारे में पूर्ण विवरण प्राप्त करना आसान नहीं है, फिर भी हमारे प्राणि वैज्ञानिकगण निरंतर खोज जारी किये हुये हैं और इन कीड़ों के गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाने का प्रयास कर रहे हैं ।

रेशम, शहद और लाख इत्यादि वस्तुयें हमें कीड़ों से ही प्राप्त होती हैं जिनका हम औषधि तथा उद्योग-धन्धों में प्रयोग करते हैं । इसी प्रकार इन्हीं कीड़ों के द्वारा ही संचित अनाज, हमारी फसलें, फरनीचर और साग-सब्जियाँ भी नष्ट कर दी जाती हैं जिससे अपार क्षति हो जाती है । इतना ही नहीं, ये कीड़े या कैटरपिलर हमारे पौष्टिक आहार को नष्ट कर डालते हैं ।

इन कीट-पतंगों की संख्या अनगिनत है, फिर भी इनको कई श्रेणियों में विभाजित किया गया है । इन्हीं श्रेणियों में शाल्कीय पंख वाले कीड़े का भी दल है जिसके अन्तर्गत फतिंगें और तितलियाँ आती हैं जो हमारी सब्ज़ियों को खेत के अन्दर ही नष्ट कर डालती हैं । अत: कुछ हानिकारक फतिंगों और तितलियों का उल्लेख किया जा रहा है ।

बैंगन के तने और फलों में छेद करनेवाला फतिंगा—

ग्यूने नामक प्राणिवैज्ञानिक ने बैंगन को हानि पहुँचाने वाले फतिंगें का अध्ययन किया और इसमें से एक को ल्यूसोनोडिस आँरबोनेलिस नाम से सम्बोधित किया ।

यह फतिंगा हमारे देश का साधारण फतिंगा है, साथ ही साथ यह बर्मा, श्री-लंका, जावा और दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में भी पाया जाता है । इसका कैटरपिलर ही बैंगन के लिये क्षतिकारी हैं जो विविध ढंग से पौधों पर हमला करता है ।

बैंगन की पत्तियों का रोलर
(इयूब्लेमा- ओलीवेसिया)
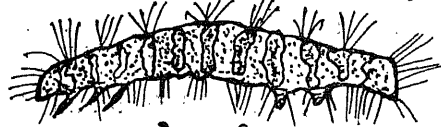
(कैटर पिलर)

(बैंगन की पत्ती खाता हुआ फतिंगा)

यह फतिगा भूरे रंग का होता है जिसके अगले पंखों पर हल्के लाल रंग के धब्बे बने होते हैं और पिछले पंख पर काले रंग की धारियाँ होती हैं।

मादा फतिंगा पौधे के पास ज़मीन पर या पौधों के तने या पत्तियों पर अण्डे देती है जो दो-तीन दिन में कैटरपिलर बन जाते हैं और पौधे के तने पर पहुँचकर वहां छेद करना प्रारम्भ कर देते हैं। कैटरपिलर लगभग दो सप्ताह तने या फल पर ही रहकर भोजन प्राप्त करते हैं और फिर कोकून या कोया बनाते हैं। यह कोकून चाय के रंग का होता है फिर यही कोकून पौधे के पास ही गिरी हुई सूखी पत्तियों के अन्दर चला जाता है और प्यूपा बन जाता है। यह अवस्था पाँच-छः दिन तक रहती है, तब पुनः कोकून फतिंगें में बदल जाता है। इस प्रकार कैटरपिलर पौधे के तने तथा फल में छेद करके पूर्णतया उसे नष्ट कर डालता है, फिर दूसरे पौधे पर हमला करता है।

नियंत्रण—इन फतिंगों या कैटरपिलरों से पौधों को बचाने के लिये खेत में से कैटरपिलर द्वारा प्रभावित तने या फलों को अलग कर देना चाहिये। यदि 0·04 प्रतिशत एल्ड्रिज और 0·02 प्रतिशत डायेजीनोन का घोल 1120 लीटर प्रत्येक हेक्टेयर की दर से प्रत्येक दो सप्ताह बाद छिड़का जाय तो सब्ज़ी की अवश्य सुरक्षा हो जायेगी।

बैंगन की पत्तियों का रोलर—

इस फतिंगें का नामकरण वाकर नामक प्राणि-वैज्ञानिक द्वारा किया गया था। इसे प्राणिविज्ञान की भाषा में इयूब्लेमा ओलिवैसिया कहा जाता है।

इस फतिंगे का कैटरपिलर हमारे देश में समतल मैदानों में पाया जाता है। यह फतिंगा मध्यम आकार का होता है। इसके अगले पंख एवं वक्ष हरे रंग के होते हैं। अगले पंख के किनारे पर अधिक गहरे रंग के निशान बने होते हैं, पिछले पंख और उदर भूरे रंग के होते हैं।

इसके अण्डे गोल होते हैं। अण्डे मादा फतिंगें द्वारा समूह में पौधों के पत्तियों पर छोड़े जाते हैं और कैटरपिलर उसी पौधे की मुड़ी हुई पत्तियों से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। मुड़ी हुई पत्तियाँ भूरे रंग की स्पष्ट दिखाई देती हैं। ये कैटरपिलर छोटे, मोटे तथा गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। इनके ऊपर छोटे-छोटे पीले रंग के धब्बे बने होते हैं तथा पूरे बाहरी सतह पर रोम होते हैं। कैटर-पिलर मुड़ी हुई पत्तियों के अन्दर ही प्यूपा में बदल जाता है। इसका प्यूपा भी बैंगनी रंग लिये हुये भूरे रंग का होता है।

नियंत्रण—खेत में कैटरपिलर से प्रभावित हुये पौधों की पत्तियों को तोड़कर अलग कर लेना चाहिये और एकत्र करके जला देना चाहिये। साथ ही साथ यदि 0·1 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल 560-900 लीटर प्रत्येक हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें तो अवश्य ही पौधे को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

आलू का क्षतिकारक फतिंगा—

प्राणिवैज्ञानिकों द्वारा इसका नामकरण ग्नोरि-मोश्चेमा ओपरकुलेला किया गया है। यह अति हानिकारक तथा साधारण रूप से सर्वत्र पाया जाने वाला फतिंगा है। इसका कैटरपिलर मुख्य रूप से आलू की फसलों को क्षति पहुँचाता है, साथ ही साथ टमाटर, तम्बाकू और बैंगन इत्यादि के पौधों पर भी हमला करता है। यह वृद्धि करते हुये आलू के पौधों को प्रभावित करता है तथा बाद में उस खेत में बोयी जाने वाली फसल को भी हानि पहुँचाता है और फिर किसी तरह अनाज के संग्रहशाला में पहुँच जाता है तो अपार क्षति पहुँचाता है।

जीवन इतिहास—यह फतिंगा बहुत तेजी से अण्डे देता है और एक साल के अन्दर ही 8-9

आलू का क्षतिकारक-फतिंगा
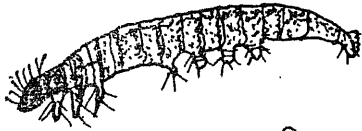
(हानिकारक-कैटरपिलर)

बार जीवन-चक्र पूरा कर लेता है। ग्रीष्म-ऋतु में तीन-चार सप्ताह के अन्दर ही एक जीवन-चक्र पूरा हो जाता है। प्रत्येक मादा फतिंगा अपने चार-पाँच दिन के जीवन में लगभग 150 अण्डे देती है। अल्प वर्षा तथा उच्च ताप इसकी शीघ्र वृद्धि के अनुकूल होता है। खेतों में पौधों की पत्तियों के नीचे एक-एक की संख्या में अण्डे दिये जाते हैं। उन अण्डों से कैटरपिलर बनता है जो पत्तियों में छेद करता हुआ पत्राधार से तने में छेद करने के लिये पहुँच जाता है। पौधों के नीचे ज़मीन पर पड़ी हुई पत्तियों में कैटरपिलर से प्यूपा बनता है। अनुकूल मौसम के बाद से समय में अण्डे ज़मीन के नीचे आलू के ऊपर दिये जाते हैं जहाँ ये वृद्धि के समय मिट्टी से ढँके रहते हैं। ये कैटरपिलर ज़मीन के अन्दर पाये जाने वाले आलू, बन्डा, सूरन इत्यादि सभी को हानि पहुँचाते हैं। इस प्रकार ज़मीन के अन्दर पायी जाने वाली सब्ज़ियों के साथ ये गोदामों में भी पहुँच जाते हैं। जब गोदाम में रक्खी गई आलू या अन्य सब्ज़ी समाप्त होने लगती है तो कैटरपिलर गोदाम में ही कहीं छिप जाते हैं और शीतकाल तक निष्क्रिय बने रहते हैं तथा ग्रीष्मकाल आने तक छिपे रहते हैं।

नियंत्रण—इस कैटरपिलर से बचने के लिये ज़मीन के अन्दर से पैदा होने वाली सब्जियों को एक रात भी खुला नहीं छोड़ना चाहिये। ऐसे बीजों को शुष्क हवा तथा रोशनी वाले गोदामों में रखना चाहिये। गोदाम का ताप लगभग 20° सें० होना चाहिये। जो आलू बीज के काम में लायी जायेगी उसे बचाने के लिये 2 प्रतिशत का डी० डी० टी० डस्ट 0·5 किलोग्राम प्रत्येक बोरी पर छिड़क कर रखना चाहिये। आलू को सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि उसे शीत-ताप नियंत्रित गोदाम में रक्खा जाय। खेतों में कैटरपिलर को मारने के लिये डी० डी० टी० का 0·1 प्रतिशत का घोल 1120 लीटर प्रत्येक हेक्टेयर या 2 प्रतिशत का डी० डी० टी० का डस्ट 17-22 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हर तीन सप्ताह बाद छिड़कने से सब्जी की सुरक्षा होती है।

करमकल्ला या बन्दगोभी को नष्ट करने वाली तितलियाँ—

लिनियस नामक प्राणिवैज्ञानिक ने इसका नाम पिरस ब्रीसिकी दिया है। यह पिरिडी कुल की तितली है जो प्राय: शीतकाल में पूरे देश में दिखाई पड़ती हैं।

यह तितली बड़े आकार की होती है, इसका रंग सुन्दर हल्का पीला या सफ़ेद होता है। इसके अगले पंखों पर एक जोड़े काले धब्बे बने होते हैं। इसके कैटरपिलर का रंग काला या पीला होता है जिसके शरीर के सतह पर रोम पाये जाते हैं। इसके अण्डे पीले बन्दूक की गोली की तरह होते है। इसका पूर्णवृद्धि प्राप्त कैटरपिलर पौधों की

गोभी को नष्टकरनेवाली तितली-
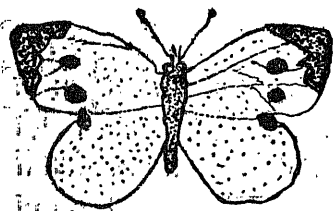
(पिरीस-ब्रेसिकी)

(गोभी का पत्ती खाता हुआ कैटरपिलर)

भारत में यह मटर की फलियों का भयानक शत्रु है लेकिन यह देश के अन्य भागों में भी दाल तथा मटर की फसलों को क्षति पहुँचाता है।

यह फतिगा पूरे वर्ष भर अण्डे देकर बराबर कैटरपिलर बनाया करता है जो हमारी फसलों को हानि पहुँचाया करते हैं।

नियंत्रण—इस कैटरपिलर से फसलों को बचाने के लिये हम इन्हें हाथों से ही चुनकर खेत से अलग कर सकते हैं या 0·15 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल 1120 लीटर प्रति हेक्टेयर खेत में छिड़क कर इनसे बच सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारी मुख्य सब्जियों को विभिन्न फतिगे, तितलियाँ या इनके कैटरपिलर नष्ट करके खाद्य समस्या को जटिल बनाते जा रहे हैं जिससे राष्ट्र की प्रगति सम्भव नहीं हो पा

शाखा पर चढ़ा रहता है। इसका एक जीवन-चक्र लगभग एक महीने में समाप्त हो जाता है।

नियंत्रण—इस तितली के कैटरपिलर का नियंत्रण कीट-भोजी जन्तुओं द्वारा किया जा सकता है। पौधों की पत्तियों को खाते हुये कैटरपिलर को बहुत आसानी से पकड़ कर नष्ट किया जा सकता है। 0·1 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल 1120 लीटर प्रत्येक हेक्टेयर की दर से पौधों पर छिड़कने से कैटरपिलर द्वारा बचा जा सकता है।

मटर की फली में छेद करनेवाला फतिगा—

ज़ेलर नामक प्राणिवैज्ञानिक ने इस फतिगे का विशेष अध्ययन किया और इसका नाम रक्खा। इस फतिगे का कैटरपिलर छोटा हरे रंग का होता है जो मटर की फली में घुस जाता है और फली के कच्चे दाने को ही खा डालता है। उत्तरी

मटर की फली में छेद करनेवाला फतिगा

(एटियेला-जिंकेनेला)
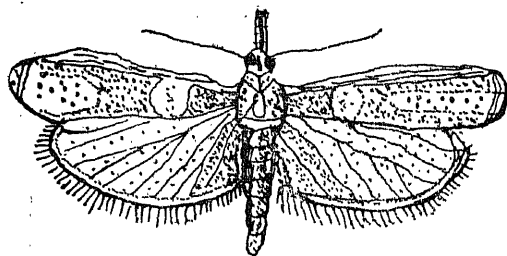
(हानिकारक- कैटरपिलर)

[शेष पृष्ठ 20 पर

एब्सिसिक अम्ल : एक पादप हार्मोन

श्याम सुन्दर पुरोहित

एब्सिसिक अम्ल एक वृद्धि निरोधक पादप हार्मोन है जो कि पौधों के विभिन्न अंगों जैसे,—पत्तियों, दल पुंज बीज तथा फलों में विलगन उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त यह प्रसुप्ति एवं बीज-अंकुरण का भी नियंत्रण करता है। यह पौधों की विभिन्न जैव रासायनिक अभिक्रियाओं पर भी निरोधक की तरह प्रभावी होता है।

पादप समुदाय में इस अम्ल की उपस्थिति का ज्ञान कलरीमीटर, गैस वर्णलेखी अध्ययनों तथा अन्य सूक्ष्म-तकनीक यन्त्रों की सहायता से संभव हो पाया है। मिलबारो (1968) के अनुसार एब्सिसिक अम्ल (ABA) उच्च वर्गीय पादप वर्ग में व्यापक रूप से पाया जाता है। इसकी अधिकाधिक मात्रा पत्रियों के पत्राधार में पायी जाती है। सितम्बर माह में एकत्र की गई पत्रियों में ABA की मात्रा जून माह में एकत्र की गई पत्रियों की तुलना में 20 गुना अधिक होती है। एडीकॉट एवं ल्योन्स (1969) ने प्रसुप्त बीजों में भी इस अम्ल की उपस्थिति को अभिलेखित किया है।

इसकी रासायनिक संरचना में एक असममित कार्बन परमाणु उपस्थित होता है, अतः यह (+) या (−) के प्रतिबिम्ब रूप (प्रकाशिक समावयवी) में मिलता है। प्रकृति में मिलने वाला ABA (+) प्रतिबिम्ब रूप वाला होता है। ABA का (+) प्रतिबिम्ब रूप (−) समावयवी रूप से अधिक सक्रिय होता है। लेकिन कॉनफोंत एवं मिलबारो की आधुनिक विचारधारा के अनुसार ABA के दोनों ही रूप समान रूप से प्रभावी होते हैं। ABA के ज्यामितीय समावयव भी प्राप्त किये जा चुके हैं। ये समावयव, वलय की पार्श्व शृंखला में C_2 पर स्थित द्वि-बन्ध पर उपस्थित कार्बोक्सिल समूह (−COOH) के कारण होते हैं। 2—समपक्ष ABA की निरोधक क्षमता 2—विपक्ष—ABA की तुलना में अधिक होती है। 2—विपक्ष ABA जीव निष्क्रिय तथा 2 समपक्ष ABA जीव सक्रिय होता है। 2—विपक्ष ABA परार्बैगनी विकिरणों की उपस्थिति में सक्रिय 2—समपक्ष ABA में रूपान्तरित हो जाता है।

पौधों में एब्सिसिक अम्ल का जैव संश्लेषण कैरोटीन के प्रकाशीय-उपापचय से होता है। कैरोटीन का निर्माण मिवेलोनिक अम्ल द्वारा होता है। ABA के जैव संश्लेषीण पथ को निम्न रूप से दर्शाया जा सकता है—

इस अम्ल का स्थानान्तरण फ्लोएम, जाइलम द्वारा होता है। फ्लोएम की चालनी-नालिका में स्थानान्तरित होने वाले रस में ABA की उपस्थिति ज्ञात है। जाइलम रस में भी यह पाया जाता है। ABA पौधों में किस गति से स्थानान्तरित होता है यह तथ्य अज्ञात प्रायः है।

जीव सक्रिय प्रभाव—

ABA प्रायः उन सभी क्रियाओं पर निरोधक के रूप में प्रभावी होता है जो आक्सिन, जिब्रेलिन अथवा साइटोकाइनिन जैसे वृद्धि प्रेरक हार्मोन्स द्वारा प्रेरित होती हैं।

1. बीजांकुरण पर प्रभाव—जिब्रेलिक अम्ल बीजांकुरण को प्रेरित करता है अतः यह स्पष्ट है कि ABA इस प्रवर्धन का दमन करता है। वास्तव में बीजांकुरण बीजों में विद्यमान वृद्धि निरोधक एवं प्रेरक हार्मोन्स के सन्तुलन पर निर्भर करता है। बीजांकुरण के दौरान बीज के भ्रूण में जिब्रेलिक अम्ल का निर्माण होता है जो कि एल्यूरोन परत तक पहुँच कर अल्फा अमाइलेज़, प्रोटीएज़ व अन्य जल अपघटनी एन्जाइम्स के संश्लेषण को प्रेरित करता है। ये एन्जाइमों बीजांकुरण प्रेरक होते हैं। ABA इन एन्जाइमों के संश्लेषण पर निरोधक प्रभावी होता है। तालिका—1 में ABA के अल्फा-अमाइलेज़ एवं बीटा अमाइलेज़ संश्लेषण पर हुए निरोधक प्रभावों को दर्शाया गया है।

तालिका—1

उपचार	अमाइलेज़ का निर्माण प्रतिशत में	
	अल्फा-अमाइलेज़	बीटा-अमाइलेज़
अनुपचारित	100	100
0·1/-M ABA	110	—
0·5/-M ABA	44	—
1·0/-M ABA	26	40
5·0/-M ABA	10	15
10·0/-M ABA	10	13

ABA आड़ू (लाइपी और क्रेन, 1966) घासों (समनर और ल्योन्स, 1967) सलाद व लिपिडियम (ऐडीकॉट और ल्योन्स, 1969), मूंगफली (रवि व सहयोगी, 1973) के बीजांकुरण पर निरोधक प्रभाव डालता है। रवि व उनके सहयोगियों (1972) ने मूंगफली के बीजपत्रोधर पर अध्ययन कर बताया कि ABA (0·25/-g/मिली सान्द्रता) बीजपत्रोधर, मूलज तथा पार्श्व जड़ों पर निरोधक प्रभावी होता है।

बीजों और कलिकाओं में प्रसुप्ति प्रेरण—

बीजों एवं कलिकाओं में प्रसुप्ति का नियन्त्रण हार्मोन द्वारा होता है। कई बार ऐसा देखा गया है कि बीज एवं कलिकाओं को पर्यावरण के वे सभी अनुकूलतम परिस्थितियाँ उपलब्ध करा देने के पश्चात् भी अंकुरित नहीं होती है। इसके दो मुख्य कारण हो सकते हैं—

(1) बीज या कलिकाओं में वृद्धि प्रवर्धक पदार्थों का कम मात्रा में होना।

(2) बीज या कलिका में वृद्धि निरोधक पदार्थों का अधिक मात्रा में होना।

वेरिंग (1968) ने विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि बीज और कलिकाओं में वृद्धि निरोधक पदार्थों की अधिकता के कारण ही उनमें प्रसुप्ति उत्पन्न होती है। उन्होंने अधिकांश गूदेदार फलों तथा अन्य फलों के फलाचोल, बीजचोल, भ्रूणपोष तथा भ्रूण में निरोधक रसायनों की उपस्थिति को इंगित किया। ये रसायन इनमें प्रसुप्ति उत्पन्न करते हैं तथा इनके प्रभावों को जिब्रेलिक अम्ल (GA) के उपचार, द्रुतशीतलता, सुदूर-लाल प्रकाश आदि के उपचार से समाप्त किया जा सकता है।

क्रिसपील्स और वार्नर (1967) तथा वेरिंग (1969) ने ABA और GA की आपेक्षित मात्रा के आधार पर प्रसुप्ति नियन्त्रण को सुलझाने का प्रयास किया। इनके अनुसार—

(1) ABA/GA के अनुपात के अधिक होने से प्रसुप्ति बढ़ती है।

(2) ABA/GA के अनुपात के घटने से प्रसुप्ति घटती है।

ABA बीज एवं कलिकाओं की विभिन्न जैव रासायनिक क्रियाओं पर निरोधक या मन्दन प्रभावी हो कर प्रसुप्ति उत्पन्न करता है जिनका प्रमाण तालिका-2 से मिलता है।

वास्तविकता यह है कि ABA श्वसन क्रिया

में काम आने वाले साइटोक्रोम ऑक्सिडेज़ की ऑक्सिजन धारिता में वृद्धि करता है फलतः कोशिका ऑक्सिजन की अध्याधिक प्राप्ति के लिए अन्य कार्यरत उपापचयी क्रियाओं के साथ संघर्ष करती है और इसी कमी के कारण GA के

तालिका—2
प्रसुप्त और सक्रिय बीजों व अंगों में निरोधक पदार्थों एवं अन्य कारकों से उत्पन्न भिन्नता का निरूपण

प्रभाव	सक्रिय अंग	प्रसुप्त अंग
DNA और RNA संश्लेषण	तीव्र	मन्द
श्वसन गति	तीव्र	मन्द
ग्लाइकोलिसिस की गति	तीव्र	मन्द
ATA उपापचय	तीव्र	मन्द
प्रमुख श्वसन पथ	EMP पथ	HMP पथ
एसिटाइल को-एन्जाइम उपापचय	पूर्ण	अपूर्ण
वसा, लिपिड व अन्य यौगिकों की संश्लेषण दर	कम	अधिक

संश्लेषण में बाधा उत्पन्न होती है। लेकिन ऐसे बीजों या कलिकाओं को श्वसन-निरोधक रसायनों से उपचारित करने पर उनमें बढ़ती हुई ऑक्सिजन धारिता की समाप्ति होती है और GA का अधिकाधिक संश्लेषण आरम्भ हो जाता है। GA की मात्रा अधिक होने से ABA/GA का अनुपात या सन्तुलन OA की ओर बढ़ने लगता है और प्रसुप्ति समाप्त हो जाती है।

फल-फूल तथा पत्तियों में विलगन

विगलन एक प्राकृतिक क्रिया है जिसके कारण फल, फूल या पत्तियों तथा तने को जोड़ने वाले स्थान के बीच छोटे-छोटे कोशों की एक ऐसी विशिष्ट परत बन जाती है जिसे विगलन प्रदेश कहते हैं। इस परत का निर्माण आरम्भ होते ही कोशिकाएँ कोमल होने लगती हैं और हल्के से हवा के झोकों या अन्य यान्त्रिक हलचल से ये अंग मुख्य तने या भाग से विमुक्त हो जाते हैं।

ऐडीकॉट (1970) ने विलगन प्रदेश के निर्माण में एब्सिसिक अम्ल को मुख्य कारक माना और बताया कि ABA के निरोधक प्रभावों के कारण ही विलगन प्रदेशों का निर्माण होता है।

पत्तियों और शाखाओं की जीर्णता को प्रोत्साहित करना—

वृद्धि प्रवर्धक हार्मोन्स जैसे,—ऑक्सिन, जिब्रेलिन, साइटोकाइनिन आदि जीर्णता पर निरोधक प्रभावी होते हैं लेकिन इसके विपरीत ABA जीर्णता को प्रोत्साहित करता है। वनस्पतिज्ञ इस गुत्थी को अभी तक नहीं सुलझा पाये हैं कि प्रकृति में स्वतः जीर्ण होने वाले पादप अंग उनमें उपस्थित "अन्तर्जात ABA" के कारण जीर्ण होते हैं या पर्यावरण की पर्यावरण की परिस्थितियों के कारण होते हैं। लेकिन स्मिथ (1968) ने इस और कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर बताया कि पत्तियों को बाह्यर्जात ABA से उपचारित करने पर उनमें शीघ्र ही पीलापन आता है और साथ ही पर्ण हरित की मात्रा में भी न्यूनता आती है।

प्रकाश संश्लेषण पर प्रभाव

ABA प्रकाश संश्लेषण पर भी निरोधक प्रभावी होता है। मिटलीस्वर और स्टीविनिक

(1969) के अनुसार ABA वाष्पोत्सर्जन क्रिया को मन्द कर प्रकाश संश्लेषण पर निरोधक प्रभावी होता है। इम्बर और टाल (1970) ने भी बताया कि ABA पत्तियों की रन्ध्रो-प्रतिरोधकता को प्रेरित कर CO_2 स्वांगीकरण की दर को घटाता है। लेकिन इस दिशा में और भी ठोस प्रमाण प्राप्त करना शेष हैं।

अतः ABA उन सभी क्रियाओं का मन्दन करने वाला ऐसा हार्मोन है जिनकी आवश्यकता प्रत्येक पौधे को वृद्धि, परिवर्धन एवं विकास के लिए होती है। पुष्पन पर भी यह निरोधक प्रभाव दर्शाता है। ABA ये सभी प्रभाव DNA स्तर पर डालता है जिससे कोशिकाओं के प्रोटीन स्तर में न्यूनता आती है।

वनस्पति विज्ञान विभाग
राजकीय महाविद्यालय
डूंगरगढ़ (राज०)

इन्डियन नेशनल साइंस एकडेमी पुरस्कार

इन्डियन नेशनल साइंस एकेडेमी की ओर से 12 युवा वैज्ञानिकों को उनके महत्वपूर्ण शोधकार्यों के लिये पुरस्कृत किया गया है। इनके नाम इस प्रकार हैं :

1. डॉ० श्री कुमार बनर्जी, भाभा परमाणु शोध केन्द्र बम्बई,
2. डॉ० श्रीमती जूली बनर्जी, यूनिवर्सिटी कालेज आफ साइंस, कलकत्ता
3. डॉ० ए० आर० भट्टाचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय
4. डॉ० एस० जी० दानी, टाटा इन्सटीट्यूट आफ फन्डामेंटल रिसर्च
5. डॉ० शमीम हैदर, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
6. डॉ० आर० वा० हेलीबर्टन, ऑयल इन्डिया, धुलाईजन
7. डॉ० कु० प्रीती महापात्र, उत्कल विश्वविद्यालय
8. डॉ० ए० एम० पवार, मराठवाडा एग्रिकल्चर यूनिवर्सिटी
9. डॉ० एस० एस० वी० प्रसाद, टेक्सास यूनिवर्सिटी
10. डॉ० अभिजित सेन, फिजिकल रिसर्च लैबोरेट्री, अहमदाबाद
11. श्री ए० सुरोलिया, क्रिश्चियन मेडिकल कालेज वेलोर
12. डॉ० वी० वी० एस० त्यागी, पंजाब एग्रीकल्चर यूनिवर्सिटी

अतिचालक एवं उनके व्यावहारिक उपयोग

श्याम लाल काकानी

हम सभी इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं कि विद्युत चालकता के आधार पर तत्वों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (i) विद्युत धारा के सुचालक जैसे ताँबा, पीतल, लोहा, सोना, चाँदी, प्लेटिनम इत्यादि। (ii) विद्युत धारा के कुचालक अथवा विद्युत् रोधी जैसे लकड़ी काँच, एबोनाइट, रबर इत्यादि एवं (iii) अर्ध चालक, ऐसे पदार्थ जो न तो विद्युत् धारा के अच्छे चालक होते हैं एवं न ही पूर्ण रूप से कुचालक जैसे सिलिकन, जर्मेनियम इत्यादि। वस्तु के उस गुण को जिसकी सहायता से यह मालूम किया जा सके कि वह वस्तु विद्युत की कितनी चालक है—विद्युत प्रतिरोध के रूप में नापा जा सकता है। विद्युत प्रतिरोध का मान ज्ञात होने पर हम उसकी विद्युत चालकता ज्ञात कर सकते हैं। हम इस तथ्य से भी परिचित हैं कि ताप में परिवर्तन से प्रतिरोध में भी परिवर्तन होता है। यदि ताप में वृद्धि की जाये तो उस वस्तु के विद्युत प्रतिरोध में भी वृद्धि होती है और ताप में कमी करने पर उस वस्तु के विद्युत प्रतिरोध में भी कमी होती है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि एक चालक धातु के ताप में कमी करने से उसकी चालकता में वृद्धि होती है। 19वीं शताब्दी के पूर्व सभी वैज्ञानिकों का ऐसा मत था कि परम शून्य ताप (−273 डिग्री सेन्टीग्रेड) पर समस्त चालकों का विद्युत प्रतिरोध शून्य हो जायेगा। वे अतिचालकता की स्थिति में प्रवेश कर जायेंगे। लेकिन सन् 1911 में लीडन विश्वविद्यालय में कार्यरत प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री कैमरलिंग आन्स ने शुद्ध पारे के साथ प्रयोग करते समय देखा कि पारे का ताप लगभग 4·2° केल्विन तक घटाने पर पारे का दिष्ट धारा प्रतिरोध बिना किसी पूर्व सूचना के एकाएक समाप्त हो जाता है। अर्थात् पारे की चालकता अनन्त हो जाती है, इस आधार पर वैज्ञानिक ऑन्स ने घोषित किया कि पारे की नई अवस्था में कोई संदेह नहीं रह गया है, इस अवस्था में इसका दिष्ट धारा विद्युत प्रतिरोध व्यावहारिक दृष्टि से शून्य हो गया है……पारा एक 'नई' अवस्था में पहुँच गया है, जिसे इसके असाधारण गुणों के कारण, अतिचालक अवस्था कह सकते हैं। वैज्ञानिक ऑन्स को निम्न ताप पर पदार्थों के गुणों के अध्ययन एवं द्रव हीलियम तैयार करने के लिए सन् 1913 में भौतिकी का नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया।

आन्स की खोज के पश्चात् अब तक लगभग 24 ऐसे तत्वों, 1000 से अधिक यौगिकों एवं कई मिश्रधातुओं की खोज हो चुकी है जो वायुमंडलीय दाब पर अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित करते हैं। वह ताप जिस पर पदार्थ सामान्य अवस्था से अतिचालक अवस्था में प्रवेश करता है उसे उस पदार्थ का क्रांतिक ताप कहते हैं एवं इसे T_c से प्रदर्शित करते हैं। कुछ पदार्थों के क्रांतिक ताप के मानों को सारणी 1 में अंकित किया गया है।

सारणी 1 क्रांतिक ताप

पदार्थ	Tc (°K)	पदार्थ	Tc (°K)	पदार्थ	Tc (°K)
Nb_3Sn	18·05	MoN	12·0	Ru	0·5 °
Nb_3 (Al 0·8 Ge 0·2)	20·9	Ti_2 Co	3·44	Hg	4·15°
Nb_3 Al	17·5	La_3 In	10·4	Al	1·20°
NbN	16·0	V_3 Si	17·1	Pb	7·23°
				Nb	9°K

अब तक सबसे अधिक उच्चताप जिस पर अतिचालकता देखी गई है, 20·9 डिग्री केल्विन है। सारणी 1 से स्पष्ट है कि प्रत्येक तत्व, यौगिक या मिश्रधातु के लिए क्रांतिक ताप का मान अलग-अलग होता है।

यह उल्लेखनीय है कि कई ऐसे तत्व हैं जो स्वयं तो अतिचालक नहीं होते हैं लेकिन उनके मिश्रधातु अतिचालक होते हैं, उदाहरण के लिए सोना एवं बिस्मथ दोनों धातुओं में से कोई भी धातु अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित नहीं करती है लेकिन इन दोनों धातुओं को निश्चित अनुपात में मिलाकर मिश्रधातु Au_1Bi बनाने पर वह अतिचालक बन जाती है। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण ताँबा एवं गंधक का है। ये दोनों अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित नहीं करते हैं है लेकिन Cus मिश्रधातु अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई धातु विद्युत की अच्छी चालक है तो वह अतिचालक भी होगी। उदाहरण के लिए ताँबा विद्युत का अच्छा चालक होता है लेकिन यह अतिचालकता का गुण प्रदर्शित नहीं करता है।

अतिचालक अवस्था में पदार्थ का विद्युत प्रतिरोध ही शून्य नहीं होता है परन्तु पदार्थ के अन्य गुणों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है जैसे क्रांतिक ताप पर पदार्थ का ताप-वैद्युत प्रभाव एकाएक शून्य हो जाता है, ऊष्मा चालकता में असतत् परिवर्तन होता है।

अतिचालक पर चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव— जब एक अतिचालक को उसके क्रांतिक ताप से कम ताप पर आंतरिक अवस्था बाह्य चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाये तो अतिचालकता का गुण समाप्त किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र के उस मान को जिस पर अतिचालकता का गुण समाप्त हो जाता है और पदार्थ अपनी सामान्य अवस्था में लौट आता है, क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र कहते हैं और इसे Hc से प्रदर्शित करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र का मान ताप पर निर्भर करता है एवं क्रांतिक ताप पर क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र का मान शून्य होता है। सन् 1933 में माइसनर ने अपने प्रयोगों से यह पाया कि यदि एक अतिचालक को चुंबकीय क्षेत्र में शीतल किया जाय तो क्रांतिक ताप से कम ताप पर चुंबकीय प्रेरण रेखायें बाहर की ओर धकेल दी जाती हैं। इस प्रभाव को माइसनर प्रभाव कहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि प्रतिरोध का शून्य होना एवं चुंबकीय प्रेरण रेखाओं का बहिष्करण दो स्वतंत्र घटनायें हैं लेकिन अतिचालकता दूसरी को बनाये रखने के लिए पहली घटना पर निर्भर करती है।

चुम्बकीय क्षेत्र में अतिचालकों के व्यवहार के आधार पर उनका वर्गीकरण—

प्रयोगों से यह देखा गया है कि सभी अतिचालक चुंबकीय क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार से

व्यवहार करते हैं। चुंबकीय क्षेत्र में अतिचालकों के व्यवहार के आधार पर अतिचालकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है (i) नम्र अतिचालक (ii) कठोर अतिचालक। यदि कोई अतिचालक आदर्श रूप से उत्क्रमणीय चुंबकत्व प्रदर्शित करता है तो उसे नम्र अतिचालक कहते हैं। इस प्रकार के अतिचालक माइसनर प्रभाव का पूर्णरूप से पालन करते हैं। इस श्रेणी में पारा, टिन या बंग, सीसा इत्यादि अतिचालक आते हैं।

जब अतिचालक अनुत्क्रमणीय चुंबकन प्रदर्शित करता है तो उसे कठोर अतिचालक कहते हैं। इस प्रकार के अतिचालकों के लिए क्रांतिक ताप एवं क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र का मान बहुत अधिक होता है। ये अतिचालक माइसनर प्रभाव का पालन नहीं करते हैं। Mo, Ir, Lu एवं Ru इत्यादि अतिचालकों को इस वर्ग में रखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि अतिचालकों के चुंबकीय गुण उसके संरचनात्मक दोषों के प्रति अति संवेदनशील होते हैं।

अतिचालकों के बारे में कुछ आनुभविक नियम—

अब तक की अतिचालकों के बारे में जानकारी से यह स्पष्ट हो गया है कि क्रांतिक ताप दो विभिन्न गुणों की एक ही पदार्थ में दो भिन्न अवस्थाओं के बीच सीमा निर्धारण करता है। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कुछ तत्व ही क्यों अतिचालकता प्रदर्शित करते हैं, सभी क्यों नहीं ? यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस बारे में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है कि केवल कुछ तत्व ही अतिचालकता को क्यों प्रदर्शित करते हैं, सभी क्यों नहीं ? इस संबंध में केवल कुछ निम्नलिखित आनुभविक नियम हमारी सहायता करते हैं।

(i) एक संयोजकता वाले धातु तत्व एवं विरल मृदा धातुयें अतिचालक नहीं होती हैं।

(ii) विद्युतरोधी तत्वों को उनका ताप कम करके अतिचालक नहीं बनाया जा सकता है।

(iii) लौह चुंबकत्व एवं प्रति लोह चुंबकत्व वाली धातुओं में अतिचालकता नहीं पायी जाती है। मैथियास के नव प्रयोगों के परिणामों के आधार पर यह पाया गया है कि अतिचालकता और लौह या अलोह चुंबकीय अवस्था समकालिक हो सकती है।

(iv) कुल मिलाकर समस्त अतिचालक क्रांतिक ताप से ऊपर मंद चालक होते हैं।

(v) साधारणतया वे पदार्थ ही अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित करते हैं जिनकी प्रतिरोधकता सामान्य अवस्था में बहुत उच्च होती है।

(vi) अर्ध चालक तत्व भी अतिचालक हो सकते हैं।

अतिचालकता की सैद्धांतिक व्याख्या, बी० सी० एस० सिद्धांत

अतिचालकता की खोज के लगभग 45 वर्षों पश्चात तक इसकी खोज के कई प्रयास किये गये लेकिन प्रत्येक सिद्धान्त इसकी भली भांति व्याख्या करने में असफल हो रहे, यद्यपि उन प्रयासों ने अतिचालकता की घटना को समझने में हमारे मार्ग को आगे प्रशस्त अवश्य किया। नवम्बर 1957 में तीन अमेरिकी भौतिकविदों—जॉन बार्डीन, लियोन एन० कूपर एवं जॉन शाइफर ने अतिचालकता की भली भांति व्याख्या करने के लिए एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे इन्हीं वैज्ञानिकों के नाम के पश्चात बी० सी० एस० सिद्धान्त से जाना जाता है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से क्वांटम सिद्धान्त है एवं अतिचालकता की घटना के अधिकांश गुणों की व्याख्या करने में समर्थ है। अतिचालकता की सफल सैद्धांतिक व्याख्या के लिए तीनों ही

भौतिकविदों को सन् 1972 में सम्मिलित रूप से भौतिकी का नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया था।

बी० सी० एस० सिद्धांत की मुख्य भावना यह है कि अतिचालकता चालक इलेक्ट्रॉनों के युग्मन से उत्पन्न होती है। जब दो चालक इलेक्ट्रॉनों का युग्मन हो जाता है तो उनका चक्रण या स्पिन शून्य हो जाता है। इस प्रकार के दो इलेक्ट्रॉनों के युग्म को 'कूपर युग्म' कहते हैं। चालक इलेक्ट्रॉनों का यह युग्मन उनके मध्य 'आकर्षण बल' उत्पन्न हो जाने से होता है। आकर्षण बल उत्पन्न होने का मुख्य कारण चालक इलेक्ट्रॉनों के मध्य फोनॉनों या जालक कंपनों का आभासी विनिमय होना है। क्रांतिक ताप पर बराबर और विपरीत संवेग एवं चक्रण वाले इलेक्ट्रॉनों के लिए आकर्षण बल अन्य प्रतिकर्षण बलों (जैसे कूलॉम बल इत्यादि) से अभी प्रभाव हो जाता है और अतिचालकता की घटना घटित होती है। कूपर युग्म के दो इलेक्ट्रॉनों के बीच की दूरी को संबद्धता लम्बाई कहते हैं। संबद्धता लम्बाई का मान लगभग 10^{-8} सेमी (परमाणु के व्यास की कोटि का) होता है। इस प्रकार इलेक्ट्रॉन का स्वतंत्र विचरण रुक जाता है एवं धन आयनों द्वारा उनका आकर्षित करना भी लगभग समाप्त हो जाता है।

ऐसा माना जाता है कि परम शून्य ताप पर समस्त इलेक्ट्रॉनों का युग्मन पूर्ण होता है, अतः स्वाभाविक है कि अतिचालक अवस्था में कुछ इलक्ट्रॉन अयुग्मित ही रह जाते हैं। युग्मित इलेक्ट्रॉन अवस्था, अयुग्मित इलेक्ट्रॉन अवस्था से कुछ नीचे होती हैं एवं इन दोनों अवस्थाओं में 4k Tc ऊर्जा अंतराल होता है, जहां k बोल्टजमॉन नियतांक है। क्रांतिक ताप से ऊपर या क्रांतिक मान से अधिक चुंबकीय क्षेत्र में ये इलेक्ट्रॉन युग्म टूट जाते हैं एवं पदार्थ सामान्य अवस्था में लौटा आता है। बी० सी० एस० सिद्धांत की भी कुछ कमियां हैं जैसे (i) क्रांतिक ताप की पूर्ण भविष्यवाणी न कर सकना। (ii) कुछ पदार्थ ही अतिचालकता को प्रदर्शित कर सकते हैं, सभी क्यों नहीं व्याख्या नहीं कर सकना, इत्यादि।

इन कमियों के बावजूद भी बी० सी० एस० सिद्धांत अतिचालकता के अधिकांश गुणों की व्याख्या करने में सफल हुआ है।

अतिचालकों के उपयोग : अब अतिचालकता की घटना केवल सैद्धांतिक रुचि का विषय ही नहीं रह गई है। आज के प्रौद्योगिक युग में अतिचालकों के कई उपयोग होने लगे हैं जैसे अतिचालक ऊष्मा वाल्व, अतिचालक तेजमापी, अभिवाह संपीडित्र एवं पंप, निम्नतापी युक्तियां जैसे क्रायोट्रॉन, क्रायोसार, कैलोट्रॉन, रायोट्रॉन एवं अतिचालक चुंबकों के रूप में। इनके अतिरिक्त प्रौद्योगिकी के अनेक क्षेत्रों में अतिचालकों के नये-नये उपयोग खोजे जा रहे हैं। हम यहां अतिचालकों के कुछ उल्लेखनीय उपयोगों के वर्णन तक ही सीमित रहेंगे।

(i) **अतिचालक ऊष्मा वाल्व**—अतिचालक ऊष्मा वाल्व का उपयोग मुख्य रूप से 4°K ताप से नीचे ऊष्मा के प्रवाह को नियंत्रित करने में होता है। इतने कम ताप पर यांत्रिक वाल्व कार्य नहीं करते हैं क्योंकि उनके गतिमान भाग कंपन करना प्रारंभ कर देते हैं। कंपनों की ऊर्जा ऊष्मा में परिवर्तित हो जाती है जिससे अनावश्यक रूप में ताप में वृद्धि हो जाती है। अतिचालक वाल्व को प्रयुक्त करने से 0·001°K ताप तक ऊष्मा के प्रवाह को सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है।

अतिचालक ऊष्मा वाल्व, अतिचालक धातु के एक सामान्य, लम्बे, मोटे बेलनाकार तार से निर्मित किया जाता है। इस तार द्वारा उन दो निकायों को आपस में संबद्ध कर दिया जाता है जिनके बीच ऊष्मा के प्रवाह को नियंत्रित करना होता

है। जब तार सामान्य अवस्था में होता है तो एक निकाय से दूसरे निकाय में ऊष्मा का प्रवाह होता रहता है। जब तार अतिचालक अवस्था में होता है तो उनके बीच ऊष्मा का प्रवाह नहीं हो पाता है। वाल्व की इस स्थिति को 'बंद अवस्था कहते हैं। सामान्यतया तार की धातु सीसा होती है। वाल्व को खुली अवस्था मे लाने के लिए तीव्र चुंबकीय क्षेत्र का प्रयोग कर अतिचालक अवस्था को हटाना पड़ता है। चुंबकीय क्षेत्र को हटाने पर वाल्व पुन: अतिचालक अवस्था में आ जाता है और ऊष्मा का प्रवाह रुक जाता है।

(ii) **अतिचालक तेजमापी** : तेजमापी का उपयोग विद्युत चुंबकीय विकिरणों के संसूचन में होता है। इस यंत्र का प्रचालन सिद्धांत यह है कि जब कोई वस्तु सामान्य अवस्था में विकिरणों का अवशोषण करती है तब उसके ताप में वृद्धि होती है। ताप की इस वृद्धि से वस्तु के वैद्युत प्रतिरोध में वृद्धि होती है। वस्तु के वैद्युत प्रतिरोध में परिवर्तन का उपयोग ही विद्युत चुंबकीय विकिरणों के संसूचन में किया जाता है।

एक अतिचालक तेजमापी में सामान्य धातु को अतिचालक पदार्थ से प्रतिस्थापित किया जाता है। इसका प्रचालन भी अतिचालक ताप पर ही किया जाता है। सामान्य तेजमापी की तुलना में अतिचालक तेजमापी की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि ताप में अति न्यून वृद्धि पर प्रतिरोध में बहुत अधिक वृद्धि होती है। अतिचालक तेजमापी की उक्त श्रेष्ठताओं को जब प्रवर्धन की आधुनिक तकनीक से युक्त कर देते हैं तो अतिचालक तेजमापी उपलब्ध विकिरण संसूचकों में सबसे अधिक सुग्राही विकिरण संसूचक का कार्य करता है, विशेष रूप से स्पेक्ट्रम की अवरक्त परास में, जहाँ दूसरे कई विकिरण संसूचक अप्रभावी हो जाते हैं।

(iii) **अतिचालक परिनालिका** : सामान्य रूप में उच्च चुंबकीय क्षेत्र को प्रदर्शित करने वाली परिनालिका का मूल्य बहुत अधिक होता है। Nb_3Sn एवं Nb-Zr मिश्र धातुओं के तारों से निर्मित अतिचालक परिनालिका 10 गुने से भी कम मूल्य पर उतना ही चुम्बकीय क्षेत्र प्रदर्शित करती है। यही नहीं अतिचालक परिनालिका साधारण परिनालिका की तुलना में स्थान भी कम घेरती है एवं विद्युत शक्ति भी कम खर्च होती है। अतिचालक परिनालिकाओं का उपयोग मैगनेटो हाइड्रो (द्रव) गतिक शक्ति परिवर्तन में भी होने लगा है।

(iv) **अतिचालक चुंबक** : सन् 1931 के लगभग दे हास एवं वोग्डे ने एक सीसा-बिसमथ धातु के तार के लिए चुंबकीय क्रांतिक क्षेत्र का मान 15 किलोगाउस तक प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् इस क्षेत्र में कार्यरत अनुसंधानकर्त्ताओं ने कई ऐसी मिश्र धातुओं एवं तत्वों के विकृत प्रतिरूपों की खोज की जिनके लिए क्रांतिक क्षेत्र का मान सापेक्षत बहुत अधिक था। सन् 1961 में बैल प्रयोगशालाओं में कार्यरत वैज्ञानिक जे० ई० कुंजलर ने Nb_3Sn (नायोबियम-टिन मिश्रधातु) अतिचालक की खोज जिसके लिए क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र का मान लगभग 200 किलोगाउस है। तब से अब तक कई ऐसे पदार्थों की खोज हो चुकी है जिनके लिए क्रांतिक चुंबकीय क्षेत्र का मान 500 किलो गाउस तक है। इन पदार्थों का उपयोग अतिचालक चुंबकों एवं परिनालिकाओं के निर्माण में किया गया है। अतिचालक चुंबकों का उपयोग ताप न्यूक्लीय संलयन अनुसंधान में अत्यधिक होने लगा है। उच्च तापीय प्लाज्मा के परिसीमन के लिए उच्च चुंबकीय क्षेत्र की आवश्यकता होती है।

(v) **क्रॉयोट्रॉन** : यह द्विभाग वाली एक ऐसी युक्ति है जिसके निवेशी परिपथ में धारा चुम्बकतः निर्गम परिपथ में अतिचालक से सामान्य अवस्था में संक्रमण को नियंत्रित करती है, यदि निर्गम

परिपथ में धारा का मान इसके क्रांतिक मान से कम हो।

अतिचालक पदार्थों का उपयोग शक्ति संचरण में भी किया जा सकता है। प्रयोगों के परिणामों से यह पाया गया है कि शुद्ध अतिचालक नायोबियम में निम्न क्षेत्रों के मान पर प्रत्यावर्ती धारा संचरण ह्रास निश्चित रूप से कम होता है। अतः प्रत्यावर्ती धारा संचरण में इनका उपयोग संभव है। इस दिशा में प्रयोग हो रहे हैं। अब यह दिन दूर नहीं है जब हम कम मूल्य में अधिक क्षमता वाले अतिचालक ट्रांसफार्मर, मोटर, जनित्र एवं अन्य अतिचालक वैद्युतिक युक्तियों का उपयोग कर सकेंगे। अतिचालक पदार्थों को सम्मिलित करने वाले सभी औद्योगिक उपयोगों में प्रकट रूप से कमी यह है कि सभी में अत्यधिक निम्न तापीय वातावरण की आवश्यकता होती है। परिणामस्वरूप अधिक प्रयास ऐसे पदार्थों की खोज के हो रहे हैं जो कमरे के ताप पर अतिचालकता प्रदर्शित कर सके। यदि ऐसा संभव हो सका तो अतिचालकों के व्यापक उपयोग संभव हो सकेंगे।

भौतिकी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
शाहपुरा, जि० भीलवाड़ा

● ●

[पृष्ठ 6 का शेषांश]

मध्यम चुम्बकत्व वाले साइडराइट आयरन गारेनेट, क्रोमाइट, इल्मोनाइट, हीमेटाइट और वुलफ्राम; अल्प चुम्बकत्व वाले टूअर्मलीन, स्पाइनल, मोनाजाइट आदि हैं।

टूअर्मलीन में ताप विद्युत उत्पन्न करने की क्षमता होती है। यदि टूअर्मलीन की दो सतहों को विभिन्न ताप पर रखा जाय तो उसकी एक सतह धन आवेशित एवं दूसरी ऋण आवेशित हो जाती है।

क्वार्टज जैसे खनिजों में दाब उत्पन्न करने की क्षमता होती है। रेडियोधर्मी तत्वों के खनिजों में रेडियम के गुण होते हैं।

991, सुभाष नगर
इलाहाबाद-2

● ●

[पृष्ठ 10 का शेषांश]

रही है और खाद्य के पौष्टिक अंशों के अभाव में लोग विभिन्न बीमारियों के शिकार होते जा रहे हैं, लेकिन यदि बतायी गई विधियों से हम इन कीड़ों पर नियंत्रण कर लें तो राष्ट्र के नागरिकों को समुचित भोजन प्राप्त हो सकेगा, जिससे वे बीमारियों के भुक्तभोगी नहीं होंगे और अपने परिश्रम से न केवल स्वयं को, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को नया मोड़ देंगे, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारा राष्ट्र भी एक सबल राष्ट्र समझा जा सकेगा।

भारतीय प्राणी सर्वेक्षण
के प्रवक्ता

● ●

बाल-विज्ञान

अण्डा---प्रकृति की अनोखी देन

सोहन लाल बागोरा

अण्डा मानव निर्मित उन सात आश्चर्यों में से नहीं है, लेकिन प्रकृति का एक आश्चर्य है। प्रत्येक जीव या प्राणी अण्डे से उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाला प्रत्येक जीव भी कुछ समय तक अपनी माता की कोख में एक अण्डे के रूप में विद्यमान है। नौ माह के बाद मानव शिशु का जन्म क्या होता है मानो गर्भ का वह अण्डा ही छिपे रूप में फूट पड़ा हो।

मानवीय अंडा नौ माह तक माता की कोख में गर्भस्थ रहता है परन्तु निम्न श्रेणी के जीव इतनी बड़ी झंझट नहीं पालते। वे जीव उत्पन्न हो सकने के उपकरण एक अवेद्य श्वेत चादर की खोल में बन्द कर फेंक देते हैं। क्योंकि कुछ निम्न श्रेणी के जीवों में प्रजनन की शक्ति बहुत तीव्र होती है अतः वे ज्यादा अंडे कम समय में ही दे देते हैं। अन्य कुछ चतुर एवम् उन्नत जीवधारी अण्डा सेने के लिये एक निश्चित अवधि तक उन पर बैठते हैं, कुछ तो बैठने के अलावा शिशु के उत्पन्न होने तक उनकी रक्षा एवम् पालन पोषण भी करते हैं जैसे चिड़िया जब उनके शिशु चलने फिरने में समर्थ एवम् भोजन प्राप्त करने योग्य बड़ा जाते हैं तब उन्हें छोड़ते हैं। जबकि दूसरी ओर निम्न श्रेणी के जीवधारी जनन के पश्चात् अंडे बाहर फेंकते रहते हैं क्योंकि उनका तो उद्देश्य ही सिर्फ अपने परिवार एवम् जाति की संख्या बढ़ाना है जैसे मक्खी। वे तो सिर्फ अंडे देकर निश्चिन्त हो जाते हैं उनसे भले शिशु पैदा हों या न हों उसकी उन्हें चिन्ता नहीं। और इधर मानव निर्मित शिशु, जिसका माँ-बाप 20-25 वर्ष तक लालन-पालन तथा भरण-पोषण करते हैं।

यदि हम किसी ताजा अण्डे का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि उसके अन्दर एक पीला अर्द्ध द्रव मिलेगा। जो एक प्रमुख भाग है तथा यही जीव का जनक होता है। ऊपर की श्वेत तह के अन्दर एक अर्द्ध द्रव भोजन भी होता है, जिसे अण्डे का केन्द्रीय पदार्थ जीवन बन जाने पर आहार के रूप में ग्रहण करता है यह सब पदार्थ ऊपर की तरफ उससे भी पतली तथा कठोर खोल से ढका रहता है। जीवों के बहुकोशी शरीर की रचना इसी पीले द्रव से होती है। इसी पीले द्रव से नियमित रूप से नियमित आकार में अब अंग, उपांग, अस्थियाँ, रक्त, माँस, रोम, त्वचा आदि बनते हैं। यह नित्य की क्रिया प्रत्येक अण्डे में नियमित रूप से हमेशा होती है। यह सृष्टि के कुछ महान् आश्चर्यों में से एक है तथा अनेक खेलों में यह एक अनोखा ही खेल है।

इस सृष्टि के सभी कीड़े-मकोड़े एवम् उनसे भी सूक्ष्म जीव भी अपना जीवन अंडे से ही प्रारम्भ करते हैं। इन भिन्न-भिन्न जीवों के अण्डे कई प्रकार के होते हैं। जैसे गोल, बेलनाकार, चपटे आदि। भिन्न-भिन्न जीवों के अण्डे देने की संख्या भिन्न-भिन्न होती है यह संख्या करोड़ों तक पहुँचती है एक रानी दीमक प्रति मिनिट 60 अण्डे देती है।

अण्डों के कई उपयोग हैं, अधिकांश अण्डे भोज्य पदार्थ के रूप में काम में लाये जाते हैं। मुर्गी, कबूतर, बत्तख आदि पक्षियों के अण्डे शक्तिवर्द्धक भोज्य पदार्थ होते हैं। मुर्गी के अण्डे से बाहर निकलते ही बच्चा स्वयं दाना चुगने में समर्थ हो जाता है। इस उदाहरण से ही अण्डे की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ अज्ञानी लोग मोर आदि के अण्डों को भी अपने आहार के रूप में काम में लाते हैं यहाँ पर "जीवो जीवस्य भोजनम्" कहावत चरितार्थ होती है।

—विज्ञान परिषद्, नाथद्वारा से

1. वैज्ञानिक के श्रम का मूल्यांकन

मेरे अंतस का वैज्ञानिक
नित्य नई सृष्टि का सृजन करता है
और नित्य विनाश
फिर अपनी कल्पना के अंतरिक्षयान में
सवार हो प्रस्थित हो जाता है
किसी अन्य सृष्टि की खोज में
वहां भी वह चुप नहीं बैठता
और शून्य में भी प्रयोग करके
वह अपने श्रम का मूल्यांकन
करना चाहता है
ईमान के चूर्ण में सत्याम्ल डालकर
श्रम की गैस से वातावरण को
सुगन्धित करना चाहता है
किन्तु अम्ल गिरते ही
विस्फोट हो जाता है
और मेरा वैज्ञानिक
हमेशा के लिये सो जाता है।

2. ब्रह्माण्ड का मूल

एक नन्हा सा परमाणु
जनक है विशालतम ब्रह्माण्ड का
क्योंकि एक परमाणु दूसरे परमाणु से
मिलकर संरचना करते हैं अणु की
और अणु दूसरे अणुओं से मिलकर
बनाता है वह यौगिक या मिश्रण
जिनसे कि सृष्टि का निर्माण होता है
लेकिन इन सबका मूल
नन्हा सा परमाणु ही होता है।

—चन्द्राजीराव इंगले

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक—शैवाल

लेखक—डा० प्रमोद चन्द्र मिश्र

प्रकाशक—हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

(प्रथम संस्करण, जनवरी 1976)

मूल्य—साढ़े बाइस रुपये

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'शैवाल' के लेखक डा० प्रमोद चन्द्र मिश्र गोरखपुर विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान विभाग के विद्वान एवं अनुभवी अध्यापक हैं। लगभग 450 पृष्ठों की यह पुस्तक 17 अध्यायों में विभाजित है। प्रारंभ के 1 से 7 अध्यायों में ऐसे विषय वस्तुओं का चयन है जो शैवाल पर यथेष्ठ रूप से प्रकाश डालते हैं और निस्संदेह विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं को इस विषय के अध्ययन की प्रेरणा देते हैं। डा० मिश्र ने शैवाल पर देशी और विदेशी शोध साहित्य का गहन अध्ययन करके हिन्दी में एक ऐसी मौलिक पुस्तक की रचना की है जो हिन्दी भाषा में रचित विज्ञान विषयक पुस्तकों में नया कीर्तिमान स्थापित करती है।

अध्याय 8 से 17 में अलग-अलग प्रभागों के विषय में नवीन और उपयोगी सामग्री संग्रहीत है। रेखांकित चित्र, जिन्हें लेखक ने स्वयं बनाया है, सुन्दर एवं स्पष्ट हैं। सूक्ष्मदर्शी फोटोग्राफ और इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी फोटोग्राफ पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने में सहायक हैं। प्रत्येक अध्याय के अंत में दी हुई सन्दर्भ-सूची स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। रेखांकित जीवन-चक्र और तालिकाएँ विद्यार्थियों को विषय को समझने में सहायक सिद्ध होंगी। पुस्तक के अंत में दी हुई पारिभाषिक शब्दावली पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि करती है।

कागज, गेट अप, एवं जिल्दबन्दी अच्छी है। किन्तु मुद्रण की त्रुटियां खटकती हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्रकाशक ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह भली-भांति नहीं किया है। वंशों (जेनेरा) के जीवन-चक्रों को चित्रों द्वारा न दर्शाये जाने की कमी भी खटकती है। आशा है कि अगले संस्करण में यह कमी दूर हो जायेगी। सरल और सुग्राह्य भाषा वाली इस पुस्तक के लिए लेखक प्रमोद चन्द्र मिश्र बधाई के पात्र हैं।

प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

●●

[पृष्ठ 24 का शेषांश]

फसल की कटाई करने के बाद खेत की गहरी जोताई करें। सभी रोगी बीजों को नष्ट कर दें।

पौधों पर पानी का छिड़काव करने के लिए स्वतः चालित उपकरण

न्यूयार्क की एक फर्म, मैरिमन गार्डन्स, ने घरेलू पौधों पर पानी का अपने-आप छिड़काव करने के लिए एक नये उपकरण का निर्माण किया है, जिसे 'वाटर जेनी' कहते हैं। यह उपकरण बहुत ही सस्ता है और घरेलू पौधों को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक सही मात्रा में ही पानी का छिड़काव करता है।

इस उपकरण में एक फुट की एक बत्ती लगी होती है, जिसका एक छोर पौधे में और दूसरा पानी के बर्तन में लगा दिया जाता है। यह थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से अपने आप पानी का छिड़काव करता रहता है। इसकी क्रिया को संचालित रखने के लिए किसी व्यक्ति का इसके पास रहना जरूरी नहीं है।

●●

विज्ञान-वार्ता

कपास की पैदावार बढ़ाने के लिए डाइ अमोनियम फास्फेट का छिड़काव बेहतर

भारतीय कृषि अनुसंधान सस्थान क्षेत्रीय केन्द्र, कोयम्बतूर में किये गये परीक्षणों से ऐसा पता चला हैकि बारानी इलाकों में डाइ अमोनियम फास्फेट के दो हल्के छिड़काव करने से कपास की पैदावार में बढ़ोतरी हो सकती है। जिस साल मामूली वर्षा हुई पीआरएस-74 किस्म की पैदावार में 152·5 किलो का अन्तर पाया गया। पर्याप्त वर्षा होने पर पैदावार में तिगुनी बढ़ोतरी हुई।

0·5 प्रतिशत डाइ अमोनियम फास्फेट के हल्के घोल का दो बार छिड़काव किया गया। पहला छिड़काव पौधों में 5-6 फूल आने पर और दूसरा उसके एक सप्ताह बाद किया।

एक हेक्टेयर भूमि में छिड़काव के वास्ते घोल बनाने के लिये सिर्फ चार किलो उर्वरक चाहिये। इसे पौधों के आकार के अनुसार 800 के 1,100 लिटर पानी में डाल कर घोल तैयार किया जा सकता है।

परीक्षणों में सिर्फ यूरिया के घोल के अपेक्षा नाइट्रोजन और फास्फोरस मिले डाइ अमोनियम फास्फेट के घोल का छिड़काव अधिक प्रभावी पाया गया।

दो की जगह तीन फसलें

काली मिट्टी वाले उन इलाकों में जहाँ सूखा पड़ने की ज्यादा संभावना रहती है और आमतौर पर मूँगफली उगायी जाती है, एक नयी फसल पद्धति तैयार की गयी है। इसमें अन्य किसानों को भी दिलचस्पी हो सकती है।

इस विधि में मूँगफली दो कतारों में बोयी जायेगी। इन दो कतारों के बीच अल्पकालीन सोयाबीन की फसल बोयी जायेगी। सोयाबीन की फसल मूँगफली की खुराक नहीं खींचेगी।

सोयाबीन की फसल लेने के बाद उसी जगह पर कुसुम की बोआई कर दें। अब भी मूँगफली की फसल खेत में ही लगी रहती है।

हालाँकि खरीफ की फसल में काली मिट्टी वाले इलाकों से मूँगफली उगाना खतरे से खाली नहीं है फिर भी अनेक किसान उसे उगाना पसंद करते हैं।

इस नयी विधि से यह फायदा होगा कि सूखा पड़ने पर अगर मूँगफली की फसल खराब हो जाती है तो दो अन्य फसलों से नुकसान बच जायेगा। अगर मौसम ठीक रहता है तो तीनों फसलों के अच्छा मुनाफा मिलेगा।

इस विधि का विकास अखिल भारतीय समन्वय ज्वार विकास परियोजना, अखिल भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र, हैदराबाद के वैज्ञानिकों ने किया है।

बाजरा में चेंपा रोकथाम के उपाय

जुलाई के दूसरे पखवाड़े में बाजरा की बोआई करने से फसल का घातक रोग चेंपा अपेक्षाकृत कम सताता है।

इस रोग में बाल पर गुलाबी रंग का चिपचिपा पदार्थ दिखाई देता है। ऐसी बाल विषैली हो जाती है।

इस रोग की रोकथाम के लिए, विशेषतः इसके ज्यादा जोर वाले क्षेत्रों में, कपास एवं मोटा अनाज परीक्षण केन्द्र, कोविलपट्टी, तमिलनाडु के विशेषज्ञों ने प्रति हेक्टेयर एक किलो जिरम या 10 ग्राम आरिओफंगिन का छिड़काव करने का सुझाव दिया है। इस दवाओं में से किसी भी एक दवा को पर्याप्त पानी में घोल कर एक सप्ताह के अन्तर से तीन बार छिड़कें। छिड़काव की शुरुआत बाल निकलने के समय से करें।

इसके अलावा इसकी रोकथाम के और भी कई कारगर उपाय हैं। ओसाई करके रोगी बीज अलग कर लें और बाकी बीजों को 20 प्रतिशत नमक के घोल में डुबोयें। रोग से प्रभावित

[शेष पृष्ठ 23 पर

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 113 संख्या 11
कार्तिक 2033 विक्र०
नवम्बर 1976

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

वैज्ञानिक

राधेलाल विजघावने "अतृप्त"

मैं अपने अंतस की प्रयोगशाला में
नित नये प्रयोग करता रहता हूँ
भूख प्यास से अपने जिस्म को
परखनलियों में दिन रात तपाता रहता हूँ
और अस्थीपंजर देह को
प्रयोगों की लम्बी लाइन में
बेतरतीब खड़ा कर देता हूँ
जहाँ मेरी जीभ
पोटेशियम साइनाइड के स्वाद की
पहचान कर एक और मौत
अपनी स्नेहिल बाहों में समा लेती है
अथवा अंगुलियाँ अपने जिस्म पर
तेज़ाब उड़ाती रहती हैं
जीन्स, पारे और आइसोटोपों की
रासायनिक प्रक्रिया का
सूक्ष्मावलोकन करती रहती है
और कई बंडल फार्मूले बनाकर
मिटाती रहती है।
मैं आविष्कारों में अपनी
सम्पूर्ण जिन्दगी खपा देता हूँ
अनुभवों को अंगुलियों से पकड़
कागज़ पर फार्मूले सा उतार देता हूँ
और एक नये प्रयोग पर
एक नयी जिन्दगी को
मसीहा बना देता हूँ
अथवा गोडार्ड की ही तरह
उपेक्षा का बहुत बड़ा आकाश
अपने भीतर समा
वैज्ञानिक चंद्रयात्रा करता रहता हूँ
मेरे भीतर और बाहर की
अणु और परमाणु ऊर्जा ऐसी भी है—
जो लोहे में प्राण डाल देती है
सड़कों पर अथवा—
समुद्र सतहों पर
निर्जीव मशीनों को आदमी की ही तरह
दौड़ा देती है
विश्व की अर्थ व्यवस्था का
सारा भूगोल बदल देती है।
इसलिये मेरे भीतर का वैज्ञानिक
परख नलियों में जीता है, पलता है
अथवा—
मशीन के हर पुर्जों पर
एक नया युग उतारता रहता है
और विश्व के भूगोल को
नये सिरे से बनाकर
हमें अन्दर तक जोड़कर
नयी शक्ति, नयी दिशा
प्रदान करता रहता है
अथवा चाँद के धरातल से
खनिज निकालता रहता है।

४३२, एन–३, ए–सैक्टर,
बी० एच० इ० एफ–गोविन्दपुरा,
भोपाल—

ब्रह्माण्ड में अब हम अकेले नहीं रहे

संकलित

कुछ अनुमानों के अनुसार, हमारी अपनी तारावली (आकाशगंगा) में लगभग 1350 अरब सितारे हैं। इतने सारे सितारे भी अतीव संकुलित रूप में स्थिर नहीं हैं। आकाशगंगा में उनकी आबादी अत्यन्त विरल है। वे एक-दूसरे से काफी अन्तर पर स्थित हैं। हमारे सबसे निकट का सितारा पृथ्वी से 25 खरब मील (4·3 प्रकाश वर्ष) की दूरी पर स्थित है।

इतना ही नहीं, हमारी तारावली इस प्रकार की अगणित तारावलियों में केवल एक है। २०वीं सदी के खगोल वैज्ञानिकों ने वाह्य अन्तरिक्ष में अब तक लगभग 120 अरब प्रकाश-वर्ष की दूरी तक शोध करके बहुत बड़ी संख्या में अन्य तारावलियों की खोज की है। इन तारावलियों की तुलना में हमारी अपनी तारावली—आकाशगंगा—एक सूक्ष्म बिन्दु जैसी नगण्य है। सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारा यह विश्वास निराधार नहीं है कि हम 120 अरब प्रकाश-वर्ष के आगे की सीमा में कदापि प्रवेश नहीं कर पायेंगे। लेकिन, अगर हम इस सीमा के भीतर की परिलक्ष्य सृष्टि पर भी विचार करें, तो हमें पता चलेगा कि इसमें लगभग 1000 अरब तारावलियाँ मौजूद हैं, जिनमें से प्रत्येक औसत रूप से हमारी अपनी तारावली जितनी ही विशाल हैं। इसका अर्थ यह है, कि इनमें कुल 10 अरब-खरब सितारे हैं, और इनमें से प्रत्येक सितारा एक सूर्य है।

10 अरब खरब सूर्य ! कितनी विशाल संख्या है। लेकिन, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि यह अकल्पनीय विशालता केवल जीवनहीन प्रकाशमान तत्व की प्रतीक हो ? जीवन के जिस रूप से हम परिचित हैं, उसके अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी सूर्य से निस्सृत जीवनदायी विकिरण में निमज्जित हो—लेकिन एक दूरी से ही। स्वयं किसी सूर्य पर जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं। किसी ऐसे ग्रह पर ही इस प्रकार के जीवन का अस्तित्व सम्भव है, जो सूर्य की परिक्रमा कर रहा हो। हम अरबों-खरबों सूर्य की खोज कर सकते हैं, लेकिन हमें इस बात का क्या आश्वासन प्राप्त है कि इनमें से किसी के पास अपने ग्रह भी है ?

निस्सन्देह, हमारे अपने सूर्य के पास उसके ग्रह मौजूद हैं। लेकिन हो सकता है कि यह एक विशिष्ट घटना हो। उदाहरण के लिए, 1930 के दशाब्द में, हमारे सौरमण्डल के उद्भव विषयक प्रमुख सिद्धान्त यह था कि अब से लगभग 50 अरब वर्ष पहले, हमारा सूर्य किसी अन्य सितारे से लगभग टक्कर की स्थिति में पहुँच गया था। उस दशा में, दोनों सितारों के पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण-प्रभाव के फलस्वरूप इन दोनों के तत्व बाहर की ओर खिच आये। ये तत्व-खण्ड वहीं पर पड़े रहे, और उन्हीं से आगे चल कर प्रत्येक सितारे के ग्रह-मण्डल का निर्माण हुआ।

किन्तु सितारे इतनी धीमी गति से चलते हैं और उनमें एक-दूसरे के बीच की दूरी इतनी अधिक होती है कि किन्हीं दो सितारों के बीच परस्पर टक्कर की स्थिति के निकट पहुँचने की कदापि

कोई सम्भावना नहीं होता। किसी तारकपुंज या तारावली के सम्पूर्ण जीवन काल में इस प्रकार की किसी एक दुर्घटना की भी सम्भावना प्राय: नहीं है। अतएव, निष्कर्ष यह निकाला गया कि सृष्टि भर के समस्त सितारों में, तुलनात्मक दृष्टि से, केवल मुट्ठी भर ही ग्रह-मण्डल होंगे, और शायद स्वयं हमारी तारावली में केवल दो ग्रह-मण्डल थे। इनमें से एक तो हमारा अपना ग्रहमण्डल था और दूसरा किसी अन्य सितारे का वह ग्रहमण्डल था, जो अति दूरवर्ती भूतकाल में हमारे ग्रहमण्डल के साथ टक्कर की स्थिति के निकट पहुँच गया था।

सन् 1940 के दशाब्द में स्थिति बदल गयी। खगोलशास्त्रियों को धूल और गैस के उन विशाल मेघों के स्वरूप और व्यवहार के बारे में, जिनसे ग्रहों का निर्माण होता है, अधिक जानकारी प्राप्त हुई। नक्षत्रों में उत्पन्न होने वाले चुम्बकीय क्षेत्रों की प्रकृति को उन्होंने अधिक अच्छी तरह समझा। जब उन्होंने संघनित होकर सूर्य का रूप धारण करने की प्रक्रिया में धूल और गैस के बादल के व्यवहार पर विचार किया, तो उनके लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव हो गया कि उस बादल के बाहरी किनारों का संघनित होकर छोटे-छोटे पिण्डों, अर्थात् ग्रहों और उपग्रहों, में परिणत होना अनिवार्य था। इस दृष्टिकोण से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक सितारे या नक्षत्र के प्रादुर्भाव के साथ-साथ ही उसके ग्रहों और उपग्रहों का भी प्रादुर्भाव हुआ, और उनकी आयु भी उतनी ही होनी चाहिये जितनी सितारे की है। इस प्रकार, ग्रहों के उद्भव के लिए सितारों के बीच टक्कर की स्थिति के निकट तक पहुँचना आवश्यक नहीं रहा।

पिछले 25 वर्षों में पृथ्वी के निकट के अनेक सितारों का लम्बे समय तक बारीकी से अध्ययन किया गया। इससे पता चला कि उनमें स्पन्दन है और वे अपनी कीली पर चक्कर काटते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनके ग्रहमण्डल हैं। यह बात निर्विवाद है कि ग्रहमण्डल सृष्टि में सामान्य रूप से विद्यमान हैं।

किन्तु, इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक ग्रहमण्डल जीवन के प्रादुर्भाव और अस्तित्व की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। कुछ नक्षत्र या सितारे इतने प्रभावपूर्ण और तप्त होते हैं कि वे कुछ अरब वर्षों में जल कर समाप्त हो जाते हैं और उस अवधि में उनके किसी भी ग्रह पर जीवन के प्रादुर्भूत होने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में उन पर जीवन का विकसित होना, जटिल रूप धारण करना तो और भी कठिन है।

अन्य सितारे बहुत धुंधले हैं और हजारों अरब वर्ष तक कायम रहते हैं। लेकिन उनसे बहुत कम धूप निकलती है। अत: हम यह आशा नहीं कर सकते कि उनके किसी ग्रह पर जीवन को प्रादुर्भूत होने का अवसर होगा।

उन सितारों के भी, जो हमारे सूर्य जैसे मध्यम आकार के हैं, और अपने जीवन काल में अधिक लम्बे अरसे तक पर्याप्त धूप या प्रकाश देते रहते हैं, ऐसे ग्रह हो सकते हैं, जो बृहस्पति ग्रह जैसे अतीव विशाल, प्लूटो जैसे अतीव ठण्डे, शुक्र ग्रह जैसे अतीव तप्त या बुध ग्रह जैसे अतीव छोटे हों। जीवन के प्रादुर्भाव की दृष्टि से अनुकूल स्थितियों से युक्त किसी सितारे की परिक्रमा करने वाले ग्रह के लिए भी यह आवश्यक है कि वह प्राय: ऐसी अनुकूल स्थिति में हो जैसी हमारी पृथ्वी है। बहुत सम्भव यह है कि किसी सितारे के ग्रहमण्डल में इस प्रकार का एक भी ग्रह न हो अथवा अधिक से अधिक एक ग्रह हो।

रैण्ड कारपोरेशन के स्टीफेन एच० डोल ने 1964 में एक गणना की थी जिसका निष्कर्ष यह था कि 210 सितारों में से केवल एक में ही हमारी पृथ्वी जैसा कोई ग्रह हो सकता है। यदि

इसे सच मान लिया जाय, तो भी इस हिसाब से स्वयं हमारी तारावली, अर्थात् आकाशगंगा, में पृथ्वी जैसे इस प्रकार के 64 करोड़ ग्रह होंगे।

निस्संदेह, पिछले कुछ वर्षों के दौरान, ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारी सृष्टि उतनी शान्त नहीं जितनी हम समझते थे। प्रायः तारावलियों के मध्य भाग विशाल विस्फोटों, गहन विकिरण और उद्वेलन के केन्द्र प्रतीत हुए हैं। अतएव, यह हो सकता है कि इन तारावलियों के पृथ्वी जैसे ग्रह जीवन को प्रादुर्भुत करने में तभी समर्थ हों, जब वे किसी तारावली के उप-कूलों या किनारों पर स्थित हों, जैसे स्वयं हमारा सूर्य है। चूंकि तारावलियों के मध्य भाग में किसी तारावली के 90 प्रतिशत सितारे स्थित हैं, इसलिए इस पृथ्वी जैसे जीवन के लिए अनुकूल ग्रहों की संखया को और भी घटा कर प्रति तारावली केवल 6·4 करोड़ मान सकते हैं।

कोई ग्रह जीवन के प्रादुर्भाव की दृष्टि से अनुकूल होने पर भी जीवन-विहीन हो सकता है। इस बात की सम्भावना है कि किसी अनुकूल ग्रह पर जीवन का विकास अवश्य होगा। क्या जीवन प्राकृतिक प्रक्रियाओं के प्राकृतिक अन्त का प्रतीक है, अथवा वह एक अकस्मात हो जाने वाली घटना मात्र है ?

हाल तक सामान्य मान्यता यही थी कि पृथ्वी पर जीवन का आविर्भाव एक आकस्मिक घटना थी और हो सकता है कि सृष्टि में इस प्रकार की घटना कहीं और हुई हो। लेकिन, अब से 20 वर्ष पूर्व रसायनशास्त्रियों ने प्रयोग करके एमिनो-एसिडों का निर्माण किया जो जैव सूतकों का निर्माण करने वाले प्रोटीन पिण्डों में एक है।

इस प्रकार के अगणित प्रयोगों के बाद, वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिकालीन पृथ्वी पर विद्यमान महासागर और सरल तत्वों का वायुमण्डल धूप से निमज्जित होकर क्रमागत रूप में अनिवार्य रूप से जैव-प्रणालियों का निर्माण करेंगे। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से होती है कि लघु उल्काओं और सितारों के बीच स्थित धूल और गैस के विशाल बादलों में इस प्रकार निर्मित तत्व पाये गये हैं।

अस्तु, हमारा यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कोई भी ऐसा ग्रह, जो जीवन का पोषण करने में समर्थ है, इस प्रकार के जीवन का पोषण अवश्य करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक तारावली में औसत रूप से 6·4 करोड़ ग्रह न केवल जीवन के अस्तित्व के लिए अनुकूल हैं बल्कि उनमें जीवन का प्रादुर्भाव भी हो चुका है।

लेकिन, स्वयं जीवन भी अपने आप में महत्व-पूर्ण नहीं। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सृष्टि में 'बुद्धि युक्त' या 'चेतन' प्राणी कितने रूपों में विद्यमान हैं।

यहाँ स्थिति काफी जटिल हो जाती है। हम एक ग्रह—पृथ्वी—से परिचित हैं, जो जीवन के अस्तित्व के अनुरूप है, और इसके जीवों में एक चेतनामय या बुद्धिमान प्राणी भी है, जिसे मनुष्य कहते हैं। पृथ्वी के अपने जीवन में मानव जाति के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया काफी देर से प्रारम्भ हुई। मनुष्य के आविर्भाव से कम से कम 30 अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन का विकास हो चुका था। इसका अर्थ है कि प्राणी में बुद्धि और चेतना का जन्म देने वाले मस्तिष्क का विकास एक लम्बी और कठिन प्रक्रिया है और हो सकता है कि अधिकांश जीवनमय ग्रहों पर इसका विकास हुआ ही न हो। फिर यह भी सम्भव है कि ऊँची बुद्धिमत्ता एक खतरनाक उपलब्धि सिद्ध हो क्योंकि वह शीघ्रता से ऐसी शक्तियाँ विकसित करने में समर्थ होती है, जिसको वह स्वयं नियन्त्रित करने में असमर्थ हो। इस प्रकार वह शक्ति उसके लिए विनाशक सिद्ध हो सकती है। ऐसी स्थिति में, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि अनेक ग्रहों पर बुद्धिमान प्राणी विकसित हुए हों, तो भी हो सकता है कि वे इतने अधिक

समय तक कायम न रहे हों कि शेष तारावलां को प्रभावित करने में समर्थ हों। फिर भी, यदि हम यह मान लें कि 10 लाख जीवनवाहक ग्रहों में से एक में बुद्धिमान जीव का विकास हुआ, जो अपना विनाश किये बगैर बराबर कायम है, तो यह मानना अनुपयुक्त नहीं कि हमारी आकाशगंगा में कम से कम 64 प्रकार के बुद्धिमान जीव विद्यमान हैं। यह भी सम्भव है कि इनमें से आधे या 32 किस्म या जाति के प्राणी हमसे भी अधिक बुद्धिमान हों और उनके सामने हम बन्दरों की कोटि में गिने जायें।

किन्तु, अगर ऐसा है, तो ये अतिबुद्धि वाले प्राणी हैं कहाँ ? भले ही हम उनके पास पहुँचने के साधन विकसित करने में असमर्थ रहे हों, पर वे तो हम तक पहुँचने के साधन विकसित कर सकते थे। वे अभी तक हमारे यहाँ आये क्यों नहीं ? उनके अभी तक प्रकट न होने की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं हैं। हो सकता है कि हम पृथ्वी के अलावा अन्य ग्रहों पर रहने वाले अतिबुद्धिमान प्राणियों से सम्पर्क कायम करने में सदैव असफल रहें। यह भी हो सकता है कि हमें उनके अस्तित्व की कभी भी जानकारी प्राप्त न हो सके। सृष्टि की प्रक्रिया ऐसी है कि उसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। फिर भी, अगर हम किसी दिन किसी अन्य ग्रह के ऐसे प्राणी से सम्पर्क बना सकें जो कम से कम हमारे जितना बुद्धिमान हो, तो वह इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण और रोमांचकारी घटना सिद्ध होगी।

प्रो० निगम एफ० एन० ए० बने

विज्ञान परिषद् के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री व कोषाध्यक्ष तथा 'विज्ञान' के भूतपूर्व सम्पादक प्रोफेसर हीरालाल निगम को, जो आजकल इन्दौर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष हैं, इन्डियन नेशनल साइंस एकेडमी (इन्सा) का 'फेलो' मनोनीत किया गया है। डॉ० निगम ने 1958 में लंदन विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। अपने 1957 में रोम, 1959 में लन्दन, 1962 में स्टाकहोम, 1970 में सिडनी, 1972 में टोरन्टो, 1972 में ही मिशिगन, 1974 में डबलिन और सितम्बर 1976 में हामबुर्ग में हुये रसायन विज्ञान के सम्मेलनों में भाग लिया और कई गोष्ठियों की अध्यक्षता की। आपके सौ से अधिक शोध पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। आपने कई पुस्तकें लिखीं हैं। 'प्रकाश रसायन' तथा 'अकार्बनिक रसायन' मुख्य हैं। विज्ञान परिवार की ओर से डॉ० निगम को उनके इस सम्मान के लिये बधाई !

फल परिवर्धन का जीव-रसायन

कन्हैया लाल

पौधों में ऊतक के रसायनिक संगठन में बहुत निश्चित परिवर्तन के कारण फल परिवर्धन के समय अकारिकी परिवर्तन होता है। इसी कारण फल जैसे सेब, नारंगी आदि खाने हेतु अत्यधिक महत्वशील हैं। सामान्यत: फलों का मुख्य अंग कार्बोहाइड्रेट, नाइट्रोजनीय वस्तुयें तथा कार्बनिक अम्ल हैं जो कि एक निश्चित मात्रा में उपलब्ध रहती हैं। खाये जाने वाले फलों में शायद कम मात्रा में ऐल्डिहाइड तथा ऐस्टर भी होते हैं जिससे फलों में विशेष सुगन्ध होती है। फलों के इस विशिष्ट सुगन्ध से मानव फल की अच्छी किस्म की परीक्षण करने में सक्षम होता है। फलों में जो कार्बोहाइड्रेट पाये जाते हैं वे हैं ग्लूकोस, फ्रक्टोस, सुक्रोज और शायद माल्टोज, स्टार्च, डेक्स्ट्रोज तथा सेलुलोज आदि। फलों में मैलिक अम्ल और साइट्रिक अम्ल मुख्य हैं। सेब में मैलिक अम्ल मुख्य रूप से पाया जाता है तथा सन्तरे, नींबू व चकोतरे आदि में साइट्रिक अम्ल प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अंगूर में टारटैरिक अम्ल मुख्य होता है।

फल के पकने के समय होने वाले रासायनिक परिवर्तन को बहुत से पौधों में देखा गया है। मिस अर्चवोल्ड नामक वैज्ञानिक ने सेब की दो जातियों (वार्केस्टर पीयरमेन और ब्रामलीज सीडलिंग) का रासायनिक विश्लेषण करके परीक्षण किया। उन्होंने समयान्तर में ऐसे फल लिये जिसमें पेटल्स प्राय: झड़ चुके थे लेकिन रंगहीन नरपुष्पांग लगे थे। सर्वप्रथम उनमें तीन सप्ताह तक स्टार्च नहीं था। उसके बाद स्टार्च का बनना शुरू हुआ और 5 से 6 सप्ताह तक वार्केस्टर पीयरमेन तथा 8 से 10 सप्ताह तक ब्रामलीज सीडलिंग में स्टार्च की मात्रा बढ़ती हुई देखी गयी। उस समय वार्केस्टर पीयरमेन में अधिक से अधिक स्टार्च 2% तथा ब्रामलीज सीडलिंग में 1·3% होती है। परिवर्धन की दूसरी अवस्था में स्टार्च धीरे-धीरे कम होता है यहाँ तक कि दूसरे 6 सप्ताह में वार्केस्टर पीयरमेन में स्टार्च की मात्रा बहुत ही कम तथा ब्रामलीज सीडलिंग में शून्य हो जाती है।

फल परिवर्धन के समय सम्पूर्ण शर्करा लगभग 1% पायी जाती है जो कि लगातार धीरे धीरे बढ़ती है और स्टार्च के लुप्त होने के समय, शर्करा की मात्रा लगभग 9 से 12% हो जाती है। शुरुआत में शर्करा में ग्लूकोस की मात्रा औरों की तुलना में अत्यधिक होती है। वार्केस्टर पीयरमेन में ग्लूकोस 0·86%, फ्रक्टोस 0·32% तथा सुक्रोज 0·48% होता है। ब्रामलीज सीडलिंग में ग्लूकोस 0·81%, फ्रक्टोस 0·27% तथा सुकरोज 0·19% होता है। ये तीनों शर्करा पूर्व निश्चित सम्बन्ध के अनुसार तब तक बढ़ती हैं जब तक कि स्टार्च बनता है। स्टार्च की सान्द्रता के बढ़ते समय शर्करा की सम्पूर्ण सान्द्रता लगभग निश्चित दर से बढ़ती है। लेकिन अलग से शर्करा के ग्लूकोस की सान्द्रता प्रयोगात्मक रूप से निश्चित रहती है, जबकि फ्रक्टोस की सान्द्रता तेजी से बढ़ती है और परिपक्व फल में फ्रक्टोस ग्लूकोस से ज्यादा होता है। सुक्रोज

की सान्द्रता वार्केस्टर पीयरमेन में स्टार्च के लुप्त होने के पहले तक बढ़ती है।

सेब में कार्बनिक अम्ल की सान्द्रता भी प्रथम 3 सप्ताह तक स्टार्च के बनने के ठीक बाद तक बढ़ती है और वार्केस्टर पीयरमेन में कार्बनिक अम्ल लगभग 1·3% तथा ब्रामलीज सीडलिंग में करीब 2% होती है। धीरे-धीरे अम्ल की सान्द्रता स्टार्च के लुप्त होने के आधे समय तक कम होती है।

वृक्ष से फल के टूटने के बाद संग्रह करने के समय श्वसन के फलस्वरूप क्रमशः शुष्क भार में कमी होती है। फल में कुछ छूटा हुआ स्टार्च सर्वप्रथम लुप्त हो जाती है। ग्लूकोस और फ्रक्टोस के टूटने से सुकरोज की सान्द्रता भी कम हो जाती है। शुरुआत में हेक्सोज शर्करा की सान्द्रता बढ़ती है जो कि श्वसन द्वारा सुक्रोज के टूटने से हेक्सोज की कमी में बाढ़ सी आ जाती है। जैसे-जैसे समय गुजरता है वैसे-वैसे सुक्रोज के टूटने की दर भी कम होती है। अन्त में नष्ट होने की तुलना में हेक्सोज की मात्रा बहुत कम होती है। स्वभावतः हेक्सोज की सान्द्रता भी कम हो जाती है। हेक्सोज की सान्द्रता में परिवर्तन मुख्यतः फ्रक्टोज में होती है, जब कि ग्लूकोज की सान्द्रता संग्रह के पूर्ण अवधि तक प्रयोगात्मक रूप से नहीं बदलता है। कार्बनिक अम्ल की सान्द्रता लगातार बदलती रहती है।

डेविस और कार्किंग महोदयों ने टमाटर के फल के परिवर्धन और पकने के प्रक्रिया का परीक्षण किया। उन लोगों का अध्ययन फल में उपस्थित लाक्यूल ऊतक पर ही केन्द्रित था, लेकिन विश्वास के लिये अच्छा कारण है कि इस ऊतक में वही परिवर्तन होता है जो कि पूरे फल में। इस ऊतक के परिवर्धन के समय प्रत्येक कोशिका में न्यूक्लिक अम्ल तथा प्रोटीन के स्तर में भी परिवर्तन हुआ होता है। हल्मे जैसे वैज्ञानिक ने सेब में जलवायु के समय प्रोटीन संश्लेषण की दर बढ़ती हुई देखा। वैंग, डोयल तथा रामज़े ने सलाह दिये हैं कि ग्लूकोस के स्तर में अवकृत शर्करा इसलिये बढ़ता है कि श्वसन की दर जलवायु के समय अधिक होती है और ATP की उत्पत्ति से प्रोटीन संश्लेषण उत्तेजित होता है। यह सम्भव है कि किसी तरह प्रोटीन संश्लेषण के लिये ATP का उपयोग उन कारकों में से एक है जो कि श्वसन के लिये आवश्यक समझा जाता है।

पादप कार्यिकी अनुभाग,
वनस्पति विज्ञान विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

नोबेल पुरस्कार

वर्ष 1976 का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार दो अमरीकी भौतिकविदों प्रो० बर्टन रिश्टर तथा प्रो० सैमुएल सी०सी० ढिंग को न्युक्लीय भारी कण की खोज के लिये प्रदान किया गया है। रसायन शास्त्र का पुरस्कार भी अमरीकी रसायनज्ञ प्रो० विलियम लिप्सकॉम्ब को बोरेनों के रसायन पर वृहत अध्ययन के लिये दिया गया है। दोनों विषयों के पुरस्कार की राशि इस वर्ष 681000 क्रोनर (154000) डॉलर है।

मंगल ग्रह पर जीवन की खोज

डॉ० शिव प्रकाश

10000 कार्यकर्ताओं के लगातार 8 वर्षों तक डिज़ाइन, निर्माण तथा परीक्षण में लगे रहने के उपरान्त मंगल ग्रह पर जीवन की खोज करने के निमित्त 100000 लाख रुपये की लागत से तैयार किये गये वाईकिंग—1 तथा वाईकिंग—2 के सुरक्षित मंगल तल पर उतर जाने पर तमाम उन वैज्ञानिकों को हर्ष तथा संतोष हुआ जो इससे किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहे हैं। 576 किग्रो० के वाइकिंग—1 का लैंडर 20 जुलाई 1976 को अवतरित हुआ और 3800 लाख किलोमीटर दूरी से अपने अवतरण का संकेत पृथ्वी को भेजा। इसमें 925000 पुर्जे लगे हैं और अवतरण के समय सबके सब बिना किसी त्रुटि के पाये वाइकिंग प्रोजेक्ट मैनेजर जेम्स मार्टिन ने बताया गये। कि हमें आशा नहीं थी कि सभी 925000 पुर्जे ठीक ठाक पहुँच जायेंगे 3 सितम्बर को वाईकिंग-2 के अवतरण से सारी मशीनें पृथ्वी को तमाम आंकड़े सम्प्रेषित करने में लग गईं और वाइकिंग—1 द्वारा किये गये परिणामों की सम्पुष्टि की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

मंगल से पृथ्वी तक संदेश आने में 20 मिनट लग जाते थे। 380 लाख किलोमीटर दूरी पर बसे दो ग्रहों के बीच संदेश पहुँचने में काफी ऊर्जा लगती है और ट्रांसमिटर गरम हो जाता है अत: लैण्डर प्रत्येक सुबह केवल 50-80 मिनट के लिये सूचनाएं भेजता रहा। लैण्डर तथा आर्बिटर एक दूसरे के सम्पर्क में 42 मिनट तक रहते थे। उस समय लैण्डर सारी सूचनाएं आर्बिटर को देता और फिर उन सूचनाओं को लगभग 3 घण्टे तक आर्विटर पृथ्वी को प्रेषित करता। प्रतिदिन 200-260 मिनटों तक के लिये जेट प्रोपेलशन लैब्रोट्री, पासाडीना में सूचनायें ग्रहण की जाती रहीं।

वाइकिंग—1 के वैज्ञानिकों ने मंगल का अपेक्षाकृत निचला और गर्म क्षेत्र अवतरण के लिए इसलिए चुना ताकि उन्हें मंगल ग्रह के अत्यधिक ठण्डे वातावरण का सामना न करना पड़े। मान्यता यह है कि यद्यपि अधिकांश समय जल वर्फ के रूप में रहता है परन्तु दिन में गर्मी पड़ने पर धरातल की बर्फ कुछ पिघल जाती है तथा धूल के कारण यह जल तुरन्त वाष्प के रूप में परिणत नहीं होता है। इस प्रकार मंगल ग्रह पर विद्यमान सूक्ष्म जीवों को—यदि वहाँ उनका अस्तित्व है—अपनी जीवन रक्षा के लिए पर्याप्त जल सुलभ हो जाता है।

वाइकिंग—1 के उपकरणों से यह सूचना लेनी थी कि मंगल ग्रह के धरातल पर विद्यमान बर्फ किसी भी समय द्रवीभूत जल के रूप में बदलती है या नहीं।

वाईकिंग की जैविक प्रयोगशाला में 29 जुलाई को मंगल ग्रह के धरातल का नमूना पहुँचा, मिट्टी का यह नमूना 11 दिनों तक वहाँ रहा तथा इस अवधि में उसमें विद्यमान जीवाणुओं को—यदि उनका कोई अस्तित्व मिट्टी में है—पनपने का पूर्ण मौका दिया गया।

हो सकता है कि प्रारम्भिक परिणाम निर्णायक

न हों, परन्तु उनसे वैज्ञानिकों को मंगल ग्रह पर जीवन की विद्यमानता अथवा अभाव के बारे में पहले से अधिक जानकारी प्राप्त हो जायेगी।

आरम्भ में लैण्डर की उस भुजा में दोष उत्पन्न हो गया था जिससे मंगल के धरातल से मिट्टी लेकर उसका परीक्षण करना था। बाद में इस दोष को दूर कर दिया गया और प्रयोग आरम्भ किया जा सका।

वाइकिंग योजना से सम्बद्ध किसी भी वैज्ञानिक को यह आशा नहीं थी कि मंगलग्रह पर जीवन के अस्तित्व का पता लगाने सम्बन्धी प्रयोग सरल सिद्ध होंगे। पृथ्वी पर भी, जहाँ मिट्टी में हर जगह सूक्ष्म जीवन का अस्तित्व विद्यमान है, इनकी मौजूदगी का पता लगाना वैज्ञानिकों के लिए एक कठिन कार्य होता है। अतः पृथ्वी से 21 करोड़ 50 लाख किलोमीटर की दूरी पर स्थित एक अन्य ग्रह के धरातल पर, इतनी अधिक दूरी से संचालित और नियन्त्रित उपकरणों द्वारा जीवन की खोज करना कितना कठिन कार्य होगा, इसका अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। वाइकिंग—1 एवं वाइकिंग—2 में जो संवेदनशील उपकरण रखे गये थे, उन्हें इतनी लम्बी अन्तरिक्ष यात्रा में आने वाले खतरों से बच कर ही नही निकलना पड़ा है, बल्कि धरातल पर उतरने के अत्यन्त दुष्कर कार्य में उनमें किसी भी प्रकार का दोष उत्पन्न हो सकता था। यह एक अत्यन्त जटिल और असम्भव प्रतीत होने वाला कार्य लगता था विशेष रूप से इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि आज तक सौर मण्डल के इस ग्रह पर कोई भी यन्त्र या उपकरण सफलतापूर्वक नहीं उतारा जा सका था। यही नहीं, इन अन्तरिक्ष यानों में रखे गये बहुत से उपकरणों का निर्माण कई वर्ष पूर्व हुआ था और उस समय मंगल ग्रह में विद्यमान रासायनिक परिस्थितियों से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण बातों का उपकरण-निर्माताओं को कोई पता नहीं था।

20 जुलाई, 1976 को, वाइकिंग—1 के मंगल के धरातल पर उतरने के बाद वैज्ञानिकों को पहली बार यह पता चला था कि उसके वायुमण्डल में नाइट्रोजन का कुछ अंश भी विद्यमान है (लगभग 3%)। पृथ्वी में हम जिस हवा में सांस लेते हैं उसमें 4/5 भाग नाइट्रोजन का रहता है और जीवन के पनपने के लिए जिन थोड़े से तत्वों का होना परम अनिवार्य माना जाता है, उनमें नाइट्रोजन भी एक है। अतः इस खोज से वैज्ञानिकों का उत्साह बहुत बढ़ गया कि मंगल ग्रह के वायुमण्डल में 3 प्रतिशत नाइट्रोजन भी विद्यमान है। इस खोज से मंगल ग्रह के धरातल पर जीवन विद्यमान होने की सम्भावना भी बहुत उज्ज्वल हो गयी। फिर भी, वैज्ञानिक इस प्रारम्भिक खोज पर उस समय तक पूरी तरह विश्वास नहीं कर पाये जब तक वाइकिंग—1 के लैण्डर द्वारा उसकी निर्णायक रूप से पुष्टि नहीं कर दी गयी।

वाइकिंग—1 के अन्दर जिस जैविक-प्रयोगशाला की स्थापना की गयी, वह वस्तुतः एक बहुत ही जटिल और संवेदनशील यान्त्रिक प्रणाली है। एक प्रकार से उसे एक 'चमत्कार' की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें एक मिट्टी का नमूना एकत्र करने वाली प्रणाली है जो एक छोटे से विद्युतचालित ट्रेन के इंजन की तरह कार्य करती है। इसमें मिट्टी को पूरी तरह पकाने के लिए चार सूक्ष्म कोषों की व्यवस्था की व्यवस्था की गयी है, चार विभिन्न पोषक तत्व शामिल किये गये हैं तथा रेडियोसक्रिय कार्बन की विद्यमानता की सूचना देने वाले दो अनुसूचक यन्त्रों की भी व्यवस्था इसमें की गयी है। इसके अतिरिक्त, इसमें एक ताप प्रसार अनुसूचक, गैस का विश्लेषण करने वाली एक यान्त्रिक प्रणाली, 43 हीटरों, चार शीतकारी यन्त्रों, 39 सूक्ष्म वाल्वों, कृत्रिम सूर्य प्रकाश देने वाला एक लैम्प, 22,000 ट्रांजिस्टर तथा 18,000 अन्य विद्युदणु पुर्जों को

भी स्थान दिया गया है। संक्षेप में, पृथ्वी पर, किसी विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला के एक बड़े कमरे को पूरी तरह घेर लेने वाले यन्त्रों और उपकरणों जितना काम करने में यह सूक्ष्म प्रयोग-शाला पूरी तरह समर्थ है। इस प्रयोगशाला का आकार इतना सूक्ष्म है कि कोई व्यक्ति एक हाथ में आसानी से उसे उठा कर ले जा सकता है। अब, यही प्रयोगशाला मंगल ग्रह के धरातल पर सक्रिय रही तथा वहाँ जीवन की खोज करने के में जुटी रही।

सहज ही प्रश्न उठता है कि किसी अन्य ग्रह के धरातल पर, ऐसे सूक्ष्म जीवाणुओं का पता यन्त्रों द्वारा कैसे लगाया जा सकता है जो प्रकट दृष्टिगोचर नहीं रहते। वाइकिंग—1 में कोई दूरवीक्षण यन्त्र नहीं रखा गया और अधिकांश वैज्ञानिकों को इस बात की पहले से कोई आशा नहीं थी कि मंगल ग्रह पर विद्यमान जीवों का (यदि वहाँ जीवन का अस्तित्व हुआ) आकार इतना बड़ा होगा कि वाइकिंग का कैमरा उनका चित्र उतार सके। अवतरण-स्थल के जो चित्र प्राप्त हुए उनसे भी इस धारणा की पुष्टि हुई। अतएव एकमात्र उपाय यही बच रहता था कि वैज्ञानिक धरातल की मिट्टी की जांच करें और यह मालूम करें कि क्या इस मिट्टी में जैविक सक्रिय करने वाले कोई तत्व विद्यमान और सक्रिय हैं। इसमें भोजन ग्रहण करने, सांस लेने और भोजन को ऊर्जा में परिवर्तित करने की प्रक्रिया शामिल है।

1960 के दशक में जीवन की खोज करने के लिए प्रयुक्त हो सकने वाले अनेकों तरीकों के बारे में व्यापक अध्ययन और अनुसन्धान होता रहा है। 1969 में जैव वैज्ञानिकों की एक टोली ने यह सिफारिश की थी कि किसी भी एक प्रयोग द्वारा जीवन की विद्यमानता का पता लगा पाना सम्भव नहीं है। इसलिए, उसने मंगल के धरातल पर चार विभिन्न प्रयोग करने की सिफारिश की थी। लेकिन, इनमें से एक प्रयोग समय, इन्जिनियरिंग बाधाओं तथा भारी लागत के कारण, 1973 में छोड़ दिया गया। शेष तीन प्रयोगों की व्यवस्था वाइकिंग अन्तरिक्षयानों में की गयी। यह तीनों प्रयोग मंगल ग्रह के सूक्ष्म जीवाणुओं की प्रकृति के बारे में सर्वथा भिन्न-भिन्न और कई दृष्टियों से परस्पर विरोधी मान्यताओं पर आधारित हैं। प्रथम प्रयोग का लक्ष्य मंगल ग्रह के धरातल की मिट्टी में उपापचय प्रक्रिया की खोज करना था। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा पृथ्वी पर विद्यमान छोटे-बड़े जीव जीवित रहते हैं। इसका एक उदाहरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत मनुष्य भोजन और आक्सीजन का उपयोग ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए करता है तथा कार्बन डाइ आक्साइड और जल-वाष्प का निस्सरण करता है। सूक्ष्म जीवाणुओं में यह प्रक्रिया कई प्रकार से गतिमान रहती है, लेकिन इस क्रिया में गैसों का सृजन और उपयोग अवश्य होता है।

यह प्रयोग कई धारणाओं पर आधारित है। इनमें से एक धारणा यह है कि जैविक प्रतिक्रियाएँ किसी न किसी द्रव में आग्रत होती है। पृथ्वी पर यह जल में सक्रिय है। एक दूसरी धारणा यह है कि मंगल ग्रह के सूक्ष्म जीवाणु अपने वातावरण से मिश्रण ग्रहण करते हैं और गैस का निस्सरण करते हैं। एक तीसरी मान्यता यह है कि इन मिश्रणों में कार्बन के अपेक्षाकृत बहुत सरल कण रहते हैं। एक चौथी मान्यता यह है कि मंगल ग्रह के धरातल पर साधारण जैविक कार्बन मिश्रण मौजूद हैं। प्रथम प्रयोग मंगल ग्रह की मिट्टी में विद्यमान किसी भी सूक्ष्म जीवाणु का पता लगाना था। इसके लिए लैक्टेट (फटे दूध में विद्यमान एक लवण तत्व), क्लाइसिन (एक सामान्य एमिनो एसिड) और ग्लाइसिन (एक अन्य एमिनो एसिड) का उपयोग किया गया है। इनमें से प्रत्येक में कार्बन के एक या दो अणु

पाये जाते हैं। वाइकिंग में सामान्य कार्बन अणु के स्थान पर रेडियो सक्रिय अणु का प्रयोग किया गया ताकि गीगर गणक यन्त्र की सहायता से उसमें घटित होने वाली क्रिया का पता लगाया जा सके।

वैज्ञानिकों को आशा थी कि यदि मिट्टी में विद्यमान कोई भी सूक्ष्म जीवाणु इनमें से किसी भी तत्व का आहार के रूप में प्रयोग करता है तो इसके फलस्वरूप निःसृत होने वाली गैसें कार्बन के अणुओं से लिपट जायेंगी और इस प्रकार उनका पता चल जायेगा। यदि जीवाणु मिट्टी में मौजूद हैं और पोषक तत्वों को ग्रहण करने से उनकी संख्या बढ़ती है तो रेडियो सक्रिय गणना में निरन्तर वृद्धि होती जायेगी। इस क्रिया को पूर्ण होने में, अर्थात् जीवाणुओं के पनप कर बढ़ने में, लगभग 10 दिन का समय लगता है। अतः 9 दिन बाद पोषक तत्वों की दूसरी खुराक मिट्टी में डाली गई। यदि जीवन के विद्यमान होने के संकेत मिलते तो प्रकोष्ठ को बिल्कुल खाली कर मिट्टी को पूरी तरह जीवाणु रहित कर उस पर पुनः प्रयोग किया जाता। लेकिन, यदि समान परिस्थितियों में रेडियो सक्रिय गैसों की मौजूदगी का पता चलता तो यह माना जा सकता था कि इसके लिए 'जीवन' के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण जिम्मेदार हो सकता है। लेकिन, जीवाणु रहित नमूने से गैसें नहीं निकली तो यह मान लिया गया कि गैसों का सृजन जैविक प्रकिया का फल था।

दूसरे, प्रयोग को "गैस विनिमय प्रयोग" की संज्ञा दी गयी और इसका उद्देश्य भी उपापचय की प्रक्रिया की टोह लेना था। इस प्रयोग में भी जीवाणुओं का पोषण करने वाले तत्वों का उपयोग हुआ और उनके द्वारा छोड़ी जाने वाली गैस को मापा गया। लेकिन इस प्रयोग में पोषक तत्वों के रूप में विटामिन युक्त मिश्रणों का उपयोग हुआ। इसमें 59 मिश्रण थे जिनमें से 18 एमिनो एसिड और विटामिन थे। 19 दिन के बाद पोषक मिश्रण की दूसरी खुराक मिट्टी में डाली जा सकती थी या पहले प्रयोग की अवधि 19 दिन के लिए और बढ़ाई जा सकती थी। यदि जीवाणुओं की विद्यमानता का आभास मिलता तो मिट्टी के नमूने को जीवाणुरहित कर पुनः उस पर यही प्रयोग किया जा सकता था।

तीसरे प्रयोग का लक्ष्य मंगल ग्रह पर सूक्ष्म वनस्पतियों की मौजूदगी का पता लगाना था। इसमें कोई पोषक मिश्रण प्रयुक्त नहीं हुआ, लेकिन इसमें रेडियो सक्रिय कार्बन डाइआक्साइड और कार्बन मोनोआक्साइड का प्रयोग कृत्रिम सूर्य प्रकाश में किया गया। पृथ्वी पर पौधे कार्बन डाइआक्साइड ग्रहण करते हैं और सूर्य के प्रकाश की सहायता से उसे ऊर्जा में परिणत कर देते हैं। इस प्रक्रिया को 'प्रकाश संश्लेषण' कहते हैं और सभी हरे पौधे इस प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। यदि मंगल ग्रह पर यह प्रक्रिया सक्रिय है तो उक्त प्रयोग द्वारा 5 दिन में उसका पता चल जायेगा।

वैज्ञानिकों को इस बात की पूरी आशा थी कि उक्त तीन प्रयोगों द्वारा यह पता लगाया जा सकेगा कि मंगल ग्रह पर जीवन का अस्तित्व है अथवा नहीं। यद्यपि, इन प्रयोगों को शत-प्रतिशत विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, फिर भी वाइकिंग योजना के वैज्ञानिकों को यह विश्वास था कि यदि मंगल ग्रह पर किसी भी रूप में जीवन का अस्तित्व है और वहाँ की मिट्टी में जीवन विद्यमान है, तो उक्त प्रयोगों द्वारा निश्चय ही उसका पता चल जायेगा। इस खोज का मानव सभ्यता पर बहुत ही दूरगामी प्रभाव पड़ता। निश्चय ही यह विज्ञान की सबसे महान् सफलता होती और जीव-वैज्ञानिकों को जीवन की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं में फेरबदल करनी पड़ती। दार्शनिकों को भी इसके परिणामों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना पड़ता क्योंकि उनको यह

मालूम हो जाता कि हमारे सौरमण्डल के अन्य किसी ग्रह में भी जीवन का अस्तित्व है।

चित्रों तथा आंकड़ों की सहायता से वैज्ञानिक यह निष्कर्ष निकालने पर मजबूर हैं कि मंगल ग्रह बर्फ के एक बड़े 'लाली पॉप' के रूप में इस समय है और यह ग्रह 'बर्फ युग' की लपेट से बाहर नही निकल पाया है विश्वास किया जाता है कि मंगल पर हमारी पृथ्वी से भी अधिक पानी है जो कि अब जम गया है और बर्फ के रूप में है।

'चिकेन सूप' नामक प्रयोग से मंगल पर होने वाली जैविक क्रियाओं की जानकारी प्राप्त करना था। पर सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग रसायनशाला में होना था जिसके द्वारा वहाँ को मिट्टी में कार्बनिक यौगिकों की उपस्थिति का पता लगाना था। कार्बनिक यौगिक ही जीवन की निर्माण इकाइयां हैं। इसके लिये प्रयोगशाला में लगे गैस क्रोमेटोग्राफ, द्रव्य स्पेक्ट्रोग्राफ की सहायता ली जानी थी। खेद का विषय है कि जब मिट्टी के प्रतिदर्श को पहले 20° फिर 500° सें० तक गर्म करके उसका परीक्षण किया गया तो कार्बनिक यौगिकों के उपस्थित होने का कोई भी प्रमाण नहीं मिला। थोड़ी बहुत बेंज़ीन की जो उपस्थिति पाई गई वह तो पहले से ही यान में रखी गई बेंज़ीन थी। इस प्रयोग से वैज्ञानिकों को बड़ी निराशा हुई है। यद्यपि यह प्रयोग अभी दोहराय गया तथापि मंगल पर जीवन पाये जाने की आशा बराबर क्षीण होती गई है। वाइकिंग-1 द्वारा भेजे गये संदेश के अनुसार जब जैविक प्रयोग द्वारा उत्पन्न गैसों की उपस्थिति पाई गई थी तो आशा बंधी थी कि हो न हो यह गैसें उन कार्बनिक यौगिकों से होने वाली अभिक्रिया के फलस्वरूप मुक्त हुई हैं जो वहाँ भी मिट्टी में हो सकते हैं। वाइकिंग-2 के प्रयोगों से इसकी पुष्टि की जाने वाली थी और अब तक के आंकड़े निराशाजनक ही रहे हैं।

कुछ भी हो वाइकिंग योजना से चाहे अभी शीघ्र ही कुछ परिणाम न प्राप्त हो पर भविष्य में इनके आधार पर पृथ्वी पर जो प्रयोग किये जायंगे उनसे दूरगामी परिणाम पाये जाने की संभावना है। एक विश्वविद्यालय के बड़े कक्ष में लगे हुए तमाम उपकरणों को इस प्रकार छोटे-२ यंत्रों में बदल कर प्रयोगशालाएँ वाइकिंग में बनाई गई है जिन्हें हाथ पर उठाया जा सकता है। यह स्वयं में बहुत बड़ी उपलब्धि है और इस तकनीक का भावी प्रयोगों और योजनाओं में वृहद हाथ रहेगा ऐसी आशा की जाती है।

● ●

ग्राहकों से निवेदन है कि वह अपने वार्षिक चन्दे का नवीकरण करा लें।

अध्यापन में सहायक

लेखन प्रोजेक्टर

नरेशचन्द्र 'पुष्प'

कक्षाओं में विषय को भली भांति समझने के लिये श्यामपट (ब्लैक बोर्ड) की आवश्यकता होती है। प्राध्यापक श्यामपट पर लिखकर, चित्र बना कर अपने विषय को समझाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी अध्यापकों को विशाल कक्षाओं को भी संबोधित करने के अवसर प्राप्त आते हैं। ऐसी दशा में समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। पीछे के विद्यार्थियों को शब्द स्पष्ट दिख सकें इससे प्राध्यापकों को बड़े अक्षरों में लिखना पड़ता है जो अध्यापकों के लिये एक समस्या हो सकती है। ब्लैक बोर्ड के ऊपरी भाग में लिखने में भी समस्या हो सकती है क्योंकि संभव है प्राध्यापक इतनी ऊंचाई तक न पहुँच सके या नीचे लिखने में पीछे बैठे छात्र न देख सकें। ऐसी अवस्थाओं में प्राध्यापक को कठिनाइयां अनुभव हो सकती हैं। फिर भी एक लम्बे अर्से से कालिख पुते लकड़ी के बोर्ड का ही परम्परागत रूप से उपयोग होता आ रहा है। भविष्य में इस दिशा में काफी सुधार होने की संभावनायें हैं। भविष्य में परम्परागत श्यामपट के स्थान पर एक संयंत्र उपयोग में लाया जायेगा जिसे रार्बाटिंग प्रोजेक्टर या ओवर हेड प्रोजेक्टर नाम दिया गया है।

परम्परागत ब्लैक बोर्डों से सभी परिचित हैं। इन पर लिखने के लिए चाक का उपयोग किया जाता है जिससे हाथ और कपड़े मैले होने की पूरी संभावनायें होती है। साथ ही साथ प्राध्यापक को खड़े हो कर पढ़ाना भी अनिवार्य है। किन्तु भविष्य में उपयोग किये जाने वाले ओवर हेड प्रोजेक्टर में इस प्रकार की कोई समस्या या बाधा नहीं होगी बल्कि प्राध्यापक सरलता अनुभव करेंगे और अपनी कुर्सी पर बैठे ही बैठे लिख सकेंगे और चित्र भी बना सकेंगे। इस रोचक संयंत्र में एक विशेषता है कि प्राध्यापक एक कांच की पतली सतह पर कुछ भी लिखेगा। यह कांच की प्लेट प्राध्यापक की मेज पर ही लगी होगी। अतः आवश्यक नहीं कि प्राध्यापक खड़े होकर ही पढ़ायें। काँच की प्लेट के नीचे एक 500 वाट का बल्ब लगा होगा। इस बल्ब का प्रकाश कांच की प्लेट पर पड़ेगा। कांच की प्लेट पर अंकित चित्र या अक्षर मेज पर ही लगे एक दर्पण के सहयोग से कक्षा की दीवार पर प्रतिबिम्बित होंगे। ये प्रतिबिम्ब काफी चमकदार होंगे और आवश्यक नहीं कि कक्षा में अंधकार हो। दिन के प्रकाश में भी प्रतिबिम्ब को एकदम स्पष्ट देखा जा सकेगा।

परम्परागत रूप से उपयोग किये जाने वाले श्यामपटों पर लिखित शब्दों को बार-बार मिटाया जाता है। अतः डस्टर भी होना आवश्यक है। किन्तु ओवर हेड प्रोजेक्टर में डस्टर की कोई आवश्यकता ही नहीं है। प्रोजेक्टर में एक स्विच लगा होगा। इस स्विच को घुमाने मात्र से ही मेज पर एक नई पारदर्शी सतह तुरन्त आ जायेगी जिस पर पुनः लिखना आरम्भ कर दिया जायेगा। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि स्थाई लेखों-चित्रों के स्लाइड को प्रोजेक्टर में लगाकर कुछ महत्वपूर्ण विषयों को रोचक ढंग से पढ़ाने में भी सुविधा

ओवर हेड प्रोजेक्टर की कार्य प्रणाली

(1) प्रोजेक्शन लैम्प का फिलामेंट, (२) नतोदर दर्पण, (3) संघनित्र का प्रथम लेंस, (4) संघनिग का द्वितीय लेंस, (5) संघनित्र का प्रथम दर्पण, (6) संघनित्र का तृतीय लेंस, (7) लिखने के लिए प्लास्टिक की चादर, (8) अभिदृश्यक का पहला लेंस (9) अभिदृश्यक का द्वितीय लेंस, (10) अभिदृश्यक का दर्पण, 11, 12, 13, प्रकाश किरणें।

होगी। काँच की प्लेट पर ही लिख कर कार्य लिया जा सकता है जिसे लिखने के लिए पेन्सिल अथवा पेन का उपयोग किया जा सकता है सरलता से मिटाया भी जा सकता है।

सिद्धांत

ओवर हेड प्रोजेक्टर की क्रिया-प्रणाली का सिद्धांत पारदर्शी वस्तुओं पर अंकित चित्रों का लेंस द्वारा पर्दे (स्क्रीन) पर प्रतिविम्वित करने के सिद्धान्त पर आधारित है। तीव्र प्रकाश स्रोत से अधिक से अधिक मात्रा में प्रकाश एकत्र करके पारदर्शी लेखन पट पर इस प्रकार गिराया जाता है कि वह संपूर्ण क्षेत्र पर पड़ें। क्योंकि बाहरी क्षेत्र में पड़ा प्रकाश व्यर्थ ही जायेगा। यदि प्रकाश सही ढंग से लेखन पट पर नहीं गिर रहा है तो अशुद्ध, अपूर्ण या अधूरे चित्र ही प्रति-बिम्बित हो सकेंगे जो कोई भी सहयोग न कर सकेंगे। अत: अतितीव्र प्रकाश संपूर्ण लेखन पट पर गिरना चाहिये। संधनित्र लेंस प्रकाश को एकत्र कर दीवार पर प्रतिबिम्बित करता है। प्रकाश से आलोकित लेखन क्षेत्र का प्रतिबिम्ब पर्दे पर बनाने वाले लेंस को 'अभिदृश्यक' लेंस कहते हैं। प्रोजेक्टर द्वारा बिम्ब कितनी दूरी पर और कितना बड़ा बनेगा, यह ओवर हेड प्रोजेक्टर के अभिदृश्यक लेंस के फोकल लेंथ पर निर्भर होता है। यदि किसी विशेष दूरी पर अपेक्षाकृत बड़ा प्रतिबिम्ब चाहिये तो कम फोकल लेंथ का अभि-दृश्यक प्रयुक्त किया जाता है।

लेखन प्रोजेक्टर में उपयोग किये जाने वाले लैम्प की विशेषता होती है कि उसका फिलामेंट बहुत ही छोटा होता है। फिलामेंट की आकृति ऐसी बनी होती है कि उसका प्रकाश एक दिशा में ही जाता है। फिलामेंट के पीछे एक कानकेव दर्पण (अवतल) लगा होता है तो पीछे बिखरने वाले प्रकाश को आगे की ओर फेंक देता है। इस अवतल दर्पण के केन्द्र में ही फिलामेंट को व्यवस्थित किया जाता है जिससे बल्ब के फिलामेंट का बिंब फिलामेंट पर ही बने। यदि फिलामेंट का बिम्ब फिलामेंट पर नहीं बन रहा है तो ऐसी दशा में यही प्रयत्न करना चाहिये कि जहाँ तक

संभव हो बिम्ब फिलामेंट के निकट ही बनें। जिससे परावर्तित प्रकाश किरणों को अपने मार्ग में आगे बढ़ने पर फिलामेंट बाधा न उत्पन्न करें। दर्पण का आकार इतना होना चाहिये कि संघनित्र (कन्डेंसर) में अधिक से अधिक प्रकाश पहुँच सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि संघनित्र सीधे (डाइरेक्ट लाइट रे) तथा परावर्तित दोनों प्रकार के प्रकाश को सम्मिलित रूप से लेखन क्षेत्र में डालता है। अब अभिदृश्यक लेंस का यह कार्य है कि प्रकाश को एकत्र कर लेखन क्षेत्र पर डालता है। इसके लिए आवश्यक है कि संघनित्र लेंस फिलामेंट का प्रतिबिम्ब अभिदृश्यक पर बनाये और वह इतना छोटा हो कि अभिदृश्यक में समा जाये। संघनित्र की डिजाइन भी ऐसी बनानी चाहिये कि अभिदृश्यक के व्यास का पूरा उपयोग किया जा सके। आमतौर पर लेखन क्षेत्र 20×20 सें० मी० या 30×30 सें० मी० के आसपास होता है। इतने बड़े क्षेत्र को आलोकित करने के लिये संघनित्र का आकार भी बड़ा होना चाहिये। लेखन क्षेत्र के निकट लगाये जाने वाले बल्ब काफी बड़े भी लगाये जा सकते हैं। पर इससे उसकी मोटाई काफी बढ़ जाती है। अतः मोटाई को घटाने के लिए प्लास्टिक के बने छोटे-छोटे लैम्पों का उपयोग किया जा सकता है। इसे फ्रेनल लैम्प कहते हैं। इसमें लेंस की गोल सतह को कई चूड़ी नुमा आकृतियों में विभक्त कर एक ही सतह पर ले जाया जाता है और इस प्रकार अनावश्यक मोटाई कम हो जाती है। इस अनावश्यक मोटाई के हटने से प्रोजेक्टर का भार भी कम हो जाता। अतः इसे सरलता से इधर-उधर ले जाया जा सकता है।

प्रसन्नता की बात है कि इस संयंत्र का विकास भारतीय तकनीक के आधार पर हुआ है और भारत में ही उपलब्ध साधनों के माध्यम से ही इसका निर्माण हुआ है। अभी तक इन प्रोजेक्टरों में केवल साधारण लैम्पों का ही उपयोग किया जा रहा है किन्तु शीघ्र ही यह फ्रेनल लेंसों के साथ भी बनने लगेंगे। इस समय भारत में राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला दिल्ली, द्वारा बनाई गई डिजाइन पर 'संचार' नामक कम्पनी इसे बना रही है।

न्यू हैदराबाद
केदार नाथ मार्ग
लखनऊ—226007

राष्ट्रभाषा को अपना कर इसे और समृद्ध बनायें।

गुणा का जादू

निरानन्द

सन् 1968 की बात है तब मै दर्जा नौ में था। 2 से 40 तक का पहाड़ा तो पाठशाला में सभी पढ़ा लड़का जानता है, क्योंकि श्रीमान् आचार्य जनार्दन ही सख्ती बरता करते थे। किन्तु दो से अधिक अंक के गुणांक में दो से अधिक की संख्या से गुणा करना कठिन हो जाया करता था। बार-बार गुणा करने के बाद भी गलत।

इसी बीच एक जादूगर आया उसने मनोरंजक ताश का खेल दिखाया जिसको मैं भी कितनों को दिखा कर हैरत में डाल दिया करता हूँ। उसने खेल दिखाने के बाद क्लास भी लिया था। गणित का सबसे कठिन विषय गुणा को इतना आसान बना दिया कि यदि हम भारतवासी ढंग से समझ लें तो विद्यार्थियों को तो लाभ हो ही, कर्मचारीगण भी कम लाभान्वित नहीं होंगे।

१. विशिष्ट नियम के द्वारा

(क) 1 की संख्या वाली गुणनफल

यदि 1 की संख्या से बने तीन, चार……नौ अंकों की वर्ग करना है जिसे एक सौ ग्यारह, एक हजार एक सौ ग्यारह……ग्यारह करोड़ ग्यारह लाख ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह भी पढ़ा जाता है। तब उन्हें क्रमवार 1 से जितना अंकों की संख्या होती है लिख दिया जाता है और फिर उल्टा।

उदाहरण—111^2, 1111^2,……………… 11111111^2 करना है तो सीधा लिख देंगे—12321, 1234321,…12345678987654321

(ख) 3 की संख्या वाला गुणनफल

यदि 3 की संख्या से बने दो, तीन,……दौ अंकों को वर्ग करना है जिसे तैंतीस, तीन सौ तैंतीस,……तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस भी पढ़ा जाता है। सबसे पहले जितना अंक है उससे 1 कम बार 1 लिख लेते हैं, कम अंक को शून्य से लिख कर पूरा कर देते हैं। अब उन लिखे अंकों को बायें से क्रमवार 9 की संख्या से घटाकर शून्य के दायें तरफ लिख डालते हैं।

उदाहरण—33^2, 333^2,…… 333333333^9 को इस प्रकार लिखते हैं—1089, 110889,…… 111111110888888889

(ग) 6 की संख्या वाला गुणनफल

इस संख्या से बनाये गये अंकों के लिये जितना अंक है उससे 1 कम बार 4 की संख्या लिखते हैं कम अंक को 3 लिख कर पूरा करते हैं। अब लिखे गये अंकों को बायें से क्रमानुसार 9 की संख्या से घटा कर 3 के दायें तरफ लिख डालते हैं।

उदाहरण—66^2, 666^2,…666666666_2 को निम्न प्रकार से लिखते हैं– 4356, 443556, …444444443555555556.

(घ) 9 की संख्या वाली गुणनफल

पर्याप्त अंक से 1 अंक कम 9 की संख्या लिखते हैं। कम अंक को 8 की संख्या द्वारा पूरा कर डालते हैं। अब लिखे गये अंकों को क्रम से बायें से 9 की संख्या से घटाकर 8 की संख्या की दाईं तरफ लिख देते हैं।

उदाहरण—$99^2, 999^2, \ldots\ldots 999999999^2$ को इस प्रकार लिख डालते हैं—9801, 998001, ...999999998000000001.

२. व्यापक नियम के द्वारा वर्ग

यदि, $22^2, 222^2, \ldots\ldots 222222222^2$,
या, $44^2, 444^2, \ldots\ldots 444444444^2$,
या, $55^2, 555^2, \ldots\ldots 555555555^2$,
या, $77^2, 777^2, \ldots\ldots 777777777^2$,
या, $88^2, 888^2, \ldots\ldots 888888888^2$,

दिया हुआ है तो इस नियम के द्वारा दो से अधिक नौ अंक ही को नहीं कर सकते बल्कि और अधिक जितना करना चाहें कर सकते हैं।

मुख्य बात यह है कि इसके द्वारा सजातीय पदों को ही नहीं बल्कि विजातीय पदों को भी गुणा कर सकते हैं। पहले सूत्र जान लें इसके बाद उदाहरण प्रस्तुत करूँगा।

सूत्र

दिये हुये बहुसंख्यक भिन्नों से तिरछा गुणा इस प्रकार किया जाय कि दायें से पहले पद के बाद क्रम से दूसरा, तीसरा, चौथा,...... पद से होता बायें बढ़ता जाय तथा बीच के पदों में भी। साथ ही गुणनफल जुटता जाय और पहली क्रिया में जो हाथ लगे वह दूसरी क्रिया में, दूसरी से तीसरी में, तीसरी से चौथी में...... जुटता जाय। अन्तिम पद पर क्रिया एक बार पूरी हो जाने के बाद पुनः दायें से एक-एक पद कम होकर अन्तिम पद पर जब समाप्त हो जाते हैं तब जो अंक प्राप्त होता है वह सुलभ प्राप्त गुणनफल होता है।

मान लिया कि,

क ख ग घ² या, क ख ग घ × च छ ज का गुणनफल निकालना है। तो इनको निम्न क्रियाएं होंगी—

(क) गुणांक का पहला पद × गुणक का पहला पद,

(ख) गुणांक का पहला पद × गुणक का दूसरा पद
+गुणांक का दूसरा पद × गुणक का पहला पद
+(क) का हाथ आया,

(ग) गुणांक का तीसरा पद × गुणक का पहला पद
+गुणांक का पहला पद × गुणक का तीसरा पद
+गुणांक का दूसरा पद × गुणक का दूसरा पद
+(ख) का हाथ लगा,

(घ) गुणांक का चौथा पद × गुणक का पहला पद
+गुणांक का पहला पद × गुणक का चौथा पद
+गुणांक का दूसरा पद × गुणक का तीसरा पद
+गुणांक का तीसरा पद × गुणक का दूसर पद
+(ग) का हाथ लगा,

(च) गुणांक का दूसरा पद × गुणक का चौथा पद
+गुणांक का चौथा पद × गुणक का दूसरा पद
+गुणांक का तीसरा पद × गुणक का तीसरा पद
+(घ) का हाथ आया,

(छ) गुणांक का तीसरा पद × गुणक का चौथा पद
+गुणांक का चौथा पद × गुणक का तीसरा पद
+(च) का हाथ लगा,

(ज) गुणांक का चौथा पद × गुणक का चौथा पद

+(ग) का हाथ आया।

कभी ऐसा भी होता है कि या तो गुणांक अधिक होता है या गुणक। तब ऐसी अवस्था में कम संख्या वाली को ही गुणक मान लेना चाहिए। गुणांक की संख्या के बराबर बनाने के लिये गुणक के बायें तरफ उतना ही शून्य लिख देने में अति सरल हो जाता है। सूत्र के अनुसार कितना भी अंक हो गुणनफल प्रमाणित है।

उदाहरण—(i) 45^2,

या (ii) 367×824,

या (iii) 6739×2831.

या (iv) 50287×245.

क्रियाएं—

(i) 45 × 45 = 2025
- (क) $5 \times 5 = 25$
- (ख) $4 \times 5 + 5 \times 4 + 2 = 42$
- (ग) $4 \times 4 + 4 = 20$

(ii) 367 × 824 = 302403
- (क) $7 \times 4 = 28$
- (ख) $6 \times 4 + 7 \times 2 + 2 = 40$
- (ग) $3 \times 4 + 7 \times 8 + 6 \times 2 + 4 = 84$
- (घ) $3 \times 9 + 6 \times 8 + 8 = 62$
- (च) $3 \times 8 + 6 = 30$

(iii) 6739 × 2831 = 19078109
- (क) $9 \times 1 = 9$
- (ख) $3 \times 1 + 9 \times 3 = 30$
- (ग) $7 \times 1 + 9 \times 8 + 3 \times 3 = 91$
- (घ) $6 \times 1 + 9 \times 2 + 7 \times 3 + 3 \times 8 + 9 = 78$
- (च) $3 \times 2 + 6 \times 3 + 7 \times 8 + 7 = 87$
- (छ) $7 \times 2 + 6 \times 8 + 8 = 70$
- (ज) $6 \times 2 + 7 = 19$

(iv) 50287 × 00245 = 12320315
- (क) $7 \times 5 = 35$
- (ख) $8 \times 5 + 7 \times 4 + 3 = 71$
- (ग) $2 \times 5 + 7 \times 2 + 8 \times 4 + 7 = 63$
- (घ) $0 \times 5 + 7 \times 0 + 2 \times 4 + 8 \times 2 + 6 = 30$
- (च) $5 \times 5 + 0 \times 4 + 8 \times 0 + 2 \times 2 + 3 = 32$
- (छ) $8 \times 0 + 5 \times 4 + 0 \times 2 + 2 \times 0 + 3 = 23$
- (ज) $5 \times 2 + 2 \times 0 + 0 \times 0 + 2 = 12$

उदाहरण के दायें तरफ समझने के लिये क्रियायें की गई हैं। गुणनफल को स्वयं जांच भी कर लेना चाहिये। जो आप सभी जानते भी हैं, स्कूल की किताबों में होता है जिसे निम्न प्रकार क्रिया की जाती है—

सर्व प्रथम एक गुणा का चिन्ह किसी स्थान पर लगाते हैं। × के बायें, गुणांक को जोड़ कर 9 की संख्या से भाग देने पर जो शेष बचता है उसे लिखते हैं। दायें खाना में गुणक का योग में 9 से भाग देने पर जो शेष बचता है उसे 1 दोनों तरफ के अंकों को गुणा करने पर गुणनफल में 9 की संख्या से भाग देने पर जो शेष बचता है उसे ऊपर लिख देते हैं। अब गुणनफल में 9 से भाग देने पर जो शेष प्राप्त होता है वह ऊपर के खाना से यदि मिल जाता है तो गुणनफल सही माना जाता है। यथा—

उदाहरण (ii) में गुणांक $3 + 6 + 7 = 16$

$16 \div 8 =$ शेष 7

गुणक $8 + 2 + 4 = 14$

$14 \div 9 =$ शेष 5

$\therefore 7 \times 5$

अब, $7 \times 5 = 35$

$35 \div 9 =$ शेष 8

अतः
$$\begin{matrix} 8 \\ 7 \times 5 \end{matrix}$$

गुणनफल $3 + 2 + 4 + 8 = 17$

$17 \div 9 = 1$ शेष 8

अतः गुणनफल सही है।

द्वारा श्री गंगाप्रसाद (अनुरेखक)
शारदा सहायक खण्ड चतुर्थ
गिरिजापुरी-बहराइच

• •

बाल-विज्ञान

पक्षी जो सोकर शीतकाल बिताते हैं

मैं तुम्हें दो ऐसे पक्षियों के बारे में बता रहा हूँ जो सारा शीतकाल साँप, छिपकली, मेंढक आदि की तरह सोकर बिताते हैं। ये पक्षी हैं—अबाबील, बतासी। ये कई महीने कुम्भकरण की तरह सोकर बिताते हैं और बसन्त काल के आते ही बाहर आ जाते हैं।

अबाबील—उड़ने का चमत्कार—

शाम के झिलमिल प्रकाश में ये काफी देर पुराने मकान या मस्जिद के ऊपर गोल आकार में उड़ती है। यह अपने घोंसले वृक्ष में नहीं पुराने मकानों में बनाती है। मिट्टी व घास फूस को मिलाकर अपने मुँह से निकले हुए लार के सहारे मकान को छत पर चिपका देती है जो प्याले की शक्ल का होता है, जो देखने में मिट्टी के मकान जैसा लगता है। अबाबील अपने घोसलों के लिये निर्जन मकान ढूँढ़ती है। इनके पंजों की बनावट ऐसी होती है जिससे यह टहनी को नहीं पकड़ सकती है, यह जमीन पर भी नहीं चल सकती है। यह उड़ते हुए ही कीड़ों और पतंगों को पकड़ती है। अबाबील गौरैया से भीं छोटी होती है। इसकी दुम काफी लम्बी व दो फाँकी होती है। इसके बदन का रंग काला होता है। पीठ के नीचे एक सफेद चौड़ी धारी होती है। मुँह काफी चौड़ा होता है, जिससे उड़ते हुए पतंगों को पकड़ने में आशानी होती है। इनकी प्राय: तीन किस्में पायी जाती हैं। (i) घरेलू अबाबील—इसका पर उपर से लोहे के रंग की झलक लिये नीचे से हल्का पीला होता है। गले और कपोल पर बादामी ललाई और छाती पर एक काली धारी होती है। यह अप्रैल से मई में अंडे देती है। (ii) लिशरा अबाबील घरेलू अबाबील से छोटी पर सुन्दर होती है। इसकी दुम ज्यादा लम्बी होती है। यह विलायत में पाई जाती है। (iii) मस्जिद अबाबील यह घरेलू अबाबील जैसी होती है। इसका घोसला बोतल जैसा होता है। यह ज्यादातर पुराने खण्डहरों में रहती है। इसे अंग्रेजी में स्वालो कहते हैं। इसका नजर आना गर्मी का सूचक माना जाता है।

बतासी—यह भी अबाबील जैसा ही होती है। यह भीं पुराने मकानों पर दल बनाकर उड़ती है। बतासी का रंग लाल होध्वरा होता है। ठुड्डी गले और दुम की जड़ के पास का हिस्सा सफेद होते हैं। मुंह के निचले भाग पर हल्कापन होता है। चोच काली व लाल होती हैं। इसकी सारी आदतें अबाबोल जैसे ही होती है। यह भी उड़ते हुए कीड़े-पतंगों को खाती है। यह न तो जमीन पर बैठ सकती है न वृक्ष पर या तो उड़ती रहती है या डैनों के सहारे बैठती है। बतासी भी मुँह के लार से घोंसला बनाती है। यह जाड़े के दिन में अन्न-जल के बिना सोई पड़ी रहती है। कीड़े इनके पेट में गोलियाँ जैसे बनाती हैं। बतासी के बच्चे कई दिन बिना अन्न जल के रह सकते हैं। ये बड़े तेज उड़ते हैं 30 से 40 मील/घन्टा के हिसाब से उड़ते हैं। ये सोने में कुम्भकरण के समान होते हैं।

विज्ञान क्लब, नाथद्वारा से

विज्ञान-वार्ता

सूटकेसी परमाणु-बम—परमाणु बम को सूटकेस में ले जाने योग्य आकार का बनाना सिद्धान्तः संभव हो गया है। अमरीका के एक अध्ययन दल ने एक गोष्ठी में यह रहस्य खोलते हुए प्रकट किया कि खतरनाक से खतरनाक शस्त्रों को इतने छोटे आकार में बनाया जा सकता है कि अब से पहले इसका अनुमान लगाना कठिन था। हिरोशिमा पर जितनी शक्ति का परमाणु बम गिराया था, वैसा अब एक छोटे से दस्ती टेलिविजन जितना बड़ा बनाया जा सकता है, यानी अब जहाज की भी जरूरत नहीं होती है। एक आदमी आसानी से लाखों-करोड़ों लोगो को नष्ट करने वाला मारक शस्त्र लिये घूम सकता है। दुश्मन कहाँ तक चौकसी रखे।

परमाणु शक्ति से दिल भी चलेगा—परमाणु शक्ति दिल की धड़कन को बन्द तो कर ही सकती है उसमें उसे जारी करने या रखने की क्षमता भी है। लंदन से प्रकाशित एक रूसी पत्रिका "सोवियत-वीकली" के एक अंक में यह सूचना दी गयी थी कि मास्को के शोध-संस्थान को एक कृत्रिम-हृदय बनाने में कामयाबी हासिल हो गयी है। यदि आदमी का वास्तविक हृदय काम करना बन्द कर दे, तो कुछ समय के लिए नकली दिल के सहारे आदमी को जिंदा रखा जा सकता है। इस दिल का संचालन परमाणु उर्जा द्वारा किया जाता है।

बिना आँखों के दर्शन—आँख एक यंत्र है जिससे देखा जा सकता है, देखे गये का ठीक ठीक बोध करना मस्तिष्क का काम है। मस्तिष्क का एक विशेष भाग इस दायित्व को निभाता है। ब्रिटिश मेडिकल "रिसर्च कौंसिल" की देख रेख में पिछले दिनों इस संबंध में एक शोध चल रहा था। एक अंधे व्यक्ति के मस्तिष्क के अंश विशेष में छोटे-छोटे इलेक्ट्रोड लगाये गये। परीक्षण से पता चला कि वह प्रकाश के कुछ बिन्दु को देख सकता है आँख तो खराब थी ही। जिस प्रकार रेडियो व टेलिविजन सेट का रिसीवर विद्युत-चुम्बकीय तरंगों को आकाश से सीधे ग्रहण करता है, उसी प्रकार मस्तिष्क के रिसीवर भाग ने प्रकाश के विन्दुओं को इलेक्ट्रोड के माध्यम से सीधे ग्रहण किया, आ यंत्र की बिना किसी सहायता के। परीक्षण की सफलता से उत्साहिक होकर वैज्ञानिकों ने एक ऐसा यंत्र तैयार किया है जिसका उपयोग नयी किस्म के टेलिविजन कैमरों में किया जायेगा। ये कैमरे इस यंत्र की सहायता से मस्तिष्क के रिसीवर भाग मुद्रित अक्षरों के प्रकाश चित्रों का प्रेक्षण कर सके।

अंधे को सहारा—अंधे को सहारा? लाठी या छड़ी। ठीक है, मगर अब एक चीज और भी—एक जेबी राडार जो जेब में रखकर इस्तेमाल किया जाता है। भारत में तैयार किये जाने वाला अपनी किस्म का पहला यंत्र है। जो धारक को सामने की किसी भी वस्तु या रुकावट की सूचना आवाज करके दे सकता है। इसके आविष्कारक डा. टी. के. सक्सेना भी राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में शोधरत वैज्ञानिक हैं। इस यंत्र को टार्च की तरह से भी पकड़ा जा सकता हैं। इसके एयरफोन को कान की बजाय यदि आवश्यक हो तो चश्मे की फ्रेम पर भी कसा जा सकता है। यह यंत्र नौ वोल्ट की बैटरियों के सहारे चलेगा। और तीन मीटर तक की दूरी की चीज की सूचना दे सकेगा। प्रति दिन यदि इसे एक घण्टे काम में लिया जाय तो तीन माह तक दो बैटरियाँ चलेंगी। यंत्र की कीमत तीन सौ रुपये है। वास्तव में यह एक आवृति-माड्युलेटेड राडार है जो ध्वनि धारा प्रेषित करता है और सामने वाली रुकावट से टकरा कर लौटती हुई ध्वनि को ग्रहण कर लेता है। आवृति की पूर्व निर्धारित दर से सामने वाली वस्तु की दूरी का पता चल सकता है।

ड्राइक्लीनिंग बदन को—नाई से बाल बनवाने के बाद गर्दन व कालर पर गिरी कतरनों की चुभन या कतरन न गिरी हो तो भी यह अनुभूति की जरूर गिरी होगी और चुभ कर परेशान करेगी। कड़ाके की ठंड व बरसात (मूसलाधार) में नहाने को विवश कर देगी। मगर एक ब्रिटिश फर्म ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया। जिसकी कृपा से बाल कटवाने के तुरन्त बाद स्नान की जरूरत खत्म हो जाती है। मशीन का नाम—"बार्बर बैंक" है, सिर व गर्दन के बालों की कतरनों को बड़ी सफाई से साफ कर डालना जब इसे आहिस्ता-आहिस्ता सिर व गर्दन पर फेरा जाता है, तो मालिश का भी मजा आता है। साथ ही यह एक-एक कतरन को चुनती जाती है। अगर बाल गीले हों तो उन्हें सुखाने का काम भी करती है। एक लचीली नली से जुड़ा हुआ, बिजली चलाने वाला यह यंत्र मेज या आलमारी पर रखा जाता है। इस लचोली नली के दूसरे कोने पर एक 'पिकर' लगा होता है, जो बाल को बिनने का काम करता है।

मिठास-मगर कितनी ? कहावत है—'बिना खांड के रांड रसोई।' तो मीठा तो चाहिये, मगर कितना ? मिठास की भो तो डिग्रियां हैं। चीना, गुड़, ग्लूकोस और सेक्रीन का आपको खूब अंदाजा है। मगर मोनेलिन का ? यह क्या बला है जी ? सुनिये, एक अमरीकन वैज्ञानिक ने हाल ही में एक प्राकृतिक मीठे पदार्थ की खोज को है। जो चीनो से तीन हजार गुना अधिक मिठा है। पश्चोम अफ्रीका के एक जंगली लाल फल से निकाला यह पदार्थ रासायनिक दृष्टि से एक घुलनशील प्रोटीन है और अब तक के मीठे पदार्थों में मधुरतम है। अब तक इसकी कुल संख्या 50 मिली ग्राम प्राप्त की जा सकी है। इसी मात्रा से प्राप्त की जा सकी पदार्थ के रासायनिक संघटन, आणविक संरचना तथा गुण धर्मों का अध्ययन किया जा रहा है।

प्राकृतिक-कीटनाशी—कीट-पतंगे आदमी को हानि पहुँचाते हैं और आदमी उन्हें नष्ट करने के लिए तरह-तरह के कीटनाशी खोजता फिरता है। खोज हुई और एक संश्लेषित कीटनाशी तैयार हुआ, इनसे डी० डी० टी० सबसे अधिक प्रचलित है। मगर प्रकृति में भी कीटनाशी विद्यमान हो सकता है इस दिशा में कोई सिलसिलेवार काम शायद कभी नहीं हुआ, भाभा परमाणु शोध संस्थान के दो वैज्ञानिक डा० बी० वी० अमोणकर तथा डा० एन० बनर्जी को यह श्रेय प्राप्त हुआ कि उन्होंने दो वर्ष तक लगातार परिश्रम करके यह निष्कर्ष निकाला है कि लहसुन एक बहुत ही उम्दा किस्म का कीटनाशी है। और मलेरिया के उन्मूलन में इसका प्रभावकारी ढंग से प्रयोग किया जा सकता है। शोधकर्त्ताओं का कहना है कि लहसुन का सत बहुत मामूली-सी मात्रा में भी मच्छर के डिबीक (लार्वा) को पूर्ण तरह नष्ट करने में पूर्ण सक्षम है। जब दोनों वैज्ञानिक कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय मे थे उन्होंने देखा कि लहसुन के ताजे सत से चार प्रकार के मच्छर तुरन्त नष्ट हो गये। बाद में इस काम को आगे बढ़ाने पर वर्तमान कामयाबी हासिल हुई।

शायद डी० डी० टी० का भविष्य अब उतना सुन्दर नहीं रह जायेगा ?

हाथ का हीरा—हीरा खानों में मिलता है। कौन नहीं जानता। लगभग पन्द्रह साल पहले हीरा नकली भी बनाया गया। मगर तरीका बेहद पेचीदा था। अब रूसी वैज्ञानिकों ने इस रुकावट को भी दूर कर दिया है। लोहे का एक स्टोव जैसा दिखने वाला यंत्र। पिरामिड जैसी चोटी चौकोर आधार। भीतर जैनन नामक एक गैस का शक्तिशाली स्रोत। नकली हीरा तैयार करने की यह मशीन है। बटन बनाने वाली जैसी मशीन। सामने से छोटा सा छिद्र है, जिसमें से देखने पर लाल-लाल छोटा सा दाना जो दिखता है। हीरा तैयार हो रहा है।

पुस्तक समीक्षा

नाम—विटामिन तथा हॉरमोन
लेखक—नवल किशोर माथुर
तथा
अमृत कुमारी सौंध
प्रकाशक—राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर
पृष्ठ संख्या—246

विटामिन तथा हॉर्मोन रोचक विषय है। लेखकों का प्रयास सराहनीय है। पुस्तक 2 भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में 17 तथा द्वितीय भाग में 7 अध्याय हैं। प्रथम भाग में विटामिन पर तथा द्वितीय भाग में हार्मोन पर परिचर्चा है। संरचनाओं को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किये जाने के कारण विषय को समझने में सहायता मिलती है। विषय का काफी विस्तृत वर्णन किया गया है। विटामिनों के अभाव में होने वाले रोगों को और उनके लक्षणों को परिचर्चित करने से विषय की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। पर भाषा में अवरोध है। स्पैक्ट्रा, ऐक्स किरण, ऐसेटैमाइड, अपचियत, नाभिका आदि जैसे शब्दों का प्रयोग खटकता है। 'पद्धति की उपस्थिति का संकेत मिलता है,' 'एक पानी में विलेय,' 'कोबाल्ट युक्त गोंद जैसा पदार्थ का जटिल मिश्रण,' 'मेथिल एस्टर के रास्ते,' 'एक ग्लूटैमिक अम्ल अवशेष का अन्तर' भावहीन तथा अशुद्ध वाक्य हैं। अनुक्रमणिका तथा पारिभाषिक शब्दावली का अभाव पुस्तक का बहूत बड़ा दोष है। पुस्तक की उपादेयता में कमी नहीं है और पाठकों को लाभ होगा ऐसी आशा की जा सकती है।

● ●

सूचना

१९७६ का स्वामी हरिशरणानन्द स्वर्ण-पदक भौतिक विज्ञान वर्ग (भौतिकी, रसायन तथा गणित) की हिन्दी पुस्तकों पर प्रदान किया जायगा। इसके लिए पिछले तीन वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों की तीन-प्रतियां निम्न पते पर १५ जनवरी, १९७७ तक भेजी जा सकती हैं।

प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-२

सम्पादकीय

विश्वविद्यालय अनुदान योग उच्च शिक्षा में आधारभूत परिवर्तन के पक्ष में है। परीक्षा में सुधार करने की मांग प्रत्येक दिशा से उठ रही है। ऐसा भी मत है कि वर्तमान परीक्षा प्रणाली की उपादेयता नहीं के बराबर हो गई है। वर्ष के अन्त में एक बार कुछ समय तक विद्यार्थी को परीक्षा-हाल में बैठाकर कुछ प्रश्नों को हल करवाकर उसकी बुद्धि तथा क्षमता की परख सम्भव नहीं होती है। उत्तर-पुस्तिकाओं को जाँचने में भी परीक्षकों द्वारा एक स्तर न होने की बात उठाई जाती है। इस दिशा में एक सुझाव यह है कि परीक्षा में अंक न देकर उसे A, B, C आदि ग्रेड दिए जांय। यह प्रणाली अमरीका में प्रचलित है और सुचारु ढंग से चलती आ रही है। विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की शैक्षणिक तथा चारित्रिक विशेषता को भी ध्यान में रखना चाहिये। विभिन्न विषयों में अंक भी एक समान नहीं मिलते। गणित व संस्कृत में बहुत परीक्षार्थियों को 80 मिल जाता है जबकि इतिहास, नागरिक शास्त्र में 60 मिलना भी कठिन हो जाता है। तो क्या इस ग्रेड प्रणाली से इस प्रकार का अन्तर समाप्त हो जायगा। परीक्षक अभी यदि स्वेच्छ ढंग से कापियाँ जाँचते हैं तो उसमें क्या सुधार हो पायेगा? इस प्रणाली से विभिन्न विश्वविद्यालयों के परीक्षा-फलों के अभी जो अन्तर हैं वह क्या दूर हो सकेगा? आयोग ने सुझाव दिया है कि पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न विषयों में जो उच्चतम अंक दिये गये हैं उसे ही स्तर मान कर ग्रेड देना निर्धारित किया जाय। उसका सुझाव है कि ग्रेड दशमलव के द्वितीय स्थान तक दिये जायं। आन्तरिक परीक्षाओं के ग्रेड तथा बाह्य परीक्षा के ग्रेड को सम्मिलित करके अन्तिम ग्रेड दिया जाय। यह बहुत ही कठिन है और इसका समुचित हल निकल पाना सरल नहीं है। 'पूरे प्रश्न' के ग्रेड तथा 'संक्षिप्त टिप्पणी' के ग्रेड को कैसे जोड़ा जायगा? परीक्षा में ग्रेड देना शायद उतना आसान न हो जितना प्रत्येक महीने में विद्यार्थी की परीक्षा लेकर उसे बराबर ग्रेड प्रदान करते हुए अन्त में उसकी उपलब्धियों के आधार पर अन्तिम ग्रेड दिया जाय। इस विषय पर अभी बहुत कुछ सोचना विचारना चाहिये और जल्दी में कोई पग नहीं उठाना चाहिए ताकि पुराने दोष को भली-भाँति दूर किया जा सके।

'विज्ञान स्वयं' पढ़िये अपने मित्रों को भी पढ़ाइये।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3.5।

भाग 113 संख्या 12
पौष 2033 विक्र०
दिसम्बर 1976

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

वैज्ञानिक की खुशी

राधे लाल बिजधावने "अतृप्त"

ये फार्मूले--
मेरे वैज्ञानिक की आँखें हैं
--और परखनलियां हाथ हैं
जिनके द्वारा वह
दिन रात प्रयोग करता रहता है
चांद पर एक नयी दुनिया बसा
नित नयी खोजें करता रहता है
या फिर--
जीन्स का परीक्षण कर विज्ञान में
नये अध्याय की शुरुआत करता है
--और परखनलियों में
एक नये आदमी की शक्ल तैयार करता रहता है
अथवा--
दिल और दिमाग का पुष्परोपण करता रहता है
--और उसे नयी सांस;
नयी जिन्दगी प्रदान करता रहता है।
स्पात ढालती भीमकाय मशीनें
और दिन-रात धड़ाधड़ चलती फैक्ट्रियां हैं
मेरे इन्जीनियर की उपलब्धियां हैं
और वर्षों के अथक परिश्रम को
धमन भट्टियों में गलाकर बना है
जो हमारे परीक्षणों का

समग्र मूल्य लेकर उभरी हैं।

इसलिये मेरे भीतर का वैज्ञानिक

मशीनों से

शनैः शनैः युग का निर्माण करता है

रासायनिक परीक्षणों से

दवाइयों के नये फार्मूले निकालता है

और परमाणु ऊर्जा से

निर्माण की दीवार बनाता है

सुरक्षा का समर्थ हथियार तैयार करता है।

इसलिये आज का वैज्ञानिक

नये फार्मूलों में जीता है

परीक्षणों की सांसें लेता है

--और नित नयी उपलब्धियों में खुश रहता है

--और दिन रात श्रम करता रहता है

जिसका लाभ

वह अपने देश को, राष्ट्र को

--और विश्व को निरपेक्ष भाव से बांट देता है

--और बेहद खुश रहता है।

४३२,एन-३, च-सैफ्टर, बी. चच. इ. एल

गोविन्द पुरा, भोपाल ४६२-०२३

मानव निर्मित नवीन अन्न–ट्रिटिकेल

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

प्राचीन भारतीय पौराणिक कथाओं में महर्षि विश्वामित्र का नाम ऐसे मनीषी के रूप में विख्यात है जो क्षत्रिय होते हुए भी अपनी तपश्चर्या और योग साधना के बल पर ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त करना चाहते थे। कहते हैं एक बार देवताओं और ब्राह्मणों की व्यवस्था से असन्तुष्ट महर्षि विश्वामित्र ने नवीन सृष्टि-रचना प्रारम्भ कर दी और ब्रह्मा द्वारा रचित सृष्टि से भिन्न नवीन वनस्पतियों और पशुओं की रचना कर डाली। वनस्पतियों में रेगिस्तानों में उगने वाली वनस्पति नागफनी, मदार, एरण्ड आदि वृक्ष, नारियल, कटहल और जामुन आदि फल उगाए। पशुओं में गाय के स्थान पर उससे अधिक दूध देने वाली भैंस अथा घोड़ों की जगह रेगिस्तानों में तेज दौड़ने वाले ऊँट बना डाले। खाद्यान्नों में सृष्टि के इस नवनिर्माणकर्त्ता की देन गेहूँ है और कदाचित यही कारण हैं कि 'वेदों' में गेहूँ को असुरों का अन्न कहा गया है।

आज जब कुछ पुरातत्ववेत्ता रामायण और महाभारत की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगा रहे हैं तो विश्वामित्र आदि की ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने में उन्हें कितनी देर लगेगी। आज के संशयवादी विचारक को विश्वामित्र की नवीन सृष्टि-रचना कोरी कल्पना ही लगेगी।

यह तर्क-वितर्क का विषय हो सकता है कि गेहूँ सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा की देन है या इसे विश्वामित्र ने बनाया किन्तु आज इस बात की प्रामाणिकता में किसी को रंचमात्र भी संदेह नहीं कि वैज्ञानिकों ने अपने जननिक इंजीनियरी ज्ञान के द्वारा नये नये धान्य की रचना संभव कर दी है। 'ट्रिटिकेल' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

ट्रिटिकेल की कहानी लगभग सौ वर्ष पुरानी है। 1875 में सर्वप्रथम विल्सन नामक वैज्ञानिक ने गेहूँ (**Triticum Sp**) और राई (**Secale Sp.**) का ब्याह रचाकर एक नई फसल को जन्म दिया। इसी कारण गेहूँ और राई के वानस्पतिक नामों के संयोजन से इस नये धान्य का नाम वैज्ञानिकों ने ट्रिटिकेल (**Trital**) रखा। लगभग इसी समय रूस में भी ट्रिटिकेल पर कार्य प्रारम्भ हो गया। प्रारम्भ में वैज्ञानिकों के सामने बहुत सी कठिनाइयां आईं। आज से लगभग **45** वर्ष पूर्व **1930** में स्वीडन में वैज्ञानिकों को गेहूँ और राई के संकरण से ट्रिटिकेल बनाने में सफलता प्राप्त हुई। इसका श्रेय प्रोफेसर आर्ने मुंटिजंग को है जिन्होंने सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से इस विषय पर कार्य किया।

1950 के बाद कनाडा में भी ट्रिटिकेल पर कार्य प्रारम्भ हो गया। इस कार्य में रोजना महोदय के आर्थिक अनुदान का विशेष महत्व है क्योंकि इन्हीं के अनुदान के द्वारा मेनिटोबा विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों द्वारा इस कार्य को आगे बढ़ाना सम्भव हो सका। इस विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक जेनकिंस की सूझ-बूझ और परिश्रम का ही परिणाम था कि वहां ट्रिटिकेल की एक नई किस्म तैयार की गई और रोजनर महोदय के सम्मान में इस नई किस्म का नाम 'रोजनर ट्रिटिकेल' रख दिया गया। फिर मेक्सिको कैसे पीछे रहता? वहां 'सिमिट' नामक अनुसंधान-संस्था के तत्वावधान में ट्रिटिकेल पर कार्य होने लगा। इसी बीच स्पेन में वैज्ञानिक मोंगे ने ट्रिटिकेल की एक ऐसी किस्म तैयार कर दी जो बाद में पशुओं के चारे के काम आयी।

प्रारम्भ में वैज्ञानिकों के सामने कठिनाइयां ही कठिनाइयां थीं। ट्रिटिकेल की ऐसी ही किस्में प्राप्त हुईं जिनमें दाने नहीं पड़ते थे। इस कठिनाई को कोल्चीसीन नामक रसायन से दूर किया गया। अब दाने पड़ने लगे। जब दाने पड़ने लगे तो यह देखा गया कि दाने कम पड़ते थे, छोटे और सिकुड़े थे और पौधों की जनन क्षमता बहुत कम थी। धीरे-धीरे ये कमियां दूर हो गईं और आज ट्रिटिकेल की ऐसी किस्में विकसित कर ली गयी हैं जिनमें गेहूँ और राई दोनों के अच्छे गुणों का समावेश हो गया है। 1968 तक हंगरी में ट्रिटिकेल न० 57 तथा न० 64 दो ऐसी किस्में विकसित कर ली गयीं जो खेती के लिए उपयुक्त पायी गयीं और इसी का परिणाम है कि आज हंगरी में 10000 हेक्टेयर बलुई-भूमि मे ट्रिटिकेल की खेती की जाती है। ट्रिटिकेल की फसल पहाड़ी क्षेत्रों में भी आसानी से उगाई जा सकती है। स्पेन के पहाड़ी क्षेत्र, कनाडा और मेक्सिको में तो गेहूँ की अपेक्षा ट्रिटिकेल की फसल अच्छी होती है। फिर भारत इस दिशा में कब तक पीछे रहता। भारत के राजनैतिक क्षितिज पर 1966 में प्रधानमन्त्री के रूप में श्रीमती इन्दिरा गांधी के उदय के साथ भारत सरकार की वैज्ञानिक और तकनीकी नीतियों ने एक नई करवट ली और श्रीमती गांधी की सूझ-बूझ और मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप भारत में कृषि-अनुसंधान के क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। कृषि में हरित-क्रांति आयी। इसी समय 1966 में ही भारतीय कृषि-अनुसंधानशाला नई दिल्ली (आई० ए० आर० आई०) के निदेशक, एम० एस० स्वामीनाथन ने ट्रिटिकेल पर अनुसंधान कार्य प्रारम्भ करवाया। भारत में ट्रिटिकेल पर शोधकार्य आई० ए० आर० आई० (पूसा इंस्टाट्यूट) के अतिरिक्त जवाहर लाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर और गोविन्द बल्लभ पंत कृषि विश्वविद्यालय, पतनगर (उत्तर प्रदेश) में भी तीव्र गति से हो रहा है। इस क्षेत्र में केवल एक दशक में भारत ने जो प्रगति की है, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है।

ट्रिटिकेल मानवनिर्मित पालीप्लायड है। पालीप्लायड में गुणसूत्रों की संख्या साधारण या प्राकृतिक गुणसूत्रों की संख्या से अधिक होती है। गुणसूत्रों का एक सेट हेप्लायड या मोनोप्लायड कहलाता है। इसी प्रकार दो सेट डिप्लायड, तीन सेट ट्रिप्लायड, चार सेट टेट्राप्लायड, पांच सेट पेन्टाप्लायड, छः सेट हेक्साप्लायड, सात सेट हेप्टाप्लायड और आठ सेट अक्टाप्लायड कहलाता है। ट्रिटिकेल हेक्साप्लायड होता है। इसे हेक्साप्लायड आधुनिक गेहूँ (ट्रिटिकम सटाइवम) और डिप्लायड राई (सीकेल सीरेल) के संकरण से बनाया गया है। ऐसा करने के लिए वैज्ञानिक आधार था। आधुनिक गेहूँ को प्राचीन गेहूँ की डिप्लायड किस्म, ट्रिटिकम ड्यूरम और जंगली घास, एजिलप्स स्केवेरोसा के आपसी संकरण से उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसी कारण गेहूँ और राई के संकरण से ट्रिटिकेल बनाना संभव हो सका।

डिप्लायड ड्यूरम गेहूँ में गुणसूत्रों की संख्या 28 होती है और डिप्लायड राई में 14 गुणसूत्र होते हैं। इस प्रकार इनके संकरण से वंध्यसंकर या स्टेराइल हाइब्रिड मिलता है जिनमें 21 गुणसूत्र होते हैं। इसे कोल्चिसीन नामक रसायन के द्वारा हेक्साप्लायड ट्रिटिकेल में परिवर्तित कर लेते हैं जिसमें 42 गुणसूत्र होते हैं। इस हेक्साप्लायड ट्रिटिकेल में राई और गेहूँ दोनों के गुण आते हैं। इसमें राई के समान सूखे और पाले दोनों को सह सकने की क्षमता होती है। राई पर लगने वाले रोग 'एरगट' और गेहूँ पर लगने वाले 'गेरुई' (रस्ट) और 'रतुआ' (स्मट) रोग नहीं लगते। इसके दानों की बाली लम्बी होती है और उसमें गेहूँ की अपेक्षा अधिक दाने होते हैं।

प्रारम्भ में ट्रिटिकेल के पौधे गेहूँ की अपेक्षा लम्बे थे और इसकी बालियों में ठीक दाने भी नहीं पड़ते थे। इसकी उत्पादन-क्षमता भी कम थी। धीरे-धीरे वैज्ञानिकों ने ट्रिटिकेल को इन दोषों से मुक्त कर लिया। आज ट्रिटिकेल की विकसित किस्मों की लम्बाई कम है, दाने अधिक पड़ते हैं, दाने गेहूँ जैसे दिखते हैं और उत्पादन क्षमता भी अधिक है। पहाड़ी और मरुस्थली दोनों तरह के क्षेत्रों में इसकी फसल उगायी जाती है। इसमें सभी अमीनो एसिड विद्यमान है और लाइसीन की मात्रा गेहूँ से अधिक पाई जाती है। पौष्टिक तत्व भी इसमें गेहूँ की अपेक्षा अधिक मौजूद हैं। हां, ग्लूटोन की मात्रा कम होने

से इसकी चपातियां गेहूँ जैसी तो नहीं बन पातीं फिर भी ज्वार और बाजरे की चपाती से अच्छी बनती हैं।

गोविन्द बल्लभ पंत कृषि विश्वविद्यालय के उपकुलपति शिवप्रसाद पाण्डे ने बताया कि पिछले वर्ष (1975) में पहाड़ी जिलों में अलग-अलग 57 स्थानों पर ट्रिटिकेल की खेती से पता चला है कि भारत में गेहूँ की किस्में 'सोनालिका' और 'आर आर-21' की अपेक्षा ट्रिटिकेल अधिक उपज देती है। उन्होंने आगे बताया कि इस वर्ष की रबी की फसल में ट्रिटिकेल को 200-300 स्थानों पर नमूने के तौर पर उगाया जायगा।

कालान्तर में ट्रिटिकेल गेहूँ का स्थान ले सकेगा या नहीं यह प्रश्न भविष्य के गर्भ में छिपा है। सच पूछिए तो कृषि वैज्ञानिकों का ऐसा कोई इरादा भी नहीं है कि ट्रिटिकेल गेहूँ का स्थान ले ले। हां ऐसे स्थानों में जहाँ की जलवायु के कारण गेहूँ की उपज कम होती है, वहाँ ट्रिटिकेल की अच्छी फसल पैदा करना वैज्ञानिकों का लक्ष्य है। इसलिए ऐसे क्षेत्र जो वर्षा पर आश्रित रहते हैं जहाँ भूमि की सिंचाई के उचित साधन नहीं है, इसे पहले नम्बर की फसल बनाना ही श्रेयस्कर है। अब तो इसके और भी उपयोग सामने हैं। इससे सुबह के नाश्ते के लिए ट्रिटिकेल-फ्लेक बनाया जाता है। इसकी शराब से विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के गरीब देशों के लोग, जहाँ की आधी से अधिक आबादी पेट की आग में जल रही है, उनके लिए ट्रिटिकेल निश्चय ही वरदान सिद्ध होगा। ब्रह्मर्षि-पद प्राप्ति के इच्छुक पौराणिक विश्वामित्र का संकल्प आज कल्पना मात्र नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनवरत अनुसंधान और अथक परिश्रम के फलस्वरूप ट्रिटिकेल की खेती एक ऐसी वास्तविकता है जिसकी सहायता से संसार के अनेक वंचित और अनुर्वरक भू-भाग धनधान्यपूर्ण और सम्पन्न बनाए जा सकते हैं।

वनस्पति विज्ञान विभाग, सी. एम.पी. डिग्री कालेज, इलाहाबाद

●●

अन्तरिक्ष से फसलों की भविष्यवाणी

संकलित

संयुक्त राज्य अमेरिका के कंसास राज्य के किसी क्षेत्र में जाड़े में सुनहरे गेहूँ की फसल से लहलहाते एक खेत के ऊपर से प्रत्येक 9 दिन के बाद एक भू-उपग्रह गुजरता है और चार भिन्न-भिन्न तरंग-दैर्ध्यों पर बढ़ती हुई फसल से प्रतिबिम्बित प्रकाश का माप करता है। गेहूँ के पौधे प्रारम्भ में छोटे और हरे होते हैं, लेकिन आगे चल कर उनमें फूल आता है, बालियाँ लगती हैं और वे पीले पड़ने लगते हैं। भू-उपग्रह पर लगा हुआ स्पेक्ट्रोमीटर फसल के बढ़ाव के प्रत्येक विशिष्ट चरण को अंकित कर लेता है। बहुरंगी चित्र भूतलीय टोहक केन्द्रों पर सम्प्रेषित हो जाते हैं, और अन्त में, ह्यूस्टन के एक संगणक पर पहुँच जाते हैं, जो उनका विश्लेषण करके गेहूँ को अन्य फसलों से पृथक करता और उसकी फसल के क्षेत्रफल का अनुमान लगाता है। इसके साथ ही साथ, ए राष्ट्रीय ऋतु वैज्ञानिक संजाल द्वारा एकत्र परीक्षणीय क्षेत्र के मौसम सम्बन्धी जानकारियों का उपयोग करके इस बात की भविष्यवाणी की जाती है, कि गेहूँ की इस अगली फसल से सम्भावित उपज उसकी सामान्य उपज से अधिक होगी या कम। फिर इन दोनों जानकारियों को संयुक्त करके, अनुमान लगाया जाता है कि उस क्षेत्र में इस ग्रीष्म में गेहूँ की कितनी उपज प्राप्त होगी।

यह परियोजना अभी प्रयोगात्मक रूप में संचालित हो रही है, किन्तु हो सकता है कि यह विश्व की खाद्य-पूर्ति की विश्वव्यापी निगरानी की व्यवस्था के लिए एक अनुकरणीय नमूना बन जाए। आशा की जाती है कि प्रमुख खाद्यान्न फसलों की उपज के विश्वसनीय पूर्वानुमान समय रहते ही सम्भव हो जायेंगे, जिससे सूखे, पाले और अन्य संकटों से होने वाली क्षति की चेतावनी दी जा सकेगी और विश्व को इनके आकस्मिक अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा। इस समय विश्व में अगली फसलों के आंशिक आंकड़े ही उपलब्ध हो पाते हैं, और अमेरिका वस्तुतः एकमात्र देश है, जो अपनी फसलों के उत्पादन की मासिक भविष्यवाणियां प्रकाशित करता है। अस्तु एक विश्वव्यापी सूचना प्रणाली द्वारा ऐसे खद्यान्नों की अधिक विवेक सम्मत व्यवस्था सम्भव हो सकती है, जिनका अभाव विश्व के अधिकांश भागों में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

मूल प्रश्न यह है कि इस प्रकार की प्रणाली सुचारु रूप से किस तरह व्यवहार में लायी जा सकती है? और वर्तमान का प्रयास, जिसे लार्ज एरिया क्राप इन्वेंटरी एक्सपैरिमेन्ट (लैसी) कहते है, उद्देश्य यही है। इसके अन्तर्गत नासा के 'लैन्डसैट' भू-उपग्रहों तथा (नोआ) द्वारा संग्रहित मौसम सम्बन्धी आंकड़ों का उपयोग किया जा रहा है। फसलों के अनुमानित आकड़ों की तुलना अमेरिकी कृषि विभाग द्वारा तैयार अनुमानित आंकड़ों से की जायगी। संयुक्त प्रयोग का प्रारम्भिक कार्य-क्षेत्र अमेरिका के विशाल मैदानी इलाके की गेहूँ की फसल है। इसके बाद, इसे अन्य क्षेत्रों में, और अन्ततः, चावल जैसी अन्य फसलों पर लागू किया जायेगा।

दूरी से फसलों की टोह सम्बन्धी विधियां नई नहीं है लैन्डसैट-1 द्वारा अगणित प्रयोग किये गये हैं। यह भू-

उपग्रह 1972 में अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त हुआ था। वास्तव में बहुरंगी सूचनाओं और आंकड़ों के आधार पर फसलो को पहचानने की व्यवहार्यता की पुष्टि तो 1966 में ही, विमान द्वारा एकत्र आंकड़ों की सहायता से, हो गयी थी। परड्यू, मिशिगन विश्वविद्यालय तथा अन्य प्रयोगशालाओं में किये गये अनुसन्धानों से फसलों के 'रंगीन छायांकनों की जानकारी और इन छायांकनों से सम्बन्धी आंकड़ों वे विश्की विधि प्राप्त हुई–और ये ही वर्तमान प्रयोग के आधार है। 'लैसी' परियोजना से विषय में जो बाते नयी है, वें हैं इस प्रयास का आकार, जिससे अन्तर्गत हजारों वर्गकिलो मीटर विस्तृत क्षेत्र शामिल है, और इस प्रक्रिया को स्वचल बनाने का प्रयत्न जिससे आंकड़ों से संग्रहित होने के कुछ ही सप्ताहों से भीतर भविष्यवाणियां सुलभ की जा सकें।

लैन्डसैट–1 और लैन्डसैट–2 नामक उपग्रह दोनों भू-उपग्रह प्रत्येक 18 दिन में सम्पूर्ण भूमन्डल का सर्वेक्षण पूरा कर लेते हैं। प्रत्येक परिक्रमा में वे उत्तर से दक्षिण को जाने वाली भूमि की एक 185 किलोमीटर चौड़ी पट्टी का सर्वेक्षण करते हैं। लैन्डसैट–1 का एक टेप रिकार्डर निष्क्रिय हो गया है, जिससे कारण वह भूतलीय टोहक केन्द्रों के सीमा की भीतर आने पर ही आंकड़े सुलभ कर पाता है। भू–उपग्रह पर लगे सर्वेक्षण यन्त्र कुछ के एकड़ जितने छोटे आकार के खेतों का भी सर्वेक्षण करने में समर्थ है। सच तो यह है कि किसी चीज की प्रत्येक संख्यात्मक इकाई जिसे 'पिक्सेल' कहते हैं, लगभग 9 एकड़ के आकार को प्रस्तुत करती है हालांकि उपयोगी सूचना प्राप्त करने के लिए इस तरह से कई 'पिक्सेलो, की आवश्यकता होती है। जब आंकड़े जानसन स्पेस सेन्टर पर पहुँच जाते तब सबसे पहले सूर्य के बदलते हुए वायुमन्डल की परिवर्तनशील दशाओं के कारण प्रकाश में उत्पन्न भिन्नताओं को परिष्कृत करने के लिये उन्हें संशोधित किया जाता है बादलों से ढके क्षेत्रों के सम्बन्ध में कोई भी आंकड़े उपलब्ध नहीं होते।

आंकड़ों का विश्लेषण कर के फसलों सम्बन्धी सूचनाए प्राप्त करने के लिए कई विधियां प्रयुक्त होती हैं, क्योंकि यह परियोजना अभी प्रयोगात्मक है और भविष्यवक्ताओं को मानो अंधेरे में टटोल-टटोल कर आगे बढ़ना पड़ रहा है।

इस बीच भू-उपग्रह की अगली परिक्रमा से प्राप्त आंकड़े आ जाते है, जिनका विशलेषण भी उपर्युक्त विधि द्वारा कर लिया जाता हैं। फिर दोनों विश्लेषणों की तुलना करके अधिक ठोस अनुमान तैयार किये जाते है। इस प्रकार विभिन्न प्रखन्डों सम्बन्धी आंकड़ों को एक रूप में जोड़ कर पूरे राज्य या क्षेत्र के सम्बन्ध में फसलों के अनुमानिक आंकड़े तैयार कर लिये जाते हैं।

परियोजना के एक द्वितीय भाग का सम्बन्ध इस बात की भविष्यवाणी से है कि खेती वाली भूमि से कुल कितनी उपज प्राप्त होगी। यह कार्य मौसम और फसलों की उपज के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध के संगणकीय नमूनों की सहायता से पूरा किया जाता है। इन नमूनों का निर्माण मौसम एवम् उपज विषयक कई वर्षों के ऐतिहासिक आंकड़ों की तुलना करके और उनके बीच सांख्यिकीय सम्बन्ध स्थापित कर के किया जाता है। गेहूँ क्षेत्र के विभिन्न भागों के लिये भिन्न-भिन्न नमूनों का प्रयोग किया जाता है, और उनमें अधिक उपज में योग देने वाले कारकों, जैसी नई किस्म के बीजों या अधिक उर्वरकों के प्रयोग पर भी ध्यान दिया जाता है। चालू वर्षा के लिये मौसम सम्बन्धी आंकड़े विभिन्न फसली जिलों के लिये अलग-अलग तैयार किये जाते हैं और उन्हें परावर्तन माडेल के साथ संयुक्त करके आगमी फसलों की उपज की भविष्यवाणी की जाती है।

मौसम सम्बन्धी आंकड़ों में तापमान, आर्द्रता, और कभी-कभी सम्भाव्य वाष्पीकरण के मासिक औसत शक्ति होते हैं। मैकू विवग का कहना है कि साधारण साडेलाँ या नमूना की सहायता से भी इस बात की जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि कुछ सामान्य सीमाओं के भीतर मौसम सम्बन्धी परिवर्तनों के फलस्वरूप उपज की मात्रा में कितना परिवर्तन होगा। मौसम सम्बन्धी गम्भीर घटनाओं, जैसे हिमपात, आधी या लू के दो प्रभाव का अध्ययन पृथक रूप में किया जाता है। प्रत्येक स्थानीय इलाके में बोयी गयी फसलों के क्षेत्रफल सम्बन्धी अनुमानों और उपज सम्बन्धी भविष्यवाणियों को

[शेष पृष्ठ 20 पर

उपापचय जगत का सिक्का-ए.टी.पी.

देवेन्द्र चन्द्र

एटीपी जिसका पूरा नाम एडीनोसीन ट्राइफास्फेट है, कोशिका का उच्च ऊर्जा अणु है। प्रत्येक उपापचयी जैव-रासायनक क्रिया में ऊर्जा का आदान-प्रदान एटीपी के माध्यम से किया जाता है। जो ऊर्जा, कोशिका में संग्रह की जाती है वह एटीपी के भीतर ही संग्रहीत रहती है।

एटीपी अणु की रचना

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें एडीनोसीन नामक न्यूक्लियोसाइड तीन फास्फेट ग्रुपों से जुड़ा रहता है। एडीनोसीन न्यूक्लयोसाइड का निर्माण एडीनोन नामक न्यूक्लियोटाइड तथा राइबोज नामक शर्करा के अणु से होता है। एडीनोसीन से जुड़े हुए फास्फेट ग्रुपों में से अंतिम दो उच्च ऊर्जा बंधों से बंधते हैं। एडीनोसीन ट्राइ-फास्फेट की रासायनिक संरचना चित्र में दर्शायी गई है।

एडीनीन
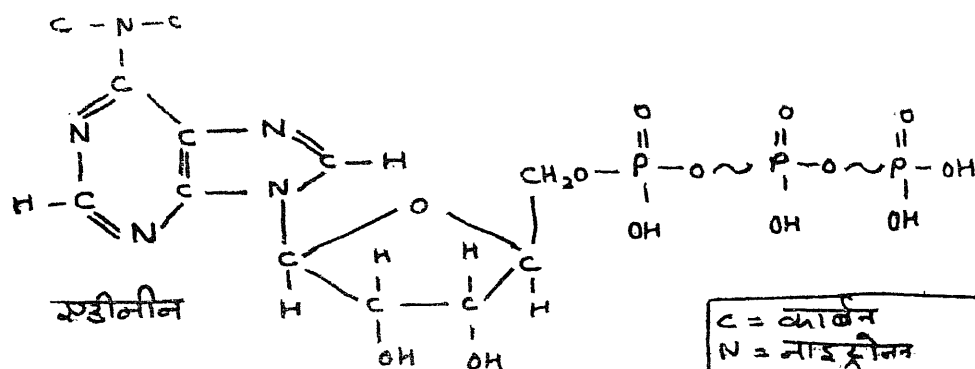
C = कार्बन
N = नाइट्रोजन
O = आक्सीजन
H = हाइड्रोजन
~ = उच्च ऊर्जा बंध

राइबोज शर्करा

एडीनोसीन

एडीनोसीन मोनोफास्फेट

एडीनोसीन डाइ फास्फेट एडीपी

एडीनोसीन ट्राइ फास्फेट

ए टी पी की रचना

एटीपी में ऊर्जा विमुक्ति

जिस समय ऊर्जा की आवश्यकता होती है, एटीपी अणु एक एंजाइम एटीपेज की उपस्थिति में एक अणु जल लेकर एडीपी तथा फास्फोरिक अम्ल में टूट जाता है तथा 7000 से 12000 कैलरी ऊर्जा उत्पन्न होती है –

$$(ADP)H_2PO_3 + H_2O \xrightarrow{\text{एटीपेज}} ADP\ H_3PO_4\ \ 7000\text{–}12000\ Cal.$$
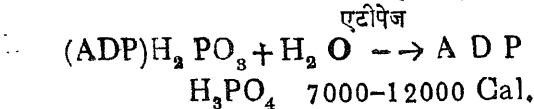
एटीपी का संश्लेषण

एटीपी का संश्लेषण श्वसन क्रिया में होता है। श्वसन में कोशिका के भीतर भोज्य पदार्थों का जारण होता है। भोजन में मुख्य रूप से वसा प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट होते हैं। भोजन में कार्बोहाइड्रेट सबसे अधिक कहते हैं। अतः यहाँ हम केवल कार्बोहाइड्रेट के जारण का उल्लेख करेंगे।

सब प्रकार के कार्बोहाइड्रेट पाचन क्रिया के अन्त में ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाते हैं। यह ग्लूकोज हर कोशिका में रक्त के द्वारा पहुँचता है। ग्लूकोज का जारण कई खन्डों में पूर्ण होता है।

सर्वप्रथम ग्लूकोज का ग्लाइकोलिसस होता है तथा पाइरूविक अम्ल बनता है। ग्लाइकोलिसस की क्रिया में दो अणु एटीपी बनते हैं। यह पाइरूविक अम्ल क्रेब्स चक्र में प्रवेश करता है। क्रेब्स चक्र में पाइरूविक अम्ल कार्बन-डाइ आक्साइड में आक्सीकृत हो जाता है। ग्लाइको-लिसिस तथा क्रेब्स चक्र दोनों में हाइड्रोजन के कुछ अणु मुक्त होते हैं। ये अणु निकोटीन एडोनीन डाइन्यूक्लियोटाइड (एन ए डी) के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। इससे एन.ए.डी. का अपचयन एन ए डी एच में हो जाता है। ग्लूकोज के एक अणु से दो अणु एन ए डी एच ग्लाइको-लिसिस में तथा दस अणु क्रेब्स चक्र में बनते हैं। क्रेब्स चक्र में छह अणु जल का उपयोग होता है।

तीसरे भाग में एन ए डी एच का आक्सीकरणीय फास्फेटीकरण होता है। अर्थात्, एन ए डी एच का आक्सीकरण होता है तथा इससे जो ऊर्जा मुक्त होती है उसके द्वारा एडीपी को एटीपी में बदला जाता है। एक अणु एन ए डी एच से इतनी उर्जा मिलती है कि तीन अणु एटीपी बन सकते हैं अभी हम बता चुके हैं कि एक अणु ग्लुकोज से बारह अणु एन ए डी एच बनता है। इस प्रकार एक अणु ग्लूकोज 36 अणु एटीपी का निर्माण आक्सीकरणीय फास्फेटीकरण में करता है। अब हम सरलता से बता सकते हैं कि एक अणु ग्लूकोज से 38 अणु एटीपी के प्राप्त हुए, दो ग्लाइकोलिसिस में तथा 36 आक्सीकरण फास्फेटीकरण में।

एटीपी के कार्य

यह हम बता चुके हैं कि ए टी पी का एक अणु जब ए डी पी तथा फास्फोरिक अम्ल में टूटता है तो 7000 से 12000 कैलरी ऊर्जा मुक्त होती है। इस ऊर्जा का उपयोग अनेक कार्यों में होता है--

ए टी पी से प्राप्त ऊर्जा पेशीय गति में उपभुक्त होती है। चलना, दौड़ना, तैरना, उड़ना, चढ़ना, बोलना आदि सभी ऐसे कार्य हैं जिनमें पेशियां सक्रिय कार्य करती हैं तथा इनमें ऊर्जा उपभुक्त होती हैं। जिस समय पेशियां कार्य नहीं कर रही होती हैं उस समय ए टी पी का निर्माण उनकी आवश्यकता से अधिक होता है। ऐसे समय ए टी पी अपना उच्च-ऊर्जा का फास्फेट ग्रुप क्रिएटाइन तथा आरजीनिन को दे देता है। ये दोनों ही नाइट्रोजनीय कार्बनिक यौगिक हैं। जिस समय पेशियों को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, क्रिएटाइन फास्फेट तथा आरजी-निन फास्फेट ही ऊर्जा प्रदान करते हैं।

कोशिका के कार्यों में ए टी पी का बड़ा योगदान रहता है। जब कोशिका कला से होकर कोई पदार्थ भीतर आता है तो कोशिका कला को ऊर्जा व्यय करनी पड़ती है। इस क्रिया को सक्रिय परिवहन कहा जाता है। सक्रिय परिवहन की क्रिया में उपभुक्त ऊर्जा ए टी पी से ही प्राप्त होती है।

एक कोशीय प्रोटोजोआ-अमीबा, पैरामीशियम, एक

कोशीय शैवाल जैसे यूग्लीना, क्लेमिडोमोनास आदि में चलन स्यूडोपोडिया, सीलिया या फ्लेजिला से होता है। इस चलन में भी उपभुक्त ऊर्जा ए टी पी ही प्रदान करता है।

कुछ कोशिकाएँ जैसे अग्न्याशय-कोशिकाएँ, जठर कोशिकाएँ विकरों का स्रावण करती हैं तथा नलिकाहीन ग्रन्थियों (पिट्यूटरी, थायराएड आदि) की कोशिकाएँ हारमोनों का स्रावण करती हैं। इस स्रावण में भी ऊर्जा व्यय होती है।

जन्तुओं को दो वर्गों में बाँटा गया है—समतापी या गरम रक्त वाले तथा विषमतापी या शीत रक्त के प्राणी। सभी स्तनपायी तथा पक्षी समतापी हैं। इनमें ए टी पी का कार्य शरीर में ताप का संतुलन करना भी है। परन्तु यह कार्य अपरोक्ष रूप में होता है। जब ए टी पी से ऊर्जा मुक्त होती है, तो उसका कुछ भाग ऊष्मा में परिवर्तित हो जाता है। यह ऊष्मा ही ताप सन्तुलन करती है।

प्रोटीन संश्लेषण में अनेक अमीनो अम्ल मिल कर प्रोटीन बनाते हैं। यकृत में ग्लूकोज के अणु मिलकर ग्लाइकोजन का निर्माण करते हैं। वसाओं के छोटे अणु मिल कर बड़े अणु बनाते हैं। ऐसे सभी कार्यों में ऊर्जा का उपभोग होता है।

श्वसन क्रिया का संचालन भी एक प्रकार से एटीपी ही करता है। निःश्वसन तथा उच्छ्वसन में पेशीय गति होती है जिसमें एटीपी ऊर्जा प्रदान करता है। स्वयं एटीपी के संश्लेषण में एटीपी का प्रयोग होता है। ग्लाइकोलिसिस की क्रिया में सर्वप्रथम दो अणु एटीपी उपभुक्त होते हैं। बाद में ग्लाइकोलिसिस के अंत में चार अणु एटीपी प्राप्त हो जाते हैं तथा कुल एटीपी के दो अणु प्राप्त होते हैं।

गहरे समुद्र में पाई जाने वाली मछलियां (जैसे लैन्टर्न फिश), कीट (जैसे जुगनू), कुछ बैक्टीरिया तथा एक कोशिक जंतु प्रकाश उत्पन्न करते हैं। इसे जीव प्रकाश भी कहते हैं। सभी जीवों में प्रकाशोत्पादन की क्रिया विधि समान है। प्रकाश उत्पादन में छह पदार्थ—जल, अकार्बनिक आयन, आक्सीजन, एटीपी, लूसीफेरिन तथा लूसीफेरेज काम आते हैं। वास्तव में प्रकाश उत्पादक तो केवल लूसीफेरिन ही है, लूसीफेरेज एक विकर है, एटीपी ऊर्जा प्रदान करता है शेष उत्प्रेरक हैं। सर्वप्रथम एटीपी तथा लूसीफेरिन मिल कर एटीपी-लूसीफेरिन संयुग्म बनाते हैं। यह संयुग्म लूसीफेरेज विकर के कारण आक्सीजन तथा अकार्बनिक आयनों की उपस्थिति में अपने घटकों में टूट जाता है तथा प्रकाश उत्पन्न होता है।

कुछ मछलियां (जैसे इलैक्ट्रिक रे, ईल आदि) विद्युत का उत्पादन करती हैं। यूरोप में इन मछलियों का प्रयोग चिकित्सक अपने रोगियों को विद्युत का झटका मारने में करते थे। यह विद्युत किस प्रकार बनती है इसकी क्रिया-विधि पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है फिर भी माना यह जाता है कि यह एसीटिलकोलाइन नामक पदार्थ के द्वारा उत्पादित होती है। किसी विकर विशेष की उपस्थिति में एसीटिल-कोलाइन अपने घटकों में टूट जाता है। इस टूटने में विद्युत सर्जन होता है। ये दोनों घटक आपस में पुनः मिल जाते हैं तथा इस मिलने में एटीपी से ऊर्जा ली जाती है।

इस प्रकार एटीपी एक सर्वतोमुखी यौगिक है। यह सभी प्रकार की जैवरासायनिक तथा जैवभौतिक क्रियाओं में उपभुक्त ऊर्जा का एक मात्र स्रोत है।

मरने के बाद

भगवान सहाय श्रीवास्तव

मरने के बाद क्या इंसान किसी दूसरी दुनिया में जाता है ? विश्वविख्यात अमरीकी परामनोवैज्ञानिक डा० कार्लिस ओसिस का जवाब है हाँ । इन्होंने उक्त विषय पर दो साल तक भारत में रहकर कार्य किया था ।

डा० ओसिस ने अपनी साइंस रिपोर्ट में कहा है कि इन्सान चाहे किसी भी सभ्यता का हो, कैसी भी शिक्षा पाई हो, औरत हो चाहे मर्द, कैसी उनकी परम्परायें रहीं हों या विश्वास, वह मरने के बाद किसी अनजान दुनियाँ में जाता है ।

डा० ओसिस न्यूयार्क में अमरीकी मनोवैज्ञानिक सोसायटी के निदेशक हैं ;

डा० ओसिस ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला है वह मरने वाले लोगों का गंभीर अध्ययन करने के बाद निकाला है । यह अध्ययन अमरीका और भारत के सैकड़ों डाक्टरों और नर्सों की मदद से संभव हो सका ।

सात सौ डाक्टर और नर्सें—भारत में यह अध्ययन उन्होंने 1973 और 1974 में अपनी भारत यात्रा के दौरान किया । भारतीय वैज्ञानिकों यमुना प्रसाद और परमेश्वर दयाल ने इस काम में उनकी मदद की ! इस काम में कुल मिलाकर सात सौ डाक्टरों और नर्सों का परिश्रम भी शामिल था । डा० ओसिस ने कहा कि भारत में यह अध्ययन करने का हमारा ध्येय सिर्फ अमेरिका में किये गये अध्ययन से जो परिणाम निकले थे उनको पुष्टि करना था और दूसरी बात भारत में पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता है । अमरीका में इस काम में उनकी मदद 16 सौ डाक्टरों और नर्सों ने की । इन लोगों ने मरने वाले इंसानों के प्राण निकलने से पहले की उनकी मानसिक दशा को अच्छी तरह से जाँचा परखा ।

डा० ओसिस ने कहा कि जब हमने अमरीका में अध्ययन पूरा कर लिया तो हम देखना चाहते थे कि दूसरी सभ्यता वाले देशों में विभिन्न कर्मों और विश्वास वाले इन्सानों की मरते वक्त क्या दशा होती है ।

जन्म मरण की आत्माएँ —डाक्टर ओसिस ने 19 0 में डेथ बेड ओब्सरवेशन बाई फिजीसियन एण्ड नर्सेज नाम से एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें जन्म मरण संबंधी एक दिलचस्प और अजीब जानकारी दी ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि मरने वाले को मरने से पहले दिखायी दिया कि उसके मरे हुए रिश्तेदारों और दोस्तों की आत्माएं उसे लेने को आयी हैं । कुछ मामलों में मरने वाले को यह तक नहीं पता था कि उसके कौन-कौन से रिश्तेदार मर चुके हैं फिर भी उसने उनकी आत्माएं देखीं ।

रिपोर्ट में एक श्रीमती बी० का हवाला दिया गया है । श्रीमती बी० की बहिन बीड़ा की मौत उनके जीवन काल में ही हो गयी थी । जब श्रीमती बी० के मरने का समय आया तो वह बोलीं, "चारों ओर बड़ा अँधेरा है । मुझे कुछ नहीं दिखायी दे रहा है ।" लेकिन कुछ ही पल के बाद वह फिर चिल्लायीं-बड़ा सुन्दर बड़ा दमकीला, आप लोग नहीं देख सकते । मैं देख सकती हूँ । मैं अपने पिता

को देख रही हूँ वह मुझे बुला रहे हैं। वह बड़े अकेले हैं। तभी चेहरे का भाव बदलती हुई बोली "नहीं नहीं बीड़ा भी उनके साथ है।" और इतना कह कर वह मर गई।

मरते वक्त निराशा—डा० ओसिस ने कहा कि मरने से पहले की इन उल्टी-सीधी तस्वीरों को यह कहकर नहीं नकारा जा सकता कि ये बीमार और असंतुलित दिमाग की उपज हैं।

उन्होंने कहा कि मरने वालों के जितने भी मामले हमने देखे एक बात साफ दिखायी दी और वह थी, उनकी अलग-अलग मानसिक दशा। कुछ के चेहरे में बड़े ही निराशा के भाव थे और कुछ के चेहरे बड़े ही शान्त थे। उन्होंने कहा कि इन मानसिक दशाओं को किसी भी हालत में मानसिक बीमारी की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

डा० ओसिस ने कहा कि इन मरने वालों से एक बात जो पते की मालूम हुई वह यह थी कि मरते वक्त इन लोगों को जो तस्वीरें दिखायी दे रही थीं, वे तरह-तरह की थीं। कुछ लोगों को तो अपने दोस्तों और रिश्तेदारों की प्रतिमाएं दिखायी दीं और कुछ लोगों को भगवान की तस्वीरें दिखायी दीं।

नरक और भूत—डा० ओसिस ने बताया कि एक बात का बड़ा ताज्जुब हुआ कि मरने वालों को जो भी नजारे या जगहें दिखायी दीं वे किसी दूसरे की नहीं दिखायी दी थीं बल्कि इसी धरती के खूबसूरत दृश्य थे। लोगों को न कहीं नरक दिखायी दिया और न ही कहीं भूत।

उन्होंने कहा कि भारत में अध्ययन करने के दौरान हमें ज्यादातर ऐसे मरीज मिले जो मरते वक्त कह रहे थे कि उनको लेने के लिए अमुक आत्मा आ रही है। यही बात अमरीका में भी दिखायी दी।

मरते वक्त इन्सान की आत्मा के अध्ययन के दौरान एक बात आम थी। वह यह कि मरते वक्त इन्सान की आत्मा को कोई न कोई दूसरी आत्मा लेने आती है। और यह बात स्वस्थ दिमाग वाले व्यक्तियों ने अधिक कही इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि यह एक बीमार दिमाग की कल्पना है।

एक बात और अजीब देखी गयी वह यह कि बहुत से भारतीय मरीजों से मरने से पहले दूसरी दुनिया के बारे में पूछा गया तो उनके चेहरों पर भय और डर का भाव समा गया था जब कि इस बात में अमरीकियों की प्रतिक्रिया शांत रही। ऐसा क्यों हुआ जवाब देना कठिन है।

मरने के बाद भी—इन सब खोजों से एक बात प्रकाश में आई इस दुनिया के अलावा एक और दुनिया है जहाँ मरने के बाद इन्सान जाता है और उस दुनिया के भी अपने अलग सामाजिक नियम और अपनी अलग संरचना है।

104 353, प्रेम नगर, कानपुर,

★★

क्या आप जानते हैं ?

घनश्याम शर्मा

रेडियम संसार की कीमती वस्तुओं में से है जिसके एक पौण्ड का दाम 2800,00,000 रुपया है ।

एक सीपी एक मौसम में 6 करोड़ अण्डे देती है ।

ह्वेल मछली का वजन लगभग 5 हाथियों के बराबर होता है ।

ह्वेल मछली के मुख में 2400 दांत होते हैं अर्थात् 300 दांतों की 8 कतारें ।

हिरण के हर साल सींग गिरते हैं और हर साल नये सींग आते हैं ।

मगरमच्छ एक ऐसा जानवर है जिसके पेट में लोहा व पत्थर भी पच जाता है ।

टिड्डी का खून सफेद होता है ।

एक शहद मक्खी एक सेर शहद के लिए 8 लाख फूलों का रस चूसती है ।

संसार का सबसे बड़ा फूल जावा-सुमात्रा में पाया जाता है जिसका वजन 15-20 पौण्ड होता है । इसकी चौड़ाई 3-4 फिट होती है इसमें से सड़े मांस की सी गंध आती है ।

मनुष्य एक दफा सांस लेने में 30 घनफुट हवा खींचता है ।

मनुष्य के बाल चौबिस घंटों में 0·0000127 से. मी. बढ़ते हैं ।

मनुष्य के नाखून चौबिस घंटों में 00·00434357 से०मी० बढ़ते हैं ।

मनुष्य के नेत्र एक घन्टे में 1500 बार झपकते हैं ।

मनुष्य का दिल एक घन्टे में 4320 बार धड़कता है ।

मनुष्य का खून चौबिस घन्टों में 168 मील लम्बा सफर करता है ।

मनुष्य की नब्ज एक मिनट में 8 बार चलती है ।

मनुष्य की धमनियों में खून की गति 7 मील प्रति घंटा है ।

मनुष्य के शरीर में इतना लोहा होता है कि 2.5" लम्बी कील बन सकती है ।

होमपक्षी हवा में उड़ते-उड़ते अण्डे देते हैं ।

गाय की नाक पर कभी पसीना नहीं आता है ।

लाख का निर्माण कीड़े द्वारा किया जाता है । इस कीड़े का नाम ''लैकाइफेरलैका'' है ।

जीराफ बोल नहीं सकता है ।

बाल विज्ञान

धन और ऋण चिन्हों की कहानी

तुम सभी लोग गणित के प्रश्न तो करते ही होंगे। तब तो जोड़ और घटाने के प्रश्न भी तुमने किये होंगे। जब तुम गणित में जोड़ और घटाने के प्रश्न करते हो तब जोड़ के लिए (+) और घटाने के लिए ऋण (−) चिह्नों का उपयोग जरूर ही करते होंगे। जोड़ के चिह्न + को धन और घटाने के चिह्न को ऋण कहते हैं। तुमने ये चिह्न अपने माता पिता और मास्टर जी से सीखे होंगे। तुम्हारे पिता ने ये चिह्न अपने पिता से सीखा होगा और उन्होंने भी अपने माता पिता से सीखा होगा। इसी तरह तुम्हारे मास्टर जी ने भी ये चिह्न अपने माता-पिता और मास्टर जी से सीखा होगा। लेकिन जरा सोचो वह कौन सा आदमी रहा होगा जिसने सबसे पहली बार इन चिह्नों का उपयोग किया रहा होगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये चिन्ह आये कहाँ से? इन चिन्हों को सबसे पहले किसने बनाया होगा? तब तो तुम अवश्य सोच में पड़ जाओगे कि बात तो बड़े मार्के की है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए तुम्हें पुराने समय की विज्ञान पुस्तकों के पृष्ठ उलटने पड़ेंगे विशेष तौर से गणित के पृष्ठ।

इस बात का पता लगाने के लिए जब खोज की गयी और अध्ययन किया गया तो पाया गया कि मिश्र देश के गणितज्ञ अपने प्रश्नों में जोड़ और घटाने के चिन्हों का उपयोग करते थे। लेकिन ये चिह्न आजकल की तरह नहीं थे। ईसा से 1550 वर्ष पूर्व जोड़ के लिये P और घटाने के लिए 4 चिंहों का उपयोग किया था। डाइफैन्ट्स (C·275) ने अपनी पुस्तक में ('अर्थमेटिका') जोड़ के लिए एक स्थिति दर्शाई थी। उसने $x^3 + 13x$ के स्थान पर Kya△yiy लिखा था और घटाने के लिये ↑ चिन्ह का उपयोग किया था।

गणित की दुनिया में '+' चिह्न का उपयोग सबसे पहले ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने किया था। आजकल '+' चिह्न का उपयोग हम जोड़ के लिए करते हैं लेकिन ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने इस चिह्न का उपयोग घटाने के लिए किया था। वे अपने प्रश्नों में '+' चिंह्न का उपयोग करते थे। जैसे—

$$10+4=6$$

इस समय हम जोड़ के लिये धन (+) के चिंह का उपयोग करते हैं लेकिन यह चिन्ह कहाँ से आया है। इस के बारे में लोगों के अलग-अलग विचार हैं। भारत के रहने वाले गणितज्ञ शब्द के पहले अक्षर का उपयोग करते थे। वे 'ऋ' अक्षर का उपयोग करते थे और उन्होंने यह अक्षर 'ऋण' शब्द से लिया था। इसका अर्थ उधार लेना होता है। जब वे घटाने के प्रश्न करते थे तो प्रश्न के साथ 'ऋ' अक्षर भी लिखा करते थे। इससे यह सिद्ध होता था कि यह लिखा गया प्रश्न या प्रश्न का हल' घप्ले का प्रश्न है। बाद में यही 'ऋ' अक्षर धीरे-धीरे के चिन्ह में परिवर्तित हो गया। लेकिन हम देखते हैं कि वे पहले के लोग '+' चिन्ह का उपयोग घटाने के लिए करते थे न कि जोड़ के लिए।

ऊपर यह विचार प्रगट किया गया है कि 'ऋ' चिह्न उपयोग में आते-आते + के रूप में बदल गया। लेकिन फिर भी यह प्रश्न उठता है कि + रूप किसने दिया था। सम्राट अशोक के शिलालेखों में 'क' अक्षर सैकड़ों बार आया है। इसकी शक्ल सूरत कुछ हद तक + से मिलती जुलती है अतः यह भी विचार किया जाता है कि + का चिह्न इसी की देन हो। 'क' 'क्ष' अक्षर से काफी कुछ मिलता जुलता है। यह 'क्ष' अक्षर 'क्षय' शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ कम होना या नष्ट होना होता है। डाइफैन्टस ने ऋणात्मक संख्याओं को प्रदर्शित करने के लिए ↑ का उपयोग किया था उसने यह चिन्ह ↑ से लिया था जो उस समय पहले से ही उपयोग मे लाया जाता था लेकिन का उपयोग अक्षर के रूप से होता था न कि किसी चिन्ह को पर्दशित करने के लिए। डा० केई ने इस तर्क के आधार पर कहा कि यह चिन्ह भारतीय गणित में पहले से ही उपयोग में लाया जा रहा था लेकिन भारतीयों ने यह चिन्ह ग्रीक से लिया है। डा० ब्रिजमोहन ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया और कहा कि यह तर्क ग़लत और अन्यायपूर्ण है।

'न्यून' और 'कन्या' शब्दों का अर्थ कम होना होता है। 'न्यून' से शब्द से 'नृ' और 'कन्या' शब्द से 'क' अक्षर लिया गया है लेकिन ये अक्षर ब्राह्मी लेखों में क्रास की शक्ल से हैं अतः यह अनुमान भी लगाया जाता है कि + का चिन्ह ब्राह्मी लेखों से ही प्राप्त हुआ हो। यूरोप निवासी जोड़ के लिए अपने समय में P, P¹ P² का उपयोग किया करते थे। डच गणितज्ञ वेनडेर हिली ने जोड़ के लिये सबसे पहले (क्रास) चिन्ह का उपयोग किया था। जर्मनी के लोग भी जोड़ के लिए सोलहवीं शताब्दी में + चिन्ह का उपयोग कर रहे थे। ग्रेमेटियस इस चिन्ह का उपयोग 'फेल्स पोजीसन' के नियमों के लिए किया था।

ऋण का चिन्ह

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के गणितज्ञ घटाने के लिए m̃ या m चिन्ह का उपयोग किया करते थे। m अक्षर के ऊपर की सीधी रेखा शायद किसी भूल को प्रदर्शित करने के लिए उपयोग में लायी जाती है। हो सकता है कि घटाने का चिन्ह m के ऊपर वाली रेखा के आधार पर आया हो। m अक्षर को बड़े अक्षरों वाली लिखावट में ∸ इस तरह और छोटी लिखावट में ̈ की तरह उपयोग में लाया जाता है। सम्भवतः बाद में रेखा के ऊपर या नीचे वाली बिन्दी हटा दी गई और केवल रेखा ही बची। चूंकि रेखा m के लिये ही लिखी जाती थी और m घटाने का चिन्ह था अतः—रेखा भी चिन्ह के रूप में उपयोग की गयी। यही — रेखा आज भी घटाने का चिंह्न है।

नरेश चन्द्र 'पुष्प,
न्यू हैदराबाद–केदार नाथ मार्ग, लखनऊ 22607

विज्ञान वार्ता

कम्प्यूटर नियन्त्रित रेल

मास्को भूमिगत रेलों को अब ड्राइवर या कन्डक्टर की आवश्यकता न पड़ेगी। ऐसी रेल चलाई गई है जो बिना ड्राइवर के कम्प्यूटर की सहायता से नियन्त्रण करती है। समय से चलती, यात्रियों को उतारती-बैठाती और फिर समय से चल पड़ती यह रेल नया कीर्तिमान स्थापित कर रही है। पीछे आने वाली गाड़ियों से टक्कर न हो इसके लिये गाड़ी के वेग का भी स्वयं नियंत्रण हो जाता है।

कीड़े मकोड़ों का नियंत्रण

कम ही लोगों को पता है कि फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़े मकोड़ों को दूर हटाने के लिये भी पौधे उगाये जाते हैं। बम्बई विश्वविद्यालय के कालेज आफ फार्मेसी के प्रिंसिपल, डा० हेम चन्द टिग्निस इस समय एक अनुसंधान टोली का नेतृत्व कर रहे हैं, जो उन पौधों के बारे में खोज कर रही है जिनके बारे में ऐसा सन्देह किया जाता है कि वे भन्डारों में संग्रहीत अनाजों को हानि पहुँचाने वाले जन्तुओं और कीड़ों के लिये प्रतिकर्षक का काम करते हैं।

हाल में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने यह अनुमान लगाया है कि अनाज को नष्ट करने वाले कीड़े-मकोड़े भण्डारित अनाज को लगभग ३० प्रतिशत क्षति पहुँचाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि डा० टिग्निस के नेतृत्व में संचालित यह अनुसन्धान परियोजना भारतीय किसानों के हित की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह परियोजना अमेरिका कृषि विभाग की ओर से चलायी जा रही है।

आग बुझाने का विशालकाय वाहन

भूमि पर और पानी में चलने वाले फायर ब्रिगेड के इस ए. आइ. एफ. एंजिन का डिजाइन माइरज में तैयार किया गया है। इसका प्रयोग पानी के जहाज में आग लगने के वक्त किया जाता है। पानी के जहाज में छेद होने से पानी भर जाय तो इसके द्वारा वह पम्प से बाहर भी निकाला जा सकता है और इससे आग भी बुझाई जा सकती है। इसका भार 16·5 टन है और एंजिन 300 अश्वशक्ति का है।

समुद्री घास का कलेवा

अगरायड समुद्री घास अगर-अगर से बना आहार अत्यन्त महत्वपूर्ण पदार्थ है। सोवियत संघ के 150 से अधिक खाद्य उद्यम इसका प्रयोग तरह तरह की पकी हुई खाद्य वस्तुओं, मुरब्बों, चूसने की सुगन्धित टिकियों और आइसक्रीम बनाने के लिये किया करते हैं। इन सबका कच्चा माल है काले सागर की सिवार जिसका नाम है फायलोफोर। अनुमान है कि काले सागर में इसका कोई पचास लाख टन का भण्डार है। इस घास की वृद्धि दर ज्ञात है और घास निष्कर्षण की निरापद दर भी तय की जा चुकी है। 60 किलो अगरायड के लिये लगभग एक मीट्रिक टन फायलोफर की आवश्यकता होती है। अनुसंधान कर्त्ताओं का ध्यान इसके छीजन की ओर आकृष्ट हुआ है। यह पता चला है कि लाल सिवार में कार्बोहाइड्रेटों और ग्लाइको प्रोटीनों के साथ आबद्ध मिश्र प्रोटीन होते हैं।

डा० विलियम एन० लिप्स कोम्ब : रसायन विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार के विजेता

हारवर्ड विश्वविद्यालय के 42–वर्षीय प्रोफेसर डा० विलियम एन० लिप्सकोम्ब को बोरान और हाइड्रोजन मिश्रणों से सम्बधिन्त महत्वपूर्ण रसायनिक गवेषणा के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।

पुरस्कार-समिति ने उनको प्रदत्त प्रशस्ति पत्र में रसायन विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी उनके महत्वपूर्ण योगदानो का उल्लेख किया है।

डा० लिप्सकोम्ब ने लगातार 20 वर्ष तक बोरान की रासायनिक प्रक्रियाओं का अध्ययन-अनुसन्धान किया है। बोरान कणों के स्वरूप का निर्धारण करने तथा प्रयोगशाला में बोरान के कणों का निर्माण करने वाले वह प्रथम रसायनशास्त्री हैं।

डा० लिप्सकोम्ब ने कैन्टुकी विश्वविद्यालय से स्नातक की तथा कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलाजी से पी० एच० डी० की डिग्रियां प्राप्त की हैं।

उनके एक पुत्र और एक पुत्री है।

बारुच एस० ब्लमबर्ग तथा जी० कार्ल्टन गजड्युसेक–शरीर रचना एवं ओषधि विज्ञान में नोबेल पुरस्कार के विजेता

शरीर रचना विज्ञान और औषधि सम्बन्धी यह पुरस्कार संयुक्त रूप से पेन्सेल्वेनिया मेडिकल स्कूल के प्रोफेसर बारुच एस० ब्लवर्ग तथा नेशनल इन्स्टीट्यूट फार न्यूरोलौजिकल् डिजीजेज, वेथस्डा (मेरीलैन्ड) को सँक्रामक रोगों की उत्पत्ति और उनके प्रचार के लिए उत्तरदायी एक नई प्रक्रिया सम्बन्धी महत्वपूर्ण खोज के लिये प्रदान किया गया है।

इन दोनों वैज्ञानिकों ने यह महत्वपूर्ण खोजें दक्षिणी प्रशान्त क्षेत्रों में रहने वाली जन जातियों के जीवन और रहन-सहन का अध्ययन करने के दौरान की है।

डा० बारुच एस० ब्लमवर्ग

डा० बारुच ने आस्ट्रेलिया को जनजातियों के रक्त सीरम में मौजूद तथा कथित आस्ट्रेलिया एन्टीजेन (प्रतिजनक) की खोज की थी। एन्टीजेन एक ऐसा रसायन है जो कुछ विशेष प्रकार की एन्टीबॉडीज (प्रतिदेहियों) को जन्म देता है। यही 'एन्टी बॉडीज' शरीर में प्रवेश करने वाले रोगों के विरु संघर्ष करते हैं। जिस ऐन्टीजेन की उन्होंने खोज की वह उस विषाणु का ही एक अंश था जिस से हेपिटाइटिस नामक भयंकर यकृत रोग उत्पन्न होता है।

डा० ब्लमबर्ग की खोज के फलस्वरूप हेपिटाइटिस रोग के परीक्षणात्मक वैक्सीन का विकास किया गया है। यह आशा की जा रही है कि परीक्षणों की अवस्था से गुजरने के बाद, यह वैक्सीन अफ्रीका दक्षिण चीन, ताइवान, फिलिपीन और मलेशिया में व्यापक यकृत कैंसर के इलाज में भी प्रभावकारी सिद्ध होगी।

डा० कार्लटन गजडयुसेक

डा० कार्लटन को जिस खोज के लिये पुरस्कृत किया गया है, वह उन्होंने न्यूगाइना में की जहाँ वह 'करु' नामक घातक रोग की जांच करने के सिलसिले में गये हुए थे। वहाँ उन्होंने एक नया विषाणु खोज निकाला, जो वहाँ की जंगली जनजातियों में प्रचलित में एक बहुत पुरानी प्रथा के कारण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पहुँचते है। यह प्रथा है मनुष्य के मस्तिष्क को भोजन के रूप में खाना। इस प्रथा के कारण और भी कई भयंकर रोग फैलते है।

डा० गजड्युसेक ने जिस विषाणु का पता लगा कर के उसे पृथक किया है, उन्हें नष्ट करना बहुत अधिक कठिन क्योंकि उनमें उच्च तापमान, अतिकाशिनी किरणों तथा तेज रसायनों को सहन करने की क्षमता विद्यमान है।

डा० गजड्युसेक का जन्म न्यूयार्क में हुआ। उनके माता–पिता हंगरी से आ कर अमेरिका में बस गये थे। उन्होंने रोजेस्टप यूनिवर्सिटी और हारवर्ड मेडिकल स्कूल से अपनी डिग्रियाँ प्राप्त कीं तथा 1958 में वह 'नेशनल इन्स्टट्यूट औव् हेल्थ' में नियुक्त हो गये। वह अविवाहित हैं परन्तु वह गाइना से 16 लड़कों को दत्तक पुत्रों के रूप में अपने साथ अमेरिका ले आये हैं। इनमें से सात लड़कों ने अपने घर बसा लिये हैं परन्तु शेष उन्हीं के साथ रह रहे हैं वह पुरस्कार राशि का प्रयोग इन लड़कों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिये करेगें।

बर्टन रिचटर तथा सैमुएल सी० सी० टिंग- भौतिक विज्ञान में नोबेल पुरस्कार के विजेता

यह पुरस्कार संयुक्त रूप से स्टैनफोर्ड लाइनियर एक्सेलरेटर (स्लैक) के 45 वर्षीय प्रोफेसर बर्टन रिचटर तथा मैसाचुसेट्स इन्स्टिटयूट औव टैक्नोलाजी के 41 वर्षीय प्रोफेसर सैमुएल सी० सी० टिंग को नये प्रकार के मौलिक कणों की खोज करने के लिए दिया गया है। डा० रिचटर ने 'पी एस आई' नामक तथा प्रोफेसर टिंग ने 'जे' नामक कण की खोज की है। दोनों ने ही यह महत्वपूर्ण खोजें 1974 में कीं तथा उनकी इन खोजों के फलस्वरूप भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्ति आ गई है। उनके द्वारा खोजे गये उक्त कण प्रकृति में विद्यमान सबसे सूक्ष्मतम कण हैं।

अनेक वर्षों तक वैज्ञानिकों की यह मान्यता थी कि अणु प्रकृति में पाया जाने वाला सबसे मौलिक, अटल और अविखण्डनीय कण है। लेकिन कालान्तर में यह मान्यता खण्डित हो गयी क्योंकि वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया कि अणु का निर्माण इलेक्ट्रोन से होता है जो 'न्यष्टि' (न्यूक्लियस) के चारों ओर चक्कर लगाता है तथा स्वयं न्यष्टि (न्यूक्लियस) का निर्माण प्रोटोन और न्यूट्रोन से होता है। इलेक्ट्रोन एक अणु का आधारभूत तत्व माना जाता है और उसके अन्दर और कोई चीज नहीं रहती। लेकिन एक्सेलरेटर यन्त्रों में, जिनमें प्रचण्ड ताप की स्थिति में प्रोटोनों पर प्रहार होना है, होने वाले अनुसन्धान से यह आभास मिलने लगा कि प्रोटोन के अन्दर भी कुछ और तत्व विद्यमान हैं।

दस वर्ष पूर्व प्रोफेसर मरे गेलमैन तथा जार्ज जीवेग ने, जो आजकल कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट औव टैक्नोलाजी में हैं, पहली बार यह कहा कि प्रोटोन और न्यूट्रोनों के अन्दर जिस तत्व के मौजूद होने का आभास मिल रहा है, वह वस्तुतः क्वार्क्स है और यह प्रकृति की मौलिक निर्माण इकाई है। इसी समय प्रोफेसर शेलडन ग्लैशो हारवर्ड यूनिवर्सिटी) तथा जेम्स बजोरकेन (स्टैनफोर्ड) ने यह प्रतिपादित किया कि यह 'क्वाक्र्स' चार प्रकार के होने चाहिए। इनमें से दो प्रकार के क्वार्क्स सामान्य प्रकृति में, जैसे वृक्ष, पुष्प और मनुष्य में, मौजूद रहते हैं। शेष दो प्रकार के क्वार्क्स का अस्तित्व केवल एक्सेलरेटरों में ही दिखायी पड़ता है जहां कणों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। इन दोनों को उन्होंने 'स्ट्रेंज' और 'चार्म' की संज्ञा दी है। 'स्ट्रेंज' नामक कणों के गुणों का पता रिचटर-टिंग सिद्धान्त के उद्‌भव के समय ही हो गया था, परन्तु 'चार्म' के गुणों का पता अब तक नहीं चल पाया था।

'जे' या 'पी एस आई' कणों की खोज ने भौतिक-शास्त्रियों को चमत्कृत कर दिया है क्योंकि यह 'चार्म' श्रेणी के हैं और इनका अस्तित्व एक सेकन्ड के केवल कुछ भाग तक ही रहता है। मानवीय दृष्टि से यद्यपि यह बहुत ही कम है परन्तु कई अन्य कणों के जीवन काल की तुलना में यह अवधि 1000 गुना अधिक है। साथ ही यह प्रोटोन से लगभग चार गुना भारी भी है। इन खोजों के साथ वैज्ञानिकों को प्रकृति के मौलिक रूप के बारे में इतनी सही जानकारी हो गयी है जिसमें अब अनेक दशकों तक कोई विशेष परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं है। वस्तुतः मौलिक कणों के क्षेत्र में यह एक महान खोज है जिसका प्रभाव संसार की सभी भौतिक प्रयोगशालाओं की अनुसन्धान प्रणाली पर पड़ेगा।

डा० रिचटर का जन्म 1931 में न्यूयार्क में हुआ था तथा उन्होंने 1956 में मेसाचूसेट्स इन्स्टिटयूट औव टैक्नौलाजी से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की थी। इसके बाद ही वह स्टैनफोर्ड में उस यन्त्र का निर्माण करने में जुट गये जिसके कारण आज यह खोज सम्भव हो सकी है। उनके एक पुत्र और एक पुत्री है।

डा० टिंग का जन्म अमेरिका में हुआ। उनके माता-पिता चीनी थे। उनका प्रारम्भिक पालन-पोषण भी चीन में हुआ था वहां 12 वर्ष की आयु तक उन्होंने कोई शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। उन्होंने मिशिगन विश्वविद्यालय से पी०एच०डी० की डिग्री प्राप्त की है तथा कैलिफोर्निया यूनवर्सिटी और कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में अध्यापन कार्य किया है। वह आजकल 'एम आई टी' तथा यूरोपीय न्यूक्लियर रिसर्च सेन्टर जेनीवा में काम कर रहे हैं। वह विवाहित हैं तथा उनके दो पुत्रियां हैं।

**

पुस्तक समीक्षा

विद्युतिकी एवं इलेक्ट्रानिकी : लेखक काकानी-सक्सेना-जैन-छाजेड-लोढ़ा बुक कम्पनी जयपुर । मूल्य 15 रु० 75 पैसे । प्रथम संस्करण । पृ० 398

यह पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के तृतीय वर्ष के भौतिकी पाठ्यक्रम के आधार पर विभिन्न विद्यालयों के अध्यापकों द्वारा लिखी गई है। इन लेखकों में से श्री श्यामलाल काकानी वैज्ञानिक लेखन में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। अतः पुस्तक के हिन्दी के स्वरूप एवं शैली के सम्बन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना नहीं है। विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी अधिक कुछ नहीं कहना है, यह छात्रों के लिये लिखी गई पुस्तक है। स्पष्ट है कि बोधगम्यता बढ़ाने के लिये मुख्य शीर्षकों एवं पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्यायों को कोष्ठकों में धडल्ले से प्रयुक्त किया गया है। लेकिन चित्रों के साथ एक विचित्रता है। उन में केवल अंग्रेजी में विवरण है। लगता है अंग्रेजी में लिखी गयी पुस्तक के ब्लाक उसी रूप में ले लिये गये हैं। हिन्दी पाठकों के साथ यह अन्याय हुआ है, जिसे अगले संस्करण में दूर कर दिया जायगा ऐसी आशा है।

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अंग्रेजी के उद्धरण हैं-क्या यह मान लिया जाय कि अभी भी हिन्दी पाठकों को अंग्रेजी शब्दावली से चमत्कृत बनाये रखना उद्देश्य है।

विद्युतिकी शब्द के प्रयोग पर भी आपत्ति है। पारिभाषिक शब्दावली में Electricity के लिये कहीं भी विद्युतिकी का प्रयोग नहीं हुआ। फिर ऐसा क्यों?

लेखकों ने समीकरण को स्त्रीलिंग माना है, वह कैसे? लिंग निर्णय का क्या आधार है, यह नहीं बताया गया।

पुस्तक में त्रुटियाँ नहीं हैं, छपाई भी अच्छी है। अतः छात्रों के लिये यह पुस्तक उपयोगी होगी।

[पृष्ठ 8 का शेषांश]

संयुक्त कर के उन्हें एक में जोड़ दिया जाता है जिससे समूचे फसली क्षेत्र के लिए आंकड़े तैयार हो जाते है। इस प्रकार, आगमी वर्ष में गेहूँ की उपज सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त हो जाते है। जैसे जैसे फसली क्षेत्रफल और मौसम सम्बन्धी नयी सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, वैसे ही वैसे अनुमानित आंकड़ों को हर महीने संशोधित भी किया जा सकता है।

मैकडोनाल्ड और 'लैसी' योजना के अन्य वैज्ञानिकों को आशा है कि यह परियोजना सफल सिद्ध होगी। लेकिन उनका यह भी कहना है कि उनकी वर्तमान विधियों के प्रारम्भिक स्वरूप और कठिनाइयों पर अभी विजय नहीं प्राप्त की जा सकी है। फिर भी मैकडोनाल्ड को आशा है कि 1970 के अन्त तक कुछ प्रारम्भिक परिणाम उपलब्ध हो सकेंगे और 1978 के अन्त तक इस प्रणाली की तकनीकी-व्यवहार्यता स्थापित हो जायेगी।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

मूल्य रु० २·००

भाग 114 संख्या 1-2
माघ-फाल्गुन 2033 विक्र०
श्रोषधि एवं स्वास्थ्य विशेषांक, जनवरी-फ़रवरी 1977

विषय सूची

सम्पादकीय

विशेषांकों की श्रृंखला में आपके सम्मुख यह नया 'औषधि एवं स्वास्थ्य' विज्ञान पर विशेषांक प्रस्तुत करते हुये हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है। यह विषय हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित है। वास्तव में पोषण तथा स्वास्थ्य आज विकास के मान्य मानदण्ड बन गये हैं।

'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' यह कहावत चिकित्सा के क्षेत्र में खरी उतरती है। कुछ समय पूर्व तक संसार की नम्बर एक स्वास्थ्य समस्या या तो चेचक होती थी या मलेरिया। परन्तु विशेषज्ञों, चिकित्सकों तथा डॉक्टरों के अथक प्रयासों, उनकी निरन्तर गवेषणाओं तथा उनकी लगन और उनके सेवाभाव के कारण आज इन रोगों पर नियन्त्रण ही नहीं कर लिया गया है बल्कि चेचक को तो लगभग समाप्त ही कर दिया गया है। मई तक हमारे देश को भी 'शून्य चेचक देश' घोषित कर दिया जायगा। आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों में तो बहुत सारे रोगों का निदान ढूंढ़ कर रोगों पर नियंत्रण पा ही लिया गया है विकासशील देशों में भी आधुनिक चिकित्सा के प्रसार के साथ इनका प्रकोप समाप्त हो रहा है।

आज हमारे देश में लाखों लोग दृष्टिविहीन हैं, कुष्ट रोगियों की संख्या भी बहुत बड़ी है हृदय रोग तथा कैंसर का प्रकोप भी काफी बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त कुपोषणजन्य रोगों की समस्या भी गम्भीर रूप धारण कर रही है। विक्षिप्त मस्तिष्क वाले रोगियों की संख्या भी काफी बड़ा है। सारी मानवता शोर से, प्रदूषण से भीड़ भाड़ से और क्लेश कलह से पीड़ित है और कहा जाता है कि इस मशीनी व तनावपूर्ण जीवन में स्वस्थ शरीर का पाया जाना दुर्लभ है। स्वस्थ समाज ही राष्ट्र का सबल बना सकता है। इस उद्देश्य से विभिन्न रोगों से छुटकारा दिलाना एक महत्वपूर्ण विषय है जिस की ओर सबका ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है। हम एक रोग पर नियंत्रण करते हैं दूसरा धर दबोचता है। मलेरिया पर इतने दिनों बाद नियंत्रण हुआ था पर समाचार मिल रहा है कि मलेरिया फिर से लौट आया है। बाल रोगियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। राष्ट्रीय स्तर पर हमें प्रयास करना होगा कि हमारी वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ी स्वस्थ रहे।

संसार के प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने की दृष्टि से ही 'वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन' की स्थापना की गई थी। हम विश्व को कुटुम्ब मानते हैं अत: सारे विश्व के समस्त लोगों के लिये सुख, स्वास्थ्य प्राप्त करने के हित में हम सब को ठोस क़दम उठाने चाहिये। हमारे देश में अनेक संस्थाएँ हैं जो रोग से पीड़ित व्यक्तियों को सहायता पहुँचाने में सेवारत् हैं। चिकित्सा विज्ञान ने इतनी आशातीत सफलता प्राप्त कर ली है कि अनेक रोगों और अनेक शारीरिक विकारों को डॉक्टर या सर्जन अब साधारण समझने लगा है। फिर भी समस्या विकराल रूप धारण किये हुये है।

यह मानना पड़ेगा कि रोग सम्बन्धी जो भी जानकारी हमें मिली है वह उन्नत राष्ट्रों के वैज्ञानिकों से मिली है। यहाँ तक कि जो रोग विकसित देशों में नहीं पाये जाते उन पर खोज उन्हीं देशों में हुई है। हमें अपनी व्यवस्था को भी इतना सुदृढ़ करना चाहिये कि हम अपने पैरों पर खड़े हो सकें। इस दिशा में हमारी सरकार ने बहुत सारे कदम उठाये हैं। कैंसर, का उपचार, मस्तिष्क का आपरेशन, जिगर प्रत्यारोपण, हृदय नियामक की व्यवस्था तथा पहले कठिन माने जाने वाली शल्य क्रियाएँ अब

बहुत सारे चिकित्सा केन्द्रों पर उपलब्ध हैं। उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री ने कुछ दिन पूर्व कहा था कि आल इन्डिया इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल साइंसेज, नई दिल्ली की भाँति का केन्द्र लखनऊ में खोला जायगा। यह बड़ी अच्छी बात है। हम समस्या के प्रति जागरूक हैं और हम यदि ऐसे कई संस्थान स्थापित कर सके तो देश की जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। हमें सफलता मिलेगी इसमें सन्देह नहीं है।

इस अंक के सभी लेखकों का मैं आभारी हूँ जिनके सहयोग से ही योजना कार्यान्वित हो सकी है। डॉ० शिव गोपाल मिश्र तथा डॉ० हिफजुर रहमान का मैं विशेष आभारी हूँ।

●●

सूचीवेध बेहोशी में हृदय की शल्य क्रिया

सिनहुआ समाचार समिति ने बताया था कि चीन के शल्य चिकित्सकों ने सूचीवेध पद्धति से बेहोश कर 22 वर्षीय युवक के हृदय की 'ओपेन हार्ट' शल्य क्रिया कर उसमें नया वाल्व लगाया। यह शल्यक्रिया अपने तरह की पहली थी।

जिस युवक के हृदय का ऑपरेशन किया गया था उसका नाम चांग चींग चिंग है। उसको वातिज हृदरोग था। वह इतना कमजोर था कि चल नहीं सकता था। उसका ऑपरेशन फरवरी 1976 में हुआ था। 6 महीने बाद उसे अस्पताल से मुक्त किया गया था। अब वह कुछ हलके काम कर सकता है। उसका हृदय अब धीरे-धीरे सामान्य ढंग से काम करने लगा है।

समाचार समिति ने बताया कि बेहोशी की सामान्य औषधियों के स्थान पर सूचीवेध पद्धति काफी लाभकर है। सामान्य औषधियों से बेहोश करने में 10 से 20 घण्टे तक कृत्रिम श्वसन कराया जा सकता है और इसमें फेफड़ों में भी गड़बड़ी हो सकती है किन्तु चांग के ऑपरेशन के समय सीना बन्द करते समय आक्सीजन आपूर्ति करने वाला यंत्र हटा लेने के बाद भी उसका श्वसन था। उसकी शल्यक्रिया शरीर के सामान्य तापमान पर की गयी जिससे उसके पैर ठन्डे नहीं हुए।

बताया गया कि जैसा कि आम तौर पर बेहोशी की औषधि देने पर पेट और आँतें खराब हो जाती हैं, वैसा इस विधि में नहीं हुआ। ऑपरेशन के बाद आंतें ठीक ढंग से काम कर रही थीं। इस विधि से ऑपरेशन करने से रोगी उसी दिन तरल और शाक खाद्य के रूप में ले सकता है। पांचवें दिन रोगी कुछ टहल सकता है।

भारत की जनसंख्या और परिवार नियोजन

डॉ० आर० के० सक्सेना तथा डॉ० ऊषा

सन् 1830 ई० तक पूरी दुनिया की जनसंख्या एक सौ करोड़ थी । सन् 1930 ई० तक बढ़कर यह दो सौ करोड़ हो गई अर्थात् लाखों साल में बढ़ी आबादी के बराबर की वृद्धि सिर्फ सौ साल में ही हो गई । फिर यही आबादी सन् 1960 ई० में तीन सौ करोड़ हो गई तथा सन् 1975 में यह बढ़कर चार सौ करोड़ के लगभग हो गई । यानी क्रमश: 30 एवं 15 वर्षों में सौ-सौ करोड़ की वृद्धि हुई है और यह अनुमान किया जाता है कि अगले 25 वर्षों में यह जनसंख्या बढ़कर आठ सौ करोड़ हो जायगी । वृद्धि की यही दर हमारे देश में है । आजादी से पूर्व भारतवर्ष का जन-संख्या लगभग तीस करोड़ थी परन्तु सन् 1951 ई० की जनगणना में जनसंख्या 36 करोड़ थी जबकि भारतवर्ष का बटवारा हो चुका था । सन् 1971 ई० की मतगणना में यह जनसंख्या 55 करोड़ थी तथा अनुमानत: इस समय जनसंख्या 60 करोड़ से भी अधिक है । हमने स्वतंत्रता के पश्चात् अपने देश की जनसंख्या रूस की आबादी के बराबर बढ़ाई है जिसका क्षेत्रफल हम से छ: गुना अधिक है अर्थात् जनसंख्या का घनत्व हमारे देश में अधिक है । कहने का तात्पर्य है कि प्रति वर्ग किलोमीटर पर मनुष्यों का निवास अधिक है । आप लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि हम लोग प्रति वर्ष एक आस्ट्रेलिया पैदा करते हैं । हमारे देश में प्रतिवर्ष एक करोड़ तीस लाख व्यक्तियों की वृद्धि होती है जो कि पूरे आस्ट्रेलिया की जनसंख्या के बराबर है ।

उत्तर प्रदेश में प्रतिदिन 4500 बच्चे पैदा होते हैं, हर दो दिन में एक न्याय-पंचायत के बराबर बढ़ोत्तरी होती है तथा प्रति वर्ष लगभग 16 लाख की वृद्धि होती है जो कि कुछ साधारण जिले जैसे प्रतापगढ़ या मुजफ्फरनगर की आबादी के बराबर है ।

जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण

	वर्तमान	1921
1. उच्च जन्मदर	$\frac{41}{1000}$	$\frac{49}{1000}$
2. निम्न मृत्युदर	$\frac{18}{1000}$	$\frac{48}{1000}$

3. उच्च आवास दर } महत्वपूर्ण नहीं हैं
4. कम प्रवास दर }
5. कम उम्र में विवाह

जनसंख्या समस्या

किसी भी देश की जनसंख्या देश के लिए उस समय समस्या बन जाती है जब उसके लिये उचित भोजन, उचित आवास, उचित शिक्षा तथा उचित रोजगार की व्यवस्था न हो पाये । हमारे देश में पिछले 27 वर्षों में सैकड़ों विद्यालय, सैकड़ों कारखाने, तथा सैकड़ों रोजगारों का प्रबन्ध हुआ परन्तु फिर भी अभी हमारी जनता अशिक्षा, बेरोजगारी एवं गरीबी के भंवर में डोल रही है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे देश की जनसंख्या का बढ़ना खतरे से खाली नहीं है । अत: अपने देश की जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए कुछ करना है और वह दो प्रकार से किया जा सकता है ।

(1) बच्चों के जन्म में वृद्धि को घटायें

(2) मरने वालों की संख्या को बढ़ायें—यह विधि कोई भी देश अपनाना पसंद नहीं करेगा और हमारे देश में भी निरन्तर प्रयत्नों द्वारा मृत्यु दर कम ही किया जा रहा है।

अत: जन्म दर ही कम करके हम जनसंख्या की वृद्धि को रोक सकते हैं और यह अपने परिवार को सीमित करके किया जा सकता है।

अत: यदि हम अपनी उन्नति चाहते हैं, परिवार का स्तर ऊँचा उठाना चाहते हैं, बच्चों को अच्छा स्वास्थ्य प्रदान कराना चाहते हैं, बच्चों को उच्च शिक्षा प्रदान कराना चाहते हैं, बच्चों को अच्छी नौकरी प्राप्त करवाना चाहते हैं तथा स्वयं अच्छी नौकरी चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि परिवार-नियोजन कार्यक्रम को अपनायें। एक परिवार की उन्नति ही देश की उन्नति है क्योंकि परिवारों से ग्राम/मुहल्ले, ग्रामों,मुहल्लों से कस्बे/नगर, कस्बों/नगरों से प्रदेश तथा कई प्रदेशों से देश बनता है।

प्राय: लोग परिवार-नियोजन का अर्थ निकालते हैं नसबन्दी। लेकिन यह भ्रम है

चित्र—अल्ट्रासॉनिक यंत्र जिसकी सहायता से गर्भ में शिशु के विकास का अवलोकन किया जाता है।

परिवार नियोजन वह कार्य है जिसके द्वारा हम अपने बच्चों की संख्या उतनी रख सकते हैं जितनों का लालन-पालन हम अच्छी तरह कर सकें, परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य ठीक रख सकें, उनको भोजन, कपड़ा तथा रहने के लिए इतना स्थान दे सकें कि वे मनुष्यों की भाँति रह सकें न कि पशुओं की भाँति। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि परिवार-नियोजन वह क्रिया है जिसके द्वारा हम स्वस्थ बच्चों को जन्म देकर, सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से उनका लालन-पालन करके, अच्छी शिक्षा देकर चरित्रवान लड़के एवं लड़कियाँ बनाकर देश को ऊँचा उठा सकें। परिवार-नियोजन द्वारा उन दम्पतियों को जिनके बच्चे नहीं हैं मेडिकल सहायता देकर बच्चा पैदा करने योग्य भी बनाया जाता है।

परिवार नियोजन के अन्तर्गत नसबन्दी के अतिरिक्त अन्य विधियाँ भी आती हैं जिनके द्वारा दो बच्चों के बीच अन्तर रखा जा सकता है! मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाएँ भी परिवार-नियोजन का एक अंग है।

परिवार नियोजन की विधियाँ

(1) अस्थाई

(2) स्थाई

अस्थाई—(i) व्यावहारिक

(अ) अनुपस्थिति यह अत्यन्त कठिन विधि है तथा प्राचीन काल में चलती थी। इसमें पति पत्नी के पास नहीं जाता था।

(ब) **मैथुन अवरोध**—इस विधि में स्खलन अन्दर न करके बाहर किया जाता है। यह विधि भी काफी संयम एवं अभ्यास द्वारा की जाती है।

(स) **स्पन्दलय विधि**—इस विधि द्वारा सहवास सुरक्षित काल में किया जाता है। स्थूल रूप से मासिक स्राव से एक सप्ताह पूर्व तथा मासिक के बाद का एक सप्ताह सुरक्षित कहलाता है।

(ii) **यांत्रिक निरोध**

(अ) रतिक्रिया से पूर्व इसे पहन लिया जाता है।

(ब) **डायफ्राम**—इसे एक ट्रेनिंग प्राप्त नर्स या डॉक्टर द्वारा स्त्री के लगाया जाता है तथा सुरक्षित रहता है।

(स) **सरवाइवल कैप**—इसे भी प्रशिक्षित स्टाफ स्त्री के लगा देती है।

(द) **लूप**—यह बच्चेदानी के अन्दर डाल दिया जाता है तथा स्त्री को गर्भधारण नहीं करने देता है। जब कोई स्त्री बच्चा चाहती है तो निकाल दिया जाता है।

(iii) **रसायनिक**

(अ) **जेली** डेल्फेन, आर्थोजी

(ब) **फोम टेब्लेट्स**

(स) **से.ट-स्क्वायर**

उपर्युक्त वस्तुएं रतिक्रिया से पूर्व प्रयुक्त जाती हैं जो शुक्राणुओं को गर्भाशय तक नहीं पहुँचने देतो हैं तथा गर्भाधान नहीं हो पाता।

(iv) **जैविक**—इस विधि के अन्तर्गत निम्न-लिखित चीजें आती हैं।

(अ) टिकिया

(ब) गुटिका

(स) इन्जेक्शन

(v) **शल्यक**—इस विधि द्वारा यदि किसी स्त्री ने गर्भ धारण कर लिया है और वह बच्चा नहीं चाहती है तो बच्चेदानी की सफाई कर दी जाती है। इस विधि को गर्भ समापन कहते हैं।

स्थाई—(i) महिला नसबन्दी

(ii) पुरुष नसबन्दी

अब हम स्त्री बंध्याकरण एवं पुरुष नसबन्दी में अन्तर बतायेंगे जो निम्नलिखित हैं :

स्त्री बन्ध्याकरण	पुरुष नसबन्दी
(1) ऑपरेशन से 12 घंटे पूर्व खाना-पीना बंद कर दिया जाता है तथा ऑपरेशन के तीन दिन बाद तक परहेज करना पड़ता है।	(1) कोई आवश्यकता नहीं होती है।
(2) बेहोश करके ऑपरेशन होता है।	(2) बेहोश नहीं किया जाता है।
(3) पेट काटकर ऑपरेशन किया जाता है।	(3) नस को सुन्न करके ऑपरेशन होता है।
(4) महिला को सात दिन अस्पताल में रहना पड़ता है।	(4) अस्पताल में रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती है।
(5) महिला को एक दिन पहले भरती करना पड़ता है।	(5) व्यक्ति तुरन्त आकर ऑपरेशन करवा सकता है।
(6) पाँच दिन तक सुई लगती है।	(6) सिर्फ दो दिन तक सुई लगती है।

पुरुष नसबन्दी ऑपरेशन

सफाई करने के पश्चात पहले विसंक्रमित साबुन से धोया जाता है, फिर भापसह कटशीट से ढक दिया जाता है। तत्पश्चात शुक्र नलिका में सुन्न करने की सुई लगाई जाती है। फिर वृषण कोश त्वचा पर 2 से. मी. लम्बा चीरा लगाया जाता है तथा वृषण कोश तन्तु अलग किया जाता है।
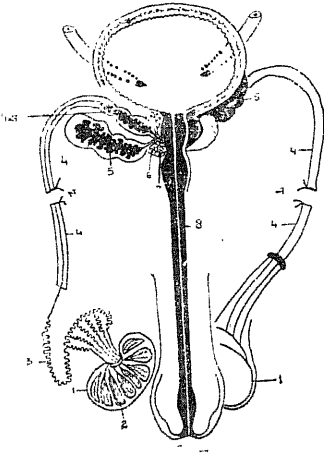
1. शुक्र ग्रन्थि
2 —सेमेनिफेरस ट्यूबूल्स
3—एपिडाइडिमिस
4—शुक्र प्रणाली
4 (अ)—यहाँ पर नसबन्दी के बाद भी कुछ समय तक पहले से आये शुक्राणु जमा रहते हैं।
5—शुक्राशय
6—प्रोस्टेट ग्रन्थि
7—वास एवं शुक्राशय से मिल कर बनी शुक्र स्रोत नलिका।
8—मूत्रमार्ग
न—नसबन्दी—इसमें दोनों ओर वास काटकर बाँध दी गई है।

फिर नस को नलिका से अलग किया जाता है और वह बीच से काट दी जाती है तथा यह देख लिया जाता है कि कहीं पर रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है।

इसके बाद इसे छोड़ दिया जाता है तथा टाँका लगा दिया जाता है और टिंचर बेंजोइन से सील कर दिया जाता है। इसी तरह दूसरी तरफ का ऑपरेशन करके पट्टी बाँध दी जाती है और मरीज को चौथे दिन बुलाकर एक बार पट्टी देख ली जाती है तथा सातवें दिन टाँका काट दिया जाता है।

इस पूरी क्रिया में मुश्किल से 15 या 20 मिनट लगते हैं।

महिला नसबन्दी

मरीज़ को एक रात पूर्व भर्ती किया जाता है तथा उसका पेट साफ किया जाता है तथा ऑपरेशन के लिए तैयार किया जाता है। ऑपरेशन वाले दिन प्रातः एनिमा लगाया जाता है।

ऑपरेशन कक्ष में जाने से पहले A. T. S. 1500 I. U. का इन्जेक्शन लगाया जाता है तथा ऑपरेशन से आधा घंटा पूर्व एट्रोपीन की सूई लगाई जाती है

फिर ऑपरेशन कक्ष में मरीज को सामान्य बेहोशी दी जाती है और ऑपरेशन वाले भाग को भली-भाँति संक्रमित कर दिया जाता है और शीट से ढका जाता है।

अब पेट में चीरा लगाया जाता है तथा एन्टिरियर रेक्टस शीथ काटी जाती है।

फिर रेक्टस तन्तु एक ओर हटा दी जाती है।

अब पेरिटोनियम को एलिस फोरसेप्स से पकड़ कर काटा जाता है तथा इसको दोनों ओर बड़ा किया जाता है।

फिर दो उँगलियों के द्वारा गर्भाशय महसूस करके नलिका को पकड़ कर बाहर किया जाता है तथा बाँधकर थोड़ा सा हिस्सा काट दिया जाता है।

इसी प्रकार दूसरी नलिका भी काट दी जाती है।

तत्पश्चात् पहले पेरिटोनियम सिली जाती है।

फिर एन्टिरियर रेक्टस शीथ सिली जाती है ऊपरी त्वचा पर टाँके लगा दिये जाते हैं और पट्टी बाँध दी जाती है।

इसके आठ घंटे बाद तक पानी की एक बूँद भी नहीं दी जाता है। तत्पश्चात् कुछ बूँद पानी देकर फिर दूध-चाय दी जाती है। दो दिन के बाद ही हलका भोजन दिया जाता है वह भी दलिया खिचड़ी के रूप में। तीसरे दिन फिर एनिमा लगता है। सातवें दिन टाँके काटे जाते हैं।

जि० प्रतापगढ़ कुसत्रापुर अस्पताल

हमारा स्वास्थ्य और विज्ञान

डॉ० देवनारायण शास्त्री एन० डी०

इस सृष्टि के विधान में हर एक वस्तु और व्यवस्था की आयु होती है। विकास-क्रम से सभी वृद्ध, जीर्ण और अनुपयोगी हो जाती है। उनका त्याग होना स्वाभाविक है।

मानव की इन्द्रिय-लोलुप आदतों से उत्पन्न रोगों को दूर करने, उसे स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त कराने के लिये वैज्ञानिकों ने जिस आधुनिक गोरखधन्धा अथवा इन्द्रजाल को मानव समाज पर कानून की आड़ लेकर फैलाया है, क्या उसका भी कभी अन्त होगा ?

हर एक प्राणी का अपना गुण और स्वभाव होता है। मनुष्येतर सभी प्राणियों में उनके गुण-स्वभाव, वंश, परम्परागत प्रकृति से हा मौजूद हैं, किन्तु मनुष्य की मानवता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। पहले जैसा मनुष्योचित आचार-विचार, आकार न होकर अब अनेक प्रकार के इन्द्रिय-लोलुप भक्षण, व्यसन, रसायन सेवन और जीवन-चर्या से उसकी वर्तमान पीढ़ी में अनेक रोग और दुर्बलताएँ आ गई हैं।

पुराने समय में शरीर की जरावस्था में दाँत गिरते थे और आँखों पर ऐनक चढ़ाते थे, वह सब अब वचपन में ही होने लगा है। गाँवों में अब भी नहीं, परन्तु शहरों में, पाठशालाओं में बालक-बालिकाओं की नाक पर यह आभूषण बहुत देखने को मिलता है। मधुमेह, हृदयरोग, पक्षाघात—जो बूढ़ों को एन्द्रिक निर्बलता या थकान के कारण पहले हुआ करते थे, अब बच्चों को होने लगे हैं! यहाँ तक कि कतिपय सद्योजात बच्चों के फेफड़े-हृदय कमजोर मालूम होने पर जन्म के दूसरे दिन ही उन्हें यान्त्रिक विधि से सहायक प्राणवायु दी जाने लगी है। मृतवत् मृत्यु-शय्या पर पड़े जीर्ण, श्मशानाभिमुखी दादा-नाना को कुछ क्षण जीवित रखने के जो प्रयत्न होते थे, वे ही प्रयत्न अब सद्योजात बच्चों पर किये जाने लगे हैं। वायु, जल, अन्न, साग, फल, फूल, शुद्ध दूध— ये हमें प्रकृति से शुद्ध रूप में भोजन एवं पोषण के लिये प्राप्त होते हैं, परंतु वैज्ञानिक मानव ने अपनी बुद्धि से रासायनिक विषाक्त तत्त्वों के मिश्रण से उन्हें बहुत विकृत और विषाक्त कर दिया है। इन्हीं अज्ञानताओं के फलस्वरूप हमें सब कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। हवा में उड़ने वाले हवाई जहाज, राकेट, भूमि पर तीव्रगामी मोटरों तथा रासायनिक कारखानों से निकलने वाली दुर्गंधित और अग्राह्य वायु तथा मनुष्यों और स्त्रियों के भी ओठों में शोभा देने वाली सभ्यसूचक बीड़ी, सिगरेट के जूँठे धुएँ निर्व्यसनी जनता के श्वास में अनिच्छा से घुसते हैं। बड़े-बड़े शहरों में जल प्रदायों द्वारा घर-घर मिलने वाले पानी की गन्ध और स्वाद में भिन्नता पायी जाती है। जल को दूषित मान कर उसके कीटाणुओं को मारकर जल को निरोगी बनाने के लिये रासायनिक मिश्रण या जल शोधन की जो क्रियाएं की जाती हैं, उनके फलस्वरूप जल को वैज्ञानिक दृष्टि से तो निर्गन्ध और स्वादरहित ही होना चाहिये, फिर गन्ध-स्वाद में विषमता क्यों ? और यह भी सब को अनिच्छा से जबरदस्ती पीना पड़ता है।

जीवनी शक्ति, स्वास्थ्य और प्रकृति में घनिष्ठ संबंध है। जब तक हम इस सत्य का साक्षात्कार न करेंगे, कष्ट उठाते रहेंगे। रोग का प्रादुर्भाव तभी होता है जब इस सत्य की अवहेलना की

जाती है। भ्रामक धारणाओं के वशीभूत होकर, रोगी अज्ञानतावश जीवन शक्ति की रक्षा और वृद्धि की ओर ध्यान न देकर उसके विनाश और उसे कमजोर करने पर तुल जाता है। वह रूढ़िवादी औषधियों पर गलत भरोसा करता है, फलस्वरूप बीमारी और मुसीबत दोनों ही भोगता है। एक दवा के बाद रोगी दूसरी दवा खाता है, एक डाक्टर के बाद दूसरे डाक्टर का दरवाजा खटखटाता है। इस प्रकार एक ऐसा भ्रामक चक्र चल पड़ता है जिसकी समाप्ति कहीं नहीं होती है और जब होती है तो जीवन की समाप्ति के साथ।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य जब तक प्रकृति के नियमों का पालन करता है, स्वस्थ रहता है। प्रकृति के सरल, सहज और शाश्वत नियमों की अवहेलना करने पर ही वह बीमार पड़ता है। इस अवहेलना का कारण कुछ भी क्यों न हो, इससे बहस नहीं।

एक रोगी के लिये आवश्यक तो यह होना चाहिए कि वह अपनी गलतियों की जाँच करे, अपनी भूलों का सुधार करे लेकिन वह पहुँचता है डाक्टर के यहाँ! दवा खाकर अपनी गलतियों को छुपा ले, इस तरह न कभी रोग अच्छा हुआ है, न होगा। प्रत्यक्ष में आज नाना प्रकार के रोगों की बढ़ती हुई संख्या और उसी अनुपात में बढ़ी हुई दवाइयों के बावजूद औषधिप्रणेताओं की असहायावस्था, ओषधि विज्ञान से रोग की चिकित्सा में रोग के उस कारण को—जो रोग पैदा करता है, न समझने की कोशिश की जाती है और न उसे दूर करने की। इसके खिलाफ रोग के लक्षणों को भाँति-भाँति के तरीकों से दबा देने की कोशिश की जाती है। रोग को दूर करने का यह तरीका जोंक लगवाने, फस्त खुलवाने या तुंबी लगवाने से अधिक अवैज्ञानिक और कम हास्यास्पद नहीं है।

आज दुनियाँ के सभी शिक्षित और समझदार व्यक्ति यह समझने लग गये हैं कि दवाओं द्वारा रोग के लक्षणों को दबा देना नितांत मूर्खता है। साधारण जुकाम जिसे प्रकृति द्वारा स्वच्छता अभियान की संज्ञा देना उचित होगा, उसे भी जब भाँति-भाँति की औषधियों से दबा देते हैं तो उसका प्रस्फुटन जीर्ण सर्दी, पुरानी खांसी, निमोनियाँ यहाँ तक कि तपेदिक के रूप में होता है। हजारों रोगी तो केवल उन्हीं दवाओं के खाने के फलस्वरूप ही रोगाक्रांत हुये थे जिन्हें रोगियों ने लाभदायक समझ कर ग्रहण किया था।

प्रकृति ने मनुष्य को शक्तिशाली ही बनाया है। वह अशक्त अपनी कुटेवों से होता है। सच बात तो यह है कि रोगी होना एक अपराध है। हजारों रोग जिनके नाम औषधोपचार ने ईजाद किये हैं, प्रकृति के नियमों को तोड़ने से ही पैदा होते हैं।

वस्तुतः कोई भी रोग असाध्य नहीं है। प्रकृति का दरवाजा सब के लिये खुला है। जो उसकी शरण में जायेगा, आनन्द और स्वास्थ्य का भागी बनेगा। आवश्यकता है संकुचित दृष्टिकोण को परित्याग करने की। आज यह युग की बहुत बड़ी माँग है।

यथेष्ट जीवनी शक्ति रखते हुये प्राकृतिक नियमों का पालन करने से रोगों से दूर रह कर उत्तम स्वास्थ्य का अधिकारी बना जा सकता है। जितनी जल्दी लोग इस बात को समझ लें उतना ही अच्छा है।

मानव को रोग, दुःख क्यों होता है? पाप से। पाप होता है अज्ञान से। अज्ञान कैसा? यह कि हम नहीं जानते कि हमारा शरीर क्या है, इसकी प्रकृति कैसी है, शरीर के यन्त्र कैसे काम करते हैं, शरीर की रक्षा, सफाई कैसे की जाय, इसे कैसा भोजन, पोषण, जल-वायु दिया जाय, इससे कैसे कितना काम लिया जाय! हम जो खाते-पीते हैं, वह सब समाज की नकल करके, रिवाज के वश करते हैं। हम नहीं जानते कि हम जो खाते हैं, वह क्या है, पीते हैं वह क्या है। हम न तो स्वयं को पहचानते हैं, न खाने-पीने की चीजों को या

दवाओं को। स्वयं अज्ञानवश पाप करके हम दवाओं में पाप से मुक्ति ढूँढ़ते हैं। गन्दी, घृणित दवाओं से अपना पाप धोना चाहते हैं, जो वैसा ही है जैसा गोबर को धोने के लिये मल का उपयोग करना। यह विज्ञान-युग की कैसी विडम्बना है। चटपटे अचार और मीठे शहद में गन्धक का तेजाब मजे में खाते हैं, मकई के भुट्टे की 'बाल' रंग कर, केसर के भाव लेकर शौक से, और चिकनी सफेद मिट्टी को सपरेटा दूध की रबड़ी में, और मीठे बिस्कुट-शरबतों में सिगरेट में डामर कौलतार से बने सुगन्धित विष और 'कास्टिक' 'तथा 'चपड़ा' आदि खाते हैं। बीमार होने पर दवा के नाम पर संजीवन रसायन के नाम पर भेड़, बन्दर, सुअर, घोड़े अन्य पशुओं के रक्त-मांस से बनी औषधियों को खा-पी जाते हैं। समझदार मानव की थाली में मूल रूप में ये चीजें परोसी जायें तो इन्हें देखकर वह पागल हो सकता है, परन्तु वैज्ञानिक रासायनिक मिश्रण के कारण वह उन्हें पहचान नहीं पाते और अपने जीवन के लिये आवश्यक रसायन के नाम से सब कुछ खा-पीकर भी अहिंसक, धर्मनिष्ठ हिंदू, जैन, मुलमान आदि बने रहते हैं।

अब धीरे-धीरे वह समय आयेगा कि दुनिया में सब कृत्रिम मानव होंगे, सारा जीवन कृत्रिम होगा, फिर परिवार-नियोजन और पारिवारिक कलह आदि न होंगे। जब सारा मानव जगत अपंग लंगड़ा, लूला, विकृत मस्तिष्क, पागल होगा, तब अखण्ड शांति होगी। यही विज्ञान के अंकुर उग रहे हैं—जगत् में बढ़ते हुए बाल—पक्षाघात, बचपन से ही दांत गिर जाना, दृष्टि मन्द होना, गर्मी-सर्दी सहन न होना, चलने-फिरने से लाचार होना, हृदय रोग, मधुमेह, क्षय, कैंसर—सब उसी भविष्य के अग्रदूत हैं।

नर से नारायण बनने की साधना, आत्म-भाव से परमात्म-भाव की व्यापक भूमिका प्राप्त करने के पौर्वात्य आदर्श—'मोक्ष' 'निर्वाण' अद्वैत परमपद, 'कैवल्य' की साधना भूलकर कीटाणुवादी विज्ञान-यान पर चढ़े हुए मानव का भविष्य कैसा है—विचार कर लीजिये। यह शैतान का खिलौना है, विकृत ज्ञान है।

इतना सब देख-विचार कर, यदि हमें संसार में मानव और मानवता को कायम रखना है तो अपना भोजन पानी अपने परिश्रम से अर्जित कर स्वाभाविक रीति से जीने के लिये, हमें वैज्ञानिक पाखण्ड त्याग कर देना चाहिए।

हम वेद और वेदांत लेकर कई हजार वर्षों से अपनी संस्कृति में आत्मा और परमात्मा का डंका पीटते आये हैं। विज्ञान ने हमारे आत्मा और परमात्मा का डंका पीटते आये हैं। विज्ञान ने हमारे आत्मा और परमात्मा की खोज में स्थूल साक्षात्कार करना चाहा। डाक्टरों ने मानव शरीर को चीर-फाड़ कर रोम-रोम और रक्त विन्दु तक का विश्लेषण करके कीटाणुमात्र व्यापक पाया और भौतिक रासायनिक वैज्ञानिकों ने पदार्थों का सूक्ष्म विश्लेषण करके परमाणुओं को व्यापक पाया और उनके विघटन-विस्फोट से पृथ्वी पर प्रलय की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। सम्भवत: आत्मा और परमात्मा को कहीं न पाकर ये वैज्ञानिक कृत्रिम भोजन, भेषज और अनेक भौतिक पदार्थों के सम्मिश्रण करके अब भले ही कृत्रिम मानवीय अण्ड-पिण्ड के निर्माण में संलग्न हों और पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दु:ख-सुख के द्वैत भावों को त्याग कर स्वयंदृष्टा बनें। परस्पर प्रेम और आत्मीयता से दूर हो कर हम इतने पतित और स्वार्थवश बदनीयत हो गये हैं कि अपनी विनाशक प्रकृति को ही हमने विकास मान लिया है।

यदि भारत को अपनी परमार्थी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति और जीवन को बनाये रखना है तो आधुनिक बनावटी-मिलावटी भोजन, भेषज और जीवनचर्या को त्याग कर तुरत आत्म सुधार के लिये आत्मनिर्भर होना आवश्यक है।

रोग की दवा होते हुए भी दुनिया के साथ भारत में भी रोग बढ़ रहा है। रोग दूर करने के

लिये दवा को हमने उपकारी, चमत्कारी साधन मान लिया है—वह ऐसा ही है, जैसे घर में घुसे चोर का उत्पात दबाने के लिये डाकू को निमन्त्रण देना। वास्तव में रोग तो है—गंदगी, और विकार? उसे निकलने से ही, आत्म-शुद्धि और स्वस्थता, आत्मस्थिति प्राप्त होती है। दवा चाहे कितनो भी चमत्कारी कही या मानी जाय और उसका प्रभाव तुरन्त दृष्टिगोचर हो, परन्तु वह शरीर में गन्दगो विकार को बहुरूपिया बनाने वाली। केवल औद्योगिक स्वार्थ की चीज है। यदि दवाओं से सचमुच रोग दूर होता तो रोग कभी विकृत न होता, न बढ़ता। बढ़ते हुए रोग का कारण है 'दवा, बनावटी-मिलावटी भोजन-चर्या इससे जीवन शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जावेगा फिर कोई भी चिकित्सा आपके स्वास्थ्य की रक्षा में समर्थ न हो सकेगी कम से कम स्वास्थ्य के लिये इन कृत्रिमताओं का बहिष्कार कर दीजिए।

प्रबन्ध सम्पादक,
'प्राकृतिक जीवन'
हिन्दी मासिक, लखनऊ।

● ●

तीन सेकेन्ड में दिल का ऑपरेशन

एक सोवियत शल्य चिकित्सक ने हृदय की चिकित्सा की एक नई पद्धति खोज निकाली है। इस विधि में टांके के बगैर हृदय में एक इलेक्ट्रोड प्रविष्ट कराया जाता है। सारी शल्य चिकित्सा मात्र तीन सेकेन्ड में संपन्न हो जाती है। यह विधि इतनी सरल है कि जरूरत पड़ने पर इसे रोगी के घर पर या एंबुलेंस में ही सुगमतापूर्वक संपन्न किया जा सकता है।

सुप्रसिद्ध सोवियत शल्य चिकित्सक डॉ० सेर्गेई ग्रिगोरोव ने इसे दो साल से ले कर 90 साल तक की उमरवाले रोगियों पर समान सफलता के साथ आजमाया है।

अब तक जितनी भी युक्तियाँ हृदय रोग के लिये अपनाई जाती रही हैं उनमें कोई न कोई शल्य सम्बन्धी या फिर कोई तकनीकी कठिनाई उत्पन्न होती रही है। विश्वास किया जाता है कि इस पद्धति में ऐसी कोई कठिनाई सामने नहीं आयेगी। वैज्ञानिकों के मतानुसार हृदय रोग जैसी गम्भीर और खतरनाक बीमारी से पीड़ित रोगियों के लिये यह पद्धति एक वरदान सिद्ध होगी।

रुकिये, कहीं आप विष तो नहीं खा रहे

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

मनुष्य तथा पशु अपनी-अपनी रुचियों के लिये प्रसिद्ध हैं। दोनों ने ही अनुभवों के आधार पर स्वादिष्ट एवं रुचिकर पदार्थों को ही खाने के योग्य चुना है। यदि भूल से कहीं कोई अखाद्य पदार्थ का भक्षण हुआ नहीं कि उसके घातक परिणाम होते रहे हैं। फलस्वरूप विषैले पदार्थों का लगातार परित्याग होता रहा है। किन्तु यदि विषैले पदार्थों के खाने से तत्क्षण मृत्यु न हो वरन् उसके दीर्घगामी प्रभाव हों तो यह कह पाना मुश्किल हो जाता है कि विषाक्तता का मुख्य कारण क्या रहा ?

यह एक सामान्य सा निरीक्षण रहा है कि जंगली कुकुरमुत्तों के खाने से मृत्युयें होती रही हैं। अब जाकर यह ज्ञात हो पाया है कि ऐसी मृत्युओं के मूल में विषैले पेप्टाइडों तथा ऐमीनो अम्लों की उपस्थिति है। यही नहीं, इन विषैले यौगिकों की उपस्थिति विशेष जलवायु वाले प्रदेशों में उत्पन्न वनस्पतियों में ही पाई जाती है फलस्वरूप प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या सीमित होती है।

हाल ही में विषैले पेप्टाइडों, ऐमीनो अम्लों आदि के विषय में जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनके आधार पर यह जानना सरल हो सका है कि विशेष भूभागों अथवा परिस्थितियों में मानव तथा पशुओं की मृत्युयें किसी खाद्य विशेष के भक्षण के उपरान्त ही क्यों होती रही हैं !

कुकुरमुत्तों के ही समान खेसरी दाल के खाने से विशेष प्रकार की 'लुंजता' (पंगुता) होने के समाचार काफी बासी हो चुके हैं। चाहे मध्य प्रदेश के आदिवासी हों, या उत्तर प्रदेश (रायबरेली) के गरीब किसान, प्रायः दुर्भिक्ष के अवसरों पर भक्ष्याभक्ष्य के कारण उपर्युक्त प्रकार की विषाक्तता का शिकार होना पड़ता है।

कई बार सड़ी मछलियों को खाने से दुर्घटनाएँ घटी हैं। इसी प्रकार विशेष प्रकार की घासों अथवा फलों या फलियों के खाने से अनेक देशों में पशुओं की मृत्युओं की सूचना प्राप्त होती रही है।

आइये, उपर्युक्त के निराकरण के समय हम यह भी जान लें कि हम कहीं विष को खाद्य तो नहीं मान रहे हैं ? कहीं स्वाद के फेर में पड़कर मानव अपनी मृत्यु के विष-बीज तो नहीं बोता चल रहा है ? रसायनज्ञों ने इस रहस्य के उद्घाटन में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया है जिसकी चर्चा की जावेगी।

सभी प्रकार के आहार में अथवा पशु-चारों में प्रोटीन की उपस्थिति आवश्यक बताई गई है। प्रोटीन के निर्माण में ऐमीनोअम्लों तथा पेप्टाइडों का महत्वपूर्ण स्थान है। दुर्भाग्यवश ये दोनों ही अवयव कभी-कभी विष बन जाते हैं।

पेप्टाइडजन्य विषाक्तता

जंगली कुकुरमुत्तों, छत्रकों तथा खुम्भियों को एकत्रित करते समय कुशल से कुशल व्यक्ति भूल कर बैठता है। यह देखा गया है कि इनमें से हरे तथा श्वेत किस्म वाले एमैनिटा कुल के छत्रकों की संख्या सर्वाधिक (95%) है जो विषैले ही होते हैं। वीलैंड तथा उनके साथियों (1967-68) ने इनमें प्राप्य पेप्टाइडों की संरचना का अध्ययन किया है।

पेप्टाइड दो वर्ग के हो सकते हैं—फैलोटाक्सिन तथा एमैटाक्सिन। फैलोटाक्सिन चक्रीय हेप्टापेप्टाइड हैं जिनमें सामान्य ऐमीनो अम्लों के अतिरिक्त कई नवीन ऐमीनो अम्ल भी पाये जाते हैं—इनमें थायोएस्टर अत्यन्त उल्लेखनीय संरचक है। एमैटाक्सिन आक्टापेप्टाइड हैं अतः फैलोटाक्सिनों की सजातीय श्रेणी के उच्चतर सदस्य हैं। इनकी विषाक्तता का कारण इनमें निहित γ–हाइड्रॉक्सो समूह है।

उपर्युक्त रासायनिक भिन्नता के साथ ही इन दोनों वर्गों के पेप्टाइडों की विषाक्तता में भी अन्तर है। एमेटाक्सिन अत्यधिक विषैले हैं (फैलोटाक्सिन से 10-20 गुना) और एमैनिटा छत्रकों की घातक प्रतिक्रिया के लिये ये ही उत्तरदायी होते हैं। एमैनिटा की विषैली किस्मों में प्रति 100 ग्राम हरे छत्रक (सूखने पर 5 ग्राम) में 10 मिलीग्राम फैलोटाक्सिन तथा 14 मिलीग्राम तक एमैटाक्सिन रह सकते हैं। इस हिसाब से 50 ग्राम छत्रक खाने पर मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। आदिवासी तथा चरवाहे जंगलों से प्राप्त छत्रकों की काफी मात्रा एकत्र करके खाते हैं और ये ही उनके प्रोटीन-स्रोत हैं किन्तु ये उनके लिये जानलेवा भी सिद्ध होते रहते हैं।

ऐमीनो अम्ल

पेप्टाइड टाक्सिनों की अपेक्षा प्रकृति में प्राप्य ऐमीनो अम्लों में कम विषाक्तता होती है। प्रायः इनके कारण प्रोटीन संश्लेषण में बाधा पहुँचती है; सामान्य ऐमीनो अम्ल आर० एन० ए० (RNA) तक स्थानान्तरित नहीं हो पाते और यदि प्रोटीन बन भी जाते हैं तो वे दूषित हो जाते हैं। सामान्य रूप से ऐमीनो अम्लों का दुष्प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। साहित्य में कम से ऐसे 4 प्रकार के ऐमीनो अम्लों का उल्लेख मिलता है, ये हैं :

1. लैथाइरोजनी ऐमीनो अम्ल
2. हाइपोग्लाइसिन ए
3. मिमोसीन
4. सेलीनियम से युक्त ऐमीनो अम्ल

लैथाइरोजनी ऐमीनो अम्ल—लैथाइरस कुल के पौदों के बीजों में ऐसे कारक पाये जाते हैं जिनसे 'लैथाइरिज्म' (पंगुता, लुंजता) नामक रोग उत्पन्न होता है। इस रोग के लक्षण हैं—अस्थि-पंजर का विरूपण तथा तंत्रिका तंत्र की विकृति। सर्वप्रथम 1954 में शिलिंग तथा स्ट्रांग ने इसके लिये उत्तरदायी कारक को पृथक किया और इसकी विषाक्तता के लिये इसमें निहित β ऐमीनो प्रोपियोनाइट्राइल अंश की उपस्थिति बताई। यह यौगिक कोलैजेन के बन्धन में अवरोध उत्पन्न करता है जिससे अस्थि विकृति आ जाती है।

यह देखा गया है कि दुर्भिक्ष के दिनों में जब सामान्य अन्नों की कमी रहती है मध्य भारत (सतना के आसपास) के आदिवासी विशेष रूप से तथा गंगा यमुना मैदान के देहाती लोग भी खेसरी दाल का सर्वाधिक प्रयोग करते हैं। खेसरी को गाँवों में मटरा या चपरी भी कहते हैं। यह रबी फसलों के साथ स्वतः उगने वाली लतर जैसी फसल है, जो खाद्य मानी जाती है और गरीब किसान इसकी दाल तथा इसका आटा बनाकर खाने के लिये कालान्तर से प्रयुक्त करते चले आ रहे हैं। पशुओं को भी रातिब के रूप में चपरी दी जाती है। इस कुल की कई जातियों में हानिकारक तत्व के होने की सूचना है। भारत में इस अन्न के घातक प्रभावों को देखते हुये जीनी परिवर्तन करके विषहीन लैथाइरस उगाने के सफल प्रयत्न हुये हैं। राष्ट्रीय पोषण संस्थान हैदराबाद में 1963 से ही इसे विषरहित बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं। यह पाया गया है कि अन्न को गरम पानी में उनमें से इसका विष जाता रहता है।

मानव स्वास्थ्य की रक्षा हेतु यह अत्यंन्त साहसिक प्रयास है।

हाइपोग्लाइसिन ए—कैरेबियन सागर के पार्श्ववर्ती इलाकों में एक फल (ब्लिघिया सैपिडा) उत्पन्न होता है जिसे गरीब लोग बड़े चाव के साथ खाते हैं किन्तु उन्हें यह पता नहीं रहता कि वास्तव में यह कितना घातक है। इसके खाने से कै होती है और अल्पग्लुकोस रक्तता (हाइपोग्लाइसीमिया) के लक्षण प्रकट होते हैं। 12 घंटे के भीतर ही मृत्यु हो जाती है। रसायनज्ञों ने विश्लेषण करके देखा है कि इन फलों में β मेथिलीनसाइक्लोप्रोपिल एलैनीन रहता है जिसे ही हाइपोग्लाइसिन ए के नाम से अभिहित किया गया। 1859 में ही यह प्रस्तावित हुआ था कि हाइपोग्लाइसिन ए शरीर में वसा के आक्सीकरण में बाधा पहुँचाता है जिससे आवश्यक ऊर्जा मिलने में कठिनाई होती है। इसका परिणाम होता है ग्लाइसीमिया रोग की उत्पत्ति। इसकी पुष्टि यों की गई कि भूख से पीड़ित लोगों को यह बीमारी तेजी से होती है।

स्मरण रहे कि लीची की गुठली भी इतनी ही घातक है।

मिमोसीन—यह ल्यूकीना तथा मिमोसा कुलों की दलहनी फसलों में पाया जाने वाला विषैला ऐमीनो अम्ल है। जब पशु इन लतरों को चर लेते हैं तो उनमें विषाक्तता फैलती है जिससे उनका शरीर भार घटने लगता है और उन्हें मोतिया-बिन्द हो जाता है। पत्तियों तथा बीजों में इस अम्ल की मात्रा 3-8% तक हो सकती है। भेड़ों में ऊन गिरने लगता है जिसका कारण मेथियोनीन तथा सिस्टीन नामक ऐमीनो अम्ल का बनना बन्द होना है। जरा सोचिये कि पशुओं को कितना संवेदनशील होना पड़ता है।

सेलीनो ऐमीनो अम्ल—कुछ मिट्टियों में सेलीनियम अधातु तत्व की बहुलता रहती है अतः जब इनमें घासें उगती हैं तो वे भी सेलीनियम-बहुल होती हैं। इन्हें चरने पर पशुओं में सेलीनियम विषाक्तता हो जाती है। धीरे-धीरे पशुओं में सेलीनियम का संग्रह होता रहता है जिससे उन्हें दो प्रकार के रोग हो सकते हैं—रतौंधी तथा ऐल्कली रोग। दूसरे रोग में पशुओं के बाल झड़ने लगते हैं, यहाँ तक कि खुरों के गिरने की नौबत आ जाती है। यदि गेहूँ, जौ, घास आदि के भूसे में 10-30 अंश प्रतिदशलक्षांश सेलीनियम रहे तो ये रोग होते हैं।

यह सेलीनियम पौदों में प्रोटीन रूप में रहता है। सेलीनोमेथियोनीन अथवा सेलीनोसिस्टीइन—ये दो प्रोटीन हैं—इनमें गंधक के स्थान पर सेलीनियम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्रोटीन के पाचन के समय ये ऐमीनो अम्ल विमुक्त होते हैं और अवशोषित होकर पूरे शरीर में पहुँचते हैं। यद्यपि मनुष्यों में इन अम्लों के कारण जन्य रोगों की पुष्टि नहीं हो पाई किन्तु चर्म रोग, खराब दाँत तथा खराब नाखून जैसी विकृतियाँ देखी गई हैं। सेलीनियम से युक्त चारे पर आश्रित दुधारू पशुओं के दूध में, मांस में, यहाँ तक कि पक्षियों के अण्डों तक में प्रचुर सेलीनियम रह सकता है। यही कारण है कि दूध या अण्डे का चुनाव करते समय न केवल पशु-पक्षी के स्वास्थ्य वरन् उनके राशन पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण मात्र दिग्दर्शक है। आज-कल सभी प्रकारों के प्रोटीनों की जो अंधाधुंध खोज चल रही है और जो लोग सभी तरह के प्रोटीनों का उपयोग मनुष्य तथा पशु आहार के लिये करना चाहते हैं उन्हें इस विवरण से शायद धक्का लगे किन्तु यह ज्ञान मानव स्वास्थ्य एवं कल्याण की दृष्टि से लाभप्रद होगा।

प्रवक्ता कृषि रसायन
रसायन विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
इलाहाबाद

सावधान (!)

डॉ० लक्ष्मी नारायण शर्मा

मेरे एक परम मित्र जो जीव विज्ञान के डाक्टर थे और अमेरिका, नाइजीरिया, घाना आदि देशों में अपने विषय के प्राध्यापक रह चुके थे - आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व कुछ दिन निरन्तर मेरे साथ रहे। उनके साथ एक औषधियों का बक्स भी रहता था; जिसमें अनुमानतः पचीस-तीस भिन्न प्रकार की औषधियाँ रहती थीं।

वे सुबह ही ऊँचे रक्त चाप को रोकने वाली गोली खाते। नौ, दस बजे एक अम्लनाशक गोली खाते; भोजन के बाद विटामिनों का शर्बत पीते; अपराह्न में फिर रक्तचाप रोधक गोली खाते; शाम की चाय के साथ अक्सर एक ए० पी० सी० की गोली ले लिया करते—ताकि कहीं सर्दी, जुकाम, बदन दर्द आदि की शिकायत न हो जाए। रात्रि भोजन के पश्चात् फिर विटामिनों का शर्बत; और रात को सोते समय फिर नींद की गोली। दूसरे तीसरे दिन विटामिन सी० 500 मि० ग्रा० की एक गोली भी ले लिया करते थे।

इतनी औषधि निर्भरता उनमें इसलिए थी कि कहीं कोई रोग उन्हें न दबा ले; स्वास्थ्य ठीक चलता रहे। लेकिन फल इसके उल्टा ही निकलता था; दूसरे तीसरे दिन कभी खाँसी जुकाम, कभी वायु पीड़ा, कभी हृदय की धड़कनें बढ़ना, कभी सरदर्द और कभी अपच होता ही रहता था।

वस्तुतः इन मित्र महोदय की ही बात नहीं है, आज अनेक ऐसे लोग मिलेंगे जो घड़ी की सुइयों के साथ-साथ औषधियाँ खाते हैं। उनके घर में एक पूरी अलमारी दवाइयों से भरी मिलेगी; और उनके पेट में होती है एक केमिस्ट की पूरी दुकान और फिर भी ये लोग अस्वस्थ रहते हैं। क्योंकि एकमात्र औषधियाँ खाना न तो स्वास्थ्य रक्षा करता है न रोगों का नाश।

आयुर्वेद मनीषि चरक का कथन है—

"विना प्यौषधै व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न हि पथ्य विहीनानां औषधानां शतैरपि॥"

अर्थात् बिना औषधि के भी रोग केवल पथ्य से दूर हो जाते हैं। लेकिन बिना पथ्य के सौ औषधियाँ भी रोग दूर नहीं कर सकतीं।

पथ्य क्या है ?

पथ्य का अर्थ केवल खान-पान सम्बन्धी परहेज़ ही नहीं है अपितु समग्र रूप से स्वास्थ्य सम्मत आचरण पथ्य के अन्तर्गत आते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में हमने जिन औषधि निर्भर लोगों का जिक्र किया है यदि उनके खान-पान का सर्वेक्षण किया जाए तो हम पायेंगे कि वे 'बैड टी' के अलावा दिन में 8-10 बार चाय पीते हैं, खूब तले हुए पकवान खाते हैं। फलों और कच्चो सब्ज़ियों का उनके भोजन में कोई स्थान नहीं होता, कदाचित्—फल ठण्डे होते हैं नुक्सान न कर जाएं अतः फल खाते डरते हैं। अलबत्ता चाय के अतिरिक्त मैदा के बिस्कुट, डबल रोटी के पीस, रस्क आदि को हल्का खाद्य मानकर खूब खाते हैं। ऐसे लोग प्रायः धूम्रपान तो करते ही हैं उनमें से कुछ शराब का भी शौक रखते हैं।

सर्दी के मौसम में ये लोग आपाद मस्तक

शरीर को ऊनी कपड़ों से ढके रहते हैं; स्वच्छ ठण्डी ताज़ी हवा से डरते हैं कहीं सर्दी न हो जाए। कहना न होगा कि ये सभी आचरण 'अपथ्य' हैं इसीलिए दिन भर औषधि सेवन करते रहने के बावजूद वे स्वस्थ नहीं रह पाते।

औषधियों का आविष्कार सहस्राब्दियों पहले का है। प्रारम्भ में केवल वनौषधियाँ ही व्यवहार में आती थीं; उनके सेवन से शरीर में उत्पन्न हुआ रोग रूपी विष नष्ट हो जाता था; और शरीर फिर भला-चंगा बन जाता था। वस्तुत: वनौषधियाँ शारीरिक धातुओं से मेल खाती थीं इसलिए स्वास्थ्य और रोगों के लिए हितकर थीं और आज भी उसी तरह हितकर हैं। लेकिन आज वैज्ञानिक क्रान्ति का युग है। औषधि क्षेत्र में भी एक महान् क्रान्ति आयी है। इस क्रान्ति का प्रभाव यूनानी, आयुर्वेद एवं होमियोपैथी पर तो नगण्य सा ही पड़ा है। सबसे अधिक प्रगति की है आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अर्थात् एलोपैथी ने। और ये क्रान्ति प्रसूत औषधियाँ हैं—एण्टी बायटिक्स (कीटाणुनाशक,) ट्रैंकलाइजर्स (शामक) कार्टिसोन और हार्मोन घटित औषधियाँ; केमोंथिरैपिक औषधियाँ आदि। इनके अतिरिक्त विटामिन भी युद्धोत्तर काल में ही अधिक उभरे हैं। सल्फाड्रग्स की गणना भी नवाविष्कृत औषधियों में हैं, लेकिन ये औषधियाँ युद्ध से पूर्व आ चुकी थीं।

इन क्रान्तिकारी औषधियों के बारे में यह दावा किया गया है कि अनेक जानलेवा और असाध्य रोगों पर इन दवाओं ने क़ाबू पाकर मृत्यु दर कम कर दी है और लोगों की आयु को बढ़ाया है। दावे में आंशिक सत्य जरूर है, अब लोग न्यूमोनिया, टायफायड, ज़हरवाद, जैसे रोगों से नहीं मरते।

लेकिन तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। उस काले पक्ष पर भी विचार करना होगा। वह है इन औषधियों का मनुष्य शरीर पर बुरी प्रतिक्रियाएं और कुप्रभाव; मिसाल के तौर पर पेन्सिलीन को शुरू-शुरू में 'जादू असर' होने का खिताब मिल गया था; परन्तु वही पेन्सिलीन अब खतरनाक मानी जाने लगी है। अनेक बार इससे रोगियों की तत्काल मृत्यु तक हो गई है। समझदार डॉक्टर अब इसके इस्तेमाल से कतराने लगे हैं।

इन औषधियों के साथ जो परचे होते हैं उनमें कुप्रभावों और प्रतिक्रियाओं की चेतावनी ही होती है। कोई औषधि दिल की धड़कनें बढ़ाती है तो कोई रक्तचाप ऊँचा-नीचा ले जाती हैं, कोई स्नायुमण्डल के साथ छेड़ छाड़ करती हैं तो दूसरी रक्तकणों का भारी नाश करती हैं।

वर्ल्ड हेल्थ आर्गेनाइज़ेशन (विश्व स्वास्थ्य संगठन) के चीफ ड्रग इवेल्यूएशन एण्ड मानिटरिंग यूनिट के डॉ० बी० डब्ल्यू० रायल का कथन है—

"There are thousands of drugs in the market, and a number of different adverse reactions ranging from, nausea, insomnia, severe jaundice or blood abnormalities to sudden death and foetal malformation—is also very large."

अर्थात्—"आज बाज़ार में हजारों दवाइयाँ हैं और इनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक बुरी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। जससे तबियत मिचलाना, अनिद्रा, गम्भीर रूप का पीलिया अथवा खून में अस्वाभाविकता पैदा करने से लेकर तत्काल मृत्यु तक हो सकती हैं। इतना ही नहीं, इनसे गर्भ के बच्चे तक प्रभावित होते हैं।"

सन् 1973 के अन्त तक "विश्व स्वास्थ्य संगठन" के कार्यालय में औषधियों की बुरी प्रतिक्रियाओं की 75000 शिकायतें पहुँची हैं जो लगभग 6000 औषधियों से सम्बन्धित हैं जब कि शिकायत की रिपोर्ट भेजने वाले लोग गिने-चुने ही हैं।

तो तथाकथित गम्भीर रोगों (न्यूमोनिया, टायफ़ायड आदि) को काबू में करने वाली औषधियाँ,

एक बार रोगी को जरूर खड़ा कर देती हैं, लेकिन वास्तविक आरोग्य नहीं प्रदान कर पातीं; क्योंकि इनसे रोगों के मूल कारण दूर नहीं होते अपितु मात्र लक्षण मिट जाते हैं, अर्थात् रोग दब जाते हैं साथ ही शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति में भी कमी आ जाती है। वस्तुतः दबे हुए रोगों का विष शरीर में ही घुमड़ता रहता है और कुछ काल व्यतीत होने पर जीर्ण रोगों का रूप ले लेता है जैसे पुरानी खाँसी, जिगर की खराबी, पाचन दोष, चर्म रोग, दमा, ऊँचा रक्तचाप, दिल के दौरे आदि। फलतः अधिक एलोपैथिक औषधियों के अभ्यासी व्यक्ति प्रौढ़ और वृद्ध आयु में अदबदा कर इन जीर्ण रोगों के शिकार हो जाते हैं। 'हू' (WHO) पत्रिका के सम्पादक ने लिखा है—

"...Another contributory factor is the increased life expectancy of most population which has brought about a change in disease pattern and a rising incidence of chronic and degenerative diseases. Greater number of elderly persons now seek and receive treatment, which account to some extent for the increasing use of diuretics and preparation that act on heart."

गाँधी जी ने ठीक ही कहा है कि "औषधि की शीशियाँ जब एक बार किसी घर में घुस जाती हैं तो सारी जिन्दगी वहाँ से नहीं निकलतीं।"

प्रायः शहरों, कस्बों और औद्योगिक संस्थानों में तथा सरकारी विभागों में आज डाक्टरों का ही बोलबाला है। अधिकांश लोग शीघ्र रोगमुक्ति की दृष्टि से एलोपैथिक औषधियों की ओर ही झुकते हैं। काश, ये लोग 'पथ्य' की ओर ध्यान देते; उग्र रोग होने पर एक दो दिन का उपवास कर लेते, तो बहुत सी परेशानियों और फिजूलखर्ची से त्राण पा लेते। लेकिन आज स्थिति यह है कि अधिकाधिक लोग औषधि अभ्यासी होते जा रहे हैं। इस औषधिप्रियता के मूल में कई कारण हैं।

● आज इस अणु और राकेट के युग में लोग कोई सामान्य सा रोग होने पर भी गोली खाकर उससे तत्काल छुटकारा पाना चाहते हैं।

● दूसरा बड़ा कारण है रेडियो, टेलिविजन एवं पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से औषधियों का धुँआधार विज्ञापन।

इस ओर 'वर्ल्ड हेल्थ' के सम्पादक ने इंगित किया है—

"—And the constant battery of advertising seem as principal cause of the huge consumption of medicaments."

इस विज्ञापनबाजी का असर यहाँ तक हुआ है कि आज पनवाड़ियों, पन्सारियों और जल-पान गृहों में दर्द नाशक और अम्ल नाशक औषधियों के लिफाफे मिलने लगे हैं। जो देश जितना अधिक आधुनिक और प्रगतिशील है वहाँ उतनी ही औषधियों की ज्यादा खपत है।

वस्तुतः आज इन आधुनिक देशों का उच्च चिकित्सक वर्ग इस अधिक औषधि प्रयोग से चिन्तित हो उठा है। सच तो यह है कि यह औषधि प्रयोग जितना अधिक बढ़ा है उसी मात्रा में रोग अधिक बढ़े हैं—दिल के दौरे, ऊँचा रक्तचाप, मधुमेह (डायबिटीज़), जोड़ों का दर्द, यक्ष्मा, दमा आदि रोगों के रोगियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

इस सन्दर्भ में फेडरल रिपब्लिक आफ़ जर्मनी के डा० फॉज ग्रॉस ने एक बड़ी बेलाग और तथ्यपूर्ण बात कही है कि—

"However, it is an illusion to think that drug may appear that will effectively preclude the decline of physical and mental capacities in the aging organism. We should not expect drugs that will really prolong human life. ....One prediction can be made with certainty—no drug will ever be discovered that would permit man to put himself beyond the laws of nature."

"यह सोचना कोरा भ्रम है कि ऐसी औषधियाँ भी होंगी जो वृद्ध होते शरीर की दिमागी और शारीरिक क्षमता को गिरने न दें'... हमें यह भी आशा नहीं करनी चाहिए कि दवाएँ मनुष्य को दीर्घायुष्य देंगी।......यह भविष्यवाणी निश्चयात्मकता से की जा सकती है कि त्रिकाल में भी ऐसी औषधि का आविष्कार नहीं होगा जो मनुष्य को प्रकृति के नियमों के उल्लंघन की आज्ञा दे सके।

इसी सन्दर्भ में अमेरिका के डा० एल्बर्ट एस० हायमन ने एक नए और दिलचस्प तथ्य की ओर संकेत किया है—जिसकी सत्यता को पहचानना प्रत्येक चिकित्सक के लिए जरूरी है। एक भेंट में उन्होंने बताया था कि—"हम डाक्टर लोग शरीर की स्वस्थ और स्वाभाविक दशा का इतना अध्ययन नहीं करते जितना रोगों का करते हैं। एक डाक्टर के पुस्तकालय में यदि सौ पुस्तकें हैं तो उनमें से शायद एक पुस्तक स्वस्थ और स्वाभाविक दशा पर होगी। शेष 99 किताबें रोगों पर होंगी। एक नेत्र-विशेषज्ञ के पास भी सौ पुस्तकें हो सकती हैं, लेकिन वे सभी आँखों के रोगों पर होंगी। 'हृदय विशेषज्ञ' होने के नाते मेरे पास भी 'हृदय' पर सौ पुस्तकें हैं किन्तु वे सभी दिल के रोगों पर हैं। इनके लेखकों ने दिल की स्वस्थ और स्वाभाविक दशा का विवेचन सिर्फ छः पृष्ठों में करके छोड़ दिया है; काश वे स्वाभाविकता को अधिक महत्व दे पाते।

सम्भवतः भारत के चिकित्सा मनीषियों ने बहुत पहले यह बात महसूस कर ली थी; इसीलिए चरक और सुश्रुत संहिता जैसे आर्य चिकित्सा ग्रन्थों में "स्वस्थवृत्त" की कमी नहीं हैं। जैसे—

"भोजनान्ते पिबेत् तक्रं; वासरान्ते पयः पिबेत्।
निशान्ते च पिबेद् वारि; त्रिभिर्रोगो न जायते॥"

अर्थात् भोजन के अन्त में तक्र (छाछ) पिए; रात्रि को दूध पीना चाहिए और सुबह को पानी।

कहना न होगा कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए ये तीनों नियम बुनियादी और अद्वितीय हैं। इस स्वस्थ वृत्त के अन्तर्गत उन्होंने दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या भी विस्तार से लिखी है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य सम्मत आदतें डाली जाएँ ताकि रुग्ण होने की नौबत ही न आए। "प्रिवेन्शन इज बेटर दैन क्योर" रोगी होकर आरोग्य होने की अपेक्षा स्वास्थ्य रक्षण उत्तम है।

इसी सन्दर्भ में गाँधीजी ने एक बड़ी दिलचस्प दलील दी हैं—एक स्थान पर उन्होंने लिखा है।

"मैं जरूरत से ज्यादा भोजन खा लेता हूँ तो अपच के कारण मेरे पेट में दर्द उठ खड़ा होता है। मैं डाक्टर के पास जाता हूँ, डाक्टर मुझे दवा देता है मेरे पेट का कष्ट दूर हो जाता है। मैं फिर अधिक खाता हूँ और अपच होने पर फिर डाक्टर से दवा लेकर कष्ट मुक्त हो जाता हूँ। इस प्रकार डाक्टर मुझे एक गलत काम के गलत नतीजे से बचा लेता है। फलतः मैं बार-बार गलत काम करने के लिए उत्साहित होता रहता हूँ। इस दृष्टि से डाक्टर कोई अच्छा पार्ट अदा नहीं करता। क्योंकि इससे कोई भी व्यक्ति स्वास्थ्य नाशक आदतों का शिकार हो सकता है। आदमी बदपरहेजी इसी तरह सीखता है।"

खुद दवा तजवीज करने की आदत—स्वयं ही दवा तजवीज करके खाने की आदत भी अवैज्ञानिक है। दुर्भाग्य से जन साधारण में यह रिवाज़ जोर पकड़ता जा रहा है। दर्द नाशक औषधियों की गोलियों की तो लोग अपनी मर्जी से ही खरीद कर खाते हैं। कई बार नींद की गोलियाँ भी खाने में संकोच नहीं करते।

इसके अतिरिक्त एण्टीबायटिक्स एवं इसी श्रेणी की दूसरी औषधियां भी अपनी मर्जी से खाते पाए जाते हैं। टायफायड की औषधि

[शेष पृष्ठ 23 पर

जैव-चिकित्सा अभियांत्रिकी

डॉ० शिव प्रकाश

मानव शरीर एक जटिल मशीन है। इसके विभिन्न अंग कल-पुरजे हैं जो शरीर क्रिया को नियन्त्रित करते हैं। इन्हीं कल-पुरजों की सहायता से यह मानव रूपी मशीन वर्षों तक चलती रहती है और जब किसी भाग विशेष में गड़बड़ी या विकार उत्पन्न हो जाता है तो वह पुरजा काम करना बन्द कर देता है। यदि समय पर उसकी देखरेख व उसमें अभीष्ट सुधार न किया गया तो यह मानव मशीन बन्द हो सकती है या बन्द हो जाती है और फिर व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। बहुत से अंग तो ऐसे हैं कि उन्हें शरीर से पृथक करते भी मनुष्य जीवित रह सकता है जैसे आँख, हाथ, पैर, कान आदि। परन्तु हृदय, फेफड़ा, मस्तिष्क, गुर्दे यदि काम करना बन्द कर दें तो जीवन संकटमय ही नहीं होता वरन् समाप्त भी हो जाता है।

मानव शरीर के अंगों में विकार उत्पन्न होने पर उनमें वांछित सुधार करके पुनः काम के योग्य बनाने का वैज्ञानिकों व चिकित्सकों का प्रयास लगातार जारी है फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इस समस्या पर विजय प्राप्त हो गई है। हाँ, शरीर के अंगों को बदल कर उनके स्थान पर कृत्रिम अंग लगाकर पुनः जीवन दान देने का कार्य चिकित्सक अब करने लगे हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के विकलांग विद्या विभाग में मनुष्य के पैर के सभी 'जोड़ों' को कृत्रिम रूप से बना लिया गया है। इस विभाग के अध्यक्ष डॉ० विलियम मकास्टर का कहना है कि पिछले कुछ वर्षों में बहुत कुछ प्रगति हुई है परन्तु 100 वर्षों के बाद क्या प्रगति होगी उसकी तुलना में हमारी अब तक की सफलता नगण्य ही है।

संयुक्त राज्य अमरीका में शोधकर्ता कृत्रिम हृदय बनाने में, गुर्दा मशीन का आकार छोटा करने में तथा मस्तिष्क से आदेश लेकर कार्य करने वाली मशीन के निर्माण में लगे हुए हैं। संसार के अन्य केन्द्रों में भी यह प्रयास जारी है। आशा की जाती है कि बाजार में शीघ्र ही हमारे मुख-मण्डल के टुकड़े, नाक, गाल, कान, आंख (इलेक्ट्रोड स्कैनर) आदि उपलब्ध हो जायेंगे, शरीर के 'अतिरिक्त भाग' तो संभवतः उपलब्ध हो जायेंगे पर कृत्रिम मानव का निर्माण हो पायेगा इसकी आशा नहीं दिखाई पड़ती।

ऊटा विश्वविद्यालय ने एक ऐसा कृत्रिम हृदय बनाया जिसे बछड़ों के लगाया गया। इनमें से एक बछड़ा तीन महीने तक इस कृत्रिम हृदय से जीता रहा। लॉस एंजिलिस स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में कृत्रिम हाथ बनाया गया है जो प्राकृतिक हाथ की ही भाँति कार्य करता है। कृत्रिम कूल्हे, घुटने तथा एड़ियाँ भी बनाई गई हैं। साउथ कैरोलिना यूनिवर्सिटी में काँच, तथा सिरेमिक यौगिक पर इस दिशा में कार्य हो रहा है कि भविष्य में उसकी सहायता से दुर्घटना में चूर-चूर हुई हड्डियों के स्थान पर नयी हड्डी लगाई जा सकेगी।

जैव-चिकित्सा अभियांत्रिकी (बायो-इंजीनियरिंग) में सर्वाधिक प्रगति गुर्दा मशीन, हृदय-फेफड़ा मशीन तथा पेसमेकर के निर्माण में हुई है। हृदय प्रत्यारोपण तथा गुर्दा प्रत्यारोपण के

बारे में हम प्रायः सुनते रहते हैं। सैकड़ों व्यक्तियों के हृदय तथा गुर्दे बदले जा चुके हैं। हृदय निकालने और उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति के स्वस्थ हृदय को प्रतिरोपित करने में काफ़ी समय लगता है। इतने समय तक रोगी को जीवित रखना तथा उसके शरीर में रक्त परिसंचरण करना अत्यन्त दुष्कर होता है। उसे आक्सीजन कहाँ से मिलती है यह प्रश्न किसी के भी मस्तिष्क में उठना स्वाभाविक है।

हृदय-फेफड़ा मशीन

'आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है' कहावत को चरितार्थ करते हुए ही हृदय और फेफड़ों का काम करनेवाली मशीन का आविष्कार हुआ। इसके निर्माण के पूर्व हृदय की शल्यक्रिया असम्भव मानी जाती थी। डॉ० जॉन एच० गिब्बन को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने ऐसी मशीन का कार्य 1937 में सर्व प्रथम आरम्भ किया। जब डॉ० गिब्बन ने यह बताया कि क्षत हृदय के वाल्व के स्थान पर नये ऊतक लगाना अब सम्भव हो सकेगा तो किसी को विश्वास ही नहीं होता था। सबसे पहली मशीन 1952 में गिब्बन के आदेशानुसार इंटरनेशनल बिजनेस कार्पोरेशन ने बनाई। इस मशीन को 'आक्सी जेनेटर' के नाम से जाना जाता है। यह मशीन पहली बार एकवर्षीय लड़की की जन्मजात हृदय विकृति ठीक करने में प्रयुक्त की गई थी।

डॉ० गिब्बन के बाद डॉ० डेनिस मेलरोज ने रक्त को यांत्रिक रीति से आक्सीजनीकृत करने के लिये बढ़िया तरीक़ा खोज निकाला। इसके बाद भी मशीन में सुधार किये जाते रहे। न्यूयार्क में बर्न-बास में बनी मशीन उनमें मुख्य है। इसे डाक्टर सी० पी० बेली, डॉ० जैकब जिमरमैन तथा डॉ० टेरुआ हिरोज ने एक चिकित्सा इंजीनियर एच० ऐवरेट की सहायता से मिलकर बनाया है। यह सूटकेस से थोड़ी बड़ी होती है और प्रत्येक मशीन से उत्तम है।

इसका कार्य इस प्रकार है। शल्य-क्रिया के दौरान शिराओं से आने वाला रक्त गुरुत्वाकर्षण बल द्वारा कई परतों से छिद्रों में होकर मशीन के ऊपरी कक्ष में पहुँचता है। रक्त की धाराएँ एक घूमते हुए ड्रम के ऊपरी भाग पर गिरती हैं। इस ड्रम में स्टेनलेस स्टील की छड़ों से संलग्न
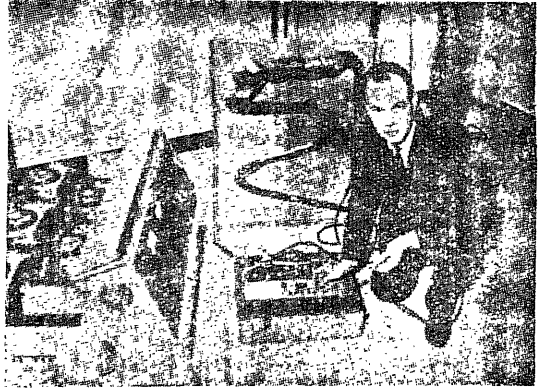
चित्र—आक्सीजेनेटर

अनेक प्लास्टिक ट्यूबें होती हैं। जब रक्त नीचे की ओर बहता है तो असंख्य सूक्ष्म छिद्रों से होकर गुजरता है। ड्रम घूमता रहता है और 1 मिनट में 2 चक्कर लगाता है। इससे रक्त को आक्सीजन ग्रहण करने के लिये काफी समय मिल जाता है। अतिरिक्त आक्सीजन और रक्त द्वारा मुक्त कार्बन डाइ आक्साइड एक छिद्र द्वारा बाहर निकल जाती है। फिर रक्त गुरुत्वाकर्षण बल द्वारा ही धीरे-धीरे बहता हुआ एक रक्ताशय में पहुँचता है। इस रक्ताशय में एक छन्ना और ऊष्मा विनिमयकारी होते हैं। छन्ना आक्सीजन के बुलबुलों को रोक देता है। थोड़ी देर रक्ताशय में ठहरने के बाद रक्त रोगी के शरीर में प्रवेश करता है। इसकी सबसे बड़ी खूबी है कि रक्त को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती।

गुर्दा मशीन

मानव शरीर का पहला अंग जिसका सफल प्रत्यारोपण किया गया वह था गुर्दा। यद्यपि गुर्दा

कई जटिल कार्य करता है फिर भी यह एक सरल अंग है जिसमें केवल एक धमनी, एक शिरा तथा मूत्र के लिये एक नलिका होती है। गुर्दा मशीन का निर्माण सर्वप्रथम 1913 में हुआ जिसके कारण गुर्दा के रोगियों को काफी राहत मिली। इस मशीन की सहायता से रोगी की आयु 10-14 वर्ष तक बढ़ सकती है। यह मशीन सीलोफेन फिल्म की सहायता से रोगी के रक्त का अपोहन करती है। गुर्दा का प्रमुख कार्य रक्त का अपोहन ही है जिसके द्वारा विजातीय अनावश्यक द्रव्य को पृथक कर दिया जाता है। यदि मानव गुर्दा कार्य करना बन्द कर दे तो रक्त की 'सफाई' नहीं हो पायेगी और मृत्यु अवश्यमभावी हो जाती है।

यूरिया, यूरिक एसिड, फास्फेट को पृथक करके रक्त में विद्युत अपघट्य के साम्य को बनाये रखने में सहायता करती है। रोगी के रक्त को दो नलिकाओं द्वारा मशीन में होकर प्रवाहित किया जाता है। दो में से एक नलिका शिरा से जुड़ी होती है दूसरी धमनी से। अभी तक ऐसी मशीनें थी जो भारी होने के कारण अस्पतालों में विशेष कक्ष में रखी रहती थीं और रोगी को एकान्तर दिनों में अस्पताल जाकर मशीन द्वारा रक्त का अपोहन करवाना पड़ता था। इस उपचार के लिये रुपया भी काफी व्यय करना पड़ता है क्योंकि यह काफी महंगा होता है। इसलिए सभी रोगी इस उपचार का लाभ उठा सकने योग्य नहीं होते।

हाल ही में ऐसी मशीनें बना ली गई हैं जिनका निस्यन्दन दर काफ़ी उच्च होता है! साथ ही साथ यह मशीनें आकार में भी छोटी होती हैं। नई प्रणाली में संशोधित एक्रिलिक बहुलक की झिल्ली को प्रयुक्त किया जाता है। यह बहुलक पॉली एक्रिलो नाइट्राइल के एमीनों का चतुर्थक बनाकर फिर हेपारिन से आयन युग्मन द्वारा बनाया जाता है। इस बहुलक का यह गुण है कि यह रक्त का थक्का नहीं बनने देता अर्थात यह नॉन थ्राम्बोजेनिक होता है। इसका जल निस्यन्दन दर भी सीलोफेन की अपेक्षा अधिक होता है। इससे एक मिनट में 20-30 मि० ली० रक्त का अपोहन हो जाता है। धीरे-धीरे सभी विकासशील देशों में इसका प्रयोग होने लगा और अब विकासोन्मुख देशों में भी यह यंत्र उपलब्ध है। बम्बई का जसलोक अस्पताल उनमें से एक है। सुवाह्य यंत्र बन जाने से रोगी इसे अपने घर पर भी प्रयुक्त कर सकता है और साथ ले चल सकता है सुवाह्य यंत्र को दो पट्टियों द्वारा कंधों के सहारे पहनना पड़ता है।

पेसमेकर

पेसमेकर (गति नियामक) का निर्माण तो हृदय रोगियों के लिये बहुत बड़ा वरदान बन गया है। इसके पूर्व डाक्टर केवल औषधि तथा सान्त-वना दे सकते थे जीवन बचाने के लिये कोई भी युक्ति कारगर नहीं होती थी और हृदय रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती थी। 1960 में न्युयार्क के एक अस्पताल के प्रमुख शल्य चिकित्सक डॉ० विलियम चार्डक और डॉ० एंड्रयूज गेज ने इलेक्ट्रॉ-निक्स इंजीनियर विल्सन ग्रेट्रबैच की सहायता से एक अनोखा पेसमेकर तैयार किया जो बैटरी चालित था। आरम्भ में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य थीं जैसे चलते-चलते पेसमेकर स्वयं हृदय की ही भांति बंद हो जाते थे और उनमें सुधार के लिये पुनः आपरेशन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त पेसमेकर बराबर काम करते रहते थे चाहे हृदय की कार्यविधि ठीक ही क्यों न हो गई हो। अब इनमें काफी सुधार हो गया है और अब तो परमाणु शक्ति चालित पेसमेकर भी बना लिया गया है। संसार में लाखों हृदय रोगी पेसमेकर को सहायता से जी रहे हैं जिसके अभाव में उनकी इह लीला समाप्त हो गई होती।

पेसमेकर कण्ठस्थि के दायें निचले हिस्से में प्रतिरोपित किया जाता है। जब भी 'प्राकृतिक

हृदय' अपना कार्य बन्द करता है यह 'कृत्रिम हृदय' अपना कार्य आरम्भ कर देता है। 6 सेंमी० अर्ध व्यास तथा 150 ग्राम भार वाला यह संयंत्र जिंक-मर्करी की बेटरी से चलता है और नियंत्रण के लिये इलेक्ट्रॉनिक्स सर्किट कार्य करता है। लगभग 8 सेंमी० चीरा लगाकर, चर्बी हटा कर पेसमेकर लगाया जाता है और एक रक्त शिरा को पंक्चर करके पेसमेकर के पतले तार को उसके भीतर ही भीतर हृदय के दायें प्रकोष्ठ तक पहुँचा दिया जाता है। तार का दूसरा सिरा पेसमेकर से जुड़ा रहता है। पूरे ऑपरेशन में लगभग 1 घण्टा लगता है। इस प्रकार के संयंत्र को स्थायी पेस-मेकर कहते हैं। जब हृदय का नियंत्रण बाहर रखे यंत्र की सहायता से किया जाता है तो उसे अस्थायी पेसमेकर कहते हैं।

जैव-चिकित्सा अभियांत्रिकी ने चिकित्सा क्षेत्र में क्रान्ति ला दी है। समूचा मनुष्य बनाना तो वैज्ञानिकों की सफलता की परिधि से अभी काफी दूर है पर शरीर के दोषपूर्ण अंगों के स्थान पर मानव निर्मित 'अंगों' की दिशा में जो प्रगति हुई है उससे मानव का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। इन 'अंगों' की सहायता से व्यक्ति की आयु बढ़ाई जा सकती है।

प्रवक्ता, रसायन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●●

बदाम बनाम चना

बम्बई के एक प्रमुख बाल विशेषज्ञ के अनुसार यदि बच्चों को मंहगे बादाम के स्थान पर काला चना या मूंगफली दी जाय तो वे ज्यादा स्वस्थ रहेंगे। जितने पैसे का एक अंडा मिलता है उतने के बादामों में केवल 1 ग्राम प्रोटीन व 30 कैलोरी ऊष्मा मिलती है। उतने ही मूल्य के बराबर मूंगफलियों में जितनी प्रोटीन व कैलोरी होती है उतनी दूध व अंडे में संयुक्त रूप से भी नहीं होती।

बच्चों के कुछ सामान्य जन्मजात विकार

डॉ० हिफजुर रहमान, एम० एस० (सर्जरी)

आप सोचेंगे, बच्चों के फूल से कोमल और सुन्दर संसार में विकार और विकृतियों जैसे शब्द का क्या काम ? बच्चे तो होते ही देवदूत हैं, उनका काम है रोते हुये को हँसाना, निराश हृदयों में आशा जगाना। सोते में कैसे मुस्कराते हैं, कहते हैं उस समय ईश्वर स्वयं उनसे बात कर रहा होता है। किन्तु प्रकृति का नियम भी तो है कि कोई भी सांसारिक वस्तु सांसारिकता से परे नहीं हो सकती है। इससे परे देवदूत सरीखे बच्चे भी नहीं होते।

जी हाँ, तमाम भाग्यशाली बच्चों के बीच कुछ अभागे बच्चे भी जन्म लेते हैं जो पैदा होते ही माता-पिता की चिन्ता का विषय बन जाते हैं। जन्मजात शारीरिक विकार अंग विशेष में जन्म के समय होते हैं। फटे हुये होंठ, कुछ अंगों की अप्राकृतिक बनावट, और इसी तरह की अन्य विकृतियों को देखकर कौन माता-पिता चिन्तित न होगा ? अन्धविश्वासी लोगों को ऐसे बच्चों को राकस (राक्षस) तक कहते सुना गया है।

इन विकारों में बहुत से ऐसे हैं जिनका पूर्णरूप से उपचार सम्भव है। आवश्यकता है सही समय पर परामर्श और उपचार की। देर करने से बच्चे के स्वास्थ्य और कभी-कभी प्राण का खतरा तो रहता ही है यदि ऐसा नहीं हुआ तो अपने आप को दूसरे सामान्य बच्चों से भिन्न पाकर उसके मन में हीन भावना घर कर जाती है और उसके शारीरिक और मानसिक विकास पर बुरा असर पड़ता है। यहाँ कुछ सामान्य जन्मजात विकारों की चर्चा की गई है।

होंठ और तालू का फटा होना (क्लेफट लिप और पैलेट)—इस बच्चे के होंठ अथवा तालू या दोनों जन्म के समय फटे हुये होते हैं। जन्मजात विकारों में यह अति सामान्य है। अधिकतर ऊपर

ऑपरेशन से पूर्व

ऑपरेशन के बाद

के होंठ ही फटे हुये होते हैं। गर्भावस्था में ही चेहरे के दायें और बायें भाग अपना-अपना आकार लेकर बीच में जुड़ जाते हैं और तब एक पूर्ण चेहरा बनता है। यदि होंठ या तालू बीच में जुड़ने से रह जाँय तो जन्म के समय बच्चा फटे हुये होठ/तालू लेकर पैदा होता है। इस प्रकार की विकृतियों में से मुख्य निम्न है—

1—केवल होंठों को फटा होना, यह फटाव होंठ से लेकर नासिका रन्ध्र और अन्दर की तरफ दन्त पंक्ति तक हो सकता है। 25% (60% लड़के)

2—केवल तालू का बीच से फटा होना 25% (59% लड़कियाँ)।

3—होंठ और तालू दोनों का एक रेखा में फटा होना 50% (70% लड़के)।

ऑपरेशन से पूर्व

ऑपरेशन के बाद

सामान्यत: यह विकार होंठ और तालू में एक ही ओर होता है, किन्तु कभी-कभी दोनों तरफ भी पाया जाता है। ऐसे दस प्रतिशत बच्चों में साथ में असाधारण रूप से बड़ा सिर, जन्मजात अन्धता और अन्य मानसिक विकृतियाँ भी पायी जाती हैं। सामान्य जनसंख्या में लगभग 500 स्वस्थ बच्चों के बीच एक बच्चा ऐसा पैदा होता है। ऐसे माता-पिता जिनकी पहले ऐसी कोई सन्तान होती है उनके बाद के बच्चों में इस विकार के होने की सम्भावना अधिक होती है। यदि माता-पिता के बीच रक्त सम्बन्ध है तो उनकी होने वाली सन्तान को इस विकृति का खतरा अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त गर्भ के प्रथम तीन मास में यदि माँ का कई बार एक्स-रे हुआ हो या रेडियोधर्मिता वाले पदार्थों द्वारा चिकित्सा की गई हो, विटामिनों की अत्यधिक कमी रही हो, जर्मन अथवा मीजिल (रूबेला) नाम की बीमारी हुई हो तो गर्भस्थ शिशु में इस विकार के होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

इस विकार से ग्रस्त बच्चों की समस्याएँ—मुख्य रूप से इस विकार में निगलने, बोलने, असामान्य दंतपंक्ति एवं सुनने की समस्या उत्पन्न होती है।

चूसने की समस्या—केवल होंठों के फटे होने पर बच्चे के दूध पीने पर विशेष असर नहीं पड़ता। बोतल से दूध पिलाने पर एक विशेष प्रकार के निपल की आवश्यकता पड़ सकती है। तालू के फटे होने पर बच्चा माँ का स्तन चूस नहीं सकता है। इसके लिये उसको चम्मच से दूध पिलाया जा सकता है या एक डेन्टल प्लेट का प्रयोग किया जा सकता है जिसको तालू पर जमा देने से दूध पिलाने में आसानी हो जाती है।

ध्वनि की समस्या—फटे हुये तालू वाले बच्चे

वर्णमाला के व्यञ्जन अक्षरों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकते। ऑपरेशन के बाद यह ध्वनि विकार दूर हो जाता है। बाद में ध्वनि उपचार (स्पीच थेरैपी) की आवश्यकता पड़ सकती है।

उपचार—इस विकार का उपचार ऑपरेशन द्वारा ही सम्भव है। वे बच्चे जिनमें केवल होंठ ही फटे होते हैं तीन महीने की अवस्था पर और बारह पौण्ड का वजन प्राप्त कर लेने पर ऑपरेशन के योग्य हो जाते हैं। फटे हुये तालू का ऑपरेशन डेढ़ से दो साल की उम्र में किया जाता है।

आपरेशन में फटे हुये भाग को जोड़ दिया जाता है। नाक और चेहरे के आकार को अधिक से अधिक सामान्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है। फटे हुये तालू के ऑपरेशन के बाद नार्मल स्पीच के लिये उपचार की आवश्यकता पड़ती है।

हाइपोस्पेडियास—यह विकार लड़कों में पाया जाता है। सामान्य स्थिति में मूत्र नलिका पुरुष लिंग के अगले भाग में थोड़ा नीचे की तरफ खुलती है और मूत्र प्रवाह की धार शरीर से दूर आगे की ओर होती है। मूत्र नलिका (यूरेथ्रा) का विकास गर्भावस्था में हो पूर्ण हो जाता है। यह लिंग की पूरी लम्बाई में उसकी निचली सतह से गुजरती है। हाइपोस्पेडियास नामक विकार में इस नलिका का पूर्ण विकास नहीं हो पाता और यह लिंग के अग्रभाग तक जाने के बजाय पहले ही समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप मूत्र प्रवाह का छिद्र जो कि मूत्र नलिका के अन्तिम सिरे पर होता है लिंग के अग्रभाग में होने के बजाय काफी पीछे रह जाता है। इस छिद्र की लिंग पर स्थिति के अनुसार ही इस विकार के भिन्न प्रकार बताये गये हैं।

1. छिद्र अग्रभाग पर ही होता है किन्तु थोड़ा पीछे हट कर (ग्लैंडुलर प्रकार)

2. छिद्र लिंग के मुख्य दंड और अग्रभाग के जोड़ के स्थान पर होता है (कोरोनल प्रकार)

3. छिद्र लिंग के मुख्य दंड पर नीचे की तरफ स्थित होता है (पिनाइल प्रकार, नीचे दिये हुए चित्र)!

4. छिद्र लिंग के मुख्य दंड और वृषणकोष के मिलन के स्थान पर होता है (पीनोस्क्रोटल प्रकार)

5. छिद्र वृषणकोषों के पीछे स्थित होता है। ऐसी दशा में वृषणकोष बीच से दो भाग में विभक्त होते हैं और कभी-कभी वृषण अपने सामान्य स्थान पर न होकर ऊपर होते हैं।

इस विकार से उत्पन्न समस्याएँ—मुख्य समस्याएँ होती हैं छिद्र के पीछे होने के कारण मूत्र की धार का असामान्य रूप से टेढ़ी होना तथा कार्डी के कारण लिंग का मुड़ा हुआ होना। लिंग पर की निचली सतह पर मूत्र नलिका के समाप्त होने के स्थान से लेकर लिंग के अग्रभाग तक जहाँ तक सामान्य स्थिति में मूत्र नलिका को होना चाहिये था एक लम्बा फाइब्रास बैंड बन जाता है जिसे कार्डी कहते हैं और इसी के खिंचाव से लिंग मुड़ा रहता है।

इसके अतिरिक्त छिद्र की स्थिति पीछे होने के कारण युवा अवस्था प्राप्त होने पर योनि में वीर्य ठीक स्थान पर नहीं गिर पाता और गर्भधारण की सम्भावना कम होती है। कभी-कभी लिंग असाधारण रूप से छोटा होता है।

उपचार—विकार के प्रथम प्रकार में विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं होती है। यदि छिद्र सँकरा होने के कारण मूत्र की धार पतली है तो ऑपरेशन से छिद्र चौड़ा कर दिया जाता है।

अन्य प्रकारों में उपचार ऑपरेशन द्वारा ही सम्भव है। यह दो स्टेज में किया जाता है। प्रथम स्टेज में लगभग ढाई साल की उम्र में ऑपरेशन द्वारा कार्डी निकाल दी जाती है जिससे लिंग सीधा हो जाता है। उसके लगभग एक साल बाद और पाँच वर्ष की उम्र से पहले ऑपरेशन की दूसरी स्टेज की जाती है। इसमें लिंग की निचली सतह पर खाल की एक नलिका बना कर छिद्र को लिंग के अग्रभाग तक लाया जाता है।

वृषण का वृषणकोषों में न होना—कभी-कभी देखा गया है कि एक या दोनों तरफ के वृषण अपने सामान्य स्थान पर न होकर ऊपर की तरफ या पेड़ू के बगल में होते हैं। होता यह है कि भ्रूणावस्था में वृषण की स्थिति पेट में दोनों तरफ होती है। वहाँ से धीरे-धीरे नीचे उतर कर वह वृषणकोष में आ जाते हैं। यदि उनके नीचे उतरने की क्रिया रुक जाय तो यह विकार उत्पन्न होता है। नीचे न उतरे हुये वृषणों को दो अन्य प्रकारों से अलग पहचानना आवश्यक है, जिसमें प्रथम है ऐसा वृषण जो सामान्य रूप से वृषणकोष में न होकर ऊपर की तरफ होता है किन्तु दबाव डालकर या खींचकर इसे सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है। यह वास्तव में कोई विकृति नहीं है और बच्चे की उम्र बढ़ने के साथ-साथ वृषण अपना सामान्य स्थान ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे प्रकार की विकृति जिसको नीचे न उतरे हुये वृषण से अलग पहचानना आवश्यक है वह अपने स्थान और रास्ते से हटा हुआ वृषण है। इस प्रकार के बच्चों में वृषण कभी-कभी पेडू के बगल में, पेट के निचले हिस्से में और जाँघ के ऊपरी भाग में भी पाये जाते हैं। वृषण की असामान्य स्थिति होने के कारण बच्चे को कुछ अधिक खतरे होते हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं :

वृषण में चोट लग जाना और सूजन आ जाना, उनकी कार्यक्षमता का ह्रास, कभी-कभी नपुंसकता। असामान्य स्थिति में रहने वाले वृषण में कैंसर की अधिक सम्भावना रहती है।

उपचार—कभी-कभी उम्र बढ़ने के साथ जन्म के समय अपने स्थान से हटे वृषण स्वतः वृषणकोष में अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। यदि दोनों तरफ के वृषण नहीं उतरे हैं तो कभी-कभी हारमोन कोरियानिक गोनेडोट्राफिन के इन्जेक्शन से उनके नीचे उतरने की सम्भावना रहती है। अधिकतर बच्चों में एक विशेष उम्र पर पहुँच कर ऑपरेशन की आवश्यकता होती है और छः से नौ वर्ष की आयु के बीच ऑपरेशन किये जाने से अस्सी प्रतिशत सफलता की आशा की जा सकती है। उसके बाद यदि वृषणों को नीचे नहीं लाया गया तो धीरे-धीरे उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है और वे सूख जाते हैं। ऑपरेशन की कई विधियाँ हैं। वृषण को अपनी असामान्य स्थिति से अलग करके उससे

चिपके अनावश्यक ऊतकों को काट कर वृषणकोष में लाया जाता है।

गुदा द्वार का न होना अथवा अपने सामान्य स्थान से हटकर होना (इम्परफोरेट एनस)—यह विकृति सबसे अधिक लड़कियों में पायी जाती है जिसमें गुदा द्वार अपने सामान्य स्थान पर न होकर योनि द्वार के निचले हिस्से में होता है। ऑपरेशन द्वारा गुदा द्वार को वहाँ से हटा कर पीछे कर दिया जाता है। गुदा द्वार कभी-कभी बाहर से अदृश्य होता है और बीच में खाल की एक पर्त होती है। खाल की इस पर्त को काट कर सामान्य गुदा द्वार बनाया जाता है। कभी-कभी गुदा द्वार का निचला भाग काफी ऊपर ही समाप्त हो जाता है या एक पतले सुराख द्वारा मूत्राशय या लड़कियों में योनि के ऊपरी भाग में खुलता है। ऐसे बच्चों में जन्म के बाद शीघ्रातिशीघ्र ऑपरेशन करके पेट में एक कृत्रिम गुदा द्वार बनाया जाता है और बच्चे के बड़े हो जाने पर ऑपरेशन द्वारा गुदा अपनी सामान्य स्थिति में लाया जाता है।

हृदय की कुछ जन्मजात विकृतियाँ—जन्म लेने वाले लगभग एक हजार बच्चों में छः बच्चे ऐसे होते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की हृदय की विकृति पायी जाती है। इनमें से कुछ ऐसी हैं जिनमें बच्चा बहुत थोड़े दिन ही जीवित रह पाता है। ये विकार दो प्रकार के होते हैं।

(अ) जिसमें धमनी में प्रवाहित होने वाले रक्त में आक्सीजन की मात्रा सामान्य रहती है। मुख्य हैं :—

1. डक्टस आर्टिरिओसस का खुला रहना : इस विकार में महाधमनी और फुफुस धमनी एक नलिका से जुड़ी होती हैं। महाधमनी में रक्त का दबाव अधिक होने के कारण उसका प्रवाह फुफुस धमनी की ओर होने लगता है जिसके कारण हृदय में अनेक खराबियाँ पैदा हो जाती हैं। ऑपरेशन द्वारा इस नलिका को बाँध दिया जाता है।

2. महाधमनी का एक स्थान पर सँकरा होना : ऑपरेशन द्वारा इसका उपचार सम्भव है।

3. दोनों अलिन्दों के बीच की दीवार में छिद्र होना।

4. दोनों नलियों के बीच की दीवार में छिद्र होना : इन विकारों का उपचार ऑपरेशन द्वारा सम्भव है।

(ब) दूसरे प्रकार के विकार वे हैं जिनमें धमनी में प्रवाहित होने वाले रक्त में आक्सीजन की मात्रा कम होती है। सामान्य अवस्था में शरीर का सारा रक्त दाहिने अलिन्द से दाहिने निलय और वहाँ से शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में जाता है। फेफड़ों से शुद्ध रक्त बायें अलिन्द से बायें निलय में और फिर महाधमनी द्वारा सारे शरीर में भेजा जाता है। इस प्रकार की विकृति में हृदय की दाईं तरफ का अशुद्ध रक्त फेफड़े में जाने के बजाय सीधे महाधमनी में चला जाता है और शरीर में प्रवाहित होता है और प्रवाहित होने वाले इसी अशुद्ध रक्त के कारण बच्चे का शरीर नीला पड़ जाता है जिसको 'ब्लू बेबी' कहते हैं। इस प्रकार की विकृति जीवन के लिये अधिक खतरनाक होती है। किन्तु सौभाग्य की बात है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने इसका उपचार ऑपरेशन द्वारा सम्भव बना दिया है।

ऊपर जिन विकारों की व्याख्या की गई है उनके अतिरिक्त और भी बहुत सी विकृतियाँ ऐसी हैं जो नवजात बच्चों में पायी जा सकती हैं-जैसे भोजन नलिका (इसोफैगस) में रुकावट (बच्चा जन्म से ही कुछ भी घूँटने में असमर्थ होता है, लार टपकती रहती है), आमाशय के अंतिम सिरे का सँकरा होना (पाइलोरिक स्टिनोसिस) आँतों में रुकावट या उनका सँकरा होना अथवा उनके कुछ विशेष भागों का अपने सामान्य स्थान से हटकर होना, (बच्चे का पेट फूलना, टट्टी का न

होना), सिर में अथवा पीठ में नीचे की तरफ और बीचों-बीच गाँठदार सूजन का होना (मेनिन्गोसील), पैरों का टेढ़ा होना, हाथों और टाँगों की अनेक विकृतियाँ।

सूची बहुत लम्बी है किन्तु विशेष चिन्ता की बात नहीं है। लगभग सभी विकृतियों का शल्य-क्रिया द्वारा उपचार सम्भव है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ऐसे बच्चों के लिये वरदान सिद्ध हुआ है। इसका लाभ उन्हें ठीक समय पर मिलना ही चाहिये।

सभी चित्र डा० तत्सत मिश्र, एम० एस० (प्लास्टिक सर्जरी) प्लास्टिक सर्जन, स्वरूप रानी नेहरू चिकित्सालय इलाहाबाद के सौजन्य से।

प्रवक्ता, शल्य चिकित्सा,
बाल विभाग, मोतीलाल नेहरू
मेडिकल कालेज, इलाहाबाद

● ●

[पृष्ठ 30 का शेषांश]

आविष्कार किया और यह इसी टीके की करामात है जिससे चेचक को इस देश से पूर्ण रूप से समाप्त किया जा सका।

किन्तु जेनर के आविष्कार से पहले भी लोगों को इस बीमारी से बचने का उपाय मालूम था। आप जानना चाहेंगे-कैसे ? लोग जान-बूझ कर इस बीमारी को मोल लेते थे, दूसरों को निकले हुये दानों से रोगाणुओं को अपने शरीर में विभिन्न विधियों से प्रवेश कराते थे, और इस प्रकार जो चेचक निकलती थी उसका प्रकोप कम होता था और भविष्य के लिये वह व्यक्ति सुरक्षित हो जाता था।

अफ्रीकी कबीलों में अपने शरीर पर चीरा लगाकर उसमें चेचक के दाने का रस लगाते थे। मध्य एशिया में एक और ही विधि थी—पपड़ी का घोल बनाकर एक सप्ताह तक रखा जाता था जिससे उसके अन्दर के जीवाणुओं की शक्ति क्षीण हो जाती थी। फिर उस घोल को सुइयों से शरीर गोद कर अंदर पहुँचाया जाता था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य युरोप में चेचक की पपड़ियां बेची जाती थीं जिसे खरीद कर लोग भिन्न-भिन्न तरीकों से अपने शरीर में पहुँचाते थे। इसका पाउडर बना कर नसवार भी ली जाती थी जिससे कि नाक के रास्ते रोगाणु शरीर में पहुँचें।

बोस्टन के एक पादरी कॉटन मेथर ने 1716 में अफ्रीका में इन विधियों के प्रयोग के बारे में लिखा है। एशिया में इस विधि से चेचक के भयानक प्रकोप से बचाव का ज्ञान अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुस्तुन्तुनियाँ में ग्रीक लोगों को हुआ और धीरे-धीरे समूचे रूस, भारत और चीन में भी यह विधि अपनाई गई।

● ●

शब्द शक्तिशाली औषधियाँ हैं जिनका मानव उपयोग करता है।

झलकियाँ

सुरेश राय

धमनियों में रक्त का थक्का बनने के कारण प्रत्येक वर्ष लाखों व्यक्तियों की करोनेरी थ्राम्बसिस से मृत्यु हो जाती है। आतंचन रोधी औषधि की खोज रोचक ढंग से हुई। एक बार अमरीका में कुछ ऐसी गायों की मृत्यु की सूचना मिली जिनके रोग का पता न चल पाता था। सैकड़ों गायें मर गईं। प्रो० कार्ल लिंक ने इस रोग का विस्तृत अध्ययन किया। एक दिन एक किसान एक मरी हुई गाय और दो बाल्टी खून लेकर उनके पास आया और उसने जानना चाहा कि गाय क्यों मरी! औरों की भांति इस गाय ने भी क्लोवर का चारा खाया था। खोज से पता चला कि इसमें कुमारीन नामक रसायन होता है। इस रसायन से एक अन्य यौगिक डाइकुमारोल उत्पादित किया गया। खोज से यह देखा गया कि डाइकुमारोल शरीर में प्रोथ्राम्बीन को कम कर देता है। थ्राम्बीन रक्त में पाया जाने वाला वह पदार्थ है जो रक्त का थक्का बनने की रासायनिक क्रिया आरम्भ करता है। कई औषधियों का निर्माण हुआ जिसमें ट्रामेक्सन सबसे अच्छी पाई गई। बाद में एक अन्य आतंचन रोधी हेपारिन का निर्माण हुआ जो अपने भार से 10000 गुना थक्का बनना कम कर देती है। हेपारिन का इंजेक्शन मिनटों में रक्त का थक्का बनना रोक देती है पर यह काफी मंहगी होती है।

× × ×

12 जनवरी 1967 को डॉ० जेम्स बेडफोर्ड की कैंसर से मृत्यु हो गई। उनके मृत शरीर को बर्फ में फिर, ठोस कार्बन डाइ आक्साइड (सूखी बर्फ) में बन्द किया गया। तत्पश्चात् उन्हें फीनेक्स, एरीजोना, ले जाया गया जहाँ उन्हें एक मानव शरीर के बराबर के एक पात्र मे रखा गया। इस पात्र को द्रव नाइट्रोजन की सहायता से $-321°F$ तक ठंडा कर दिया गया था। उद्देश्य यह था कि उनका शरीर तब तक रखा रहेगा जब तक कि रोग का इलाज ढूँढ न लिया जाय। और तब उनकी चिकित्सा करके इन्हें पुनः जीवित कर लिया जायगा।

× × ×

मेसोपटामिया की प्राचीन नदी घाटी सभ्यताओं से उपलब्ध प्राचीनतम चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी से पता चलता है कि आज से 5000 वर्ष पूर्व भी आँख का इलाज होता था। सूसा नामक स्थान पर 1902 में कार्यरत पुरातत्व-वेत्ताओं ने हेमूरेबियन संहिता की खोज की जिसमें ई० पू० 3000 वर्ष के कानूनों का संग्रह था। इनमें कहा गया है कि आंखों का ऑपरेशन चिकित्सकों के लिये भी उतना ही जोखिम भरा होता था जितना एक मरीज के लिये। एक सफल ऑपरेशन के लिये चिकित्सक मरीज़ से 10 चांदी के शैकल (एक सिक्का) से अधिक नहीं ले सकता था। किन्तु यदि ऑपरेशन असफल हो जाता था तो डॉक्टर के हाथ काट लिये जाते थे।

× × ×

आठवीं सदी आधी बीत चुकी थी। यूरोप तब अंधविश्वासों की लपेट में था। जादू टोने की बात करते-करते लोग कभी-कभी पते की बात कह डालते थे। ऐसी ही एक बात ग्लाउसेटरशर के

ग्वालों में भी प्रचलित थी। उनका विश्वास था कि एक विशेष रोग से पीड़ित गाय की सेवा करने वाले ग्वाले को गाय ने चेचक के प्रकोप से बचा लिया। डॉक्टर जेनर को इस बात की सच्चाई आंकने की सूझी। उन्होंने अनेक रोगी गायों की जांच की। उन्होंने देखा कि गायों में एक प्रकार का रोग 'काउ पॉक्स' पाया जाता है। एक दिन डॉ० जेनर ने दुस्साहस करके 'काउ पॉक्स' से प्रभावित एक ग्वाले के शरीर पर उठे फफोलों का पानी जमा किया और सूई द्वारा एक बच्चे के शरीर में पहुँचा दिया। उसे हल्का ज्वर आया शरीर में थोड़े दाने निकले और फिर वह ठीक हो गया। उसके बाद चेचक के रोगाणुओं की सूई उस बच्चे के लगाई पर उसे कुछ नहीं हुआ। फफोलों के पानी में रोग के रोकने वाली 'एण्टीबाडी' उपस्थित थी। इस प्रकार चेचक के टीके की खोज हुई।

× × ×

डॉ० होरेस वेल्स ने सबसे पहले नाइट्रस ऑक्साइड का संवेदनहारी के रूप में प्रयोग किया था और इसकी प्रेरणा उन्हें एक ओपेरा देखते हुई मिली थी। उस जमाने में नाइट्रस ऑक्साइड सूँघकर विदूषक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे और साथ-साथ करतब दिखाते थे। डॉ० वेल्स भी एक बार ऐसा ही खेल देख रहे थे। खेल करते-करते विदूषक स्टेज पर से गिर गया। डॉ० वेल्स ने देखा कि विदूषक के पैर में चोट आ गई है और खून बह रहा है उस पर भी वह अपना खेल पूर्वत हँसते हँसते दिखा रहा है। डॉ० ने सोचा हो न हो यह नाइट्रस आक्साइड का प्रभाव है कि उसे चोट का पता ही नहीं चल रहा है। उन्होंने नाइट्रस आक्साइड प्रयुक्त करके एक मरीज का दाँत निकाला! मरीज को तनिक भी दर्द न हुआ। दुर्भाग्यवश जब डॉ० वेल्स अपना परीक्षण भरी सभा में दिखाना चाहते थे तो उन्हें सफलता नहीं मिली। इसीलिये उन्हें इसका श्रेय न मिल सका।

× × ×

आधुनिक शल्यक्रिया के जनक अम्बुआ पारे ने अपने व्यावसायिक जीवन का आरम्भ एक हज्जाम-जर्राह से किया था। होतेल दुई अस्पताल में काम करने के बाद पारे सेना में भर्ती हो गए थे। बन्दूक की गोली से बने घाव के उपचार के लिये उन दिनों उन पर उबलता हुआ तेल डाला जाता था। एक रात तूरिन की लड़ाई के उपरान्त घायलों की संख्या इतना बढ़ गई कि तेल का भण्डार भी समाप्त हो गया। पारे ने गुलाब के तेल, तारपीन के तेल और अंडों का सत्व तैयार किया और जिन घायलों के लिये उपरोक्त प्रचलित तेल नहीं बचा उनके घावों पर सत्व लगाया। रात भर वह बेचैन रहे कि दवा का न जाने क्या प्रभाव हो। पौ फटते ही वह उनकी दशा देखने पहुँचे। उन्होंने देखा कि सैनिकों के दर्द भी कम हो रहा था और जख्म संक्रमित भी नहीं हुआ था जबकि उबलते तेल से उपचारित सैनिक पीड़ा से कराह रहे थे। उन्होंने तुरन्त यह निश्चय किया कि अबसे ज़ख्म पर उबलता तेल कभी नहीं डालेंगे।

× × ×

डॉ० जोश शटल (हवाना) एक ऐसी स्त्री का उपचार कर रहे थे जिसके दोनों स्तन कैंसर के कारण काट दिये गये थे पर फिर भी वह कैंसर से भयंकर रूप से पीड़ित थी। वास्तव में वह मरणासन्न थी। उन्होंने उसकी पियूष ग्रन्थि काटकर निकाल दी। इसका प्रभाव उस स्त्री पर अत्यन्त विस्मयकारी हुआ। वह एकदम चंगी हो गई। उसके शरीर से कैंसर के लक्षण एकदम लुप्त हो गये।

× × ×

जिसको चेचक (बड़ी माता) एक बार हो जाय, वह आगे के लिये उससे सुरक्षित हो जाता है, यह हम सभी को ज्ञात है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर जेनर ने चेचक के टीके का

[शेष पृष्ठ 28 पर

खुजली बैरिन खूब सताये

श्याम सुन्दर पुरोहित

खुजली एक ऐसी समस्या है जिसे अड़ियल का विशेषण दें तो अत्युक्ति नहीं होगी। इससे पीड़ितों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। यद्यपि यह समस्या दुराराध्य समझी जाती है फिर भी इसके लिए कुछ न कुछ तो हमें करना ही पड़ता है, जैसे इसकी मीठी-मीठी, अच्छी लगने वाली खुजली को खुजाना ही पड़ता है।

भारत के अधिकांश गाँवों में खुजली का रोग व्यापक रूप से व्याप्त है। इसे खुजली, खाज, खुजा या खारिश भी कहते हैं। जिसको यह रोग लग जाता है उसे न तो रातों की नींद है और न ही दिन का चैन। यह एक ऐसी छूत की बीमारी है, जिस घर में उत्पन्न हो गई बस उस घर की तो खैर नहीं। खुजली जब बच्चों को हो जाती है तो फिर खतरे से खाली नहीं। खुजली को खुजाते-खुजाते यदि घाव बढ़ भी जाएँ तो दूसरे रोगाणुओं के आक्रमण होने का डर रहता है।

क्यों उत्पन्न होती है—भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए खुजली पैदा होने के कई कारण हमारे सामने आते हैं—जैसे कुपोषण, गन्दगी, आदि। कुपोषण की समस्या को हल करने के हर संभव प्रयत्न किये जा रहे हैं लेकिन फिर भी हमें पूर्ण सफलता मिलने में कुछ समय लगेगा। कुपोषण के कारण मनुष्य को रोगों का सामना करना पड़ता है जिससे उसकी शारीरिक शक्ति में निरन्तर क्षीणता आती है। कम शक्ति वाले मनुष्य पर खुजली का कीट शीघ्र आक्रमण करता है।

स्वयं के रहने के स्थान की सफाई न रहने से भी खुजली बहुत जल्दी फैलती है। खुजली एक बहुत ही छोटे कीट के कारण फैलती है जिसे चित्र—अ में दिखाया गया है। इस कीड़े को सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से ही देखा जा सकता है। यह कीट दिखने में मकड़ी के समरूप होता है।

कैसे फैलती है—यह कीड़ा त्वचा के नीचे सुरंग की तरह छेद करता हुआ अपना घर बनाता
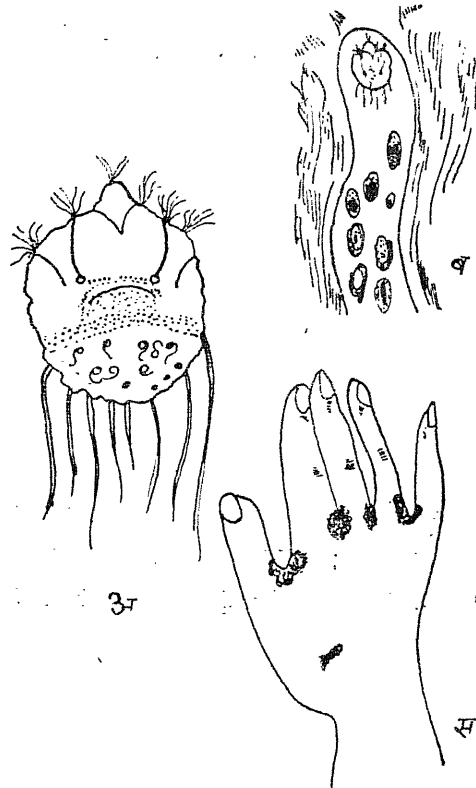
है। अधिकांशतः यह अपना आवास हाथ और पाँव की अँगुलियों के बीच में बनाता है। यह मनुष्य के खून पर ही जिन्दा रहता है। यह कीड़ा स्वयं को खून पर आश्रित कर अण्डे देना आरम्भ कर देता है (चित्र-स)! अण्डे 7-10 दिनों में वयस्क कीट के रूप में परिवर्धित हो जाते हैं। छोटे से स्थान पर कीटों की संख्या बढ़ जाने से ये और नये-नये स्थानों की खोज करते-करते शरीर के दूसरे स्थान को ग्रसित करते हैं। शरीर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का क्रम अंधेरे में होता है। ये कीट एक इंच प्रति मिनट की चाल से चलते हैं। इन कीड़ों को जहाँ भी सुलभ स्थान मिलता है वहाँ अपना घर बना लेते हैं जिसका आभास हमें खाज से होता है।

खुजाने से यह बीमारी और अधिक फैलती है क्योंकि इससे घाव में पीप पड़ने की हर समय आशंका बनी रहती है। बच्चों की त्वचा कोमल होने के कारण वे उस पर सफलता से आक्रमण कर सकते हैं।

सर्दी के दिनों में यह बीमारी अधिक फैलती है क्योंकि लोग तंग कमरों में इकट्ठे सोते हैं, एक दूसरे के तौलिये, बिछौने, कपड़ों आदि का प्रयोग करते हैं।

कैसे छुटकारा पा —स्वयं की सफाई इस रोग का सबसे अच्छा इलाज है। रोग ग्रसित मनुष्य को गुन-गुने पानी से और साबुन से खूब रगड़-रगड़ कर नहाना चाहिए। घावों को साफ धो लेने के बाद उन्हें 10 प्रतिशत गंधक मिली मरहम से ढक देना चाहिए। मरहम दिन में 3-4 बार करें। आजकल बैन्जाइल बैन्जोएट दवा का चलन भी काफी व्यापक है।

अपने कपड़ों, बिस्तरों आदि को साफ़ रखने के हर संभव उपाय करने चाहिए। तकिया, लिहाफ व गदेलों पर गमैक्सीन या डी. डी. टी. छिड़कना चाहिए। रोगग्रस्त बच्चों को स्कूल नहीं भेजना चाहिए।

●●

[पृष्ठ 18 का शेषांश]

'क्लोरोमेफेनिकल' के कैप्स्यूल भी स्वयं अपनी तजवीज से खाते और खिलाते हैं।

यह आदत अवैज्ञानिक होने के साथ-साथ खतरनाक भी है; और इस रिवाज के कारण भी औषधि प्रयोग अधिकता से हो रहा है जो स्वास्थ्य रक्षा और आरोग्य की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है।

स्वास्थ्य विहार
सलीमपुर (ओल्ड)
दिल्ली 110031

सबसे पहले

डॉ० पूनम

⊖ जुड़वां बच्चों को अलग करने का सबसे पहला ऑपरेशन पेरिस में 1902 में किया गया। जुड़वां लड़कियों का नाम था राडिका-डूडिका !

⊖ कुष्ट के बैक्टीरिया की सर्वप्रथम खोज डॉ० हान्सेन ने 1874 में की थी। तब इसे हान्सेन रोग कहते थे।

⊖ इन्सुलिन का प्रयोग सर्वप्रथम डॉ० वेस्ट तथा डॉ० बेंटिंग ने 1921 में किया था।

⊖ जिस लड़के को सबसे पहले इन्सुलिन का इंजेक्शन दिया गया वह था 14 वर्षीय लियोनार्ड थामसन।

⊖ संवेदनहारी के रूप में नाइट्रस आक्साइड का सर्वप्रथम प्रयोग एक दांत के डॉक्टर, डॉ० होरेस वेल्स ने 1845 में दाँत निकालते समय किया था।

⊖ सबसे पहला रक्त बैंक 1918 में खोला गया।

⊖ डॉ० फ्रेंसिस पीटन राउस ने 1911 में सबसे पहले यह दर्शाया कि जानवरों में कैंसर एक वृषाण के कारण होता है।

⊖ कैंसर रोग की सर्वप्रथम सूचना 1775 में पार्सिवल पॉट्स एक अंग्रेज़ सर्जन ने दी जिसने इस रोग की उपस्थिति उन लड़कों के अण्डकोश में पाया जो लंदन में चिमनी साफ़ करने के लिये रखे गये थे।

⊖ वृषाणु रोग का संचारण प्रयोग द्वारा 1886 में एजेल्फ मायर ने सबसे पहले पता लगाया।

⊖ प्रो० क्रिश्चियन बर्नार्ड ने सर्वप्रथम सफल हृदय प्रतिरोपण किया।

⊖ जिस व्यक्ति का सबसे पहले हृदय प्रतिरोपित किया गया था वह था फिलिप ब्लाइबर्ग।

⊖ एडवर्ड जेनर ने सबसे पहले चेचक के टीके का आविष्कार करके अपने ही पुत्र के ऊपर उसका प्रयोग किया था।

⊖ रेबीज़ (कुत्ता काटने) का इंजेक्शन सबसे पहले लुई पास्तूर ने एक लड़के को लगाया था।

⊖ वृषाणों के उत्परिवर्तन (म्युटेशन) की खोज सबसे पहले डॉ० सेल्वेडोर एडवर्ड लूरिया ने किया था।

⊖ पोलियो के टीका की सर्वप्रथम खोज करने वाले का नाम है डॉ० जोनस एडवर्ड साल्क। डॉ० साल्क 11 व्यक्तियों में से पहले वैज्ञानिक भी हैं जिन्हें 1975 का नेहरू पुरस्कार दिया गया।

⊖ हैज़ा रोग फैलाने वाले बैक्टीरिया की सबसे पहले खोज जर्मन वैज्ञानिक राबर्ट कॉश ने 1883 में की थी।

⊖ रक्त संचार की खोज और उसे सिद्ध करने का श्रेय विलियम हार्वे को है जिन्होंने अपनी खोज की सर्व प्रथम घोषणा 1616 के एक भाषण में की थी।

⊖ भारत का सबसे पहला ब्रेन ऑपरेशन वेलूर अस्पताल में किया गया था।

⊖ मानव शरीर में कोशिका को कार्यरत देखने का सबसे पहला सफल प्रयोग डॉ० पेर-इंगवार ब्रानमार्क ने किया जो स्वीडन के कल्पनाशील डॉक्टर हैं।

⊖ जैव रसायनों में सबसे पहला यौगिक जिसमें कोबाल्ट पाया गया है वह है साइनो कोबाल

अमिन जिसे हम विटामिन बी$_{12}$ के नाम से जानते हैं।

⊖ विटामिन बी$_{12}$ की संरचना का सर्व प्रथम रहस्योद्घाटन करने वाली वैज्ञानिक एक महिला है जिन्हें संसार डोरोथी क्रोफुट हाजकिन के नाम से अच्छी प्रकार जानता है।

⊖ श्रीमती शन्नो रानी भारत की सर्व प्रथम महिला हैं जिन्होंने देश में अपने ढंग की एक अनूठी कान्टेक्ट लेन्स सह कृत्रिम नेत्र निदानशाला की स्थापना की है।

⊖ भारत में सबसे पहला चिकित्सा विज्ञान कालेज मद्रास में 1835 में खोला गया। जिस विद्यार्थी ने सबसे पहले प्रवेश लिया वह एक अंग्रेज लड़की थी। उन दिनों इंगलैंड में महिलाओं को चिकित्सा विज्ञान कालेज में प्रवेश नहीं मिलता था।

⊖ मानव शरीर में सबसे पहले जिस अंग का सफल प्रत्यारोपण किया गया वह है गुर्दा।

⊖ मानव शरीर विकास के लिये आवश्यक हार्मोन सोमेटोट्रापिन का प्रयोगशाला में प्रथम संश्लेषण का श्रेय डॉ० चो, हाव ली और उनके सहयोगियों को है। 1971 में खोजे गये इस हार्मोन में 188 एमीनो एसिड हैं।

⊖ भारतीय शल्य चिकित्सक सुश्रुत ने ही सर्व प्रथम कटे हुये कर्ण एवं नासा का कपोल या गर्दन के पास से खाल निकाल कर उपचारित करने की संभावना का निर्देश और प्रदर्शन किया था।

⊖ अन्धों के लिये शिक्षा का द्वार खोलने का बहुत कुछ श्रेय एक फ्रांसीसी वैलेन्टीन हवे को जाता है जिसने 1784 में पेरिस में एक संस्था 'इन्स्टीट्यूट नेशनल डेस-ज्यून्स एव्यूगल्स' स्थापित किया। हवे ही वह पहले व्यक्ति थे जिसने उभरे हुये कागज़ का पढ़ाने के लिये उपयोग किया जिन्हें स्पर्श द्वारा पढ़ा जा सकता था।

⊖ भारत में कान्टैक्ट लैन्स बनाने का प्रथम श्रेय पद्मश्री स्व० डॉ० मोहन लाल को है।

⊖ सबसे पहली हृदय-फेफड़ा मशीन 1952 में बन कर तैयार हुई और जिस रोगी पर इसका सबसे पहले प्रयोग किया गया वह एक लड़की थी जिसकी अवस्था केवल एक वर्ष थी।

⊖ भारत में सबसे पहला पेसमेकर 1966 में प्रतिरोपित किया गया।

⊖ सबसे पहला परमाणु चालित पेसमेकर 1970 में 58 वर्षीय वृद्धा के शरीर में प्रतिरोपित किया गया था।

●●

पुरस्कृत

इन्डियन हॉस्पिटल फार्मासिस्टस एसोशिएशन का 1976 तथा 1977 का शरॉफ मेमौरियल पुरस्कार क्रमशः प्रो० गोरखप्रसाद श्रीवास्तव तथा करुणा कुमार चटर्जी को प्रदान किया गया है।

पेनिसिलिन के प्रति एलर्जिक

यह पाया जाता है कि दस प्रतिशत से भी अधिक लोग पेनिसिलिन के प्रति एलर्जिक होते हैं। साधारणतया पेनिसिलिन का उपयोग हानिकारी रोगाणु को नष्ट करने के लिये किया जाता है। पेनिसिलिन सूई द्वारा शरीर में प्रवेश कराये जाने पर साधारणतया प्रतिजन का रूप नहीं लेती और शरीर में इसके प्रतिरक्षी पिण्ड भी नहीं बनते। परन्तु कुछ परिस्थितियों में पेनिसिलिन के अणुओं में ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिससे वह पेनिसिलिनिक अम्ल में बदल जाती है जो शरीर के अन्य प्रोटीनों से मिलकर प्रतिजन का रूप ले लेती है। इससे पेनिसिलिन के लिये भी प्रतिरक्षी पिण्ड बनना शुरू हो जाते हैं। ये प्रतिरक्षी पिण्ड प्रत्यूर्जक होते हैं और जैसे ही दुबारा प्रविष्ट पेनिसिलिन के सम्पर्क में आते हैं प्रतिजन और प्रतिरक्षी पिंडों का संयोग कोशिकाओं पर होना शुरू हो जाता है। इससे शरीर में एलर्जी के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि पेनिसिलिन या अन्य एण्टीबायोटिक देने के पूर्व रोगी का परीक्षण कर लिया जाय कि कहीं वह उनके प्रति एलर्जिक तो नहीं।

चित्र—कौन व्यक्ति किस औषधि के प्रति एलर्जिक है यह जानने के लिये औषधियों की अत्यन्त अल्प मात्रा के इंजेक्शन लगाये जाते हैं।
एलर्जिक होने पर टीके फूल जाते हैं।

● ●

किसी की जान बचा लेना डॉक्टर को सबसे बड़ी खुशी है !

कुष्ठरोग हमारी समस्या

डॉ० जे० जे० आइज़क्स

कुष्ठ रोग हमारे देश की एक महान समस्या है, सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य की। लोग परम्परा से कुष्ठ के नाम से ही डरते हैं। कुष्ठ रोग घातक नहीं होता। महामारी, चेचक, या हैज़े की तरह बस्ती की बस्ती में एक साथ फैलने वाला संक्रामक रोग नहीं होता। फिर भी लोग कुष्ठ की छाया से ही डरते हैं। केवल इसलिए कि यह रोग शरीर के कुछ अंगों को कुरूप कर देता है। मनुष्य के चेहरे की, हाथों और पैरों की सुन्दरता नष्ट कर देता है। इस कुरूपता को देख कर लोग दूर ही से रोगी को पहचान लेते हैं। रोगी अपने परिवार में, अपने मित्रों में, अपने गाँव और समाज में घृणा और तिरस्कार पाने लगता है, उसके अपने पराये हो जाते हैं, जो उसे अपने घर से दूर भाग जाने को मजबूर कर देते हैं। अन्त में ये भोजन, आश्रय और चिकित्सा के लिए समाज पर आश्रित हो जाते हैं। आज हमारे देश में प्रायः आठ लाख ऐसे कुष्ठ पीड़ित हैं, जिनका भार समाज पर है।

भारतवर्ष में यह रोग प्रायः तीन हज़ार वर्षों से फैला है, उसी समय से यह तो मालूम है कि यह छूत की बीमारी है, परन्तु विज्ञान की इतनी उन्नति होने पर भी अभी तक ठीक पता नहीं चला कि यह रोग किस प्रकार एक मनुष्य से दूसरे को लगता है। सन् 1874 ई० में नारवे के एक डॉक्टर हैनसन ने इस रोग के कीटाणु को ढूंढ़ निकाला, जिसे हैनसन बैसिलस कहते हैं।

पिछले 25 सालों में इस रोग की छानबीन में बहुत उन्नति हुई है। यह रोग केवल मनुष्य मात्र का ही है, परन्तु अब कुछ कुष्ठ विशेषज्ञों ने अपनी प्रयोगशालाओं में चूहों के तलवों में सुई द्वारा कुष्ठ कीटाणुओं को प्रविष्ट कराया और जीवित रखा है। स्किन्सनेस नामक एक अमरीकी कुष्ठ-विशेषज्ञ का दावा है कि उसने अपनी प्रयोगशाला में कुष्ठ कीटाणु उपजाये हैं और पाले हैं। यदि उनका दावा सही है, तो बहुत जल्द ही ऐसे टीके (Vaccine) तैयार किये जा सकेंगे, जिनसे जल्द ही इस महारोग की रोकथाम हो सकेगी।

संसार में प्रायः डेढ़ करोड़ लोग कुष्ठ पीड़ित हैं, और भारतवर्ष में 32 लाख। कुष्ठ तामिलनाडु, आंध्र प्रदेश और उड़ीसा में अधिक फैला है, उस से कुछ ही कम पश्चिमी बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र और मैसूर में है। केरल, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी रोग फैला हुआ है। पिछले 25 वर्षों से कुष्ठ निवारण के लिए डैपसोन नाम की एक दवा का प्रयोग किया जा रहा है। इस औषधि के उचित सेवन से लाखों रोगी स्वस्थ हो गये हैं। फिर भी अभी तक यह रोग भारतवर्ष में बढ़ता जा रहा है। इसके कारण हैं :—

(1) कुष्ठ निवारण योजनाएँ अपनी चेष्टा से पूरी रीति से सफल नहीं हो पाई हैं।

(2) अधिकतर रोगी दूर गाँवों में रहते हैं। जहाँ उन्हें ठीक समय पर दवा मिलना कठिन हो जाता है।

(3) जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही है, इस कारण अधिक लोगों को रोग लग रहा है।

(4) अनेक घातक रोगों के कम होने के कारण भारत वासियों की औसत आयु बढ़ गई है, इसलिए बहुत से लोगों को बहुत दिनों तक रोग लगने और रोग फैलाने में सहायता मिल रही है।

(5) गाँववासी बड़े शहरों में आ कर बसते जा रहे हैं, जहाँ रेलों, बसों, बाजारों, की भीड़ से रोग के फैलने की सम्भावना बढ़ गई है।

शहरों में प्राय: गाँव की तरह कोई किसी के दु:ख सु:ख की परवाह नहीं करता, यहाँ लम्बे वस्त्र पहन कर रोगी अपने रोग को छिपा सकता है।

(6) सरकारी स्वास्थ्य सेवा का ध्यान घातक रोगों की ओर अधिक होने के कारण कुष्ठ निवारण योजना को पूरी सहायता नहीं मिल पाती।

परन्तु अभी भी समय है, संसार के अनेक देश कुष्ठ मुक्त हो गये हैं, और यह रोग हमारे देश से भी मिटाया जा सकता है। हमारे सामने अनेक कुष्ठ निवारण योजनायें हैं, जिनकी सहायता से रोग की रोकथाम हो सकती है। परन्तु सबसे अधिक आवश्यक यह है कि जनता को इस रोग के बारे में पूरी शिक्षा दी जाए। उन्हें बताया जाए कि कुष्ठ रोग, या कोढ़, कीटाणुओं से फैलने वाला एक रोग है, कोई दैवी प्रकोप नहीं। मनुष्य साधारणत: प्रति दिन के स्वास्थ्य के नियमों को मान कर इन कुष्ट कीटाणुओं से अपने आपको बचा सकता है। समाज के हर व्यक्ति को हमें शिक्षा देने की आवश्यकता है।

(1) रोगियों को।

(2) रोगियों के परिवार और मित्रों को।

(3) स्कूल, कॉलेजों, ट्रेनिंग कॉलेजों, मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थियों और अध्यापकों को।

(4) रेल गाड़ी और बसों में चलने वाले मुसाफिरों को। होटलों में टिकने वाले मुसाफिरों को, तीर्थ स्थानों में जाने वाले और एक साथ स्नान करने वाले तीर्थ यात्रियों को।

(5) सभाओं, सिनेमा घरों और मेलों में जाने वाले लोगों को।

कुष्ठ निवारण शिक्षा देश के कोने कोने में फैलाने का आवश्यकता है। शिक्षा फैलाने के लिए हमारे पास अनेक साधन हैं, समयानुसार इनको सहायता लेनी चाहिए। जैसे :—

(1) परचे, पुस्तिकायें, तस्वीरें, पोस्टर, समाचार पत्र इत्यादि के द्वारा।

(2) रेडियो और टेलीविज़न।

(3) सिनेमा फिल्म, समाचार फिल्म आदि से।

(4) स्कूलों में, कॉलेजों में, पत्रिकाओं में, कुष्ठ निवारण लेख-प्रतियोगिता, जलसों और सभाओं में भाषण आदि के द्वारा।

(5) प्रदर्शनी और प्रदर्शित वस्तुओं के द्वारा। इन साधनों के द्वारा जन साधारण को कुष्ठ रोग के बारे में मोटी-मोटी बातें बतानी चाहिए।

कुष्ठ कीटाणुओं से लगने वाला रोग है। यह कीटाणु रोगी के चर्म से स्वस्थ मनुष्य के चर्म में चले जाते हैं। संक्रामक रोगी के छींकने और खाँसने से भी रोग फैलता है। इस लिए

(1) रोगी के साथ सोना नहीं चाहिए।

(2) रोगी के साथ हाथापाई या अखाड़े में कुश्ती नहीं लड़ना चाहिए।

(3) दूसरों को रोगी के कपड़े नहीं पहनना चाहिए।

(4) रोगी के मुख के पास मुख लगा कर बातें नहीं करना चाहिए।

(5) कुष्ठ रोगी की सेवा और सहायता करने के बाद हाथों को अच्छी तरह साबुन से धोना चाहिए।

(6) रोगी के पास बैठना पड़े तो कपड़े गरम पानी में धोना चाहिए।

(7) यदि परिवार में किसी को संक्रामक कुष्ठ रोग हो तो बाकी परिवार को डाक्टरी जाँच करवाना चाहिए।

(8) बच्चों को बी० सी० जी० का टीका लगवाना चाहिए और जवानों को डेपसोन की गोली खाना चाहिए।

(9) बीमारी का शक होते ही डॉक्टरी जाँच करा कर डेपसोन की टिकिया का सेवन करना चाहिए।

(10) बीमारी का पता चलते ही इलाज करने से रोग बहुत जल्द ही अच्छा हो जाता है। और किसी प्रकार की कुरूपता होने का डर नहीं रहता, इलाज बहुत सहज और सस्ता है। डॉक्टर की सलाह लेकर डैपसोन की टिकिया खाना चाहिए। यह ज़हरीली टिकिया कुष्ठ कीटाणुओं का नाश कर देती है। यह छोटी सी टिकिया समाज को कुष्ठ की महान समस्या से मुक्त कर सकती है।

मेडिकल सुपरिण्टेंडेण्ट
नैनी लेप्रसी हॉस्पिटल एण्ड होम
नैनी, इलाहाबाद

'कुष्ठ रोग साध्य है'

●●

ल्युकोडरमा

जब शरीर में 'मैलानिन' की कमी हो जाती है तो त्वचा में यत्र-श्वेत धब्बे पड़ जाते हैं जिसे 'ल्युकोडरमा' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'लेप्रोसी' ही मान बैठते हैं जो पूर्णतया गलत है। लेप्रोसी विषाणु के कारण होती है जबकि ल्युकोडरमा के किसी जीवाणु का अभी तक पता नहीं चला। लेप्रोसी छूत का रोग है ल्युकोडरमा संपर्क से नहीं फैलता। लेप्रोसी में त्वचा की संवेदनशीलता समाप्त हो जाती है जबकि ल्युकोडरमा में ऐसा नहीं होता।

कैंसर

श्याम लाल काकानी

कैंसर जैसे महाभयानक रोग का नाम लेते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यद्यपि पिछले 20 वर्षों में कैंसर के रोग के कई निदान खोजे गये हैं लेकिन मानव उस दिन की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है जब उसे पेनिसिलीन एवं अन्य ऐन्टीबॉयोटिक की तरह कैंसर के निदान का कोई पूर्ण उपाय मिल सके।

यद्यपि यह सत्य है कि पिछले 20 वर्षों में जैविकी के क्षेत्र में हुई नई प्रगति के आधार पर कैंसर उत्पन्न होने वाले कारणों को समझने में पर्याप्त प्रगति हुई है लेकिन यह भी सत्य है कि कैंसर जैसे महाभयानक रोग पर विजय प्राप्त करने की दिशा में हमें अभी एक लम्बा रास्ता तय करना है। आइये, हम इस क्षेत्र में अब तक हुई अनुसंधान की प्रगति के आधार पर इस रोग के उत्पन्न होने के कारणों एवं उनके कुछ निदानों पर विचार करें।

कैंसर उत्पन्न होने के कारण

अब तक अनुसंधानों एवं प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कैंसर का रोग शरीर के किसी भी अंग में कोशिकाओं की अनियंत्रित वृद्धि से पैदा होता है। कोशिकाओं की इस अनियंत्रित वृद्धि के परिणामस्वरूप उस प्राणी की कुछ समय पश्चात् मृत्यु हो जाती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कोशिकाओं की यह अनियंत्रित वृद्धि किस कारण से होती है?

विश्वव्यापी स्तर पर कैंसर के रोगियों पर किये गये शोध एवं उसके क्रमिक विकास के अध्ययन के आधार पर चिकित्सक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 80 प्रतिशत कैंसर का कारण वातावरण है। वातावरण से हमारा तात्पर्य वायु, भोजन, वायरस, विकिरण एवं सामाजिक रीतियां हैं। उदाहरण के लिए फेफड़ों के कैंसर के दस लाख व्यक्तियों पर परीक्षण एवं अध्ययन से यह पाया गया कि उन्हें कैंसर की बीमारी सिगरेट पीने के कारण हुई है।

अन्य प्राणियों को होने वाले कैन्सर के अध्ययन से चिकित्सकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उन्हें कैंसर की बीमारी 'वायरस' के कारण होती है। इसी आधार पर अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि मनुष्य के कैंसर के लिए 'वायरस' भी उत्तरदायी हो सकते हैं। लेकिन इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि क्या प्रत्येक प्रकार के कैंसर के लिए वायरस ही उत्तरदायी होते हैं? इसका एकमात्र उत्तर होगा, नहीं? क्योंकि कैंसर अन्य कारणों जैसे रेडियोधर्मी विकिरणों, सिगरेट पीने इत्यादि से भी उत्पन्न होते हैं। लेकिन अब निर्विवाद रूप से यह माना जाने लगा है कि अधिकतर कैंसर वायरस के कारण होते हैं। आर० एन० ए० वायरसों को कैंसर की उत्पत्ति का मुख्य आधार माना जाने लगा है। अन्य प्राणियों पर अनुसंधानों से यह भी प्रकट हुआ है कि कैंसर के जनक 'डी० एन० ए०' वायरस भी हो सकते हैं। अनुसंधानों से यह भी प्रकट हुआ है कि कैंसर उत्पत्ति का मुख्य आधार ही वायरस है एवं अन्य पदार्थ केवल मात्र वायरस को कोशिकाओं की अनियंत्रित वृद्धि में

सहायता पहुँचाते हैं। वायरस से कैंसर उत्पत्ति की दिशा में अब तक मुख्य रूप से अनुसंधानों के परिणामों के आधार पर दो सिद्धांत प्रस्तावित किये गये हैं, ये हैं :

(i) **टोमिन का प्रोवायरस सिद्धान्त** एवं (ii) **टोमिन का प्रोटोवायरस सिद्धान्त।**

प्रथम सिद्धान्त जिसे टोमिन ने 1964 में प्रस्तावित किया था, प्रोवायरस सिद्धांत कहलाता है। इस सिद्धान्त में टोमिन ने बताया कि कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में परपोषी डी० एन० ए० वायरस में आर० एन० ए० वायरस का समावेश संभव हो जाता है जो कुछ विशेष प्रक्रिया के कारण परपोषी डी०एन० ए० रूप ग्रहण कर लेता है। इसी को प्रोवायरस की संज्ञा प्रदान की है एवं टोमिन के अनुसार प्राणी में कैंसर उत्पन्न करने के लिए यही प्रोवायरस डी० एन० ए० उत्तरदायी होता है। इस सिद्धान्त की वैज्ञानिक जाँच के लिए कोशिका वंशक्रमों को पृथक कर उनका अध्ययन किया गया। वैसे तो ऐसा लगता था कि पृथक्कृत कोशिका वंशक्रम कैंसर रहित है लेकिन उनके सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से पाया गया कि इन सभी 'सी' प्रकार के वायरस उपस्थित हैं जिनसे कैंसर उत्पन्न होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि क्रम विकास के प्रारम्भ में ही 'सी' वायरस उपस्थित होते हैं।

वैज्ञानिक टोमिन ने ही कैंसर उत्पत्ति का सन् 1972 में एक और नया सिद्धान्त प्रस्तावित किया जिसे **'प्रोटोवायरस सिद्धान्त'** कहते हैं। इस सिद्धान्त की मुख्य भावना यह है कि समस्त कोशिकाओं में कैन्सर वायरस की सूचना पहले से ही समाहित होती है एवं विकास के समय डी० एन० ए० एवं आर० एन० ए० के मध्य अनेकों बार इन सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहता है। सूचनाओं के आदान-प्रदान की इस क्रिया में बहुत बार 'सी' वायरस स्वतंत्र हो जाते हैं जिससे कैन्सर उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ अन्य अनुसंधान कर्त्ताओं ने यह मत प्रकट किया है कि कई 'सी' वायरस के अतिरिक्त भी अन्य कारण कैन्सर उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी होते हैं।

जननेन्द्रियों के कैन्सर की पहचान

पपनी कोला स्मीयर परख से जननेन्द्रियों में कैन्सर की उपस्थिति का पता चल जाता है। इस परख में एक विशेष यंत्र से योनितोरणिका गर्भाशय ग्रीवा की सतह ग्रीवा नली और अन्तर्गर्भाशयकला गुहा से तरल एकत्रित करके उनका पैथालाजिकल परीक्षण किया जाता है। इससे एकदम पता चल जाता है कि जननेन्द्रियों में कैन्सरग्रस्त कोशिकायें हैं अथवा नहीं। यदि इन अंगों में एक कोशिका भी कैन्सर से ग्रस्त होती है तब भी इस परख से पता चल जाता है। इसको 'सतह जीवूति' (सरफेस बायोप्सी) कहते हैं। उक्त पहचान के बाद स्थान विशेष का पता लगाने के लिये फिर जीवूति परीक्षा की जा सकती है।

कैंसर अनुसंधान, एक सर्वेक्षण

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि कैन्सर शरीर के किसी भी अंग में कोशिकाओं की अनियमित वृद्धि से उत्पन्न होता है। लेकिन अनुसंधान से यह पाया गया है कि कैन्सरग्रस्त कोशिकाओं की न केवल अनियमित वृद्धि होती है परन्तु ये कोशिकायें अन्य कोशिकाओं के ऊपर से होकर

भी बढ़ने लगती है। अन्य ऊतकों पर बढ़ने की कैंसरग्रस्त कोशिकाओं की क्षमता अभी तक एक रहस्य बनी हुई है। संभवतया वैज्ञानिक टोमिन के अनुसार डी० एन० ए० एवं आर० एन० ए० में सूचनाओं के आदान-प्रदान के समय 'सी' वायरस के मुक्त होने से ऐसा होता है। इस पर पूर्ण प्रकाश तो आने वाले वर्षों में इस क्षेत्र में हो रहे अनुसंधानों के परिणामों के पश्चात् ही पड़ सकेगा।

अब वैज्ञानिक कैंसर को मुख्य रूप से वायरस रोग मान कर एक टीके के निर्माण की दिशा में प्रयत्नशील हैं। यदि ऐसा संभव हो सका तो निसंदेह मानव को इस भयानक रोग से छुटकारा मिल सकेगा।

डा० टीमेन एवं डा० बाल्टीमोर को उनकी खोज "रिवर्स ट्रांसक्रिप्टेज" एन्जाइम के लिए सन् 1975 का औषधि का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया है। जैसा कि टीमेन के सिद्धान्त में उल्लेख किया जा चुका है कि जीव के विकास में किसी समय परपोषी डी० एन० ए० में आर० एन० ए० वायरस समावेशित हो जाता है जो अपने साथ प्रक्रिण्व आर० एन० ए० ट्रांसक्रिप्टेज ले आता है एवं यह परिवर्तित होकर परपोषी डी० एन० ए० का रूप ग्रहण कर लेता है। इस सिद्धान्त से इस बात को समझने में अत्यधिक सहायता मिली है कि स्वस्थ मनुष्य की कोशिकाओं में किस प्रकार वायरस में स्थित डी० एन० ए० के गुण प्रवेश कर जाते हैं एवं कोशिकायें कैंसर रोग से ग्रस्त हो जाती हैं।

अनुसन्धान का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है—कैंसर से प्रतिरक्षा। इस क्षेत्र में हो रहे अनुसंधानों के परिणामों से इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली को कमजोर बनाने वाली दवाओं के सेवन से रोगियों में कैंसरग्रस्त होने की संभावना में वृद्धि हो जाती है। अनुसंधानों से अब यह प्रकट हुआ है कि कैन्सर कोशिकाओं को ढकने वाली झिल्ली में कुछ ऐसे पदार्थ उपस्थित होते हैं जो शरीर की सामान्य कोशिकाओं में नहीं पाये जाते हैं। झिल्ली में उपस्थित ये पदार्थ कैन्सर के कुछ विशिष्ट 'एंटीजन' निर्मित करते हैं। रोगी के शरीर में ये ऐसी कोशिकाओं का निर्माण करते हैं जो कैंसर ग्रस्त कोशिकाओं को साफ कर सकती है।

अनुसंधानकर्त्ताओं के समक्ष आज सबसे बड़ी चुनौती इस समस्या का हल ढूंढना है कि कैन्सर कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न 'आत्मरक्षा प्रणाली' इतनी सक्षम क्यों नहीं होती है कि वह कैन्सर को जड़ मूल से नष्ट कर सके। इस क्षेत्र में हो रहे शोध-कार्यों से यह प्रकट होता है कि यह प्रणाली अत्यधिक जटिल है। प्राकृतिक 'प्रतिरक्षा प्रणाली' को प्रभावशील एवं सक्रिय बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य हो रहा है। एक अनुसंधान में प्राकृतिक प्रतिरक्षा प्रणाली को सक्षम बनाने की दिशा में बी० सी० जी० का उपयोग कुछ सीमा तक उपयोगी बताया गया है।

भारत में कैंसर की रोकथाम के प्रयत्न :

हमारे देश में भी चिकित्सक कैन्सर जैसे महाभयानक रोग की रोकथाम के लिए शोध-कार्यों में लगे हुए हैं। कैन्सर रिसर्च इंस्टीट्यूट, बंबई में बायोकैमिस्ट्री के वैज्ञानिकों की एक टोली ने शोध से यह पता लगाया कि कैन्सर से होने वाले दर्द को कम करने में कोबरा विष का बहुत पतला घोल अति उपयोगी होता है। लेकिन कोबरा विष एक हानिकारक पदार्थ है अतः सदैव इससे इच्छित परिणाम प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता है। अब वैज्ञानिक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं कि कोबरा विष से उसके हानिकारक घटकों को किस प्रकार कम करके इसकी कैंसर रोग के उपचार में उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है। शोध से यह भी ज्ञात हुआ कि कोबरा विष से प्राप्त प्रोटीन कुछ कैंसर कोशिकाओं को उनकी झिल्ली के द्वारा नष्ट करने में सक्षम होते हैं।

टाटा मैमोरियल अस्पताल की प्रयोगशाला में भी कैंसर के उपचार संबंधी शोध-कार्य हो रहे हैं। यहाँ पर स्तन कैंसर, तम्बाकू, सुरती तथा पान खाने वाले मनुष्यों के मुँह के कैंसर एवं कश्मरियों के कमर के कैंसर का विशष रूप से अध्ययन किया गया है। यहां से प्रकाशित एक शोध-पत्र में यह बताया गया है कि मुँह का कैंसर वडक्कन तम्बाकू के सेवन एवं कश्मार का कांगड़ी कैंसर वहां पर पाये जाने वाले चिनार पेड़ के कोलतार से होता है। इसी केन्द्र पर अब टिश्यू संवर्धन प्रयोगशाला भी कार्यरत है।

उपसंहार : बायोकेमिस्ट्री एवं जैविकी में हो रहे नये अनुसंधान ने निसंदेह कैंसर उपचार को एक नया आयाम प्रदान किया है। आज कैंसर के उपचार से यह स्थिति बन गई है कि अब कुछ विशेष प्रकार के कैंसर के रोगी अधिक समय तक जीवित रहने लगे हैं। अब कैन्सर के प्रति तीन रोगियों में से एक का इलाज पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से होने लगा है। निसंदेह यह उत्साह-वर्धक स्थिति है।

कुछ समय पूर्व तक रेडियोथेरापी एवं सर्जरी ही कैन्सर के उपलब्ध उपचार थे लेकिन अब कई अन्य औषधियों की खोज हुई है जो कैंसर निदान की दिशा में उपयोगी हैं। शोध की वर्तमान प्रगति को देखते हुए हम यह आशा कर सकते हैं कि वह दिन दूर नहीं है जब पेनिसिलिन एवं बी० सी० जी० की तरह कैंसर के उपचार के लिए किसी टीके की खोज संभव हो सकेगी जो मानव को सदैव के लिए इस महाभयानक रोग से छुट-कारा दिला सकेगा।

प्राध्यापक भौतिक शास्त्र
राजकीय महाविद्यालय
शाहपुर (भीलवाड़ा)

● ●

समुद्र से कैंसररोधी औषधियाँ

डॉ० ब्रूस हाल्सटेड के अनुसार समुद्र में ऐसे सहस्रों जीव विद्यमान हैं जिनसे शरीर के कैंसर का इलाज करने के लिये उपयुक्त औषधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। समुद्र में ऐसे विष रसायन भी विद्यमान हैं जो पोटैसियम सायनाइड से दस हजार गुना अधिक विषैले हैं।

मराजमस से पीड़ित बच्चा

रोगियों को श्वास क्रिया में सहायता देने के लिये 'इडसेप ब्रीथर'

'क्रिब डेथ' से बचाव के लिये एलार्म तकनीक
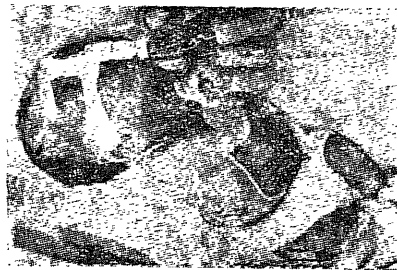
3 माह का बालक जिसका हृदय सीने से बाहर था। डॉक्टरों ने शल्य क्रिया द्वारा हृदय भीतर किया।

आयुर्वेद की विश्व को देन : प्लास्टिक सर्जरी

यशवन्त कोठारी

भारत ने समय-समय पर विश्व को ऐसे उपहार भेंट किये हैं, जिनकी तुलना नहीं हो सकती है। कभी भारतीय गणितज्ञों ने विश्व को शून्य का बोध कराया तो कभी दशमलव प्रणाली का महत्व समझाया। चिकित्सा विज्ञान में भारतीय चिकित्साशास्त्र की देन भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। आज पाश्चात्य चिकित्साशास्त्री यह निःसंकोच स्वीकार करते हैं कि आयुर्वेद किसी वक्त विश्व का सबसे उन्नत चिकित्साविज्ञान था। आयुर्वेद में वर्णित छिन्न नासिका संधान विधि के बारे में जर्मनी के डा० हिरश्चवर्ग ने कहा था कि जब भारतीय विधि का पता युरोप वालों को लगा तो उन्हें अपनी विधियों को पूर्ण रूप से बदलना पड़ा।

प्रख्यात भारतीय चिकित्सक सुश्रुत ने ही सबसे पहले कान व नाक की प्लास्टिक सर्जरी करने की विधि का उल्लेख किया है! उन्होंने अपनी सुश्रुत संहिता के अध्याय 16 में छिन्न नासिका सन्धान विधि का वर्णन किया है।

"विश्लेषित ता यास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि संधानविधि यथावत्"

"नासा प्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलंवितस्व।

"तेन प्रमाणेन हि गंडया श्वादुत्कृत्व बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्।"

"विलिख्य चाशु प्रतिसंदधीत तत्साधुबंधेर्भिष गप्रमत:।

यूरोप में—1792 में मैसूर राज्य तथा अँग्रेजों के मध्य लड़ाई के दौरान एक गाड़ी चालक व चार सिपाही टीपू सुल्तान द्वारा पकड़ लिये गये। सजा के तौर पर इन लोगों के नाक व एक-एक हाथ काट डाले गये। एक वर्ष पश्चात् किसी अज्ञात मराठा चिकित्सक ने इन लोगों के नाक भारतीय चिकित्सा पद्धति के द्वारा वापस जोड़ दिये। इस ऑपरेशन के वक्त दो अंग्रेज सर्जन थोमास क्रूसो व जेम्स फिन्डों भी उपस्थित थे।

यह घटना जब यूरोप की पत्रिका 'जेन्टलमेन्स मेग्जीन' में छपी तो लन्दन के डॉ० जे० सी० कारपू ने इस विषय की अधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश शुरू कर दी। कारपू को यह भी पता लगा कि इटली व फ्रान्स के अन्दर भी कुछ लोगों ने इस प्रकार के ऑपरेशन किये हैं लेकिन इन लोगों ने 'जीवित माँस' बाँह का लिया था जबकि भारतीय चिकित्सा पद्धति में सर के ऊपर से यह हिस्सा काटा जाता है। आगे की खोजों से पता चला कि भारतीय चिकित्सा पद्धति ज्यादा अच्छी है क्योंकि इस प्रकार बनी नासिका व प्राकृतिक नासिका में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता है जबकि फ्रान्सीसी पद्धति से किये गये ऑपरेशनों के परिणाम सन्तोषजनक नहीं आये।

कारपू ने अपना पहला ऑपरेशन 23 अक्टूबर, 1814 में किया। भारतीय पद्धति के आधार पर किया गया यह ऑपरेशन पूर्णरूपेण सफल रहा। जर्मनी में ऐसे ही प्रयोग काल ग्राफे ने किये। शीघ्र ही यूरोप में इस पद्धति की धाक जम गयी।

प्राचीन भारतीय द्वितीय चिकित्सा वागभट्ट ने भी सुश्रुत संहिता के आधार पर प्लास्टिक सर्जरी

का वर्णन किया है। इसी तरह कान की प्लास्टिक सर्जरी का भी वर्णन किया गया है।

सुश्रुत ने 15 प्रकार की सर्जरी बताई है। कान के छिद्र बढ़ जाने पर उनको कम करने या दोनों हिस्सों को जोड़ने के लिये इनका उपयोग किया जाता था। माँस का एक छोटा सा टुकड़ा लेकर कान के हिस्से को थोड़ा सा खरोंचकर फिट कर दिया जाता था। इसके ऊपर शहद व घी लगाकर इसकी ड्रेसिंग की जाती थी।

इसी तरह शरीर जल जाने पर शरीर के दूसरे भाग का मांस काट कर जले स्थान पर सही रूप से चिपका देने का भी उल्लेख मिलता है। सुश्रुत ने गालों से माँस काटने की विधि का विकास किया लेकिन शीघ्र ही भारतीय चिकित्सकों ने सर से माँस के टुकड़े काटने में महारत हासिल कर ली, ऐसा करने से सर का घाव कुछ दिनों बाद ज्यादा भद्दा नहीं लगता है।

आज की प्लास्टिक सर्जरी आधुनिक चिकित्सा के रूप में इतनी विकसित हो चुकी है कि इन प्राचीन विधियों की बातें करना केवल इतिहासवेत्ताओं का काम रह गया है।

समय शायद सबसे अच्छा मरहम है। जैसे-जैसे वक्त गुजरता गया, हम अपनी ही विद्या को भूलते गये। भारत से इस विद्या को इटली व स्पेन अरबों ने पहुँचाया जहाँ से करीब 400 वर्ष बाद यह विद्या यूरोप पहुँची। यूरोप में इसका प्रचार व प्रसार करने में जितना योगदान जे० सी० कारपू का रहा शायद ही किसी का रहा होगा। सुश्रुत और उसके साथी धन्य हैं जिन्होंने बिना साधनों के केवल साधना, तप, परिश्रम व लगन के बल पर वह कर दिखाया जिस पर हमें गर्व है।

प्राध्यापक (रसायन)
25/133, मधुबन
उदयपुर (राज०)

उबासी स्वास्थ्य के लिए लाभदायक

बड़े शल्य कर्म के बाद पीठ के बल लेटा हुआ रोगी लम्बी सांस नहीं ले पाता और फलस्वरूप उसके फेफड़ों को पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन नहीं मिल पाती जिससे उसके अंग कार्य करना बंद कर देते हैं।

इस समस्या के समाधान के लिये डॉ० राबर्ट लेट से उपाय सुझाया। वह है उबासी लेना। कड़े शल्य कर्म के बाद रोगी यदि हर दस पाँच मिनट बाद उबासी ले तो फेफड़े पूरी तरह आक्सीजन से भर जाते हैं। इसके लिये उन्होंने एक यंत्र रेस्पिरोमीटर भी बनाया है पर वह चाहते हैं कि रोगी स्वयं उबासी ले।

प्रकृति, समय और धर्म-ये तीन सर्वश्रेष्ठ और महान चिकित्सक हैं—एच० जी० बौन

क्या आप जानते हैं

—अब हड्डियों के सभी मुख्य जोड़ कृत्रिम ढंग से बनाये जाने लगे हैं। कोबाल्ट, क्रोमियम तथा मालिब्डेनम से बनी मिश्रधातु एलिवियम से बनाये गये ये कृत्रिम जोड़ शरीर के लिये हानिकर नहीं होते।

—पुरुष के बाल में सोडियम, क्लोरीन, मैंगनीज़, आयोडीन और क्रोमियम की मात्रा तुलनात्मक रूप से अधिक होती है जबकि स्त्री के बालों में कैल्शियम, तांबा, क्रोमियम, पारा, एन्टिमनी तथा जस्ता प्रधान होते हैं।

—यूरोपीय जातियों के पदार्पण के पूर्व अफ्रीका के नीग्रो निवासियों में किसी भी प्रकार का कैंसर नहीं था।

—मद्यपान करने वाले के शरीर में विटामिन बी-काम्पलेक्स की कमी होजाती है जिससे लकवा, तंत्रिक शोथ तथा जलशोथ के लक्षण प्रकट होते हैं। एल्कोहल शारीरिक गति शीलता को धीमा करता है तथा तंत्रिकाओं को संवेदनाहीन बना देता है। पुरुषों का पुरुषत्व भी समाप्त हो जाता है।

—ब्रिटिश फार्मास्युटिकल सोसायटी की एक चेतावनी के अनुसार विटामिनों की वांछित से अधिक मात्रा स्वास्थ्य के लिये हानिकार हो सकती है।

—मानव शरीर में कोशिकाओं का इतना विस्तृत जाल बिछा हुआ है कि यदि सभी कोशिकाओं को जोड़ दिया जाय तो उससे पृथ्वी को ढ़ाई बार लपेटा जा सकता है और यदि उन्हें किसी सपाट स्थान पर रख दिया जाय तो वे 6000 वर्ग मीटर स्थान घेरेंगी।

—चेचक, खसरा, जर्मन मीजिल्स, पोलियो, इन्फ्लुएंजा, रेबीज़ आदि रोग वायरस के कारण होते हैं।

—मिश्र के डॉक्टरों के अनुसार एक ही बाल के रासायनिक विश्लेषण से न केवल व्यक्ति की उम्र का पता चल सकता है बल्कि यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह स्त्री है या पुरुष !

—1962 के एक सर्वेक्षण के अनुसार नोवाजों इण्डियनों में केवल एक स्त्री कैंसरग्रस्त पाई गई थी। फिजी द्वीप में 90000 स्त्रियों में से केवल 3 को गर्भाशय ग्रीवा कैंसर पाया गया था।

—चिकित्सा अनुसंधानकर्ताओं ने वैज्ञानिक परीक्षण करके अब यह स्पष्ट कर दिया है कि शराब पीने से पुरुष का पुंसत्व समाप्त हो जाता है। शराब से मनुष्य के शरीर में 'टेस्टोस्टेरोन, नामक हारमोन के, जो पुंसत्व प्रदान करता है, निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

—भारत में 300 से अधिक व्यक्तियों के शरीर में पेसमेकर प्रतिरोपित हैं जबकि अमरीका में यह संख्या एक लाख से ऊपर है।

— कैंसर के सबसे अधिक शिकार पारसी लोग (203 प्रति लाख) तथा सबसे कम जैन लोग (25·7 प्रति लाख) होते हैं।

—आधुनिक खोजों के अनुसार एक स्वस्थ स्त्री के शरीर से प्रतिमास 50 से 200 मिग्रा० रक्त बाहर चला जाता है जिसके साथ 20-30 मिग्राम लोह तत्व भी नष्ट हो जाता है। गर्भावस्था में भ्रूण के विकास से लेकर प्रसव तक लगभग 700-90 मि ग्राम लौह की आवश्यकता पड़ती है; अतः प्रत्येक महिला को 5-10 ग्रा० लोह तत्व प्रतिदिन मिलना चाहिए।

—चिकित्सकों का मत है कि संसार में 80 प्रतिशत से भी अधिक रोगों की जड़ मानसिक तनाव है।

—मलेरिया के प्रभाव से प्लीहा बढ़ जाता है।

—मच्छर के काटने से लेकर बुखार आने तक का समय अलग-अलग परजीवियों पर निर्भर करता है। वाइवेक्स व ओवेल में यह क़रीब 15 दिन, मलेरी में 21-28 दिन व फालसीपेरम में 8-12 दिन होता है। ● ●

टायफायड : एक अध्ययन

रामावतार सिंह

(रोगी—श्री मोईन पाशा उम्र 12 वर्ष, ऊ०-5 फीट 3 इंच-वजन—29 की० ताप—104 डिग्री रोग का इतिहास—25 दिन पूर्व से ही साधारण ज्वर के रूप में इन पर प्रकोप हुआ।)

एक सप्ताह तक घर पर ही नींबू-पानी के साथ उपवास पर रखा गया। उपवास काल में थोड़ा ज्वर लक्षण शांत हुआ और इन्हें रोटी-सब्जी का पथ्य दिया गया। लेकिन इन्हें पुनः ज्वर उभर आया। ज्वर की अधिकता को देखकर एलोपैथी डाक्टर को दिखाकर इलाज प्रारम्भ हुआ। एलोपैथी पद्धति के अनुसार टायफायड ज्वर के लिए एन्टिबायटिक दवा के रूप में कैप्सूल और टेबलेट इन्हें भोजन के साथ पर्याप्त मात्रा में खिलाया गया। लेकिन बुखार में कमी के स्थान पर वृद्धि ही होती गयी। सन्निपात के कारण रोगी में तीव्र ज्वर के साथ प्रलाप, अग्नि-मान्द्य और कमजोरी के लक्षण भी उभरे।

एलोपैथी पद्धति में टायफायड ज्वर का कारण शरीर में टायफस कीटाणु की अत्यधिक वृद्धि और आक्रमण माना जाता है। इसलिए एन्टिबायटिक दवाओं द्वारा शरीर से उक्त कीटाणु को खत्म करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु वास्तव में होता यह है कि शरीर से मल और विजातीय पदार्थ के बहिष्कृत होकर स्वच्छ होने के अभाव में उक्त पदार्थ को कीटाणु वृद्धि का आधार बना रहता है जिस कारण रोगी में ज्वर और अन्य लक्षण धीरे-धीरे बढ़ता ही गया।

जैसा कि आयुर्वेद में कहा गया है—

"सर्वे रोगाः मलवशाः"

यानी शरीर में मल का जमाव ही सभी रोगों का मूल कारण है।

(पंचतंत्र—डा० वीरू वेंकट राव, पृ० सं० 15)

सामान्य रूप में बुखार के रूप में प्रकृति द्वारा शरीर से विजातीय और रोग पदार्थ बाहर करने की प्रक्रिया में बाधा डालने के कारण ही टायफायड ज्वर का कालिक रूप प्रकट हुआ।

प्राकृतिक चिकित्सालय, हैदराबाद में प्रवेश

प्रवेश तिथि—27-10-76

रोग की असाध्यता और भयंकरता को देखकर प्रलाप और तीव्र ज्वरावस्था में रोगी को यहाँ लाया गया। जाँच करने पर मालूम हुआ कि रोगी को 101 डिग्री बुखार के साथ-साथ पेट में सूजन के साथ दर्द, अग्नि-मान्द्यता और कमजोरी के कारण अचेतावस्था रहती है।

प्राकृतिक चिकित्सा

उपचार

प्रातः 6-00 पेडू पर मिट्टी-पट्टी
,, 7-00 एनिमा गुनगुने पानी से।
,, 9-00 स्नान ठंडे जल से।
अप० 3-00 पेडू पर मिट्टी पट्टी।
,, 4-00 स्नान ठंडे जल से।

उपवास काल—17 दिन

पथ्य

प्रातः 6-30 नींबू पानी एक पाव
,, 10-00 मौसम्मी रस एक पाव
अप० 2-00 मौसम्मी रस एक पाव
,, 5-00 मौसम्मी रस एक पाव

उपरोक्त उपचार और पथ्य के साथ-साथ रोगी को प्रतिदिन 8 गिलास ठंडा जल भी पिलाया गया। परिणाम स्वरूप 17 दिनों के उपवास-काल में ही ज्वर की तीव्रता जाती रही और प्रातःकाल ताप सामान्य हो गया। परन्तु दिन के बढ़ने के साथ-साथ ज्वर भी बढ़कर 100 डिग्री पर स्थिर रहने लगा। लेकिन रोगी के शरीर से असामान्य लक्षण जैसे पेट का सूजन और दर्द, अग्नि-मान्द्य एवं कमजोरी जाती रही। ऐसी स्थिति में ज्वर की स्थिति रहने पर भी शरीर को नियमित-कदम पर लाने हेतु सामान्य पथ्य दिया गया।

पथ्य-काल **समय—एक सप्ताह**

कार्यक्रम

उपचार—

प्रात. 6-00 कटि-स्नान
,, 8-00 स्नान
अपरा०
3-00 कटि-स्नान
,, 4-00 स्नान

पथ्य

प्रात: 6-00 नींबू-पानी एक पाव
,, 9-00 रोटी 2 और सब्जी 20 तोला
अपरा० 5-00 दूध एक पाव और 2 पका केला

प्रतिदिन रोगी को 8 गिलास ठंढा जल भी पिलाया गया।

पथ्य के दूसरे दिन से रोगी में परिवर्तन आ गया और ताप सामान्य रहने लगा। शरीर को व्यवस्थित और नियमित करने की दृष्टि से रोगी को एक सप्ताह तक उपरोक्त उपचार और पथ्य पर ही रखा गया।

सामान्य भोजन-काल

कार्यक्रम

उपचार

प्रात: 6-00 कटि-स्नान
,, 8-00 स्नान
अपरा० 3-00 कटि-स्नान
,, 4-00 स्नान

भोजन

प्रात: 7-00 दूध एक पाव
,, 9-00 रोटी 2 और 20 तोला सब्जी
अपरा० 5-00 रोटी 2 और 20 तोला सब्जी

प्रतिदिन 8 गिलास ठंडा पानी पिलाया गया।

रोगी में परिवर्तन

ताप सामान्य, पर्याप्त भूख, सुबह और शाम शौच का खुल कर आना तथा रोगी में स्पष्ट ताजगी और स्फूर्ति दिखाई पड़ता है। नींद अच्छी और गहरी आती है। दैनिक जीवन का अपना सारा कार्यक्रम रोगी स्वयं स्फूर्त होकर सम्पादन करता है। रोग विष और विजातीय पदार्थ का दबाव और तनाव नहीं है। रोगी सामान्य रूप से स्वस्थ एवं प्रसन्न मालूम पड़ता है।

उपसंहार

एलोपैथी चिकित्सा में आमतौर से टायफायड ज्वर कीटाणुजन्य माना जाता है और कीटाणु का नाश और शमन के लिए एन्टिबायटिक दवाओं का प्रयोग किया जाता है। इसका असर होता है कि दवाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप शरीर से रोग और विजातीय पदार्थ का निष्कासन नहीं हो पाता और वह शरीर में पड़ा रहकर सड़ता है जो कीटाणु के लिए उत्पादन-स्थान बना रह जाता है और उसके कारण पुराने कीटाणु के स्थान पर

नया कीटाणु जन्म लेता रहता है जिस वजह से रोग तो खत्म होता ही नहीं, उल्टे दवाओं की प्रतिक्रियास्वरूप रोग कालिक रूप ग्रहण कर लेता है। लेकिन इसके विपरीत बिना किसी दवा के प्रयोग के शरीर द्वारा ज्वर के रूप में शरीर विष को निकालने में प्राकृतिक उपचार द्वारा मदद दी गयी जिस वजह से बाह्य और अंतर अवयवों की सफाई, आमाशय का अनुकूलन और उत्तेजन, उपवास और रसाहार द्वारा पाचन-संस्थान को आराम और शरीर की सारी शक्ति को रोग-विष निकालने का अवसर दिया गया जिस वजह से 20 दिनों की चिकित्सा-विधि के सहारे टायफायड ज्वर का शमन सामान्य भोजन और प्रकृति-जन्य उपचार मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश रूपी पंचतत्व जिससे यह शरीर बना है, किया जा सका।

रोग विष के बहिष्करण के अभाव से मल के सड़ने के आमाशय की झिल्लियों से प्रदाह पैदा होकर फोड़े पड़ जाते हैं और जरा भी असावधानी की स्थिति में फूटकर भारात्मक रोग के रूप में प्रकट हो जाता है जिस कारण से रोगी को बिस्तर पर से बिना हिलाए-डुलाए सारी क्रिया कराने की हिदायत दी जाती है। परन्तु प्राकृतिक उपचार की वजह से रोग विष बहिष्कृत हो जाने के कारण आमाशय का प्रदाह सूजन का अवसर ही समाप्त हो गया जिस वजह से रोगी को अपना सामान्य कार्यक्रम करने पर कोई खतरा नहीं पैदा हुआ।

अतः एलोपैथी चिकित्सा पद्धति द्वारा जो ज्वर घटने के बजाय कालिक ज्वर के रूप में सन्निपातिक रूप ग्रहण करता है, वही ज्वर प्राकृतिक चिकित्सा विधि से नियमित आहार और सामान्य उपचार से चंगा करने में सफल होता है क्योंकि आयुर्वेद में कहा गया है—

"अकाले इति चापल्पवा अजीर्णे भोजनम् विषम्।"

यानी नियमित समय के अलावा अल्प भोजन भी अजीर्ण पैदा करता है जो सारी बीमारियों की जड़ है।

(पंचतंत्र डा० वी० वेंकटराव, पृ० सं० 7)

अतः सिर्फ नियमित आहार-विहार और सामान्य उपचार मात्र से ही टायफायड ज्वर से मुक्त होने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। लोगों की स्वास्थ्य अज्ञानता और एलोपैथी दवाओं का भ्रमजाल ही मुख्य रूप कालिक रोगों के लिए जिम्मेदार है; जैसा कि डा० जे० एच० टीनडन, एम० डी० ने कहा है—

"I have had an abundant experience on both sides of this question, I know that drugs do not cure, and I know that they do break the patient down and prolong sickness."

(From High & Low Blood pressure By James C. Thompson.)

नेचर क्योर अस्पताल,
बेगम पेट, हैदराबाद

सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक वह है जो अधिकांश औषधियों को व्यर्थ समझता है—फ्रैंकलिन

भारतीय चिकित्सा पद्धतियाँ और उनके मूल स्वर

—शुकदेव प्रसाद

कहावत है—सुखी जीवन के लिए निरोगी काया। अत: शरीर में किसी भी रोग के आक्रमण के होते ही चिंता हो जाती है और स्वास्थ्य की पुनर्प्राप्ति हेतु जो भी 'साधन' प्रयुक्त होते हैं, उन्हें हमने 'चिकित्सा' की संज्ञा दी है।

चिकित्सा देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रही है और है भी। इन्हीं के फलस्वरूप तमाम चिकित्सा पद्धतियों का जन्म हुआ। वास्तव में चिकित्सा विज्ञान अपने में एक वृक्ष है और ढेर सारी पद्धतियाँ उसकी डालियाँ और शाखाएँ। यहाँ हम सुविधा के लिए केवल उन चिकित्सा पद्धतियों की चर्चा करेंगे जो भारतीय जन-जीवन का अंग बन चुकी हैं।

शरीर में निरन्तर चल रही जैविक क्रियाओं में अनियमितता या अवरोध ही अस्वस्थता या रोग का मूल कारण है, यही सभी चिकित्सा पद्धतियों का मूल स्वर है। यह और बात है कि हर एक पद्धति की अभिव्यक्ति भिन्न है।

चिकित्सा पद्धतियाँ

सर्व प्रथम आदि मानव ने अन्य वन्य प्राणियों या पालतू जानवरों को देखकर अपने आस-पास की वनस्पतियों एवं जड़ी-बूटियों से अपना चिकित्सा प्रारम्भ की होगी और सम्भवत: यहीं से चिकित्सा विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

इस दृष्टि से सबसे प्राचीन (लगभग 4000 वर्ष ई० पू०) चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद है। विभिन्न आयुर्वेदीय ग्रन्थों में जड़ी-बूटियों का उल्लेख है और बहुत हद तक उनमें चर्चित बनस्पतियां आज भी पहचान में आती हैं। हम आज भी उनका लाभ उठा रहे हैं।

लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मानव का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध है। मानव कल्याण तभी संभव है जब हम प्रकृति के अनुकूल अपने को बनाए रखें। मानव के प्रकृति के साथ सम्बन्ध बिगड़ने पर उसके अस्तित्व को भी खतरा है। यही हमारे साथ हुआ भी। ज्यों-ज्यों हम प्रकृति से दूर होते गए, त्यों-त्यों अपने को रोगग्रस्त पाते गए। लेकिन जब मानव को इसका भान हुआ तो उसने प्रकृति से अपने संबंध सुधारने शुरू किए और यहीं प्राकृतिक चिकित्सा (नेचुरोपैथी) का जन्म हुआ।

आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा ही भारतीय जन जीवन की आदि चिकित्सा पद्धतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त आज जो भी पद्धति यहाँ प्रचलित है, उसका मूल अन्यत्र है। लेकिन वे इतनी आम हो गई हैं कि उन्हें भी हम अपनी चिकित्सा पद्धति में शामिल करते हैं। वे पद्धतियाँ हैं—होम्योपैथी, यूनानी, यूरोपीय पद्धति या एलोपैथी।

एलोपैथी को छोड़कर अन्य पद्धतियों की व्याख्याएँ लगभग एक सी हैं। लेकिन इसकी अपनी अलग ही मान्यता है। एलोपैथी आधुनिक विज्ञान की देन है जो कि विषाणु जीवाणु आदि के संक्रमण के सिद्धान्त पर आधारित है। अन्य पद्धति वाले इस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त इधर कुछ दिनों से और भी पद्धतियां व्यवहार में आयी हैं

जैसे—आस्टियोपैथी, एक्यूपंक्चर, साइकोथिरेपी (मानस चिकित्सा) आदि। लेकिन ये अभी इतनी लोकप्रिय नहीं हुई हैं। कुछ खास पद्धतियों की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

प्राकृतिक चिकित्सा

सच पूछा जाय तो प्राकृतिक चिकित्सा (नेचर क्योर) को चिकित्सा कहना ही अनुचित है क्योंकि इस पद्धति में 'औषधि' प्रयोग तो होता ही नहीं तो फिर कैसी चिकित्सा और काहे की चिकित्सा ?

प्राकृतिक चिकित्सा का मूल स्वर है—प्रकृति की शरण में जाओ। प्रकृति ने जो चीजें तुम्हें प्रदान की हैं उन्हीं का और उसी रूप में उपयोग करो और स्वस्थ, सुन्दर एवं निरोगी काया प्राप्त कर लम्बी वय के भागीदार बनो।

वैसे प्राकृतिक चिकित्सा कोई नई प्रणाली नहीं है। इसका जन्म लगभग 470-377 ई० पू० ही हो चुका था। भ्रमवश लोग हिपोक्रेटीज को 'औषधि चिकित्सा प्रणाली' का जनक मानते हैं। हाँ! आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व विंसेज प्रिस्निज (Vincenz Priesnitz) ने प्राकृतिक चिकित्सा का आन्दोलन चलाया था। उसके बाद में प्राकृतिक चिकित्सा के मर्मज्ञों, एवं उन्नायकों में जे० स्क्रॉथ, फादर क्नाइप, आरनॉल्ड रिक्ली, हेनरिच लेमैन, लूई कूने, एडॉल्फ जस्ट, जेम्स सी० जैक्सन, रसेल टी० ट्राल, जे० एच० केलाग, बरनन मैकफेडेन आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

एडोल्फ जस्ट, जिनकी पुस्तक को पढ़कर गाँधी जी भी प्राकृतिक चिकित्सा के भक्त बन गये थे वे अपनी पुस्तक 'रिटर्न टू नेचर' में प्राकृतिक चिकित्सा के बारे में लिखते हैं—

'कैसा भी रोग क्यों न हो मनुष्य उससे मुक्त होने का अधिकारी है, अपनी नियत प्रसन्नता प्राप्त करने का हकदार है। एकमात्र मार्ग उसका यही है कि वह ईमानदारी से प्रकृति की शरण में जाय। उसे प्रकृति के बोलों पर चलने की हर तरह से कोशिश करनी चाहिए। भोजन उसे वही ग्रहण करना चाहिए जो प्रकृति माता ने उसके लिए अपने हाथों पकाया है। उसे जल, वायु, आकाश, पृथ्वी और प्रकाश से प्राकृतिक संबंध जोड़ना चाहिए। प्रकृति की भाषा अत्यंत सुबोध है, वह अपने आदेश सब प्राणियों, पशुओं और मनुष्य दोनों को बहुत स्पष्ट रूप में देती है।

(**'प्रकृति की ओर' नाम से** 'Return to nature' **का हिन्दी अनुवाद, आरोग्य मन्दिर प्रकाशन, गोरखपुर, पृ० 1971, संस्करण**)

बापू ने सन् 1901 के लगभग प्राकृतिक चिकित्सा सम्बंधी दो पुस्तकें—एक तो उपर्युक्त एडोल्फ जस्ट की 'Return to nature' तथा लूई कूने की 'New Science of Healing' पढ़ी। कहने की आवश्यकता नहीं वे उससे इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा को अपने जीवन में उतार लिया और जगह-जगह अपने लेखों, भाषणों में उल्लेख, प्रचार किया। अवलोकनार्थ—

कूने, जस्ट, फादर क्नाइप वगैरा लोगों ने जो भी लिखा है सबके लिए है। वह सीधा है, उसे जानना हमारा धर्म है।

—**हरिजन सेवक**, 2|6|1946

गाँधी जी प्राकृतिक चिकित्सा के हिमायती तो थे ही लेकिन उन्होंने अपनी चिकित्सा में तब भी चिकित्सा के साथ मन की चिकित्सा भी जोड़ दिया था। इसी नाते उन्होंने 'राम-नाम' की उपासना को भी प्राकृतिक चिकित्सा का अंग माना है। वस्तुतः गाँधी जी की प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में दैहिक स्वास्थ्य के साथ आध्यात्मिक स्वास्थ्योत्थान का भी समावेश था।

बापू ने 'हरिजन सेवक' में लिखा है—'सच्ची प्राकृतिक चिकित्सा राम का नाम ही है। इससे रामबाण शब्द निकला है। रामनाम—रामबाण

इलाज है। इसके बिना सब निरर्थक रामनाम में आन्तरिक श्रद्धा होना जरूरी है और श्रद्धा के साथ-साथ प्रयत्न भी होना चाहिए। यह कैसे हो, यह जानना चाहें तो जिन पाँच तत्वों से मनुष्य शरीर बना हुआ है, उसमें से मनुष्य इलाज ढूँढ़ें। ये पाँच तत्व पृथ्वी, पानी तेज, वायु एवं आकाश हैं। इन पाँच तत्वों में से जो उपचार मिल सके, वही करना चाहिए। उसी के साथ राम नाम भी चालू रहे।'

मानसिक स्वास्थ्य के बापू प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है। निर्विकारी को तो रोग हो ही नहीं सकता।' अतः मानसिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए रामनाम की उपासना पर बल देते हुए बापू लिखते हैं—

'प्राकृतिक उपचार का अर्थ है—ऐसा उपचार जो मनुष्य के योग्य हो, मनुष्य यानी मनुष्य मात्र के लिए। मनुष्य में मनुष्य का शरीर तो है ही, लेकिन उसमें मन और आत्मा भी है। इसीलिए सच्ची प्रकृति चिकित्सा तो रामनाम ही है। मनुष्य के लिए प्राकृतिक ने इसी को योग्य माना है। कोई भी व्याधि हो, यदि मनुष्य हृदय से राम नाम ले तो उसकी व्याधि नष्ट हो जानी चाहिए।

उपर्युक्त भावों से आभास मिलता है कि बापू ने आध्यात्मिक विकास को प्राथमिकता दी थी। उन्होंने तो एक बार यहाँ तक कह डाला था, मैं ऐसी प्राकृतिक चिकित्सा की बात नहीं कर रहा हूँ जो कि भौतिकवाद की बुनियाद पर खड़ी है। मेरी प्राकृतिक चिकित्सा की बुनियाद तो आध्यात्मिक जीवन का आश्रय जीवन है।'

दरअसल बापू तो बड़ी ऊँची आध्यात्मिक पहुँच के व्यक्ति थे, वे सचमुच महामानव थे। अतः यदि उस स्तर पर हम प्राकृतिक चिकित्सा को न उपयोगी बना सकें तो कम से कम उस रूप में हमें प्राकृतिक चिकित्सा का पालन करना चाहिए तो व्यावहारिक हो।

हर चिकित्सा पद्धति की रोगों के सम्बन्ध में

म्युजिक थेरापी

'म्युज़िक थेरापी' अथवा संगीत द्वारा उपचार का प्रयोग बराबर बढ़ रहा है। इसके द्वारा अलगाव का निस्पंद, निष्क्रिय जीवन जीनेवाले मरीजों को उनके स्वयं आरोपित खोल से बाहर लाने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे मरीज़ होते हैं जो किसी से बोलते नहीं, बहुत कम हिलते डुलते हैं, हर समय गुमसुम और रहस्यपूर्ण उदासी ओढ़े रहते हैं, उनके हाथ-पैर ठीक से काम नहीं करते और बाहरी लोगों से वे बचने की कोशिश करते हैं। इन्हीं सही रास्ते पर लाने के लिये संगीत का सहारा लिया जाता है। संगीत पर नर्स, मेडिकल अफसर तथा रोगी कहीं छाया में बैठ जाते हैं और संगीत छेड़ा जाता है। संगीत की प्रतिक्रिया से पहले रोगियों के सर झूमते हैं फिर बाद में हाथ-पैर का संचालन भी होने लगता है। संगीत के प्रभाव में एक बार सामान्य व्यक्ति की तरह व्यवहार करने के बाद उनको बहुत सी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और रोगी सहज हो जाते हैं।

अपनी मौलिक व्याख्याएँ हैं। प्राकृतिक चिकित्सालय, हैदराबाद के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० वी० वेंकटराव ने रोगों की उत्पत्ति के प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार दी है।

'...प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धान्त के अनुसार हमारे आहार-विहार की गलतियों के कारण ही शरीर में अन्य पदार्थ या विकार जमा हो जाते हैं। इस विकार में सड़न पैदा होकर जो विष पैदा होता है, वह खून के साथ अलग-अलग अन्तर-अवयवों पर आक्रमण करता है, तब अन्तर-अवयव से सम्बन्धित बीमारियाँ होती हैं। इन बीमारियों का मूल कारण शरीर के अन्दर विकार होना ही है। इस विकार की उत्पत्ति हम रोक दें, तो शरीर जो सजीव यंत्र है, पुराने विकार का वहिष्करण करने की स्वयं क्षमता रखता है। किसी कारण शरीर इस वहिष्करण क्रिया में असमर्थ या मन्द रहता हो, तो पंच तत्व की सहायता से वहिष्करण अवयव की मदद करना ही प्राकृतिक चिकित्सा है।'

(भारतीय प्राकृतिक विद्यापीठ स्मारिका, कलकत्ता, पृ० 9-10, 1968)।

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में औषधि विधान नहीं है। केवल प्रकृति प्रदत्त चीजों यथा धूप, जल, वायु, मिट्टी, फलादि से ही चिकित्सा की जाती है। आज हमारे यहाँ तमाम प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र योग्य एवं अनुभवी चिकित्सकों की देखरेख में चल रहे हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में उपवास, जल वाष्प स्नान, कटि स्नान, धूप स्नान, मिट्टी लेपन, आहार-फला चिकित्सा आदि अंग ही इन केन्द्रों में प्रयुक्त होते हैं जो हमें प्रकृति के करीब लाते हैं। या यों कहिए हमें जीवन जीने के सही दृष्टिकोण का इनसे परिचय होता है। यदि हम उसे अपने जीवन में उतार लें तो उसे हमें जो आनन्दानुभूति मिलेगी, वही वर्णनातीत नहीं, केवल अनुभव योग्य है।

आयुर्वेद एवं सिद्ध चिकित्सा—प्राकृतिक चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों में पथ्यापथ्य का भी विधान है।

आयुर्वेद अति प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति है जिस पर हम भारतीयों को गर्व है। आधुनिकतम चिकित्सा पद्धति में याने एलोपैथी शल्य चिकित्सा जैसी युक्तियाँ, जो आज व्यवहृत होती हैं, आयुर्वेद में उनका भी उल्लेख है।

5वीं-11वीं शताब्दी को आयुर्वेद का स्वर्णयुग कहा जाता है क्योंकि इस समय आयुर्वेद चिकित्सा अपने चमोत्कर्ष पर थी जिसने विदेशियों का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

आयुर्वेद चिकित्सा का एक अंश सिद्ध भी है। दोनों में बहुत हद तक समानताएँ हैं, कुछ भिन्नताओं को छोड़कर। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहाँ प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वानस्पतिक औषधियों का वर्णन है वहीं प्राचीन सिद्ध ग्रन्थों में धातु और खनिजों पर जोर दिया गया है। यह बात और है कि दोनों में उपचार का योग है।

आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ है—'आयु का विज्ञान' अर्थात् वह विज्ञान जो सुखी, स्वस्थ एवं निरोगी काया युक्त दीर्घ जीवन प्राप्ति में सहायक हो, आयुर्वेद है।

पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्रह्मा ने रोगों (वेदना) का नाश और स्वास्थ्य की रक्षा के लिए एक लाख श्लोकों एवं एक हजार अध्यायों में जिस ज्ञान और विज्ञान को कहा, आयुर्वेद है।

आठ अंगों यथा—शल्य, शालाका, काय चिकित्सा, भूत विद्या, कौमारभृत्य, अगद तन्त्र, रसायन तन्त्र और बाजिकरण तन्त्र से युक्त आयुर्वेद को अष्टांगायुर्वेद कहते हैं।

जहाँ आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का उद्भव ब्रह्मा, धन्वन्तरि या अश्विनिकुमारों को है वहीं सिद्ध चिकित्सा के उद्भव का श्रेय क्रमश: शंकर, पार्वती एवं नन्दकेश्वर को दिया जाता है। लोगों

का ऐसा विश्वास है कि शिव ने सर्वप्रथम यह सीख पार्वती को दिया, फिर नन्दी को। क्रमशः भिन्न-भिन्न सिद्ध पुरुषों तथा ऋषियों को यह ज्ञान मिला। दक्षिण में सिद्ध चिकित्सा की बड़ी महत्ता है। तामिलनाडु में 18 सिद्ध हुए हैं।

सिद्ध वह होता है जो अपनी औषधियों से या तप के बल से कुछ अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। यथा—

ज्ञानमौषधि, मन्त्रः तपसमाधि जहाः सिद्धः

पतञ्जलि सूत्र—अगस्त्य, कपिल, नागार्जुन आदि रसायनाचार्यों का सम्बन्ध सिद्ध से था। आज भी सिद्ध चिकित्सा में खनिज तथा धातुओं के साथ जड़ी-बूटियों को मिलाकर पथ्य तैयार किया जाता है। धातुओं के भस्म तैयार किए जाते हैं। पारद को शिव का वीर्य तथा गन्धक को पार्वती का रज समझ कर ये धातुएँ पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होती हैं।

आज सिद्ध चिकित्सा आयुर्वेद में शामिल हो गई है। बहुत सी आयुर्वेदीय औषधियों में भस्म आदि प्रयुक्त होते हैं।

आयुर्वेद साहित्य बहुत ही धनी है। ऋग्वेद, अथर्ववेद के अतिरिक्त सुश्रुत, चरक, वाग्भट्ट की संहिताएँ, अष्टांग संग्रह आदि प्राचीन ग्रंथ अब भी उपलब्ध हैं जिनमें तमाम औषधियों, भेषज का उल्लेख है।

हर ग्रन्थ में आयुर्वेद चिकित्सा के मुख्य दो उद्देश्यों—स्वास्थ्य रक्षा एवं रोग मुक्ति का वर्णन अवश्य मिलेगा।

देश, काल, परिस्थिति विशेष में खान-पान, दैनिक क्रिया कलापों में कैसा आचरण किया, इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। निर्देशित विषयों में अनियमितता पर उनका उलंघन ही रोग का कारण बताया गया है और उन परिस्थिति विशेष में औषधि प्रयोग से स्वास्थ्य लाभ का भी विधान वर्णित है। यथा—

नित्यं हिताहार विहार सेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान
आप्तोरसेवी च भवत्यरोगः।।

अर्थात—'प्रतिदिन हितकर भोजन और विहार करने वाला, तथ्य को जानकर और समझ कर काम करने वाला, विषय वासना में अधिक लीन न रहने वाला, त्याग की भावना से काम करने वाला, समता की दृष्टि रखने वाला और विज्ञजनों की संगति करने वाला कभी रोग से ग्रसित ही नहीं होता।'

उपर्युक्त विधान में गड़बड़ी ही रोग का कारण है। चिकित्सा करते समय भी इन्हीं बातों का ध्यान रखते हैं। थिरुवल्लुर ने इस संदर्भ में कहा है—

'रोगी का इलाज करते समय रोगी के शरीर के तत्वों, देश, काल, स्वास्थ्य की दशा, वात-दोष, प्रकृति (स्वभाव), आयु, प्रभाव और भोजन आदि पर विचार करना चाहिये।

अन्य प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों का भी यही मूल स्वर है।

होम्योपैथी—यूनानी, एलोपैथी पद्धतियों की भाँति होम्योपैथी का प्रवेश भी हमारे यहाँ बाहर से हुआ लेकिन धीरे-धीरे वह काफी लोकप्रिय हो गई और आज तो आपको इस पद्धति के चिकित्सक भी किसी 'पैथी' से कम नहीं मिलेंगे।

सर्वप्रथम 1839 में इस पद्धति के चिकित्सक डा० होनिग्बेरगर जर्मनी से महाराजा रणजीत सिंह की चिकित्सा करने भारत आए। महाराजा बहुत गंभीर रूप बीमार थे। इनकी चिकित्सा से उन्हें लाभ हुआ और फिर तो दरबार में विधिवत समारोह का आयोजन कर डा० होनिग्बेरगर को सम्मानित किया गया और वे रातोंरात मशहूर हो गए। वहां से वे कलकत्ता चले गए और 1860 तक प्रैक्टिस की। फिर धीरे-धीरे उनकी पद्धति को लोकप्रियता मिलती गई।

इस पद्धति के जनक जर्मनी के डा० हेनिमैन थे जिन्होंने 'सिमिलिया सिमलिक्स क्यूरेन्टर' अर्थात् 'समान, समान की चिकित्सा है' जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर होम्योपैथी को जन्म दिया।

समान, समान की चिकित्सा है, यानी समान तत्व, समान तत्वों की चिकित्सा करते हैं। यही 'होम्यो' चिकित्सा पद्धति का मूल स्वर है।

ऐसा समझा जाता है कि समान द्रव्य, गुण तथा कर्म समान द्रव्य, गुण तथा कर्म को बढ़ाने वाले होते हैं। लेकिन डा० हेनिमैन के अनुसार यदि सूक्ष्म रूप से समानता की शक्ति बढ़ा दी जाय तो वह समानता अपने ही दोषों को दूर करने में सक्षम हो जाती है।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। यदि रोगोत्पादक कारणों को होम्योपैथिक मात्रा (सूक्ष्मतम) में बदल दिया जाए यदि रोग के लक्षणों की गम्भीरता या शक्ति के अनुसार उतनी ही सूक्ष्मतम तथा शक्तिशाली रोगोत्पादक क्षरणकी औषधि दी जाए तो लाभकारी सिद्ध होगी। यही होमियो चिकित्सा का सार है।

यूनानी (तिब्ब)—यों तो 'यूनानी' शब्द के अर्थ होता है 'ग्रीक' लेकिन यह चिकित्सा पद्धति अरब की देन है। हालाँकि इसमें ग्रीक और भारतीय चिकित्सा साहित्य का अधिकतर अरबी में अनुवाद करके समावेश किया हुआ है।

मुसलिम शासकों के भारत में आगमन के साथ ही इस पद्धति का हमारे यहाँ श्रीगणेश हुआ और मुगल काल (सन् 1101-1707) में यह खूब फली फूली। इसके नाते आयुर्वेद का कुछ जोर ठंडा पड़ता गया।

चिकित्सा की अरबी पद्धतियाँ तो ग्रीक एवं भारतीय पद्धति से काफी प्रभावित थीं लेकिन अपने मूल नाम यानी 'ग्रीक पद्धति' के बदले यहाँ यह यूनानी पद्धति से विख्यात हुई।

यूनानी पद्धति अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल (1290-1321) में भारतीय चिकित्सा का अंग बनना प्रारम्भ हुई थी। अलाउद्दीन खिलजी ने समान संस्थाएँ योग्य हकीमों के निर्देशन में खोल रखा था। उसके बाद के शासकों ने भी इसे आश्रय दिया लेकिन जहाँगीर के बाद इसका बाजार ठप्प होता गया क्योंकि उस समय यूरोपीय चिकित्सकों का हमारे यहाँ आना प्रारम्भ हो गया था।

यूनानी पद्धति के दो भाग हैं—

1. **कुल्लियात**—जिसमें आधारभूत सिद्धान्त वर्जित हैं तथा 2—**मुआलिजात** जिसमें चिकित्सा विधि का वर्णन है।

कुल्लियात—शरीर को नियमित रूप से चलाने के लिए 7 मुख्य सिद्धान्त (यथा—अरकात, मिजाज, अखलात, आजा, रूह, खुवा, एवं अफ्फाल) हैं। इनके क्रम में गड़बड़ी या एक की भी त्रुटि प्राण, गति, क्रियाशीलता तथा सन्तुलन में खतरा पैदा कर सकती है।

मुआलिजात— विश्व की प्रत्येक वस्तु के विरुद्ध गुण और कर्म के सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सा की जाती है। इसमें आयुर्वेद की भाँति जड़ी बूटियाँ दी जाती हैं तथा अवलेह, रसायन, शर्बत, माजून, खमीर, तोप, मलहम आदि का भी विधान हैं।

क्या सभी पद्धतियों का मूल स्वर एक ही है?—उपर्युक्त विवरणों से निष्कर्ष निकलता है कि जैविक क्रियाओं के नियमन में त्रुटि होने से नाना व्याधियाँ आ घेरती हैं। हर पद्धति की व्याख्याएँ अपने ढंग की हैं यानी उपर्युक्त बात हर पद्धति अलग-अलग से कहती है।

यहाँ जान-बूझ कर एलोपैथी को नहीं लिया गया है क्योंकि उसकी व्याख्या उपर्युक्त सभी पद्धतियों से एकदम भिन्न है हालांकि इसकी भी चिकित्सा वही काम करती है जो अन्य पद्धतियाँ। फर्क इतना है कि अपनी मान्यताएँ भिन्न हैं।

राहें अलग हों लेकिन सबों की मंजिल एक है। और मंजिल है—शारीरिक व्याधियों से मुक्ति दिलाना। सभी पद्धतियों की चिकित्सा विधियाँ किसी न किसी रूप में हमें रोगों से त्राण दिलाती हैं और वास्तव में यही 'चिकित्सा' का उद्देश्य भी है।

● ●

कैंसर के उपचार में भारतीय जड़ी बूटियाँ

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

लगभग 50 वर्ष पूर्व-कोपेनहैगेन विश्व-विद्यालय के चिकित्सा-भवन का एक दृश्य। श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ हाल। कारण? उस समय के महान वैज्ञानिक प्रोफेसर फिबिजर अपने भाषण द्वारा कैंसर की उत्पत्ति का कारण बता रहे हैं। श्रोता सांस रोके प्रोफेसर के विद्वत्ता-पूर्ण भाषण को सुन रहे हैं। इन्हीं श्रोताओं में कुछ चिकित्सक भी हैं जो अपने समस्त ज्ञान के बावजूद भी कैंसर के रोगियों को नहीं बचा सके हैं। उनके नेत्रों से प्रसन्नता के आंसू निकल आये। इसी वर्ष मानवता की सेवा और कैंसर जैसे घातक रोग पर अनुसंधान कार्य के लिए प्रोफेसर फिबिजर को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। प्रोफेसर की खोज का परिणाम? क्या कैन्सर पर विजय मिल गई? नहीं। पुरस्कार प्राप्ति के तीन वर्षों बाद प्रोफेसर फिबिजर की उदर-कैंसर से मृत्यु हो गयी।

यूफार्बिया गार्गिया की एक टहनी

एक दूसरा दृश्य 1976 का। अमेरिका का एक अस्पताल। अस्पताल में कैंसर ग्रस्त मूत्राशय का एक आपरेशन। रोगी हैं अमेरिका के भूतपूर्व उप-राष्ट्रपति ह्यूबर्ट हंफ्री। ऑपरेशन सफल हुआ। ऑपरेशन में डा० एफ व्हिटमूर को शत-प्रतिशत् सफलता मिली। अब हंफ्री महोदय चाहें तो फिर से राजनीति में सक्रिय भाग ले सकते हैं। किन्तु जब हमारा ध्यान खर्च के आंकड़ों पर जाता है तो केवल निराशा ही हाथ लगती है। ऑपरेशन के बाद हंफ्री महोदय को लगभग तीन हफ्ते अस्पताल में रहना पड़ा और प्रतिदिन का व्यय लगभग 350 डालर था। अमेरिका जैसे विकसित देश में भी कितने लोग इतनी खर्चीली चिकित्सा के अधिकारी हैं? फिर अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका के गरीब लोगों को इस प्रकार की चिकित्सा उपलब्ध हो सकती है या नहीं इसकी केवल कल्पना की जा सकती है।

भारत जैसे गरीब देश में जहाँ कुल आबादी के अस्सी प्रतिशत लोग गांवों में रहते हैं, उनके लिए कैंसर जैसे घातक रोग का निदान जड़ी-बूटियों में ही ढूंढ़ना होगा।

प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान अपनी चरम सीमा **पर** था। रोगों के निदान के लिये भारतीय अनेकानेक जड़ी-बूटियों का उपयोग जानते थे। ऋग्वेद में 67, यजुर्वेद में 81, अथर्ववेद में 289, ब्राह्मणों 129 और उपनिषदों में 31 ऐसी वनस्पतियों का वर्णन है जो औषधि के रूप में प्रयुक्त होती रही हैं।

भारत में हिमालय की घाटियों में कैंसर-नाशी जड़ी-बूटियों का भण्डार है। हमारे चारों तरफ पाये जाने वाले पौधों में से बहुत से ऐसे हैं, जिनमें कैंसर नाशी गुण विद्यमान हैं। अब तक 1000 से अधिक जड़ी-बूटियों को कैंसर निरोधक तत्व की खोज के लिए जाँचा-परखा गया है। इनमें 50 के लगभग ऐसे हैं जिनसे भविष्य में बड़ी आशाएँ हैं।

रत्नजोत, ऊँट कांटा, ब्राह्मी, चिरौंजी, गुआकोली, केसरिया वरसा, जंगली तंबाकू, गदर तंबाकू, सेलाजिनेला पेंटागुना, पौलीगोनम रीकंवेंस, इपोंपयाल्यारी, जंगली प्याज, कारु तुरई, सूरन, खिरनी, शरीफा, आक, मदार, देवदार, कोष्ठा, अयार, पंगरू, सुमलू, लोड़, रायतुंग गरारी खरसू, सल्पन, चिकरासी, चीत, भिलावा खाज, सिओरा, चिल्ली और इल्लर विल्लर पर काफी काम हो रहा है।

फोडोफाइलम

हिमालय में पाई गई पोडोफाइलम नामक वनस्पति त्वचा कैंसर के उपचार में उपयोगी पायी गयी है। पोडोफाइलम इमोडी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसे हिन्दी में काकड़ा या बाकड़ा, बंगला में पापरा या पापरी और संस्कृत में लघुपत्र कहते हैं। यह बरबेरिडेसी कुल का पौधा है।

थोड़े समय पूर्व भारतीय डाक्टर पी० एल० गर्ग ने इस बात का दावा किया है कि यूफारबिया गार्गिया, जो यूफारबियेसी कुल का पौधा है, में कैंसर और गैंगरीन रोगों को दूर करने की क्षमता है। डॉ० गर्ग के अनुसार कैंसर की जड़ सिफलिस है। इस वनस्पति से प्राप्त रसायन के उचित मात्रा में उपयोग से कैंसर की पीड़ा समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त यूफारबिया की कम से कम ऐसी दस स्पेशीज़ हैं जिनमें कैंसर निरोधकता पायी जाती है।

नयनतारा नामक वनस्पति में रक्त कैन्सर या ल्यूकीमिया के निदान के गुण पाये जाते हैं। इस पौधे से प्राप्त विनक्रिस्टिन और विनब्लास्टिन नामक रसायन चिकित्सक प्रयोग में ला रहे हैं। बंगला देश के वैज्ञानिकों ने भी अभी हाल ही में नयनतारा के कैंसरनाशी गुण की पुष्टि की है। रक्त कैंसर के उपचार के लिए उपयोगी एक और पौधे का नाम अभी थोड़े दिन पहले प्रकाश में आया है। वियतनाम में पाये जाने वाले इस पौधे का नाम विनकैरैस्का है। यह नारियल के कुल का है।

रूस में वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को ढूँढ़ लिया है कि ताजी चाय की पत्तियों में नींबू की अपेक्षा चार गुना अधिक विटामिन-सी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त विटामिन-पी भी मिलता है। संभवतः चाय में पाये जाने वाले उन सभी रासायनिक तत्वों के सामूहिक प्रभाव के कारण चाय की पत्तियों में कैंसर निरोधकता पायी जाती है।

भारत में 'इण्डियन कैंसर रिसर्च सेन्टर' में करंज के बीजों और हिपोफी सेलिसीफोलिया नामक वृक्ष की छाल की अर्क को कैंसरनाशी गुण के लिये परखा जा रहा है।

आज जिस वनस्पति ने सारे विश्व का ध्यान आकर्षित कर लिया है वह भारत में बहुतायत में पायी जाने वाली वनस्पति सदाबहार है। इसका वानस्पतिक नाम कैथेरैंथस रोजिअस है। यह पौधा जमीन से सीधा ऊपर की ओर उगता है और 18 से 20 इंच ऊँचा होता है। यह बहुवर्षी है। इसमें सफेद या हल्के बैंगनी फूल लगभग सारे वर्ष खिलते हैं। इसी कारण इसका नाम सदाबहार पड़ा। यह एपोसायनेसी कुल का है और जादुई भारतीय पौधा, सर्पगंधा, का निकट संबंधी है। बाग-बगीचों में तो बहुत पौधे खिलते हैं पर पुरानी कब्रों पर अपने आप खिलने वाला यह पौधा कुछ अजीब ही है। इसी कारण इसे 'ग्रेव यार्ड फ्लावर' कहते हैं।

इस पौधे का वर्णन दक्षिण अफ्रीका आस्ट्रेलिया, दक्षिण वियतनाम, फिलीपीन और लन्दन के लोक-गीतों में मिलता है। इसकी पत्तियों की चाय मधुमेह (डायबेटीज) के रोगियों को पिलायी जाती थी।

इस पौधे में कैंसर निरोधी गुण के खोज की कहानी अपने आप में बड़ी दिलचस्प है। 1949 में लन्दन के डा० नोबेल ने जमाइका के अपने एक मित्र से इस पाधे के मधुमेहनाशी गुण के विषय में सुना। उन्होंने इसकी थोड़ी पत्तियाँ जमाइका से मँगायीं और पत्ती के रस को खरगोशों को पिलाया। रोगी खरगोशों के मधुमेह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर रस को सूई द्वारा खरगोशों के शरीर में प्रविष्ट कराया। खरगोशों की मृत्यु हो गई और मृत्यु का कारण सूडोमानस बैक्टीरिया बताया गया जो उन स्थानों में बहुतायत से पाये जाते थे, जहां वे खरगोश रहते थे। होना तो यह चाहिए था कि यह प्रयोग बंद हो जाता किन्तु अनुसंधानकर्त्ता इस काम में लगे रहे और अंत में इस बात का पता लगाने में समर्थ हो गए कि सदाबहार में कैंसर निरोधी तत्व होते हैं। 1958 में डा० नोबेल के एक सहयोगी डा० बीयर ने विनकाल्यूकोब्लैस्टिन नामक रसायन खोज निकाला।

इस खबर से बेखबर अमेरिकी डा० स्वोवोदा ने 1957 में सदाबहार के रस से विनक्रिस्टिन नामक कैंसर निरोधक रसायन प्राप्त कर लिया। बाद में इस बात की पुष्टि हो गई कि बिनक्रिस्टिन से रक्त कैंसर और विनकाल्यूकोब्लास्टिन से हाजकिन रोग का उपचार सफलता पूर्वक कर सकते हैं।

भारत में सदाबहार से अब तक 125 एलकलॉयड प्राप्त किये जा चुके हैं। सदाबहार की 9 किलोग्राम सूखी पत्तियों से 150 से 220 ग्राम विनकाल्यूकोब्लास्टिन प्राप्त होता है। सदाबहार की पत्ती और जड़ विदेशों को भेजी जाती है। सूखी पत्ती 3 से 5 रुपया प्रति किलोग्राम और सूखी जड़ें 6 से 8 रुपया प्रति किलोग्राम मिलती
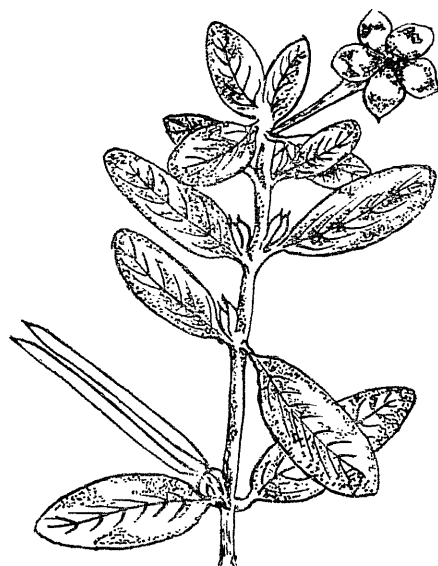
सदाबहार की एक पुष्पित टहनी

शेष पृष्ठ 67 पर

दिल का दौरा

नरेश चन्द्र 'पुष्प'

आजकल दिल का दौरा एक साधारण सी बात है। प्रायः सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति प्रातः अपने घर से भोजन करके बाहर निकला और रास्ते में जाने क्या हुआ कि वह गिर पड़ा और देखते ही देखते चल बसा। या अमुक व्यक्ति ने चाय का प्याला मुंह में लगाया ही था कि कप एकदम हाथों से छूट कर गिर पड़ा और आदमी एक ओर लुढ़क कर मर गया। इन दोनों ही घटनाओं में बताया जाता है कि ये दोनों ही मौतें दिल के दौरे के कारण हुईं।

यद्यपि हमारे देश में दिल के दौरे से मरने वालों की कमी नहीं है फिर भी अन्य देशों की अपेक्षा भारत में इनकी संख्या कम है। एक अनुमान के अनुसार केवल अमेरिका में ही प्रतिवर्ष पचास लाख व्यक्ति केवल दिल के दौरे के कारण मर जाया करते हैं। दिल का दौरा एक विश्वव्यापी रोग है और इसके रोगी संसार के सभी देशों में पाये जाते हैं। दिल के दौरे के अनेकों कारण हैं। इन कारणों को समझने के पूर्व यह आवश्यक है कि हृदय की संरचना और उसकी कार्य प्रणाली के बारे में कुछ जान लिया जाये।

हृदय की संरचना—हृदय हमारे शरीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, शक्तिशाली तथा चमत्कारी पम्प है। जीवन के आरम्भ से लेकर अंत तक इसे कार्य करना पड़ता है। इसके एक पल भी विश्राम करने का अर्थ है चिरनिद्रा अर्थात मृत्यु।

दिल यानि हृदय साहित्य या सामान्य भाषा में चाहे जो कुछ भी हो लेकिन वैज्ञानिक सत्य यही है कि यह हमारे शरीर रूपी कारखाने का पंपिंग स्टेशन है। यह नाशपाती की आकृति का लगभग बंद मुट्ठी के आकार का एक खोखला मांसपेशीय अंग है। इसका औसत वजन पुरुषों में लगभग 330 ग्राम तथा वयस्क युवती में लगभग 260 ग्राम होता है। यह दोनों फेफड़ों के मध्य कुछ बाईं ओर स्थित होता है।

संपूर्ण हृदय एक दुहरी पारदर्शी झिल्ली की थैली में बंद रहती है जिसे हृदयावरण (पेरीकार्डियम) कहते हैं। यह थैली देहगुहा का ही एक भाग होती है। हृदयावरण की भीतरी दीवार, जो हृदय से सटी रहती है, विसरल स्तर तथा द्वितीय बाहरी दीवार पेराइटल स्तर कहलाती है। इन दोनों स्तरों के मध्य पेरीकार्डियम की गुहा में एक लसदार द्रव भरा रहता है जिसे पेरीकार्डियल द्रव कहते हैं। यह द्रव हृदय को सदा भीगा रखता है तथा हृदय को फैलने व सिकुड़ने के समय रगड़ से बचाता है।

मनुष्य का हृदय चार कमरों का बना होता है। दो कक्ष (कमरे) ऊपर तथा दो कक्ष नीचे होते हैं। ऊपर वाले दोनों कक्षों को अलिन्द (ऑरिकिल) तथा निचले दोनों कक्षों को निलय (वेन्ट्रिकल) कहते हैं। दोनों अगले कक्ष अलिन्द एक पतली पट्टी द्वारा एक दूसरे से अलग रहते हैं। इस पट्टी को आंतर अलिंद पट्टी कहते हैं। इस प्रकार अलिंद इस पट्टी के द्वारा बायें अलिंद और दायें अलिंद में बँटा होता है। ठीक इसी प्रकार निलय भी एक पट्टी, आंतर निलय पट्टी द्वारा दो भागों, बायें निलय तथा दायें निलय में बँटा होता है। अलिंदों को पृथक करने वाली

पटटी आंतर अलिंद पट्टी, आंतर निलय पट्टी की अपेक्षा कुछ मोटी होती है। ये दोनों ही पट्टियाँ अलिंद तथा निलय को पूरी तरह इस प्रकार पृथक करती हैं कि इनमें परस्पर कोई संबंध नहीं रह जाता तथा प्रत्येक कक्ष पूर्णतया स्वतंत्र होता है। किंतु बायें अलिंद और बायें निलय तथा दाहिने अलिंद और दाहिने निलय में पूरा संबंध होता है। उपरोक्त दो पट्टियों के अतिरिक्त दो अन्य पट्टियाँ और भी पायी जाती हैं। प्रथम पट्टी दाहिने अलिंद तथा दाहिने निलय के मध्य होती है तथा द्वितीय पट्टी बायें अलिंद और बायें निलय के मध्य होती है। लेकिन ये पट्टियाँ आंतर अलिंद पट्टी और आंतर निलय पट्टी की भांति पूर्ण नहीं होती बल्कि इनमें छिद्र होते हैं। इन छिद्रों के माध्यम से ही दाहिना अलिंद दाहिने निलय में तथा बाँयां निलय बांयें निलय में में खुलता है।

दोनों ओर के अलिंद तथा निलय के बीच एक-एक कपाट होता है। दायें अलिंद तथा दायें निलय के बीच पाया जाने वाला कपाट तीन वलन (फ्लेप) वाला होता है। अतः इसे त्रिवलनी कहते हैं। इसी प्रकार बाँयें अलिंद तथा बाँयें निलय के बीच एक कपाट होता है। यह कपाट दो वलन का बना होता है जिसके कारण इसे द्विवलनी कहते हैं। इसे साइट्रल वाल्व भी कहा जाता है। त्रिवलनी कपाट द्वारा रक्त दाहिने अलिंद से दाहिने निलय में जाता है और द्विवलनी कपाट द्वारा रक्त बांयें अलिंद से बांयें निलय में जाता है।

दाहिने निलय में एक और कपाट होता है जो फुफफुसीय धमनी में जाने वाले रक्त का नियंत्रण करता है। इसी प्रकार बाँयें निलय में भी एक कपाट होता है जो महाधमनी में जाने वाले रक्त का नियंत्रण करता है। ये कपाट रक्त को एक ही दिशा में बहने देते हैं, उसके विपरीत दिशा में नहीं।

सम्बद्ध रक्तवाहनियां—हृदय के दायें अलिंद से दो बड़ी रक्त वाहनियां शरीर के ऊपरी तथा निचले भागों से अशुद्ध रक्त लाती हैं। इन्हें क्रमशः उच्चमहाशिरा (सुपीरियर वेनाकेग) तथा निम्न महाशिरा (इन्फीरियर वेनाकेग) कहते हैं। दायें निलय से एक बड़ी वाहिनी निकलती है जो आगे दो भागों में विभक्त होकर फेफड़ों में जाती है। इन्हें फुफफुसीय धमनियाँ (पल्मोनरी आरटरीज) कहते हैं। फुफ्फुसों में शुद्ध हुये रक्त को बायें अलिंद में लाने वाली वाहिनियां फुफ्फुसीय शिरायें कहलाती हैं। शुद्ध रक्त को बायें निलय से संपूर्ण शरीर में ले जाने वाली वाहिका को महाधमनी कहते हैं। 2·5 से. मी. सेमी मोटी यह प्रमुख धमनी हृदय से निकल कर एक मेहराब बनाती है। इसमें से सबसे पहले दो धमनियां निकलती हैं जो अनेक शाखाओं में विभाजित होकर हृदय को मांसपेशी को रक्त प्रदान करती हैं। इन्हें हृद-धमनियाँ कहते हैं। ये धमनियाँ हृदय को मुकुट (कोरोना) की भाँति घेरे रहती हैं। इसीलिये इन्हें कोरोनरी धमनियाँ भी कहते हैं। महाधमनी के मेहराब के शिखर से तीन धमनियाँ शरीर के ऊपरी भागों—सिर, गर्दन, वक्ष और हाथ को रक्त पहुँचाती हैं। महाधमनी के मेहराब का निचला भाग कशेरुक दण्ड के निकट होता हुआ उदर में पहुँचता है। जहाँ उसमें से शाखा-प्रशाखायें निकल कर शरीर के निचले भागों में रक्त पहुँचाती हैं।

हृदय की कार्यविधि—हमारा हृदय प्रत्येक धड़कन में एक बार सिकुड़ता है और फैलता है। सिकुड़ने की क्रिया को प्रकुंचन (सिस्टोल) तथा फैलने की क्रिया को अनुशिथिलन (डायस्टोल) कहते हैं। इन्हीं दो क्रियाओं के परिणाम स्वरूप शरीर में रक्त का संचलन होता है। जब हृदय फैलता है तो महाशिराओं से अशुद्ध रक्त दायें अलिंद में प्रवेश करता है। ठीक उसी समय फुफ्फुसों में शुद्ध हुआ रक्त फुफ्फुसीय शिराओं

द्वारा बायें अलिंद में प्रवेश करता है। अब दोनों ओर के अलिंदों तथा निलयों के बीच कपाट खुलते हैं और रक्त निलयों में जा पहुँचता है। जब ये रक्त से भर जाते हैं तब अलिंद सिकुड़ता है और उसका शेष रुधिर भी निलयों में पहुँच जाता है। यह प्रकुंचन क्रिया का आरम्भ है। तत्पश्चात निलय सिकुड़ते हैं और अलिंद निलय कपाट बंद हो जाते हैं। इसी प्रकार दोनों निलय कुछ क्षणों के लिये रक्त के शुद्ध कोष्ट बन जाते हैं। अन्ततः दोनों निलयों के दूसरे कपाट (फुफ्फुसीय धमनी कपाट और महाधमनी वाले कपाट) खुलते हैं। साथ ही साथ बायें निलय का रक्त महाधमनी में पहुँचता है और शरीर की यात्रा शुरू कर देता है। अब निलय फैलते हैं और अनुशिथिलन (डायेस्टोल) क्रिया होती है।

हृदय के इन दोनों क्रियाओं, प्रकुंचन तथा अनुशिथिलन के बीच जो क्षणिक अवकाश होता है वही एक प्रकार से दिल के विश्राम का समय है। इन क्रियाओं की जीवन भर पुनरावृत्ति होती रहती है।

अब हम अपनी पूर्व समस्या पर विचार करेंगे। मनुष्य के दिल के दौरे के अनेकों कारण हैं। इन कारणों में से कुछ प्रमुख कारणों की यहाँ पर चर्चा होगी।

कोरोनरी हृदय रोग—कोरोनरी हृदय रोग सबसे भयंकर हृदय रोग है। यह बुद्धिजीवियों तथा उच्च आर्थिक-सामाजिक स्तर के वर्गों को अपना शिकार बनाता है उस समय जब कि वे अपने उद्योग तथा व्यवसाय के कार्य-कलापों के शिखर पर होते हैं और जब उनके परिवारों तथा समाज को उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। इस समय भारत में प्रचलित हृदय रोगों में यह दूसरे नम्बर पर आता है किंतु पिछले तीन दशकों में यह रोग बड़ी तीव्रता से बढ़ता जा रहा है और कम उम्र वालों तथा निर्धन लोगों में भी फैल रहा है।

यह हृदय रोग उन व्यक्तियों को अधिक होता है जिनके वंश में दिल के दौरे या लकवे का इतिहास हो और उच्च रक्तदाब तथा मधुमेह से पीड़ित हों। बहुत अधिक बड़ी-सिगरेट पीने वालों में भी इसका खतरा दो-तीन गुना अधिक हो जाता है। मोटापा शारीरिक क्रिया हीनता और मानसिक तनाव से भी इसका खतरा बढ़ जाता है।

कोरोनरी हृदय रोग मूलतः रक्त वाहनियों और हृदय वाहनियों के सकरे हो जाने अथवा उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण होता है और अचानक सीने में दर्द, दिल का दौरा या मृत्यु के रूप में प्रकट होता है।

रक्तवाहनियों और हृदय वाहनियों का मार्ग मूलतः दो प्रकार से अवरुद्ध हो सकता है। कभी-कभी रक्त वाहनियों की भीतरी सतह पर रक्त जम जाता है जिससे रक्त वाहनियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी रक्त-वाहनियों में रक्त वसा (कोलेस्टेसल) जमा हो जाता है जिसमें रक्त वाहनियों और हृदय धमनियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

कभी-कभी हृदय धमनियों तथा अन्य रक्त-वाहनियों के भीतर रक्त जम जाता है जिसके कारण इनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और रक्त के परिवहन में बाधा उत्पन्न हो जाती है। हृदय धमनियों के अवरुद्ध हो जाने के कारण हृदय को रक्त न मिलने के कारण हृदय काम करना बन्द कर देता है। यदि हृदय धमनियों के गड़बड़ होने के कारण हृदय के समुचित मात्रा में रक्त नहीं मिल पाता तब हृदय स्वयम् समुचित मात्रा में रक्त प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस अवस्था में हृदय की पेशियों को अधिक मेहनत करनी पड़ती है अत सीने में दर्द होने लगता है। इससे मृत्यु की संभावना बढ़ जाती है। रक्त-वाहनियों में रक्त जमने के कारण जो अवरोध पैदा हो जाता है उसे थ्राम्बोसिस रोग कहते हैं।

दूसरे कारण में रक्त वाहनियों का मार्ग वसा (चर्बी) के जम जाने के कारण अवरुद्ध होता है। यह तभी होता है जब शरीर में वसा की मात्रा, आवश्यकता से अधिक हो जाता है। जिन मनुष्यों के शरीर के रक्त में 200 मि० ग्रा० प्रतिशत से अधिक रक्त वसा कोलेस्टेराल होता है उनमें उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिनमें यह कम प्राप्त होता है, हृदय रोगों के आक्रमण का खतरा बढ़ जाता है। वसा की अधिकता से कोलेस्टेराल की मात्रा शरीर में बढ़ जाती है। वैसे प्रत्येक मानव मे यह अल्प मात्रा में सदैव विद्यमान होती है। इसके दुष्प्रभाव से रक्त वाहनियों की भीतरी सतहें निर्बल पड़ जाती हैं। कोलेस्टेराल के अतिरिक्त अन्य वसायें भी रक्त-वाहनियों की भीतरी सतहों पर जमा हो जाती हैं जिसके कारण इनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इन तमाम अवस्थाओं में हृदय को आवश्यकतानुसार रक्त नहीं उपलब्ध हो पाता और मनुष्य को कोरोनरी हृदय रोग हो जाता है। रक्त वाहनियों में वसा के जमने के कारण जो हृदय रोग हो जाता है उसे एथिरो स्क्लेरोसिस रोग कहते हैं। कोलेस्टेरोल रक्त जमने की प्रक्रिया को भी प्रभावित करता है। यह प्रकृति की देन है कि हमारे शरीर में पाये जाने वाले रक्त में फाइब्रिन नामक रसायन पाया जाता है जो रक्त को नहीं जमने देता।

मनुष्य में कष्ट उस दशा में उत्पन्न होता है जब यह संतुलन बिगड़ जाता है। भोजन में भरपूर वसा लेने से तथा आवश्यकता से अधिक विश्राम करने से अथवा खाली बैठे रहने से रक्त वसा कोलेस्टेरोल की मात्रा बढ़ जाती है तथा वाहनियों में रक्त न जमने देने की रासायनिक प्रक्रिया (फाइब्रिनोलाइटिक एक्टीविटी) कम हो जाती है। इससे थ्रामबोसिस रोग उत्पन्न हो जाता है।

कपाटीय रोग—हृदय संरचना की चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि मानव हृदय में चार कपाट-मिट्रल कपाट, त्रिदल कपाट, महाचाप कपाट और फुफ्फुसीय कपाट पाये जाते हैं। कभी-कभी ये कपाट कुछ रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं जिनके कारण इन कपाटों से संबंधित छिद्र (ओपेनिंग) सकरे हो जाते हैं जिसके कारण रक्त के परिवहन में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। कपाटों से सम्बन्धित छिद्रों के सकरे हो जाने से को 'स्टेनोसिस' रोग कहा जाता है।

(क) द्विवलन स्टेनोसिस—जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है कि द्विवलन कपाट या मिट्रल कपाट कुछ रोगों के कारण असामान्य हो जाता है जिसके कारण बायें अलिंद और बायें निलय के बीच रक्त का संबंध स्थापित करने वाला छिद्र संकरा हो जाता है। छिद्र के सकरे हो जाने के कारण एक अवरोध पैदा हो जाता है। इस अवरोध के विरुद्ध हृदय को कुछ अधिक कार्य करना पड़ता है जिसके कारण हृदय को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। विलय की अपेक्षा अलिंद को अधिक कार्य करना पड़ता है क्योंकि अलिंद (स्वयम् में आया रक्त) निलय को भेजता है। सामान्य स्थिति में अलिंद में आया हुआ रक्त एक निश्चित समय और निश्चित गति से निलय में आता रहता है। लेकिन छिद्र के सकरे हो जाने के कारण असामान्य स्थिति पैदा हो जाती है जिसके कारण रक्त को अलिंद से निलय में जाने में अधिक समय लगता है तथा रक्त के आने की गति भी धीमी हो जाती है। इस दशा में वास्तव में रक्त के अलिंद से निष्कासन की अवधि बढ़ जाती है। इसके कारण हृदय की ध्वनि तीव्र तथा लम्बी अवधि वाली हो जाती है। जब छिद्र की गुहा संकरी हो जाती है तब रक्त के बहाव मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इससे यह भी संभव हो सकता है कि बांयें अलिंद में अधिक मात्रा में रक्त एकत्र हो जाये। इसके कारण फेफड़ों से बांयें अलिंद में रक्त बहाव में अवरोध पैदा हो जाता है। ठीक इसके विपरीत दाहिना निलय सामान्य स्थिति में यह फेफड़ों

को रक्त पहुँचाता रहता है। परिणामस्वरूप पल्मोनरी बड़े में अधिक मात्रा में रक्त एकत्र हो जाता है। इसके कारण श्वसन क्रिया में रुकावट पैदा हो जाती है। इसके कारण आदमी हाँफने लगता है और पल्मोनरी हाइपरटेंसन हो जाता है और थूक के साथ रक्त आने लगता है। जब यह दशा और बढ़ जाती है तो अत्यंत कष्टकारक हो जाता है। विश्राम की अवस्था में भी साँस लेना कठिन हो जाता है।

(ख) **निष्क्रिय द्विवलन कपाट**—यह एक दूसरी दशा है जिसके प्रभाव के कारण द्विवलन कपाट या मिट्रल कपाट की, खुद से संबंधित छिद्र को पूरी तरह बंद करने की क्षमता कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में बायें अलिंद से बायें निलय में रक्त निरन्तर रिसता रहता है या बाँयें अलिंद से रक्त 'लीक' करता रहता है। जबकि बाँया अलिंद बाँयें निलय में रक्त प्रषित करने (संकुचन) का प्रयास नहीं करता है अर्थात् अलिंद से बिना किसी तनाव के या संकुचन के ही इससे रक्त बाहर निकलता रहता है। इस दशा में पल्मोनरी हाइपर टेंसन नहीं देखा जा सकता है लेकिन बाँया निलय अपने आकार से अधिक बढ़ जाता है जिसे देखा जा सकता है। इस प्रकार का रोगी आरम्भ में तो हाँफता नहीं लेकिन उसे कमजोरी तथा जरा से काम में ही थकान की शिकायत होती है। बाद में वहीं रोगी हांफने भी लगता है।

(ग) **महाधमनी स्टेनोसिस**—इस अवस्था में महाधमनी कपाट जो कि एक छिद्र का नियंत्रण करता है, प्रभावित होता है, जिसके कारण छिद्र सकरा हो जाता है। इस छिद्र द्वारा रक्त बायें निलय से महाधमनी में आता है। इस दशा में जब हृदय की द्वितीय ध्वनि सुन पड़ती है तब यह देखा जा सकता है कि इस ध्वनि की अवधि अधिक होती है तथा धीमी भी। इसका कारण यह है कि बाँया निलय अपने वास्तविक आकार की अपेक्षा एक दूसरे छिद्र से रक्त प्राप्त करता है। अतः रक्त बहाव के क्षेत्र में दूसरा अवरोध हो जाता है। इसलिए एक साथ दो सँकरे वाल्वों के कारण निलय में सकुचन और अधिक बढ़ जाता है। अतः हृदय की प्रथम ध्वनि की अपेक्षा द्वितीय ध्वनि क्षीण होती है और इसकी ध्वनि भी अधिक होती है। हृदय की प्रथम और द्वितीय ध्वनि की थपथपाहट सुनी जा सकती है। यह ध्वनि मिडसिस्टोल के समय अधिक सुनी जा सकती है। जब रक्त दाब देखा जाता है तब संकुचन को अपेक्षा यह कम मिलता है लेकिन शिथिलन सामान्य होता है। बाँया निलय आकार में बढ़ जाता है और कष्ट देता है।

(घ) **एन्जिनापेक्टोरिस**—इस दशा में अधिक परिश्रम करने के वक्त हृदय पेशियों को समुचित मात्रा में ऑक्सीजन गैस नहीं पहुँच पाती जिसके कारण सीने में दर्द होने लगता है। यह हृदय वाहनियों की आंतरिक गुहा के संकरे हो जाने के कारण होता है। रक्त बहाव में अवरोध एथीरो-स्केलेरोटिक परिवर्तन या अन्य किसी वस्तु के कारण हृदय वाहनियाँ संकरी हो जाती हैं। मायो कार्डियल इनफारएक्सन के अन्तर्गत आने वाले सामान्य रोगियों में लगभग 30-40 प्रतिशत रोगी एन्जिनापेक्टोरिस के होते हैं। इस रोग के कारण सीने में एक रुक-रुक कर लेकिन तीव्र पीड़ा होती है। अतः रोगी बेचैन हो जाता है। पीड़ा समाप्त होने पर रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है और शरीर पसीने से तर हो जाता है। कठिन परिश्रम करने के उपरांत यदि रोगी के सीने में रुक-रुक कर दर्द होता है तब उस रोगी में एन्जिनापेक्टोरिस सरलता से पहचाना जा सकता है। यदि इस रोगी को पहचानने मे आशंका हो तो इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम की सहायता से इसे पूरी तरह पहचाना जा सकता है। एन्जिनापेक्टोरिस के रोगी को नाइट्राइट देने से वासोडीन्सेटेशन होता है

जिसके फलस्वरूप हृदय पेशियों में रक्त की सप्लाई बढ़ जाती है।

जीवाणु संक्रमण—इसके रोगी अल्पसंख्या में ही पाये जाते हैं। रोगी का शरीर गर्म रहता है। जोड़ों में दर्द होता है। सिर दर्द, पसीना, भूख न लगना और निरुत्साहित होना आदि लक्षण रोग में पाये जाते हैं। ऐसे रोगियों के रक्त का परीक्षण करके देखने पर जीवाणु की उपस्थिति देखी जा सकती है। इन रोगियों में एम्बोलिक का निर्माण होता है जिसके कारण हृदय वाहनियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं जिसके कारण हृदय पेशियाँ मर जाती हैं। यद्यपि रोग के रोगी कम ही मिलते हैं लेकिन क्षय रोग के रोगियों में इसकी संभावना बढ़ जाती हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक क्षय रोगी की मृत्यु इसी कारण हो।

हृदयावरण में दोष—हृदय संरचना की चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि हृदय दो परतों, विसरल स्तर और पेराइटल स्तर की दुहरी स्तरों वाली थैली में बंद होता है जिसे हृदयावरण कहते हैं। कभी-कभी जीवाणु के संक्रमण या अन्य रोगों के कारण दोनों परतों के मध्य भरे द्रव की मात्रा बढ़ जाती है जिसके कारण हृदय पर अधिक दाब पड़ने लगता है और हृदय 'फेल' हो जाता है। कई बार हृदयावरण की दोनों परतें मोटी हो जाती हैं जिसके कारण हृदय की साधारण क्रियाशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हृदय पेशियाँ प्रभावित होती है। इस रोग से ग्रस्त रोगी के उदर में सूजन आ जाती है। नब्ज धीमी पड़ जाती है। हृदय की ध्वनि मद्धिम पड़ जाती है। यदि प्राथमिक दशा में रोग का निदान न किया गया तब रोगी की मृत्यु हो जाती है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है।

न्यू हैदराबाद—केदारनाथ मार्ग
लखनऊ—226007

देश के प्रमुख कैंसर अस्पताल

—टाटा मेमोरियल हास्पिटल
डॉ० ई० बोर्जेज रोड, बम्बई

—चितरंजन नेशनल कैंसर रिसर्च सेंटर
37, एस-पी० मुखर्जी रोड, कलकत्ता

— कैंसर इंस्टीट्यूट अडयार, मद्रास

—रेडियम इंस्टीट्यूट एण्ड कैंसर हास्पिटल, हैदराबाद

—आल इण्डिया इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल साइंसेंस नयी दिल्ली

—कैंसर इंस्टीट्यूट, कानपुर

दांतों की सुरक्षा के लिये फ्लोराइड कवच

तुरशन पाल पाठक

संसार का कोई भी व्यक्ति मुंह और दांतों के स्वस्थ रहे बिना वास्तविक आराम का अनुभव नहीं कर सकता। दाँतों के अस्वस्थ होने या उनके न होने से व्यक्ति को असुविधा होती है और नकली दाँत कभी भी प्राकृतिक दाँत की तरह मनुष्य को सेवा नहीं कर सकते। सुन्दर एवं प्रभावी व्यक्तित्व के लिये स्वच्छ, निरोग तथा मोती से चमकते दाँतों की अपनी विशेष महत्ता होती है। जीवन जीने के लिये पौष्टिक भोजन चबाने के हेतु भी इनका साथ अंतिम साँसों तक आवश्यक होता है अतः इनकी देखभाल तथा दांतों को होने वाली दन्तक्षरण की हानियों से बचाने के लिये फ्लोराइड की महिमा की जानकारी हम सबके लिये लाभकारी हो सकती है।

देखा गया है कि अम्ल और जीवाणु दोनों ही दाँतों के एनामिल पर आक्रमण करने के बाद डेन्टाइन को बेधते हुए दाँतों के पल्प को हानि पहुँचाते हैं। इस अवस्था में दाँतों में बहुत दर्द होता है और दाँत भोजन चबाने के योग्य नहीं रहते हैं। सौभाग्य से इस हानि से बचने के लिये अनेक उपाय खोजे जा चुके हैं।

पहले दाँतों को मजबूत और स्वस्थ रखने के लिये संतुलित आहार पर ज़ोर दिया जाता था जिसमें प्रचुर मात्रा में विटामिन, खनिज और प्रोटीन हों। हालाँकि संतुलित भोजन दाँतों के

जनकपुरी के डाक्टर गुलाटी दंत चिकित्सा करते हुये

स्वास्थ्य के लिये उसी प्रकार उत्तम है जिस प्रकार मनुष्य के सामान्य स्वास्थ्य के लिये, परंतु संतुलित भोजन के बाद भी कुछ व्यक्तियों के दाँतों का क्षरण होता है। सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि संतुलित भोजन या विशिष्ट भोजन का दाँतों के क्षरण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं हैं। भारत में एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि जिन लोगों को संतुलित भोजन नसीब नहीं होता या जिनका भोजन केवल कार्बोहाइड्रेटों पर आधारित है उनके दाँत बहुत कम खराब होते हैं। इस बारे में भारतीयों के भोजन का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने पर अन्वेषकों ने तीन कारण ज्ञात किये हैं। कम कैलोरी या कुपोषण का पहला असर यह होता है कि लोगों के भोजन का अंतराल अधिक होता है अतः प्रतिदिन या प्रति सप्ताह दाँतों को हानि पहुँचाने वाला अम्ल कम समय के लिये बन पाता है और प्रतिदिन दाँत अधिक घंटे जीवाणुओं के आक्रमण की अनुकूल अवस्था से मुक्त रहते हैं। कम आय वर्ग के व्यक्तियों के भोजन में शर्करा और शर्करा निर्मित मिठाइयों की मात्रा नहीं के बराबर होना दूसरा कारण है। भारतीयों के भोजन में फ्लोराइड अंश का अपेक्षाकृत अधिक पाया जाना तीसरा कारण हो सकता है। दाँतों को स्वस्थ रखने के अनुसंधानों ने भी सिद्ध किया है कि दाँतों पर फ्लोरीन की पर्त दाँतों के क्षरण को रोकती या कम करती है। फ्लोरीन युक्त खनिज यौगिक फ्लोराइड कहलाते हैं।

दाँतों पर फ्लोराइड की पर्त से दाँतों के क्षरण को रोकने की जानकारी की कहानी बड़ी दिलचस्प है। अमेरिका के एक दाँतों के डाक्टर ने देखा कि पथरीले पहाड़ी क्षेत्र से आने वाले अधिकतर रोगियों के दाँतों पर लाल रंग की धब्बेदार पर्त चढ़ी होती है जो देखने में बड़ी भद्दी लगती है। उपचार के दौरान उन्होंने देखा कि यह पर्त जिन व्यक्तियों के दाँतों पर चढ़ी थी उनके दाँतों का क्षरण उन व्यक्तियों के दाँतों की अपेक्षा कम था जिनके दाँतों पर यह पर्त नहीं चढ़ी थी। जाँच करने पर पता चला कि कोलोरेडो झरनों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी यह बात सत्य निकली। जब यह जाँच की गई कि दाँतों पर यह धब्बे क्यों पड़ते हैं तो पता चला कि ऐसे व्यक्ति अपने पूरे जीवन भर या बचपन में उस स्थान पर रहे थे जहाँ के पानी में फ्लोराइडों की मात्रा बहुत अधिक थी।

यह पता चल जाने के बाद कि पानी में फ्लोराइड होने से दाँत कम खराब होते हैं यह जानना आवश्यक हो गया कि पानी में फ्लोराइड की कितनी मात्रा होनी चाहिये जिससे शरीर को अन्य हानि न हो और दाँतों पर धब्बेदार पर्त भी कम चढ़े, कुछ शहरों में फ्लोराइड युक्त पानी के उपयोग के परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकला कि 10 लाख भाग पानी में एक भाग फ्लोराइड का होना दाँतों का क्षरण रोकने के लिये ठीक रहता है, जिन शहरों के पानी में प्राकृतिक रूप से 10 लाख भाग में एक भाग फ्लोराइड मिला हुआ था वहां के बच्चों के दांत उन बच्चों के दाँतों की तुलना में अधिक स्वस्थ पाये गये जिनके यहाँ के पानी में फ्लोराइड की मात्रा इससे कम थी। अतः अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान इस ओर गया कि प्राकृतिक तौर पर पानी में प्राप्त फ्लोराइड की मात्रा को संतुलित किया जाये और जहाँ पानी में यह नहीं पाया जाता वहाँ इसे उचित मात्रा में मिलाया जाय।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान यह अध्ययन किया गया कि दाँतों के क्षरण को रोकने में फ्लोराइड किस प्रकार कार्य करते हैं। फ्लोरीन शरीर में अवशोषित होने के बाद हड्डियों और दाँतों में जमा होता है और शेष भाग अलग हो जाता है। दाँतों में यह अधिकतर एनामिल में जमा होता है जिसकी तीन अवस्थायें बतायी जाती हैं।

1. मुँह में दाँत आने से पहले एनामिल रचना के समय।

2. एनामिल के खनिजीकरण के पूर्ण होने और दाँत निकलने से पहले।

3. दाँत निकल आने के बाद पूरे जीवन भर सतह पर जमना, आमतौर पर ऐसा कहा जाता है कि फ्लोरीन दाँतों पर एक पर्त के रूप में जमकर ऐसे कवच का काम करता है जो दाँतों को दंतक्षरण के आक्रमण से रक्षा करता है।

जैसे ही फ्लोराइड लवणों के सक्रिय भाग फ्लोराइड आयन दाँतों के एनामिल के सम्पर्क में आते हैं वे एनामिल के कुछ पदार्थों से मिलकर नये रासायनिक यौगिकों का निर्माण करते हैं जिन पर अम्लों और दंतक्षरण पैदा करने वाले जीवाणुओं का कोई असर नहीं होता है। क्योंकि बाह्य एनामिल के कुछ कार्बोनेट जो कि अम्लों में विलेय होते हैं, का स्थान फ्लोराइडों द्वारा ले लिया जाता है और एनामिल अम्लों द्वारा क्षरण के प्रतिरोधी हो जाता है।

कैरीज से प्रभावित दाँत

इस रासायनिक विनिमय का एक दिलचस्प पहलू यह है कि दाँतों में अम्ल और जीवाणुओं द्वारा हो रहे आक्रमण के स्थानों पर फ्लोराइड अधिक मात्रा में अवशोषित की जाती है इस तरह यह उन स्थानों पर आसानी से पहुच जाता है जहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है और दाँतों को हो रही हानि रुक जाती है या क्षरण की गति कम हो जाती है। कहीं-कहीं ऐसा भी पाया गया है कि फ्लोराइड आयन की उपस्थिति में दाँतों की विकैल्सीकृत एनामिल सतह पर पुन: कैल्सियम की पर्तें चढ़ने लगती है और क्षरण की प्रारंभिक अवस्थाओं में तो फ्लोराइड आयनों की उपस्थिति में एनामिल सतह की पूरी मरम्मत हो जाती है।

दाँतों को स्वस्थ रखने में फ्लोराइड की एक अन्य महत्वपूर्ण भूमिका भी होती है, मुँह में फ्लोराइड आयन की उपस्थिति में उन एन्जाइमों की क्रिया में रुकावट आ जाती है जिनके कारण कार्बोहाइड्रेटों का विखण्डन होकर उन अम्लों का निर्माण होता है जो दाँतों के एनामिल का क्षरण करते हैं।

बूढ़े, बच्चे और जवान सभी पानी पीते हैं। अत: पीने के पानी में फ्लोराइड की उचित मात्रा रखना जनस्वास्थ्य तथा दाँतों के क्षरण को रोकने के लिये सबसे सरल एवं निश्चित उपाय प्रतीत होता है। लेकिन पीने के पानी का फ्लोरीनीकरण हर जगह संभव नहीं है क्योंकि हर जगह पानी किसी एक केन्द्रीय स्रोत से नहीं मिलता है। भारत में तो टंकियों के पानी की व्यवस्था केवल शहरों तक ही सीमित है अत: पानी में फ्लोरीन मिलाकर पीने के अन्य नियमित उपायों की आवश्यकता है।

नमक और दूध के माध्यम से भी फ्लोरीन को दाँतों के चारों ओर नियमित पहुँचाने का सुझाव महत्वपूर्ण है और इससे परिणाम भी अच्छे मिले हैं परन्तु बच्चों के भोजन में नमक का कम उपयोग होना उन्हें फ्लोरीन से ऐसे समय में वंचित रख सकता है जब इन्हें उसकी आवश्यकता होती है। फ्लोराइड गोलियाँ आसान

तरीका हो सकती हैं बशर्ते कि वे बचपन से स्कूल अवस्था तक नियमित सेवन की जायें।

दाँतों पर फ्लोराइड को लेप के रूप में ऊपर से लगाने की युक्ति भो कारगर साबित हुई है। सोवियत संघ में दाँतों के चिकित्सकों ने फ्लोराइड युक्त पेस्ट के उपयोग से उत्तम परिणाम आने की सूचना दी है। अभी हाल में मास्को अनुसंधान संस्थान ने एक वार्निश तैयार की है जिसे वे बायो-वार्निश कहते हैं। इस वार्निश को दाँतों पर कुछ देर लगाकर हटा देने से दाँत लगभग छः महीने तक दंत-क्षरण से मुक्त रहते हैं। अतः छः महीने के अन्तर पर इस बायोवार्निश का उपयोग दंत-क्षरण से छुटकारा दिला सकता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार शक्कर का कम उपयोग, या मुँह में कम देर तक रखना तथा मीठी चीजें खाने के बाद कुल्ला करना चाहिये और चाकलेट तथा टाफियाँ आदि को नहीं चूसना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने से मुँह में आई शक्कर से तुरंत अम्ल बना कर दाँतों को क्षरण करने वाले जीवाणुओं के लिये अनुकूल स्थिति पैदा होती है। भोजन के बाद सेब व कच्ची गाजर खाने से दाँतों की प्रभावी सफाई में सहायता मिलती है। खजूर, अंजीर और सूखे केलों से बचना चाहिये क्योंकि वे दाँतों पर चिपक जाते हैं। दूध, पनीर, अण्डे, मछली, मांस, नारियल, ताजाफल भी दाँतों को साफ रखने में मदद करते हैं।

फ्लोराइड कवच के अतिरिक्त स्कूलों में बचपन से ही दाँतों की सफाई की शिक्षा और देख-भाल की उचित व्यवस्था होना चाहिये। भोजन के बाद फ्लोराइड पेस्ट से ब्रश करना, शरीर की स्वच्छता के साथ मुँह की सफाई का विशेष ध्यान रखना दाँतों को सुरक्षित, मजबूत, नीरोग तथा जीवन भर भोजन खाने के लिये बनाये रखने के लिये नितांत आवश्यक है।

विशेष अधिकारी—'भारत की सम्पदा'
वैज्ञानिक विश्वकोश
प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय,
हिलसाइड रोड
नई दिल्ली-110012

●●

पृष्ठ 57 का शेषांश

हैं। प्रसन्नता की बात है कि दक्षिण भारत के किसान और आसाम के चाय बागानों के मालिक सदाबहार की खेती में रुचि ले रहे हैं। इस प्रकार जहाँ एक तरफ भारत कैंसरनाशी अभियान में अपना सहयोग दे रहा है, वहीं सदाबहार विदेशी मुद्रा अर्जित करने में भी सहायक है।

अब समय आ गया है जब हमें नवीन ज्ञान-विज्ञान के साथ वनस्पतियों से प्राप्त होने वाली औषधियों की खोज में जी जान से जुट जाना होगा। मानवता के कल्याण के लिए हमें गरीब से गरीब नागरिक के लिए सस्ती औषधियाँ उपलब्ध करनी होगी। इसमें संदेह नहीं कि भारत में चिकित्सा में प्रयुक्त जड़ी बूटियों का हमें ज्ञान पुनः प्राप्त करना होगा। हमारे देश की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी सत्य के कितने निकट हैं, जब वह कहती हैं :—

'पुरानी लोकप्रिय घरेलू दवाइयाँ गायब हो गयी हैं। कुछ थोड़ी सी बची हैं जो विज्ञान के बजाय विश्वास के बल पर टिकी हैं। लेकिन विज्ञान धीरे धीरे पता लगा रहा है कि सारी लोक औषधियाँ अवैज्ञानिक नहीं हैं। हमें ग्रामीण महिलाओं और बच्चों को बहुमूल्य कन्द-मूलों को पहचानने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिये प्रेरित करना चाहिये। जो कन्द-मूल पोषण की कमी दूर करते हैं, उनकी अधिक उपज और उपयोग को हमें लोकप्रिय बनाना चाहिये।''

सी० एम० पी० कालेज, इलाहाबाद ●●

शुभ-कामना सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि विज्ञान परिषद् इलाहाबाद अपने 63वें वर्ष में पदार्पण करने के शुभ अवसर पर "औषधि एवं स्वास्थ्य विज्ञान" पर विज्ञान मासिक पत्रिका का विशेषांक जनवरी 1977 में प्रकाशित कर रहा है। विज्ञान जगत में परिषद् का यह विशेषांक सामयिक चरण होगा। "विज्ञान" हिन्दी पत्रिका ने अपनी 62 वर्षीय स्वस्थ परम्पराओं को अक्षुण्ण रखकर जन मानस की जो सेवा की है वह प्रशंसनीय है।

इस शुभ अवसर पर, मैं "विज्ञान" के औषधि एवं स्वास्थ्य विज्ञान विशेषांक के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ अर्पित करता हूँ।

वाई० नायुडम्मा
सचिव, भारत सरकार और महानिदेशक
वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्

पत्रांक : जैड-18023-1/76-सी०एच०ई०वी०
भारत सरकार
स्वास्थ्य सेवाओं का महानिदेशालय
केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो
कोटला मार्ग, नई दिल्ली-110002।
दिनांक: 20 Nov. 1976

प्रिय महोदय,

निदेशक के नाम लिखा गया आपका पत्र दिनांक 8-11-76 प्राप्त हुआ। आप विज्ञान का "औषधि एवं स्वास्थ्य-विज्ञान" विशेषांक निकाल रहे हैं—यह प्रसन्नता की बात है। हमारा विश्वास है कि यह परम उपयोगी एवं रुचिकर होगा।

भवदीय
शिव गोविन्द त्रिपाठी
सहायक सम्पादक

मुद्रक—नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 3
चैत्र 2034 विक्र०
मार्च 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद

विषय सूची

जीवन-वृत्त

—अनिल प्रकाश त्रिपाठी

जीवन एक वृत्त है
समस्याओं (विविध) का सान्द्रण अपने केन्द्र पर
लिये हुए संघर्ष की चरम स्थिति में भी
परिधि के बाहर न जा पाने की बाध्यता,
विशेष स्थितियों में संघर्ष को नया आयाम तो देती है
पर इन स्थितियों में—
परिधि से बाहर न निकल पाने की छटपटाहट को—एक संस्कार का रूप देता,
केवल त्रिज्या का मान ही बदलता है।
मानो परिधि पर भटकना ही इसकी नियति हो !
केन्द्र से उन्मुक्त होने की प्रक्रिया में,
समस्याओं से स्वतंत्र होने की उत्कट अभिलाषा संजोये 'उसका' मनोबल धैर्य,
साहस, प्रत्युत्पन्न-मतित्व आदि सारे घटक हैं उसे केन्द्र से परिधि की ओर
गतिमान करते अपकेन्द्री बल के।
जीवन को गति देने के लिए
दिशा बोध आवश्यक है।
हर श्रेणी की मानसिकता के संघर्ष की शुरुआत केन्द्र से होती है।
पर परिधि की ओर समस्याओं का सान्द्रण क्रमशः विरल होता जाता है—
विभिन्न कोणों पर—
विभिन्न दिशाओं में त्रिज्याओं के भिन्न-भिन्न मान के लिए।
मानसिक परिवर्तन के हर सम्भव दौर से गुजरते हुए।

●●

बीजों का अंकुरण

—कन्हैयालाल

बीज पौधे का वह भाग होता है जो फल के अन्दर सुरक्षित रहता है और नये पौधों को जन्म देता है क्योंकि भ्रूण स्वयं ही एक नन्हें पौधे के रूप में बीजों के अन्दर होता है।

भ्रूण भोजन को पाकर जो या तो बीजपत्रों या भ्रूणपोष में भरा रहता है, वृद्धि करता रहता है। अंकुरण में सर्वप्रथम बीज नमी को शोषित करता है। इससे बीज फूल जाता है तथा बीजावरण मुलायम हो जाता है। बीजपत्रों या भ्रूणपोष में संचित अघुलनशील भोजन पाचक प्रक्रिण्व की सहायता से घुलनशील होकर प्रांकुर तथा मूलांकुर में चला जाता है। भ्रूण के बढ़ने के साथ-साथ श्वसन की दर भी बढ़ती जाती है। अंत में बीजावरण फट जाता है और मूलांकुर बीजाण्डद्वार से होकर बाहर आता है और भूमि में जाकर प्राथमिक मूल बनाता है और इसमें वृद्धि की दर प्रांकुर के वृद्धि की दर से तेज होती है। बीजावरण के फटने से बीजपत्र भूमि से ऊपर आकर जब प्रकाश में रहते हैं तो हरे होकर धीरे-धीरे प्रकाश-संश्लेषण करने लगते हैं और पत्तियों की समान रचनाओं में दिखायी देने लगते हैं। इस प्रकार का बना हुआ शिशु पौधा बीजांकुर या नवोद्भिद् पौधा कहलाता है। बीजांकुरण दो प्रकार का होता है (1) भूम्यपरिक (2) अधोभूमिक

भूम्यपरिक अंकुरण—इसमें बीजपत्राधर की तेज वृद्धि के कारण बीजपत्र भूमि के ऊपर निकल आते हैं। बीज पत्राधर अक्ष का वह भाग होता है जो ठीक बीजपत्रों के नीचे होता है। इस प्रकार का अंकुरण इमली, खीरा, सेम, कद्दू, कपास, सूर्यमुखी, प्याज, पपीता, अण्डी, नीम आदि में पाया जाता है।

अधोभूमिक अंकुरण—इस तरह के अंकुरण में बीजपत्र भूमि के अन्दर ही रह जाते हैं या केवल भूमि की सतह पर आ जाते हैं, ऊपर नहीं। चना, मटर, मूँगफली, आम, चावल, गेहूँ, मक्का आदि में अधोभूमिक अंकुरण ही होता है।

बीजों के अंकुरण के लिये निश्चित वाह्य-परिस्थितियाँ जैसे नमी, उचित ताप, आक्सीजन, प्रकाश आदि का होना नितान्त आवश्यक है। कभी-कभी इन सभी परिस्थितियों के उपलब्ध होते हुए भी बीज का अंकुरण नहीं होता और बीज प्रसुप्त अवस्था में पड़ा रह जाता है। अतः कुछ आन्तरिक परिस्थितियाँ भी अंकुरण को प्रभावित करती हैं।

नमी—शुष्क बीज में पानी की कुछ मात्रा होती है लेकिन विकसित कोशिकाओं की तुलना में बीज के कोशिकाओं में पानी की मात्रा बहुत ही कम होती है। ठीक अण्डी में 6·45% पानी होता है जबकि नवोद्भिद् पौधे में 92·7% पानी होता है। आन्तरिक स्थिति एवं ताप के उचित होने पर कुछ अन्तः शोषण तथा कोशिकाओं की कुछ परासरण दाब के कारण बीज नमी के सम्पर्क में आकर पानी शोषित करता है। अंकुरित बीज के द्वारा शोषित पानी की मात्रा भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न होती है। कुछ जातियों का उदाहरण सारिणी—1 में दिखाया गया है।

सारिणी—1

जाति	मूलभार से जल अवशोषण प्रतिशत
गेहूँ	60·0
मक्का	39·8
अण्डी	42·0
सूर्यमुखी	56·2
मटर	176·0
पोस्ता	91·0

ताप—यह सामान्य ज्ञान की बात है कि ताप के एक निश्चित दशा में केवल बीज का अंकुरण सम्भव है। सभी परिस्थितियों के सामान्य होते हुए भी यदि ताप बहुत कम या बहुत ज्यादा है तो बीजांकुरण नहीं होता है। ताप का क्रम विभिन्न जातियों के बीजांकुरण में भिन्न होता है। सभी दशाओं के सामान्य होने पर ताप के बढ़ने के साथ बीजांकुरण की भी दर बढ़ती है। ताप का कार्डीनल प्वाइन्ट भिन्न-भिन्न बीजों के अंकुरण में भिन्न होता है (सारिणी—2)।

सारिणी—2

	ताप° सें०		
जातियाँ	निम्नतम	अनुकूलतम	उच्चतम
गेहूँ	0—4·8	25—31	31—37
मक्का	4·8—10·5	37—44	44—50
सूर्यमुखी	4·8—10·5	31—37	37—44
मटर	0—4·8	25—31	31—37
कद्दू	15·6—18·5	31—37	44—50

टाइफालैटीफोलिया का बीज लगातार ताप के हुए भी अंकुरण में असमर्थ रहता है; यह तब तक नहीं अंकुरित होता जब तक कि एकान्तर ताप 10°सें या अधिक नहीं उपलब्ध होता।

प्रकाश—कुछ बीजों के अंकुरण में प्रकाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। साथ ही साथ प्रकाश कुछ बीजों के अंकुरण में वाधा तथा कुछ में उत्तेजना उत्पन्न करता है। जैसे फैसेलिया टैनेसेटी फोलिया के बीजांकुरण को प्रकाश रोक देता है ठीक इस प्रकार के बीज को "प्रकाश-क्रूर" कहते हैं। फाइकस ऐयूरिया तथा रोडोडेन्ड्रान आदि के वीजांकुरण को प्रकाश उत्प्रेरित करता है, इसलिये ऐसे बीज को 'प्रकाश-सुग्राही' कहते हैं। लेहमैन नामक वैज्ञानिक ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह बतलाया है कि लिथरम सैलीकैरिया के फूले हुये बीज को 30°सें पर अंधकार में 24 घन्टे रखने से 6 या 7% अंकुरण होता है और 7 दिन तक इसी स्थिति में रखने पर अंकुरण प्रतिशत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है लेकिन 24 घन्टे में 730 मीटर कैण्डिल की प्रकाश तीव्रता सिर्फ 0·1 सेकेण्ड ही 50% बीज अंकुरण के लिये पर्याप्त होती है। कुछ प्रकाश-क्रूर तथा प्रकाश-सुग्राही बीज के अंकुरण पर प्रकाश तथा ताप के प्रभाव को सारिणी—3 में दिखाया गया है।

सारिणी—3

जाति	ताप° सें०	प्रकाश तीव्रता फुट-पाउण्डल	% अंकुरण प्रकाश	% अंकुरण अंधकार
नीमोफिला इंसिगनिस	10—11	—	81	91·5
	10—11	—	87	87·5
	21	145—155	1·5	74·5
	22—24	160	0	34·5
	31	160	0	0
ऐपीलोबियम हिरसुटम	20	145—155	78	7 5
	22—24	145	60·5	3
	22—24	175	58	—
	31	145	67·5	53·5
	31	175	61·5	—

प्रकाश—सुग्राही बीज को कुछ प्रयोगों द्वारा अंधकार में भी उगाने का पूर्ण प्रयास किया जा चुका है। रेननकुलस स्केलेरैटस के बीज को विभिन्न माध्यम में रखकर 4 घन्टे के लिये 19°सें० तथा 20 घन्टे के लिये 28°सें० का ताप उपलब्ध कराने से अंकुरण प्रतिशत बढ़ा हुआ देखा गया है (सारिणी—4)

सारिणी—4

माध्यम	प्रकाशीय दशा	अंकुरण प्रतिशत
आसुत जल	अंधकार	0·7
	दिवसीय प्रकाश	28
नॉप्स घोल	अंधकार	55
	दिवसीय प्रकाश	86

आक्सीजन—बीजांकुरण हेतु आक्सीजन होना आवश्यक है। कुछ बीज जैसे धान, जड़हन आदि आक्सीजन के अनुपस्थिति में ही अंकुरण में सक्षम होते हैं। जब 40 से 8% आक्सीजन के जगह हाइड्रोजन या नाइट्रोजन के सम्पर्क में टाइफा लेटीफोलिया के बीज को लाया जाता है तो 96% अंकुरण होता है जबकि सामान्य आक्सीजन की उपस्थिति में अंकुरण बड़ी मुश्किल से 10 दिन में 3·8% होता है। बीज मिट्टी के अत्यधिक गहराई में होने से अंकुरण रुक जाता है क्योंकि आक्सीजन का विसरण मिट्टी के ऊपरी सतह और वायुमण्डल से वहुत धीरे होता है।

बीजांकुरण में रासायनिक परिवर्तन—पुष्पी पौधों के बीजों में 80% वसा संचित भोजन के रूप में होती है जबकि स्टार्च केवल 10% होता है। नारियल में सेलुलोज अथवा हेमीसेलुलोज संचित मुख्य भोजन का विशेष अंग होता है। कुछ बीजों का रासायनिक विश्लेषण सारिणी 5 में दिया गया है।

सारिणी—5

	गेहूँ	मटर	सरसों	नारियल
कार्बोहाइड्रेट	68·65	52·68	24·41	12·44
वसा	1·85	1·89	33·33	67·00
प्रोटीन	12·04	23·15	20·48	8·88

संचित भोजन नये कोशिकाओं के निर्माण में काम आता है, जैसे भ्रूण नवोद्भिद पौधे में विकसित होता है और शुष्क पदार्थ में कमी होती है। इस कमी का कारण मात्र श्वसन होता है। इसमें कार्बन कार्बनडाइ आक्साइड के रूप लुप्त होती है। मटर के रासायनिक संगठन में बीजांकुरण के समय होने वाले परिवर्तन को सारिणी—6 में दर्शाया गया है।

	बीज	नवोद्भिद पौधा 114 घन्टे पुराना	184 घन्टे पुराना
सम्पूर्ण शुष्क भार	100	96·58	92·54
स्टार्च	42·44	38·10	33·43
डेक्स्ट्रिन	6·50	5·03	5·41
सेलूलोज	7·13	7·87	8·10
वसा	2 27	2·24	2·03
प्रोटीन	23·84	23·84	23·71
अविश्लेषित पदार्थ	13·76	15·36	15·74
राख	4·08	4·08	4·08

उक्त सारिणी से इस बात का पुष्टीकरण हो जाता है कि वास्तव में शुष्क पदार्थ की कमी बीजांकुरण के पहले अवधि से 3·6 ग्राम होता है जबकि स्टार्च और डेक्सट्रिन साथ-साथ की कमी लगभग 6 ग्राम होती है। यामेदा नामक वैज्ञानिक ने बताया है कि बीजांकुरण के समय संचित वसा सीधे कार्बोहाइड्रेट में परिवर्तित होता है न कि कार्बनडाइ आक्साइड और पानी में। इस प्रकार परिवर्तित कार्बोहाइड्रेट विकसित भ्रूण के लिये श्वसन-पदार्थ की तरह काम करता है। सम्भवतः लाइपेज एन्जाइम पहले वसा का जल अपघटन करके प्रायः न तो वसाअम्ल और न तो ग्लिसराल ही बनाता है। फिर भी किसी तरह कुछ बीजों में इसी अवस्था में ग्लिसराल की मात्रा ज़्यादा एकत्रित रहती है। अंकुरण के समय लाइपेज के साथ-साथ अन्य हाइड्रोलिटिक इन्जाइम जैसे एमाइलेज, प्रोटीनेज की सक्रियता द्रवीकरण प्रक्रिया में बढ़ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि द्रवीकरण के शुरुआत के लिये भ्रूण ही उत्तरदायित्व है। पैलेग ने बताया कि जिबरेलिक अम्ल (पादप वृद्धि हारमोन) स्टार्च हाइड्रोलाईजिग इन्जाइम जैसे—एमाइलेज आदि को उत्तेजित करने में साधक सिद्ध हुआ है। इन प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि बीजांकुरण के समय अमीनो अम्ल आपस में एक दूसरे में बहुत तेजी के साथ बदलते रहते हैं। जिसमें कीटो-अम्ल विशेष प्रभावी होता है। शीघ्र प्रोटीन का संश्लेषण, विकसित भ्रूण में राइबो न्यूक्लिक अम्ल के संश्लेषण से सम्बन्धित होता है। जिबरेलिक अम्ल की उचित सान्द्रता वाले घोल का छिड़काव करने से प्रसुप्त बीज को अंकुरित कराया जा सकता है।

पादप कायिकी अनुभाग,
वनस्पति विज्ञान विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

धमनियों का कठोरीभवन

अनिल प्रकाश त्रिपाठी

सिनेमा हाल के अन्दर बैठकर किसी सिगरेट के गुणगान के विज्ञापन को देखकर अनायास ही जेब से सिगरेट निकाल कर जलाने वाले दर्शक का ध्यान शायद ही कभी उस पर अंकित वैधानिक चेतावनी की ओर जाता है कि—

"धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है"

क्या इतना लिख देना मात्र ही पर्याप्त है। शायद नहीं ! आप पूछ सकते हैं कि धूम्रपान से धमनियों के कठोरीभवन का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? धूम्रपान से इसका सीधा सम्बन्ध है, क्योंकि सिगरेट तम्बाकू से बनती है और तम्बाकू में "निकोटीन" नामक भयंकर विष होता है।

आज की तथाकथित 'माड सोसाइटी' के कुछ 'मानक' हैं जिन्हें अपनाए बिना आपको 'माड' कहलाने का अधिकार ही नहीं है। अति धूम्रपान (सिगरेट, सिगार, पाइप, गाँजा, हुक्का आदि) शराब पीना, काफी, स्ट्रांग चाय, अंडा मांस मछली, इत्यादि उनमें से मुख्य हैं। मेरे कहने का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि मांस मछली, अंडा, चाय, काफी स्वास्थ्य के लिए बिलकुल ही हानिकारक हैं, लेकिन जिस रूप में इनका प्रयोग होता है वह कितना विकृत है जैसे बिना "गिजा" के (मांस, मछली, अंडा आदि) शराब का दौर चल ही नहीं सकता। शराब पीने के बाद मनुष्य अपना मानसिक संतुलन इस प्रकार खो देता है कि वह क्षमता से बहुत अधिक खा लेता है। परिणाम सर्वविदित है।

केश-कूपों के विषम पोषण के कारण हुए गंजेपन या बालों के पकने के अतिरिक्त-धमनियों की सामान्यतः लचीली दीवालों के कठोरी भवन (अदिरियो स्किलिरोसिस) को भी लोग बुढ़ापे के प्रकट होने का लक्षण मानते हैं। लेकिन जिस प्रकार गंजापन केवल वृद्धावस्था के कारण नहीं होता उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि धमनीय-दीवारों में कैल्शियम या कोलेस्टिरीन का निक्षेपण अथवा वसीय तथा रेशेदार ऊतकों द्वारा उनके सामान्य ऊतकों का विस्थापन भी वृद्धावस्था के कारण ही होता है।

40 वर्ष से कम आयु के युवकों का बाल भी पक सकता है क्योंकि साधारणतः ऐसा बुढ़ापे के कारण नहीं होता है बल्कि कुछ पूर्व-वर्तमान स्थितियों के कारण रक्त वाहिकाओं में जलन एवं सूजन हो जाती है। सिफिलिस गठिया, वृक्क व्याधियाँ, मदिरा, तम्बाकू, शीशे की विषाक्तता तथा अन्य धातुयी विष एवं अधिक भोजन और अत्यधिक कार्य से भी चालीस वर्ष से कम की वय में ही लोगों को धमनियों का कठोरीभवन हो जाता है।

अति मद्यपान से भी धमनियों का कठोरीभवन हो जाता है। शव परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि मद्यपान के फलस्वरूप यहाँ तक कि युवकों में भी यह व्याधि विकसित हो सकती है। रक्त में एलकोहल की उपस्थिति से न केवल सीधी त्वचा की जलन, सूजन तथा उत्तेजना के कारण धमनियाँ क्षतिग्रस्त हो जाती हैं; बल्कि सारे शरीर की ऊपरी (स्तरीय) धमनियाँ अचानक अत्यधिक डायलेट होकर क्षतिग्रस्त हो जाती हैं और उसके बाद संकुचित हो जाती हैं। हर बार

पी गयी मदिरा की प्रत्येक घूंट के साथ ऐसा होता है।

धमनीय-दीवारों के सामान्य यंत्र संचालन एवं लचीलेपन पर इस लगातार आक्रमण के कारण उनमें जलन एवं सूजन तथा धमनियों का वसीय पतन हो जाता है। शराबियों के सारे शरीर में सामान्य ऊतकों का स्थान निम्न स्तर के वसीय ऊतक ले लेते हैं और यही स्थिति धमनियों तथा प्रायः हृदय की मांसपेशियों के साथ भी होती है। शराब थायराइड एवं ऐड्रीनल ग्रन्थियों को भी क्षतिग्रस्त करती है जिनका आन्तरिक स्राव धमनियों की सामान्य क्रिया प्रणाली के नियमन तथा नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। क्योंकि एड्रीनल एवं थायराइड ग्रन्थियाँ शरीर के सारे विषैले तथा अवशिष्ट पदार्थों को नष्ट करती है—इसलिए जब वे कार्य करना बन्द कर देती हैं तो विषाक्त अवशिष्ट पदार्थ रक्त में संचित होकर धमनियों को क्षतिग्रस्त करते हैं।

अति धूम्रपान से धमनियों के कठोरभवन को संभावना शराब की अपेक्षा अधिक होती है। ऐसा बहुत कम ही देखा गया है कि अति धूम्रपान करने वाले लोग, अपनी इस विध्वंसक आदत के कारण वृद्धावस्था तक धमनियों के कठोरीभवन के शिकार न हुए हो। देखा गया है कि तम्बाकू में पाये जाने वाले विष निकोटीन की सुई जानवरों के शरीर में लगाने पर उनकी थायराइड तथा एड्रीनल ग्रन्थियाँ स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त हो जाती हैं और अल्प समय में ही उनकी धमनियों में जलन एवं सूजन (एथरोमा) होने लगती है जिसके फलस्वरूप अन्त में धमनियों का कठोरीभवन हो जाता है।

अत्यधिक उत्तेजना एवं भावनात्मक व्यग्रता से भी ऐड्रीनल ग्रन्थियों से अधिक मात्रा में ऐड्रीनलिन का स्राव होने लगता है जिसके कारण छुद्र धमनियों के संकुचित हो जाने से हृदय-क्रिया को अधिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। हृदय-क्रिया जब अधिक प्रतिरोध का सामना करती है तो उच्च रक्त चाप (हाई ब्लड प्रेशर) हो जाता है। रक्त में एड्रीनलिन की अधिक मात्रा विष की तरह कार्य करती है जिससे धमनियाँ क्षतिग्रस्त हो जाती हैं।

नारियों में बहुत कम अन्तर से जल्दी-जल्दी गर्भधारण से थकावट होने के साथ-साथ 'एड्रीनल्स' भी क्षतिग्रस्त हो जाता है जिससे धमनियों की सामान्य कार्य-प्रणाली प्रभावित हो जाती हैं और धमनियों के पतन के साथ वे (धमनियाँ) कठोर हो जाती हैं, इस स्थिति में 'ऐड्रिनलिन' स्राव की कमी के कारण निम्न रक्तचाप (लो ब्लड प्रेशर) हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल उच्च रक्तचाप के कारण ही धमनियों का कठोरीभवन नहीं होता है।

सिफिलिस तथा छूत की अन्य बीमारियों से धमनियों में जलन एवं सूजन होने लगती है तथा धमनीय पतन हो जाता है जिसके कारण धमनियाँ कठोर हो जाती हैं। सिफिलिस से पीड़ित व्यक्तियों के कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जो इसकी भयंकरता के बावजूद भी अपनी वृद्धावस्था तक जीवित रहे हैं लेकिन ये असाधारण अपवाद हैं क्योंकि अधिकतर स्थितियों में अगर सिफिलिस का इलाज आरम्भ में ही पूरी तरह से नहीं किया जाता है तो सर्वनाश हो जाता है समस्त शरीर के ऊतकों, मस्तिष्क, रीढ़-रज्जु के साथ-साथ धमनियों का भी विनाश हो जाता है।

कैल्शियम के तुच्छ उत्सर्जन एवं स्वांगीकरण से किसी भी समय धमनियों के उत्तेजन के कारण धमनियों की दीवारों में कैल्शियम विक्षेपित हो जाता है जिससे कैल्शियम (चूनेदार) पतन और धमनीय दीवारों का कठोरीभवन हो जाता है। इसलिए लोगों की पेशियों या अन्य ऊतकों में कैल्शियम निक्षेपण का होना धमनियों के कठोरी भवन के खतरे से सावधान करता है।

वसा के उपापचय (मेटाबोलिज्म) के दौरान शरीर में बने महत्वपूर्ण यौगिक "कोलेस्टिरॉल" की मंद व्यवस्था के कारण शरीर में इसका कारण अत्यधिक मात्रा में हो जाता है तथा धमनियों की दीवारों में इसके निक्षेपण के फलस्वरूप धमनियाँ कठोर हो जाती हैं। मोटापन, गुर्दे तथा पित्ताशय का व्याधियाँ, अत्यधिक भोजन अपच और मन्द स्वांगीकरण के कारण भी शरीर में कोलेस्टिरॉल अत्यधिक मात्रा में बनता है तथा इसका धारण भी अधिक मात्रा में होता है।

रक्त में कोलेस्टिरॉल के अधिक बनने के कारण पलकों के चमड़े पर हल्के पीले रंग का निक्षेपण हो जाता है। रक्त में इसकी उपस्थिति की जाँच भी की जा सकती है। धमनीय दीवारों के रेशेदार, कैलस-समान ऊतकों में परिवर्तित हो जाने पर उनका स्थान अन्त में कैल्शियमी, एवं कोलेस्टिरौली निक्षेपण द्वारा ले लिया जाता है, जिसके परतों (पत्रक) के रूप में निकलने से शरीर का प्रभावित अंग क्षतिग्रस्त तथा व्याधिग्रस्त हो जाता है। यदि ऐसा मस्तिष्क में होता है तो उसी क्षति से आघात पहुँच (एपोप्लेजी) सकता है। और कोरोनरी धमनियों से खून बहने के कारण हुई क्षति से हृदय व्याधि, एन्जिना पेक्टोरिस अथवा कोरोनरी थ्रोम्बोसिस हो जाता है। यदि वृक्क की रक्त वाहिकाएँ या पैरों की धमनियाँ प्रभावित होती हैं तो नेफ्रिटिस या थ्रोम्बों ऐन्जाइटिस आवलिटिरैन्स" हो जाता है। ऐसे लक्षणों जैसे कि पहले किये जाने वाले रोजमर्रा के नियमित कार्य करने मात्र से ही थक जाना और थकान के कारण हृदय-पेशियों में कमजोरी का अनुभव करना (ऐन्जिनल पेन्स) से यह स्पष्ट हो जाता है और इस प्रकार आरम्भ में ही धमनियों के कठोरीभवन को रोका जा सकता है। इन लक्षणों के परिलक्षित होने पर ही यदि निम्न प्रकार से नियंत्रित एवं नियमित जीवनयापन किया जाए तो धमनियों के कठोरीभवन पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

आहार में वसा (चर्बी) की मात्रा बिल्कुल घटा देने पर धमनियों से कोलिस्टिरॉली निक्षेपण को भी नियंत्रित कर सकते हैं। विशेष रूप से जानवरों की चर्बी जैसे अंडा, घी, मक्खन, गो मांस (बीफ), सुअर, भेड़, मछलियाँ, मुर्गी, बकरी आदि के मांस को भोजन में सम्मिलित न करने पर भी चमड़े एवं धमनियों पर से कोलिस्टिरॉली निक्षेपण को रोका जा सकता है। इसके स्थान पर आहार में यदि फल, शाक, तरकारियाँ, अन्न, दूध इत्यादि लिया जाए एवं बहुत ही नियंत्रित नियमित जीवन यापन किया जाए तो कभी-कभी लिया गया मक्खन या अंडा उतनी क्षति नहीं पहुँचाता है। निम्नलिखित नियमों के पालन से लाभ होने के साथ ही रोग से मुक्ति भी मिल सकती है।

1—प्रतिदिन सीमित कार्य किया जाय।

2—श्रमसाध्य (कठिन कार्य) कार्य न किया जाय।

3—आँतों को साफ रखने, कभी-कभी वास्ति क्रिया करने तथा दो-तीन सप्ताह में एक बार रेचक पदार्थ का सेवन करने से भी लाभ होता है।

4—शीत एवं ठंढक को बचाते हुए सदैव पर्याप्त ताजी वायु का सेवन करना लाभप्रद है। सुबह शाम खुली हवा में टहलना चाहिए एवम् श्रमसाध्य तथा अत्यधिक देर तक व्यायाम बिल्कुल न किया जाय।

5—भोजन में सदैव हल्का आहार, दूध, फल, मेवा विशेष रूप से नीबू का रस, एवं सिट्रस श्रेणी के फल, तरकारी आदि लिया जाय। भोजन को धीरे-धीरे अच्छी तरह खूब चबाकर खाया जाय, तथा भूख से अधिक भोजन कभी भी न किया जाय। भोजनोपरांत आराम अवश्य किया जाय। गरिष्ट, तले हुए मिर्च मसाले युक्त भोजन का त्याग किया जाय।

6—तम्बाकू, मदिरा, चाय, काफी, चाकलेट आदि का त्याग किया जाय तथा एक साथ बहुत अधिक मात्रा में तरल पेय पदार्थों का सेवन न किया जाय।

7—सारी चिन्ता तथा उत्तेजना को दूर करके अर्थात् चिन्ता तथा उत्तेजना मुक्त होकर स्वस्थ नींद (लेकर) से अधिक से अधिक देर तक सोया जाय।

8—थोड़ी भी शंका होने पर चिकित्सक से तुरंत सम्पर्क स्थापित किया जाय एवं शरीर में कोलिस्टिरौली निक्षेपण (जैन्थोमा) के लक्षण के दृष्टिगत होते ही कोलिस्टिरौल प्रधान आहार का तुरंत त्याग कर दिया जाना चाहिए। शरीर के जोड़ों में अगर दर्द अर्थात् यदि गठिया के लक्षण प्रकट होने लगे तो प्रोटिन मुक्त आहार लिया जाय साथ ही माँस या माँस से बनी वस्तुओं मिर्च मसालेदार खाद्य सामग्री, मदिरा, चाय, काफी और चाकलेट, आइसक्रीम, केक आदि का त्याग किया जाय।

यदि धमनियों के कठोरीभवन होने के प्रचण्ड लक्षण विद्यमान हों तो मांसाहार को शीघ्रातिशीघ्र त्यागा जाय। दिन में चार-पाँच बार थोड़ा-थोड़ा करके भोजन किया जाय क्योंकि एक ही बार किया गया अधिक भोजन इस व्याधि का भयंकर शत्रु है। भोजन में दूध, मक्खन, फल, शाक, तरकारी एवं अन्नाहार लेने के साथ ही शारीरिक परिश्रम बहुत कम किया जाय, कार्य (परिश्रम) के दौरान आराम अवश्य किया जाय, यहाँ तक कि अधिक पढ़ने का कार्य भी न किया जाय इससे बहुत आराम मिलता है।

उपर्युक्त सारी बातों के अतिरिक्त, यह भी ध्यान देने की बात है कि हृदय या रक्त वाहिकाओं की व्याधियों की तरह ही धमनियों के कठोरीभवन में भी स्वास्थ्य के सिद्धान्तों के अनुकूल संयमित एवं नियमित जीवन यापन, औषधि की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण तथा लाभदायक है। चिकित्सा की सलाह तथा जाँच निःसन्देह आवश्यक होती है, परन्तु इन स्थितियों में आप स्वयं अपने भाग्य के निर्माता या मालिक है क्योंकि रोग का नियंत्रण, उससे आराम-छुटकारा पाना और उसका इलाज निश्चित रूप से आपके हाथ में होता है।

रसायन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●●

पाठकों व ग्राहकों से अनुरोध है कि वह अपने चन्दे का नवीकरण शीघ्र करा लें।

भारतीय रस-शास्त्र (पारद रसायन)

सुरेश चन्द्र शर्मा एवं डॉ० विजयेन्द्र रा० शास्त्री

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय वैज्ञानिक वाङ्मय में पारद हेतु पारा, रस, रसेन्द्र, महारस. रसधातु अथवा अंग्रेजी में मरकरी, आदि विभिन्न पर्यायवाची शब्द प्राप्य हैं। इससे संबंधित समस्त ग्रन्थों को रसशास्त्र या रसग्रन्थ एवं इससे सम्बन्धित ज्ञानशाखा को पारद रसायनशास्त्र या रसतंत्र कहा जाता है।

सदियों से मानव मन में पारद के प्रति अत्यधिक आकर्षण रहा है। प्रत्येक शती में विभिन्न विद्वानों ने अनेक रसग्रन्थों की रचना की, परन्तु भारत में रसतन्त्र का आरंभ नागार्जुन के काल से ही माना जाता है, जिसका समय लगभग 8वीं शती है।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय के अनुसार, अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर रसतंत्र का वर्णन मिलता है, लेकिन इसके ज्ञान का आरंभ वैदिक काल से ही हुआ है, ऐसी संभावनाएँ व्यक्त की जाती हैं। तेरहवीं शताब्दी से सौलवीं शती तक का समय रसविद्या के विकास के लिये स्वर्णयुग माना जा सकता है।

पार्टिंग्टन, होमयार्ड, लेइसेस्टर, आचार्य सत्यप्रकाश आदि चिन्तकों ने, अपने लिखित रसायन के इतिहास ग्रन्थों में, यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि भारतीय रसतन्त्र दर्शन प्रणाली पूर्णतः स्वतंत्र एवं मौलिक है। यह प्रणाली भारतीय विद्वानों द्वारा ही क्रमिक रूप से विकसित हुई है एवं साथ ही यह अन्य रसतंत्र दर्शन प्रणालियों से भिन्न है। भारतीय दर्शन परम्परा का मुख्य लक्ष्य है, जीवनमुक्ति या मोक्ष। ठीक इसी प्रकार का आधार, भारतीय रसतन्त्र दर्शन में भी दृष्टिगोचर होता है।

यूरोप में रसतन्त्र का विकास पर्याप्त समय पश्चात् लगभग 11वीं शताब्दि में माना जाता है। चीन के विद्वानों में, चौथी शताब्दि के ताओ मतावलम्बी को हुग का नाम प्रमुख रसाचार्यों में गिना जाता है।

को हुंग की विचारधारा भारतीय योग दर्शन प्रणाली से अधिकांश मिलती-जुलती है। संभवतः यूरोप में रसतन्त्र के विकास की प्रथम अवस्था में अरबी विद्वानों के रसकर्मों का विभिन्न विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया गया; लेकिन यह सारा साहित्य भारतीय रस परम्परा से बिल्कुल भिन्न था।

यद्यपि पारद न तो भारत में पाया जाता है एवं न ही पाया जाता था, फिर भी आठवीं से उन्नीसवी शताब्दि तक इन 1200 वर्षों में पारद पर अत्यधिक शोध-कार्य हुआ है, जो कि विश्व में किये गये सम्मिलित कार्य का कई गुना है।

इन्हीं वर्षों के क्रमिक विकास के दौरान पारद रसायन का सैद्धान्तिक पक्ष विभिन्न भारतीय दर्शन परम्पराओं द्वारा प्रभावित हुआ है, उदाहरणार्थ सांख्य, जैन, बौद्ध, वेदान्त, शैव, योग एवं अनेक तांत्रिक मत नाथयोगी, सिद्ध इत्यादि। इन सभी धार्मिक परम्पराओं के प्रभाव-स्वरूप एक नई रसतन्त्र दर्शन प्रणाली का जन्म हुआ, जो कि माधवाचार्य द्वारा रचित 'सर्वदर्शन संग्रह' के 9वें अध्याय 'रसेश्वर दर्शन' में वर्णित है।

रसतन्त्र के विकास के दौरान विभिन्न रसाचार्यों द्वारा, रसग्रन्थों की रचना की गई, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं।

रसरत्नाकर या रसेन्द्रमङ्गल (नागार्जुन, 8वीं शती)

रसहृदय तन्त्र (गोविन्द भगवत् पाद)

रसार्णव (12वीं शती)

रससार (गोविन्दाचार्य 13वीं शती)

रसेन्द्रचिन्तामणि (ढुण्ढुकनाथ)

रसप्रकाश सुधाकर (यशोधर, 13वीं शती)

रसरत्नसमुच्चय (वाग्भट्, 14वीं शती)

काकचण्डेश्वरीमत तन्त्र (काकचण्डेश्वरी, 12-13वीं शती)

रसरत्नाकर (नित्यनाथ सिद्ध, 12वीं शती)

रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपाल कृष्ण भट्ट, 1 वीं शती)

रसप्रदीप (प्राणनाथ, 16वीं शती)

धातुमञ्जरी (भैरवानन्द योगी, 17वीं शती)

रससंकेत कलिका (कायस्थ चामुण्ड, 16-17वीं शती)

रसेन्द्रसार संग्रह (माधवाचार्य)

योगरत्नाकर (मयूरपादभिक्षु, 19वीं शती)

इसके अतिरिक्त रसकामधेनु, पारदसंहिता (निरंजनदास, 19वीं शती) इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण रससाहित्य उपलब्ध है।

प्रसिद्ध अरबी विद्वान 'अलबीरुनी' ने अपने साहित्य में उज्जैन के महापुरुष, रसाचार्य व्याडि का वर्णन किया गया है, जो 27 रससिद्धों में अति वरिष्ठ माने जाते हैं एवं ऐसा अनुमान है कि व्याडि, विक्रमादित्य के समय के हैं।

भारत में रस सम्बन्धी इतने विस्तृत कार्य एवं प्राप्य विशाल साहित्य को देखते हुए, एक प्रश्न सहज रुप से पैदा होता है कि, भारत में पारद सम्बन्धी इतने विशद् शोध-कार्य के पीछे वह कौन सा प्रेरणा स्रोत है, जिसके बल पर इतने विस्तृत रससाहित्य की रचना हो सकी, एवं सतत् 1200 वर्षों तक विद्वानों ने इस पर कार्य किया, जबकि भारत में पारद उपलब्ध नहीं है? ऐसा क्योंकर हुआ होगा?

इस प्रश्न का उत्तर पारे एवं गंधक की उत्पत्ति एवं उनके विशिष्ट गुणों के सम्बन्ध में प्रचलित विविध दार्शनिक, प्रतीकात्मक एवं धार्मिक मान्यताओं में पाया जा सकता है।

भारत, मिश्र, चीन, अरब आदि देशों के प्राचीन रसग्रन्थों में पारद से स्वर्ण बनाने की एवं हल्की धातुओं को अन्य विधियों द्वारा उच्चतर धातुओं में परिवर्तित करने हेतु कई विधियाँ स्पष्टतः वर्णित हैं। इसके साथ-साथ पारद की सहायता से अमृत तुल्य रसौषधियाँ बनाने का भी उल्लेख मिलता है जो मानव शरीर को अजर-अमर बना सकती हैं।

हमारी पौराणिक कथाओं के अनुसार पारद, भगवान शिव का वीर्य एवं गन्धक भगवती पार्वती का रज माना गया है। जिस वीर्य एवं रज के सहयोग से भगवान कार्तिकेय जैसे असुर नाशक, देवसेनानायक, विभूति का प्रादुर्भाव हो सकता है वही अमोघ वीर्य हल्की धातुओं (जस्ता, ताँबा, लोहा) को स्वर्ण क्यों न बना देगा? एवं उसी वीर्य एवं रज के संयोग से अमृत तुल्य दिव्यौषधि क्यों न निर्मित हो सकेगी?

मनुष्यमात्र के लिये जीवन का परम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान या निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति माना गया है। इस अवस्था को जीवन-मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति कहते हैं, एवं यह अवस्था एक दीर्घकालीन साधना के बाद ही प्राप्त की जा सकती है। इसी दार्शनिक चिन्तन धारा को रसरत्नसमुच्चय में ग्रन्थकार ने निम्न रूप में व्यक्त किया है—

"आयतनम् विद्यानाम् मूलम् धर्मार्थ काम मोक्षाणाम्।
श्रेयः परम् किमन्यत् शरीरमजरामर विहायैकम्।।
तस्माज्जीवन मुक्तिम् समीहमानेन योगिना प्रथमम्।
दिव्या तनुर्विधेया हर गौरी सृष्टि संयोगात्।।"

ऐसे समस्त उद्धरणों का अध्ययन यह दर्शाता है कि, चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सुगमता, मानव-कल्याण एवं उपयोगिता की दृष्टि से किसी एक सुलभ साधन की प्राप्ति की आशा भारतीय वैज्ञानिकों के मन में थी। वे इस पदार्थ की सहायता से दिव्यौषधि बनाकर एवं हल्की धातुओं को स्वर्ण में बदल कर, पूरे मानव समुदाय का कल्याण चाहते थे। इसका प्रणाम वाग्भट् के रसरत्नसमुच्चय में स्पष्ट है—

"इस बन्धश्च स धन्यः प्रारंभे यस्य सततमिव करुणा सिद्धे रसे करिष्ये महीमहम् निर्जरा मरणम् ॥'

जबकि पश्चिम में भोगों को चिरकाल तक भोग सकने की क्षमता एवं धन तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह हेतु लक्ष्य निर्धारित रहते थे।

भारत में पारद के उपयोग के लिये दो महान् लक्ष्य स्थिर किये गये (1) लौह सिद्धि (2) देह सिद्धि।

लोहसिद्धि का अर्थ है, पारद को शुद्ध एवं शक्तिशाली करते-करते इस अवस्था तक ले जाना कि वह हल्की धातुओं को बड़े परिमाण में, स्वर्ण बना सके, इसी कारण पारद को रस या रसेन्द्र भी कहते हैं।

देह शुद्धि का अर्थ है कि, पारद को इतना संस्कृत एवं शक्तिशाली बना देना कि, वह अमृत तुल्य औषधि के निर्माण में सहायक हो सके।

चूँकि पारद या शिव वीर्य पृथ्वी के गर्भ में बहुत गहरा प्रविष्ट हो गया था एवं युगों से वहाँ विद्यमान है अतः इसमें कई अशुद्धियाँ या दोष आ गये हैं। ये दोष हैं—नाग बंग, मल, बन्हि, चापल्य, विष, गिरि, असह्यग्नि आदि।

अतः मानवीय उपयोग के पूर्व इन दोषों को हटाना अति आवश्यक है, अन्यथा अशुद्ध पारद की औषधियाँ, कुष्ठ रोग जैसे घृणित रोग उत्पन्न कर सकती है, साथ ही मृत्युकारक भी हो सकती हैं।

उपर्युक्त लोह एवं देह सिद्धि के लक्ष्यों तक पहुँचने के लिये व्यापक शोधकार्य के पश्चात्, मुख्यतः अठारह सोपान निश्चित किये गये हैं जिन्हें 'अष्टादश संस्कार' के नाम से जाना जाता है। इनके नाम क्रमशः—

स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थान, पातन, रोधन या बोधन नियमन, प्रदीपन, गगनग्रास (अभ्रक भक्षण), चारण, गर्भद्रुति, वाह्यद्रुति, जारण रंजन सारण, क्रामण, वेद्य और सेवन या शरीर योग अथवा भक्षण हैं।

इनमें से प्रथम आठ संस्कार पारद को चिकित्सोपयोगी बनाने के लिये हैं। इन संस्कारों में पारद सभी प्रकार के नैसर्गिक एवं कंचुकों से मुक्त हो जाता है। गगनग्रास से क्रामण तक पारद लोह सिद्धि के योग्य बन जाता है एवं इसके बाद के दो संस्कार दिव्य देह की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

हमारे रसग्रन्थों म इन संस्कारों को पूर्ण करने के लिये एवं दिव्यौषधि बनाने हेतु, रसकर्मशाला, विभिन्न उपकरणों, एवं रसकर्मी की विशेषताओं आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विभिन्न रसकर्म जैसे आसवन, निष्कर्षण इत्यादि के लिये भिन्न-भिन्न रसयंत्रों उदाहरणार्थ—दोलायंत्र, स्वेदनीयंत्र, पातनयंत्र, दीपिकायंत्र, डेकीयंत्र, बालुकायंत्र, लवणयत्र, नालिकायंत्र, विद्याधरयंत्र, कोष्ठीयंत्र, इष्टिकायंत्र, डमरुयंत्र, धूपयंत्र, वारुणीयंत्र, तप्तखल्वयंत्र सत्वपातन, कोष्ठी, सुराकोष्ठी, भस्त्रिका, कुण्डली इत्यादि का उल्लेख मिलता है। आचार्य स्वामी सत्यप्रकाश ने अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत में रसायन का विकास" में इन विभिन्न रसयंत्रों को बड़े ही सरल प्रकार से एवं चित्रों की सहायता से प्रस्तुत किया है।

विभिन्न रसौषधियों के बनाने एवं उनके उपयोग की विस्तृत विधियाँ रसग्रन्थों में दी हुई हैं।

आचार्य हरि प्रपन्न द्वारा रचित 'रसयोगसार' नामक ग्रंथ में निम्न मुख्य रसौषधियाँ वर्णित हैं—

अग्निकुमार, आनन्दभैरव, कन्दर्पकोकिल, कुष्ठान्तक, जीर्णज्वरारि, त्रिपुरभैरव, वित्तमुद्गर, मृतसञ्जीवनी, वातगजांकुश, शूलगजकेसरी, सुवर्ण-मालती वसंत, विद्यावागीश्वर, ज्ञानोदय रस इत्यादि।

समस्त रसौषधियों के नाम, उनके उपयोग की ओर इंगित करने वाले, सुरुचिपूर्ण, साहित्यिक एवं दार्शनिक भाव से ओत-प्रोत हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि रसविद्या के विकास में तेरहवीं शती से सोलहवीं शती तक का समय स्वर्णयुग था, परन्तु बाद के इन तीन सौ वर्षों में हमारा देश, दासता, अन्धविश्वास आत्महीनता एवं रूढ़ियों में ही ग्रस्त रहा और विद्वानों का रसतन्त्र की ओर उतना आकर्षण नहीं रहा।

लेकिन अब पुनः समय आ गया है जबकि रसतन्त्र में सारगर्भित रससाहित्य का प्रकाशन होना चाहिये ताकि विश्व में एक बार पुनः भारतीय रसदर्शन की परम्परा विशिष्ट, गौरव-शाली, एवं अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। विश्व के रसायन एवं समग्र विज्ञान के विकास के इतिहास में भारत को उसका उचित स्थान प्राप्त होना ही चाहिये।

पारद के समस्त अष्टादश संस्कारों एवं अनेक रसकर्मों पर विशद रूप से, आधुनिक प्रयोग-शालाओं में शोधकार्य किया जाना चाहिये एवं समस्त विधियों एवं सिद्धान्तों की आधुनिक नवीनतम परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की जानी चाहिये।

पारद की समस्त रसौषधियों एवं यौगिकों पर भी पूर्ण आधुनिक विधियों उदाहरणार्थ नाभिक चुम्बकीय अनुवाद, इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी इत्यादि द्वारा शोधकार्य किया जाना चाहिये।

अब उचित युग है जब समस्त राष्ट्रप्रेमी भारतीय वैज्ञानिकों को एक होकर विश्व के मानव समुदाय के कल्याण एवं ज्ञानदेवी मां सरस्वती की अर्चना हेतु विज्ञान के इतिहास एवं इसके दर्शन के क्षेत्र में विकास हेतु स्वयं को अर्पित कर देना चाहिये।

विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

●●

राष्ट्र-भाषा को अपनाइये।

किसी संख्या का वर्ग निकालना

निशीथ कुमार जैन

इस नियम से किसी संख्या का वर्ग निकालने के लिये A, B, C, D,·········उर्ध्वाधर वर्ग लेते हैं और आवश्यकता पड़ने पर —B,—C, —D,·········भी ले सकते हैं। इसमें A मुख्य वर्ग है।

माना 'x y' संख्या का वर्ग निकालना है। जहाँ x और y कोई भी प्राकृतिक संख्या है।

इसके लिये तीन नियम होंगे।

(क) x का वर्ग

इसको हम A तक के नीचे रखते हैं। अर्थात् A से आगे नहीं बढ़ सकते और A के नीचे रखना जरूरी है। आवश्यकता पड़ने पर —B,—C, —D,······इत्यादि प्रयोग में ला सकते हैं। इसके प्रयोग में कोई बंधन नहीं है।

अगर x का वर्ग एक अंक की संख्या में आता है तो उसे A के नीचे रखते हैं। दो अंक की संख्या में आता है तो उसे —B, और A के नीचे रखते हैं। तीन अंक की संख्या में आता है तो —C,—B, और A में रखते हैं। इत्यादि

(ख) $2 \times x \times y = 2\ x\ y$

अंक की संख्या है तो इसे अगर y स्वयं एक गुणक को B तक के नीचे रखते हैं और y स्वयं दो अंक की संख्या है तो इस गुणक को C तक के नीचे रखते हैं यानी A से 2 कदम आगे तक। अगर y स्वयं 3 अंक की संख्या है तो इसे D तक रखते हैं अर्थात् A से 3 कदम आगे। इत्यादि

x कितने अंक की भी संख्या हो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

(ग) y का वर्ग

अंक की संख्या है तो इसके अगर y स्वयं एक वर्ग के मान को C तक रखते हैं अर्थात् A से दो कदम आगे। अगर y स्वयं दो अंक की संख्या है तो इसके वर्ग के मान को E तक में रखते हैं यानी A से $2 \times 2 = 4$ कदम आगे। इसी प्रकार n होने पर $2 \times n = 2\,n$ कदम आगे।

इस प्रकार इन संख्याओं को जोड़ लेते हैं। इससे दी हुई संख्या का वर्ग मालूम हो जाता है।

नोट—y को एक अंक का मानने में ही सुविधा रहती है।

अब कुछ आवश्यक उदाहरण दिये जा रहे हैं।

उदा॰—1

$(23)^2 =$	—B,	A,	B,	C
		4		
		1	2	
				9
		5	2	9

इसलिये $(23)^2 = 5\ 2\ 9$

उदा॰—2

$(89)^2$	—B,	A,	B,	C
	6	4		
	1	4	4	
			8	1
	7	9	2	1

इसलिये $(89)^2 = 7921$ उत्तर

उदाहरण—3 (क) $(23\ 2)^2$

```
  23  2      —D,—C,—B, A, B, C
                   5   2   9
                       9   2
                           4
              ---------------
                   5   3   8   2   4
```

$(232)^2 =$ 5 3 8 2 4 उत्तर

(ख) $(2\ 3\ 2)^2$

```
| (32)²                   |  —B, A B C D E
|    =   —B, A, B, C,     |      4
|            9            |      1 2 8
|            1   2        |        1 0 2 4
|                    4    |  ----------------
|    -----------------    |      5 3 8 2 4
|        1   0   2   4    |
```

$(232)^2 =$

```
        4
        1   2
                9
     -------------
        5   2   9
                9   2
                        4
     --------------------
        5   3   8   2   4
```

उदा०—4

```
    (2345)²
      4
      1   2
              9
  -------------
      5   2   9
          1   8   4
                  1   6
  ---------------------
      5   4   7   5   6
          0   2   3   4   0
                      2   5
  -------------------------
          5 4 9 9 0 2 5
```

$(2345)^2$ = 5499025 उत्तर

उदा०—5

```
    (1212)²
    —C—B A B C
      1   4   4
          2 8 8
              1 4 4
  -------------------
      1 4 6 8 9 4 4
```

बाल विज्ञान

जहरीले-पौधे

सोहन लाल बागोरा

जहर का नाम सुनते ही अक्सर हमारे सामने जीवन को क्षति पहुँचाने वाली कल्पना उभर आती है। इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की वनस्पति भिन्न-भिन्न स्थानों में पाई जाती है जिनमें से अधिकतर मानव जगत के लिये लाभदायक एवम् कुछ हानिकारक हैं। विष हानिकारक तो होते ही हैं परन्तु अनेक विषैले पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके खाने से जीवों की और प्रमुख रूप से मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है, लेकिन विष हमेशा घातक नहीं होते, विशेष रूप से उस समय जब थोड़ी मात्रा मे लिये जाते हैं। ये विषैले पदार्थ खनिजों अथवा जीवों से ही प्राप्त नहीं होते अपितु पेड़-पौधों से भी उपलब्ध किये जा सकते हैं, अनेक विष तो, जो वनस्पति जगत से उपलब्ध होते हैं, खनिज जन्य एवम् जीव जन्य विष से भी अधिक हानिकारक होते हैं।

आत्मरक्षा—जहाँ वनस्पतियाँ प्राणिजगत के लिये भोजन का अखंड स्रोत हैं वहाँ कुछ वनस्पतियाँ विषमुक्त होने के कारण मानव के लिये भय का कारण भी बन गई हैं। कुछ ही पेड़-पौधों को विषैला बनाने में प्रकृति का क्या रहस्य है इस बारे में अभी पूरी जानकारी नहीं हुई है, फिर भी ऐसा समझा जाता है कि पेड़-पौधे पशुओं से तथा मनुष्यों से स्वयं अपनी रक्षा करें इसलिये प्रकृति ने इन्हें विष की थैली प्रदान की है। यद्यपि विषैले पौधों के भिन्न-भिन्न अगों में विष रहता है, पर वह उपापचयन के समय पदार्थों का आक्रमण होने के कारण उत्पन्न होते हैं।

अल्कलॉयड—इसके अन्तर्गत नाइट्रोजनयुक्त क्षारीय आते हैं। निकोटीन एल्कलॉयड इस वर्ग का अच्छा उदाहरण है जो तम्बाकू में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इसका सीधा प्रभाव स्नायु मण्डल पर होता है। कभी-कभी पशु गलती से ऐसे पौधे खा लेते हैं और मर जाते हैं। एल्कलॉयड का एक अन्य उदाहरण है कोनीन जो हेमलाक के पौधों में पाया जाता है कोनीन का 120 मिलीग्राम किसी प्राणी की जीवन लीला समाप्त करने के लिये पर्याप्त है। ऐसा समझा जाता है कि महान् दार्शनिक सुकरात को मृत्यु, दंड देते समय हेमलाक का रस पीने को दिया गया था।

सर्पगंधा के पौधे से रिसर्पीन नामक अल्कलॉयड प्राप्त किया जाता है जो चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। सर्पगंधा पर प्रारंभिक खोज भारत में ही की गई थी। रिसर्पीन मानसिक रोगों विशेषकर अति तनाव के लिये अचूक औषधि है। सर्पगंधा के महत्व को जानने के लिये इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रतिवर्ष केवल अमेरिका में लगभग दो करोड़ लोगों की मानसिक चिकित्सा रिसर्पीन से ही की जाती है। एक अन्य अल्कलॉयड है कोकेन। यह कोकेन के पौधों से ही प्राप्त किया जाता है। पेरू व बेलोविया के आदिवासी अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये इस पौधे की पत्तियों का सेवन करते हैं। खानों तथा चाय बागानों के मालिक मजदूरों से अधिक कार्य करवाने के लिये उन्हें इस पौधों का सेवन कराते थे। कोकेन के अधिक प्रयोग से लत पड़ जाती है। इसके सेवन से आनन्ददायी नशे की अनुभूति होती है जिससे वह व्यसन बन जाता है इसके कई दुष्परिणाम होते हैं, जैसे नपुंसकता,

नींद का न आना और स्मरण शक्ति का लोप आदि। अतः हमें इसके प्रयोग से बचना चाहिये। कोकेन चेतना शून्य करने वाली औषधि के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

रत्ती—वैसे हमारी भाषा में रत्ती आज भी भार की एक इकाई मानी जाती है [जैसे तोला, मासा, रत्ती] परन्तु रत्ती वास्तव में एक पौधा है जिसके लाल रंग के फल या बीज लगभग समान भार के होते हैं। यह बहुत ही विषैला होता है। आकर्षक रंग होने के कारण यह अपनी ओर छोटे बच्चों को आकर्षित करता है, परिणाम-स्वरूप छोटे बच्चे गलती से इन्हें खा लेते हैं। यदि औरतें इसे खा लें तो उनकी प्रजनन शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है और गर्भ धारण की संभावना कम हो जाती है। गर्भ धारण की स्थिति में इसके सेवन से गर्भपात भी हो सकता है। जाँच करने पर पता लगाया गया कि इसमें सक्रिय अवयव एब्रिन की मात्रा पाई जाती है जो इन दुष्परिणामों का मूल कारण है। एक व्यक्ति ने एक बार करीब एक ग्राम ऐब्रिन खालिया या परिणाम स्वरूप उसमें पेचिश, कंपकंपी आदि के लक्षण पाये गये। इनका अधिकतर प्रयोग पशुओं को मारने में किया जाता है।

सायनाइड— विषों में सबसे घातक विष है सायनाइड बहुत से पौधों में एक वर्ग विशेष में ग्लाइकोसाइड् पाये जाते हैं। यह जलीय माध्यम में हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करता है। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि हिटलर द्वारा बनवाये गये विषैले गैस कक्षों में पोटेशियम सायनाइड तथा किसी अम्ल की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हाइड्रोसायनिक अम्ल की गैस युद्धबंदियों शीघ्र मार देती थी। कुछ पौधों को खाने से पशु प्रकाश के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाते हैं जिससे चरते समय उनकी त्वचा पर प्रकाश पड़ने पर जलन होती है। सायनाइड के कुछ यौगिक उपयोगी भी हैं जिनका प्रयोग त्वचा रोगों तथा श्वेत कुष्ठ रोगों में किया जाता है।

कीटनाशक पौधे—मानवता के पक्के शत्रु कीड़े जिनकी लाखों जातियाँ अरबों की संख्या में कुलबुलाती रहती हैं, एवम् संसार की खाद्य सामग्री का एक तिहाई भाग नष्ट कर देते हैं, मारना परमावश्यक है। इस संदर्भ में कीटनाशक पौधे बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। काफी समय पहले पायरेथम के फूलों का उपयोग कीड़े मारने के लिये किया जाता रहा है। डेरिस पौधा मछलियों द्वारा खाये जाने पर इनकी मृत्यु का कारण बना है। इन पौधों में रोटनोन नामक सक्रिय अवयव होता है जिससे यह मछलियों के शरीर में पहुँचने ही उनकी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। इसी प्रकार का एक अन्य पौधा है लशोंता। इसमें टेफ्रोसीन नामक सक्रिय अवयव होता है जो कीटनाशक है। कुछ वर्षों पूर्व सन् 1967-68 में खेसरी दाल के प्रयोग से मध्यभारत में लेथारिज्म नामक रोग से बहुत लोग पीड़ित हो जाते थे इस रोग से भार सहन करने की की क्षमता कम पड़ जाती है तथा टाँगें टेढ़ी हो जाती हैं तथा नाड़ी मण्डल अशक्त हो जाता है। इस रोग का कारण खेसरी दाल में ऐमिनो अम्ल की उपस्थिति पाई गई है अनुसंधान से पता चला कि यदि दाल पकाने से पहले अच्छी तरह धो ली जाय तो हानि नहीं होती।

सर्पजड़—यह भी एक विषैला पौधा है सामान्यतः गाय-भैंस इन पौधों के समीप नहीं जाते हैं। किन्तु अकाल की स्थिति में या घास की कमी के समय यदि खाने में आ जाय तो उन्हें दुग्ध रोग हो जाता है और ऐसे पशुओं का दूध पीने से मानव जगत को भी यह रोग हो जाता है इस रोग का मुख्य लक्षण है कंपकँपी। रामायण और महाभारत में वर्णित विषबुझे तीरों की घटनाएँ कई लोगों ने पढ़ी या सुनी होंगी। अब भी अफ्रीका के जंगल में आदिवासी लोग विषबुझे

बाणों से सुसज्जित रहते हैं उनके लिये तो ये विष बाण भी भोजन प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। बाण-विष के रूप में स्ट्रोफेंथस का प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आ रहा है। थिवीटिया जाति का एक पौधा है, पीला कनेर, जिसका प्रयोग विषैले पदार्थ के रूप में काफी प्रचलित रहा है। इन पौधों में उपस्थित सक्रिय पदार्थ का भी अध्ययन किया जा चुका है। मुण्डा जाति के लोग सुअरों को मारने के लिए उन्हें कनेर के बीज खिलाते हैं और धनोपार्जन करते करते हैं। अपने देश में तो कनेर का विष इतना प्रसिद्ध है कि औरतें लड़ते-लड़ते तिरस्कार-युक्त व्यंग से अक्सर कहती हैं कि 'जा कनेर की जड़ें खाकर मर जा।''

सभी विषैले पौधों को गिनाना तो सम्भव नहीं है, इस विषय में समय-समय पर अनुसंधान होते रहते हैं अतः ये ज़हरीले पौधे हमारे लिये घातक भी है तथा लाभदायक भी। इस सृष्टि में असंख्य ऐसे पौधे हैं जिनके विष को औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है एवम् किया जा सकता है।

—विज्ञान परिषद्, नाथद्वारा से

● ●

(पृष्ठ 16 का शेष)

उदा०—6

```
2 3 4 9 8 6
  4
  1 2
      9
-------------
  5 2 9
    1 8 4
        1 6
-------------
  5 4 7 5 6
      4 2 1 2
          8 1
-------------
  5 5 1 7 8 0 1
      3 7 5 8 4
            6 4
-------------------
  5 5 2 1 5 6 0 0 4
        2 8 1 9 7 6
                3 6
-----------------------
  5 5 2 1 8 4 2 0 1 9 6
```

$(234986)^2 = 55218420196$ उत्तर

● ●

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक—आर्थिक वनस्पति-विज्ञान
लेखक—डा० गणेश शंकर पालीवाल
प्रकाशक—हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़

पृष्ठ संख्या—455
प्रथम संस्करण—1974
संशोधित मूल्य—16 रुपये 25 पैसे

मनुष्य और पौधों का संबंध बहुत पुराना है। पौधों से हमारी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इनसे हमें खाने को भोजन, पहनने को वस्त्र और आवास के लिए लड़कियाँ प्राप्त होती हैं। विभिन्न प्रकार की औषधियाँ, ऊर्जा के लिए लकड़ी और कोयला, लिखने का कागज और दैनिक जीवन में काम आने वाली बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति पौधों से होती है। पौधे हवा को स्वच्छ करके सांस लेने योग्य बनाते हैं। आज जनसंख्या-विस्फोट, वातावरणीय-प्रदूषण और प्राकृतिक संपदाओं के लगातार घटते जाने के कारण हम इतिहास के ऐसे मोड़ पर आ गए हैं जब सभी के लिए पौधों और उनके आर्थिक महत्व को समझना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

पुस्तक के लेखक डा० पालीवाल, जो दिल्ली-विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान विभाग में वरिष्ठ अध्यापक हैं, इस पुस्तक की रचना द्वारा विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं दोनों में पौधों के आर्थिक महत्व के प्रति उत्कंठा जागृत करने में सफल हुए हैं।

पूरी पुस्तक 21 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम और द्वितीय अध्याय में विश्व के विभिन्न महाद्वीपों की जनसंख्या और कृषिक्षेत्र, भारत का कुल क्षेत्रफल, भारत की वनस्पतियां, जलवायु मिट्टी की किस्में, नई फसलों की खोज, पादप-रोगों पर विजय, हरित-क्रान्ति और इसमें भारतीय वैज्ञानिकों की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। अध्याय 3 से 20 तक ऐसे पौधों का वर्णन है जिनसे गेहूँ, चावल, मक्का, जौ, जई, बाजरा और ज्वार जैसे धान्य; गन्ना, चुकन्दर, शकरकंद, कसावा, आलू जैसी शर्कराएँ एवं मांड; नारियल, सरसो, मूँगफली, तिल, अलसी एवं अण्डी जैसे तेल और वसाएं; अरहर, मटर, मूँग मसूर, चना और सोयाबीन जैसे दलहन; आम, केला, सेब, संतरा, अमरूद, अंगूर, पपीता, अनन्नास, अनार, लीची, काजू, खजूर, चेरी, बेर जैसे फल; धनियाँ, जीरा, सौंफ, कालीमिर्च, लाल मिर्चा, इलायची, हल्दी, लहसुन, दालचीनी, केसर, अदरक जैसे मसाले; चाय, काफी, कोको जैसे पेय; कपास, पटसन, सन, अलसी, नारियल जटा जैसे रेशे; सागवान, साल, सेमल, चीड़, देवदार जैसी लकड़ियाँ; भारत के वन, वनों के प्रकार, कागज उद्योग; रबड़, रेजिन, लाख; विभिन्न प्रकार के वाष्पशील तथा सुगंधित तेल जैसे गुलाब, केवड़ा, खस, चम्पा, चन्दन, लौंग इत्यादि, सर्पगंधा, कुनैन, नीम, असगंध, पीला कनेर, अजमाइन, कुचला जैसे औषधीय पौधे; बबूल, गेम्बीयर, मेंहदी, कुसुम, हरसिंगार, ढ़ाक, सिंदूरिया जैसे चर्मशोधक एवं रंग प्रदान करने वाले; पौधे; तम्बाकू, भांग, अफीम जैसे स्वापक; कीटनाशक पौधे; पान, सुपारी, कत्था तथा विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ हैं। अंतिम अध्याय 21 में समाज के विकास में पौधों की भविष्य में क्या भूमिका हो सकती है, इस पर प्रकाश डाला गया है। और अंत में हमें लेखक से सहमत होना पड़ता है जब वह कहते हैं कि मनुष्य को "प्राणियों तथा वातावरण के पारस्परिक संबंधों को प्रभावित करने वाले नियमों को सीखना होगा।"

पुस्तक के अन्त में संदर्भ-सूची (पृष्ठ 443—450) और अनुक्रमणिका (पृष्ठ 451—455)

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने में सहायक हैं। रेखांकित चित्र स्पष्ट हैं, किन्तु कुछ फोटोग्राफ साफ नहीं छपे हैं। विभिन्न प्रकार की फसलों को नक्शों की सहायता से भलीभाँति दर्शाया गया है। पर यत्र-तत्र मुद्रण की भूलें खटकतीं हैं। उदाहरण के लिए पृष्ठ 7 पर चित्र 1·5 (जो सुप्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक निकोलाई ए० वेविलोव का चित्र है) उल्टा छपा है। पृष्ठ 82 पर *Physoderma zeamaydis* के स्थान पर *Physodrma zeamaydis* छपा है। पृष्ठ 121 पर *colletotrichum faleatum* के स्थान पर *Colletotrichum falcatum* होना चाहिए। पृष्ठ 167 पर *Linum usitatissimum* के स्थान पर *Linum Vsitatissimum* छपा है। पृष्ठ 238 पर लिकर के स्थान पर लिफर छपा है। इसी प्रकार पृष्ठ 379 पर *Rauwolfia serpentina* के स्थान पर *Rauwolfia ·erpentia* छपा है। पुस्तक में मानवनिर्मित अन्न-ट्रिटिकेल की कमी खटकती है। पर प्रेस की भूलें ऐसी नहीं हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता में कमी आए। आशा है अगले संस्करण में इसका परिहार हो जायगा। पुस्तक का मुद्रण, गेट अप, कागज और जिल्दबंदी अच्छी है। मूल्य उचित रखा गया है। सरल व सुग्राह्य भाषावाली इस पुस्तक पर लेखक की विद्वत्ता और मौलिक सूझबूझ की स्पष्ट छाप है। इस पुस्तक ने इसके पूर्व इस विषय पर हिन्दी में किसी अच्छी पुस्तक के न होने की कमी को दूर कर दिया है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

पुस्तक—अतिचालकता
लेखक : श्यामलाल काकानी;
प्रकाशक : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर;
पृष्ठ संख्या 160;
मूल्य 11 00 रु०
प्रथम संस्करण 1976

यह मोनोग्राफ एक अत्यन्त उपयोगी शीर्षक "अतिचालकता" पर है जो भौतिकी के स्नातकोत्तर छात्रों तथा इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त सूचनाप्रद होगा। लेखक ने बड़े ही श्रम से, चित्रों आदि के द्वारा पुस्तक को लाभप्रद बनाने का उद्योग किया है। जहाँ लेखक बधाई का पात्र है वहीं राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी को बधाई नहीं जा सकती क्योंकि चित्रों के आरेख ठीक से न बनवाने तथा अच्छा मुद्रक न चुनने के कारण पुस्तक की छपाई एकदम चौपट हो गई है। चाहे समीकरणों के गणितीय चिन्ह हों, चाहे सारणियों की सेटिंग, या कि प्रूफ शोधन को ले लें, सभी में लापरवाही दिखेगी। मुद्रण अत्यन्त असन्तोषजनक है कागज भी अच्छा नहीं लगा।

खेद है कि लेखक के सारे परिश्रम को उत्तम उत्पादन के अभाव में गौणता प्राप्त हो गई है। ठीक है कि पुस्तक सस्ती है किन्तु आकर्षण के नाम पर कुछ नहीं है। क्या आशा की जाय कि शीघ्र ही इसका पुन: सस्करण छाप कर इस कमी की पूर्ति की जा सकेगी।

दो शब्द अन्य में दी गई पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में अनेक सामान्य शब्दों को स्थान देना, उनकी पुनरुक्ति तथा उनमें भी अशुद्धि का होना बताता है कि इस पर ठीक से ध्यान नहीं दिया गया। पुस्तक में आये शब्द 'संसक्तता' अथवा 'अभिमुखता' का अंग्रेजी समानार्थी नहीं दिया गया जिससे इन शब्दों की यार्थता की परख नहीं की जा सकती।

शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान वार्ता

बिजली का नया बल्ब जिसमें बहुत कम बिजली खपेगी

अमेरिका में एक ऐसा नये प्रकार का बिजली का बल्ब तैयार किया गया है, जो वर्षों तक सामान्य बल्ब जितना ही प्रकाश देता रहेगा, परन्तु उसमें सामान्य प्रचलित बल्ब की तुलना में लगभग एक तिहाई बिजली ही खपेगी। इस 'बल्ब' का आविष्कार अमेरिका के ऊर्जा अनुसंधान एवं विकास प्रशासन द्वारा नई ऊर्जा टैक्नॉलाजी का विकास करने के लिए किये जा रहे अनवरत प्रयास का एक छोटा सा उदाहरण है।

इस नये बल्ब का आविष्कार कैलिफोर्निया के एक आविष्कारक डोनाल्ड होलिस्टर ने किया है। इस बल्ब में कोई 'फिलामेण्ट' नहीं है तथा यह फ्लोरेसेण्ट लाइट' के ढंग का प्रकाश सुलभ करता है। आकार-प्रकार में यह साधारण बल्ब जैसा ही दीखता है। बाजार में अभी यह बल्ब लगभग 10 डालर में बिकेगा लेकिन इसके प्रयोग से बिजली की जितनी बचत होगी उसको देखते हुए यह मूल्य अधिक नहीं कहा जा सकता। आविष्कारक को यह विश्वास है कि कालान्तर में यह नया बल्ब टामस एडिसन द्वारा आविष्कृत बल्ब का स्थान ग्रहण कर लेगा। श्री डोनाल्ड होलिस्टर टैक्नॉलाजी कार्पोरेशन औव् फुलरशेन (कैलिफोर्निया) में काम करते हैं तथा उनके इस आविष्कार के लिए अमेरिका की ऊर्जा अनुसंधान एवं विकास प्रशासन एजेंसी ने 'कम्पनी' को 3 लाख 10 करोड़ डालर का एक ठेका प्रदान किया है। इस ठेके के अनुसार एक वर्ष के समय में उक्त कम्पनी 'बल्ब' को ऐसा रूप दे देगी जिससे उसे बाजार में बिक्री के लिए सुलभ किया जा सके।

उक्त एजेन्सी ऊर्जा की बचत करने के लिए ऐसी ही कई योजनाओं को आर्थिक सहायता एवं प्रोत्साहन सुलभ कर रही है। इन योजनाओं में बिजली से चलने वाली मोटरगाड़ियों की बैटरियों के जीवनकाल में वृद्धि करने, शीतकाल में घरों को गर्म करने तथा गर्मी में ठण्डा करने के लिए जल का प्रयोग करने, ट्रकों के 'एक्जास्ट' से निकलने वाले ताप का उपयोग उनके इंजिनों को चलाने तथा पुराने रेडियेटरों के लिए एक स्वचालित बाल्ब का विकास करने सम्बन्धी योजनाएँ भी शामिल हैं।

बिजली के बल्ब से भी अधिक सूझबूझ वाली और उपयोगी एक और योजना है जिसे 'एनडिल साइकल एनर्जी सिस्टम' (एक्स) कहते हैं। इस विधि का प्रयोग घरों को ठण्डा और गर्म करने के लिए प्रयुक्त ऊर्जा में बचत करने के लिए होगा। इस विधि में एक 'ताप-पम्प' (ताप को स्थानांतरित करने वाली यान्त्रिक विधि) तथा 'वाटर आइस स्टोरेज सिस्टम' (हिम को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने वाली यान्त्रिक प्रणाली) का उपयोग किया जायेगा। टेनेसी यूनिवर्सिटी के प्रांगण में एक ऐसे भवन का निर्माण किया जा रहा है जिसमें उक्त विधि का परीक्षण किया जायेगा। शीतकाल में 'ताप-पम्प' घर के तल में विद्यमान जलागार से जल से ताप प्राप्त कर उससे घर को गर्म करने का प्रयास करेगा। जल से ताप के निकल जाने पर वह धीरे-धीरे हिम रूप में बदल जायेगा और तब उसका उपयोग ग्रीष्मकाल में घर को ठण्डा करने के लिए हो सकेगा। फिर, यह हिम पिघल कर जल का रूप ग्रहण कर लेगा और दुबारा शीतकाल में उसका उपयोग घर को गर्म करने के लिए किया जा सकेगा। इस विधि को पूर्णता प्रदान करने तथा पूर्णतः व्यावहारिक बनाने में लगभग 10 वर्ष का समय लग सकता है।

एजेन्सी ऊर्जा की बचत करने वाली ऐसी अनेक योजनाओं पर कार्य कर रही है।

सौर-शक्ति से शीघ्र ही विद्युत-उत्पादन सम्भव

सौर-रिसीवर के सफल परीक्षण से अब निकट भविष्य में सौर-शक्ति से विद्युत-उत्पादन की सम्भावनाएँ बलवती हो गयी हैं।

यह परीक्षण कैलिफोर्निया के कैनोगा पार्क में रोकवेल इण्टर्नेशनल की रोकेटडाइन डिवीजन द्वारा किया गया था। इस परीक्षण में 65 फुट के आकार वाला उन्नत सौर-विद्युत केन्द्रीय रिसीवर शामिल था। यह रिसीवर नई विद्युत-उत्पादन संकल्पना का केन्द्र-बिन्दु है। इस परीक्षण के अन्तर्गत 1,000 डिग्री फारेनहाइट वाष्प-ताप और 2,000 पौण्ड प्रति वर्ग इंच दबाव प्राप्त हुआ। 'रोकेटडाइन' के ऊर्जा प्रक्रिया के निदेशक, डा० जैक सिलवरमैन, के अनुसार यह सौर-विद्युत उत्पादन प्रक्रिया के विकास की दिशा में एक प्रमुख कदम है। इस कार्यक्रम का संचालन अमेरिकी ऊर्जा अनुसन्धान एवं विकास प्रशासन (इरडा) द्वारा किया जा रहा है।

इस संकल्पना में बड़े-बड़े दर्पणों का प्रयोग किया गया है जो एक ऊँचे टावर पर स्थित केन्द्रीय रिसीवर पर सूर्य किरणों को केन्द्रित करते हैं जहाँ यह सान्द्रित सूर्य-ऊष्मा जल को गर्म करके अधितापीय वाष्प में परिणत कर देती है। इस प्रकार यह केन्द्रीय रिसीवर रोकेट इन्जिनों जितनी, तथा कई बार परम्परागत ऊष्मा वायलरों से भी अधिक, ताप छोड़ता है।

श्री सिलवरमैन का कहना है कि रोकेटडाइन' की ताप-परावर्द्धन की यह तकनीक उसी प्रकार की है जिसका विकास अमेरिकी आन्तरिक्ष-कार्यक्रम में प्रयोग किये जाने वाले तरल ईंधन वाले विशाल रोकेट-इन्जिनों के लिए हुआ था। इसके विकास से अब सौर-शक्ति का दोहन सम्भव हो गया है। श्री सिलवरमैन ने बताया कि इस प्रकार के नवीन रिसीवर से सान्द्रित सौर-किरणों द्वारा उसी प्रकार ताप उत्पन्न होता है जैसा वाष्प-टर्बाइन विद्युत-उत्पादन के लिए उत्पन्न करती है।

'रोकेटडाइन' एक समझौते के अन्तर्गत मैक्डोनल डगलस कार्पोरेशन' और 'ई आर डी ए' के साथ मिल कर एक ऐसे केन्द्रीय सौर-रिसीवर और ऊष्मा-संग्रहण विधि का विकास करने में लगी है जिसकी सहायता से इस दशाब्दी के अन्त तक 10,000 किलोवाट का सौर-विद्युत शक्ति उत्पादक प्रथम संयन्त्र काम करने लगेगा।

इसके साथ ही 'रोकवेल' ने अमेरिका के अन्तरिक्ष-कार्यक्रम में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। अपोलो-योजना के अन्तर्गत चन्द्रमा पर मानव के अवतरण को सम्भव बनाने में इसका सहयोग सराहनीय है। और, अब यह स्पेस-शटल के 'आर्बिटर' के लिए मुख्य इन्जिन का निर्माण कर रहा है।

नाभिक संलयन से ऊर्जा

नाभिक संलयन द्वारा ऊर्जा प्राप्त करने की दिशा में वैज्ञानिकों का अनुसन्धान निरन्तर चल रहा है। हाल ही में अमरीका के कुछ वैज्ञानिकों ने घोषणा की है कि इस दिशा में काफी प्रगति हो गई है और 1980 तक लक्ष्य की पूर्ति हो जायगी। 6×10^{10} सेकण्ड प्रति घन सेन्टीमीटर तक के लिये 4·5 करोड़ डिग्री सेण्टीग्रेड ताप की आवश्यकता पड़ेगी संलयन शक्ति उत्पन्न करने के लिये। इस घोषणा के अनुसार 1 करोड़ डिग्री सेण्टीग्रेड ताप 2×10^{10} सेकण्ड प्रति घन सेन्टीमीटर तक के लिये प्राप्त करने में सफलता मिल गई है।

● ●

फार्म 4

(नियम 8 देखिए)

1 प्रकाशन स्थान	इलाहाबाद-2
2 प्रकाशन अवधि	मासिक
3 मुद्रक का नाम	सरयूप्रसाद पाण्डेय, नागरी प्रेस
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
पता	नागरी प्रेस, इलाहाबाद-6
4 प्रकाशक का नाम	प्रो० कृष्ण जी
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
पता	प्रधान मंत्री, विज्ञान-परिषद महर्षि दयानन्द मार्ग, इकाहाबाद-2
5 संपादक का नाम	डा० शिव प्रकाश
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
पता	रसायन विभाग, प्रयाग वि० वि० इलाहाबाद-2
6 उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के सांझेदार या हिस्सेदार हों।	प्रधान मंत्री विज्ञान-परिषद् इलाहाबाद-2

मैं कृष्ण जी, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरे अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य है।

कृष्ण जी

ता० 15।3।77

प्रकाशक के हस्ताक्षर

'भारतीय 'विज्ञान पत्रिका-समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 4-5
सं० 2034 विक्र०
अप्रैल-मई 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

मानवी व्यहार

डा० महेश कुमार शर्मा

जीवित वस्तुऐं बाहरी वातावरण के परिवर्तन से प्रभावित होती हैं। उदाहरणतः, अचानक तेज शोरगुल या पटाखे की ध्वनि या किसी कुत्ते के पीछे भौंकने से आप चौंक उठते हैं। यातायात-रोक प्रकाश के अचानक लाल हो जाने पर, आप अपने वाहन को ब्रेक लगाकर रोक देते हैं। सर्दियों में जब आपको ठंड महसूस होती है तो आप गर्म वस्त्रों का इस्तेमाल करते हैं। धुयें के वायुमंडल में आप घुटन सी महसूस करते हैं, आदि। इस प्रकार से हम देखते हैं कि मानवी व्यवहार अपने चारों ओर के वातावरण के परिवर्तन से काफी प्रभावित होता है।

कोलाहल, प्रकाश, या बाहरी वातावरण के किसी अन्य परिवर्तन जिससे हम प्रभावित होते हैं, उन्हें उद्दीपक कहते हैं। मानवी व्यवहार पर पांच प्रकार के उद्दीपक असर डालते हैं। ये हैं—प्रकाश, ध्वनि, गंध, स्वाद और दाब। प्रत्येक उद्दीपक को ग्रहण करने के लिये शरीर में ज्ञानेन्द्रिय होती है, यथा नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक भिन्न प्रकार का उद्दीपक ग्रहण करती है। इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही हमें चारों ओर के वातावरण के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

नेत्र : बाहरी वातावरण के विषय में लगभग 85 प्रतिशत ज्ञान हमें नेत्रों द्वारा प्राप्त होता है। मनुष्य की आंख और साधारण कैमरे में काफी समानता होती है (देखिये, चित्र-1)। नेत्र-गोलक के पारदर्शी अग्र भाग कॉर्निया से प्रकाश प्रवेश करता है। यह प्रकाश लेंस से फोकस के पश्चात् नेत्र-गोलक के पीछे रेटिना पर प्रतिबिंब बनाता है। रेटिना पर लाखों सूक्ष्म नर्व-छोर प्रकाश-सुग्राही होती हैं। रेटिना से नर्व-आवेग प्रकाशिक नर्व द्वारा मस्तिष्क तक ले जाये जाते हैं। इन नर्व-आवेगों के निर्वचन से मस्तिष्क ज्ञान प्राप्त करता है। यह सभी कुछ जो अभी हमने स्पष्ट किया है, हो रहा था, जब आप इस परिच्छेद के शब्दों को पढ़ रहे थे।
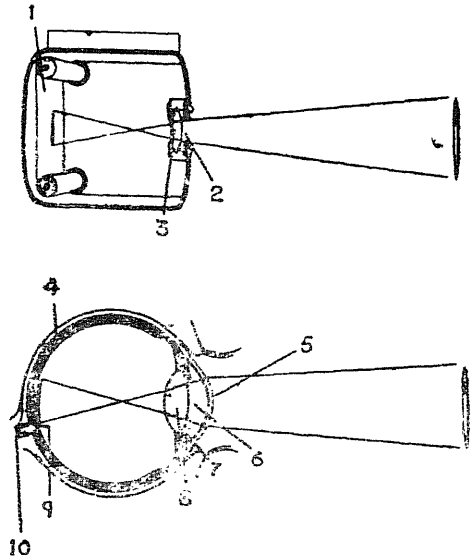
चित्र (1) : कैमरे (ऊपर) और आंख (नीचे) में समानता;
1. फिल्म, 2. डायाफ्राम में द्वार, 3. लेंस, 4. रेटिना, 5. कॉर्निया, 6. पुतली, 7. आइरिस, 8. लेंस 9. अंध बिन्दु, 10. प्रकाशिक नर्व

रेटिना में जहां प्रकाशिक नर्व, नेत्र-गोलक से पृथक होती है, उस स्थल पर नर्व छोर नहीं होती हैं। यह स्थल अंध बिन्दु कहलाता है, क्योंकि यहाँ प्रकाश को ग्रहण करने के लिये नर्व-छोर विद्यमान नहीं होती है। अंध बिन्दु कदाचित ही दिखाई पड़ता है क्योंकि नेत्र का मुख्य फोकस रेटिना पर किसी और स्थल पर होता है।

कैमरे से एक अच्छा चित्र खींचने के लिये प्रकाश की उचित मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार नेत्र को भी अच्छा प्रतिबिंब बनाने के लिये प्रकाश की उचित मात्रा की आवश्यकता होती है। नेत्र का रंगीन भाग आइरिस में प्रवेश करती हुई प्रकाश की मात्रा को नियंत्रित करता है और अच्छे कैमरों की भांति, यह आइरिस द्वारा स्वतः हो जाता है। जब प्रकाश धुंधला होता है तो आइरिस संकुचित हो जाती है और पुतली बड़ी हो जाती है। वास्तव में पुतली नेत्र का भाग नहीं है, परन्तु यह केवल आइरिस में एक द्वार है, जिससे नेत्र में प्रकाश प्रवेश करता है। जब प्रकाश तेज चमकीला होता है तो आइरिस चौड़ी हो जाती है और पुतली छोटी हो जाती है, जिससे नेत्र में प्रवेश करने वाले प्रकाश की मात्रा कम हो जाती है।

दृष्टि के लिये कुछ न कुछ प्रकाश आवश्यक होता है। उल्लू और बिल्ली बहुत कम प्रकाश में देख सकते हैं परन्तु बिल्कुल अंधकार में उनके लिये देख पाना असम्भव होता है। जब तक नेत्र की रेटिना में स्थित नर्व-छोर को उद्दीपन के लिये थोड़ा सा आवश्यक प्रकाश उपलब्ध नहीं है, तब तक दृष्टि संभव नहीं होती है।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो प्रतिबिंब बनने के कुछ क्षणों बाद भी रेटिना की नर्व मस्तिष्क को आवेग भेजती रहती है। इसे दृष्टि निर्बन्ध कहते हैं। इसी तथ्य पर चलचित्र संभव हो सका है। सिनेमा के पर्दे पर वास्तव में हम चित्रों की एक द्रुत शृंखला देखते हैं, जो एक सेकंड में 24 चित्रों की दर से प्रोजेक्ट की जाती है। प्रत्येक चित्र का प्रतिबिंब प्रोजेक्शन के पश्चात् भी कुछ क्षणों तक हमारे मस्तिष्क में विद्यमान रहता है और इसका अगले चित्र से अतिव्यापन हो जाता है। इस प्रकार से हमें गति का दृष्टि भ्रम होता है। जब हम टेलीविजन देखते हैं तो भी दृष्टि निर्बन्ध होता है। टेलीविजन के पर्दे पर प्रकाश का गतिमान बिन्दु एक सेकंड में अनेक बार प्रतिबिंब को आगे और पीछे बनाता है।

हमारे नेत्र बहुत ही कोमल अंग हैं। इनकी रक्षा करनी चाहिये ताकि जीवनपर्यन्त ये हमारा साथ दे सकें। कुछ व्यक्ति अंधे होते हैं क्योंकि किसी दुर्घटना से उनके नेत्रों की कॉर्निया पर छोटे-छोटे चिन्ह अंकित हो जाते हैं। कुछ लोग नेत्रों की प्रकाशिक नर्व के किसी रोग के कारण नष्ट हो जाने से भी नहीं देख पाते हैं। आंखों से जब तक नर्व-आवेग मस्तिष्क तक नहीं पहुंचते हैं, हम देख नहीं सकते हैं। कुछ व्यक्तियों की आंखों के लेंस प्रकाश की किरणों को रेटिना पर ठीक प्रकार से फोकस नहीं कर पाते हैं। नेत्रों के सामने कृत्रिम लेंस लगाकर इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। इस कारण जिन लोगों की आँखें कमजोर होती हैं, वे आंखों के सामने ऐनक लगाकर ठीक प्रकार से देख और पढ़ सकते हैं।

कान : दृष्टि के पश्चात् शायद सुनना, बाहरी वातावरण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रमुख इन्द्रिय-ज्ञान है। नेत्रों की ही भांति हमारे दो कान होते हैं। कम्पित वस्तुएं हमारे चारों ओर की वायु में तरंगें उत्पन्न करती हैं। ये कम्पन हमारे कानों के सुग्राही नर्व-किनारों को उद्दीपित करते हैं। जब ये नर्व-आवेग मस्तिष्क तक पहुंचते हैं तो हमें कम्पमान वस्तु से उत्पन्न और वायु तरंगों से ले जाई गई ध्वनि का बोध होता है।

कान की बनावट चित्र (2) में दिखाई गई है। कान के तीन भाग होते हैं : बाहरी, मध्य तथा आन्तर कान। बाहरी कान वायु-कम्पन या ध्वनि-तरंगें ग्रहण करता है। मध्य कान इन्हें आन्तर कान की ओर ले जाता है, जहाँ कम्पन नर्व-छोर को उद्दीपित करते हैं। इन नर्व का सम्बंध मस्तिष्क से होता है।
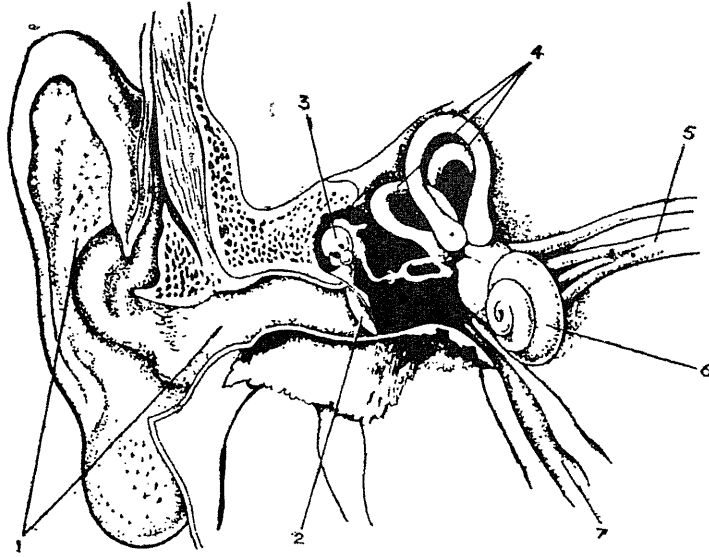
चित्र (2) : कान की बनावट; 1. बाहरी कान और नलिका, 2. कर्ण पटह, 3. मध्य कान की हड्डियाँ, 4. अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ 5. श्रवण नर्व, 6. कॉक्लिया, 7. कंठ की ओर यूस्टेकी नलिका।

मध्य कान में तीन हड्डियां होती हैं, जिन्हें मुग्दरक (हैमर), निहाई (एनविल) और रकाब (स्टिरप) कहते हैं। इनका नाम इन वस्तुओं के समान आकार होने के कारण रखा गया है। हैमर के लम्बे भाग का सम्बन्ध कर्ण पटह से होता है और छोटा भाग एनविल को स्पर्श करता है। ध्वनि कम्पन एनविल हड्डी से स्टिरप हड्डी की ओर जाते हैं। इसकी छोटी लम्बाई कम्पन के बल को बढ़ा देती है।

आन्तर कर्ण में एक संरचना होती है जिसे कॉक्लिया कहते हैं। इसका आकार कुंडलिनी के समान होता है और इसमें द्रव भरा होता है। कम्पमान स्टिरप कॉक्लिया के द्रव को कम्पित करती है। द्रव के कम्पमान से कॉक्लिया में स्थित सूक्ष्म नर्व-छोर का उद्दीपन होता है। ये नर्व-छोर मस्तिष्क तक आवेग ले जाते हैं जहाँ ये ध्वनि के रूप में बदल जाते हैं।

चूंकि हमारे दो कान होते हैं, इस कारण हम ध्वनि के आने की दिशा को ज्ञात कर लेते हैं। दांयी ओर से आती हुई ध्वनि हमारे दांये कान में, बांये कान की तुलना में, कुछ क्षण पहले पहुंचती है। सामने या पीछे से आती हुई आवाज हमारे दोनों कानों में लगभग एक ही समय में पहुंचती है। स्टीरियोफोनिक व्यवस्था में रिकॉर्डप्लेयर के स्पीकर ध्वनि का एक भाग एक कान में और दूसरा भाग दूसरे कान में भेजते हैं।

आन्तर कान में अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ भी होती हैं। कॉक्लिया के ही समान ये द्रव से भरी होती हैं और साथ ही इनमें सुग्राही नर्व-छोर भी होते हैं। अर्ध वृत्ताकार नलिकाओं की नर्व आवेगों से मस्तिष्क संतुलन के संवेद और स्थिति के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। समुद्री-अस्वस्थता, मोटर गाड़ी-अस्वस्थता तथा चक्कर आना, इन अर्ध-वृत्ताकार नलिकाओं में द्रव घूमने से होता है।

नाक : नाक के भीतर ऊपरी भाग में नर्व-छोर होती हैं जो गंध के संवेदन ग्रहण करती हैं। श्वास लेते समय वायु में विद्यमान पदार्थ नाक में प्रवेश करके, इन कोशि-

काओं को स्पर्श करते हैं। कुछ पदार्थ नर्व-किनारों को उद्दीपित करते हैं। वायु में विद्यमान अनेक पदार्थ इन नर्व किनारों को उद्दीपित नहीं करते हैं और हम यह कहते हैं कि उनमें गन्ध नहीं है। कीट-पतगों में सूंघने की बहुत तीक्ष्ण क्षमता होती है। नर कीट केवल गन्ध द्वारा मादा कीट को बहुत अधिक दूरी पर भी ढूंढ लेते हैं। यह पाया गया है कि मादा कीट द्वारा छोड़े गये गन्ध उत्पन्न करने वाले पदार्थ के केवल एक अणु को भी नर कीट पहिचान सकते हैं।

मुख में अनेक पदार्थ भी इन नर्व-किनारों को उद्दीपित करते हैं। कई पदार्थों के खाने में जो हमें स्वाद प्राप्त होता है, उसका कुछ भाग वास्तव में गन्ध है। हम अपने मुंह में भोजन को सूंघते हैं। भूना हुआ मांस, हैमबरगर, प्याज़,लहसुन आदि को खाते समय यदि हम अपना नाक बन्द कर लें, तो हमें इनका अलग ही स्वाद प्रतीत होता है।

यदि आपको सर्दी-जुकाम है तो गन्ध-सुग्राही नर्व-छोर, जुकाम से उत्पन्न स्राव से ढके रहते हैं और वायु में विद्यमान पदार्थों के अणु इन नर्व-किनारों के सम्पर्क में नहीं आ पाते हैं। इस कारण आप इस दशा में पदार्थों की गन्ध को पहिचानने में असफल रहते हैं। आपको भोजन का स्वाद भी भिन्न लगता है क्योंकि इस समय आप स्वाद और गन्ध साथ-साथ नहीं ले सकते हैं और केवल स्वाद ही लेते हैं।

जिह्वा :— जीभ की ऊपरी सतह पर अनेक स्वाद-कलिकाएँ होती हैं। स्वाद-कलिका में नर्म-किनरों का एक समूह होता है, जो कुछ घुले हुए रासायनिक पदार्थों के लिये सुग्राही होता है।

स्वाद-कलिकाओं के नर्व-छोर चार प्रकार के स्वाद संवेदन पहचान सकते हैं : मीठा, खट्टा नमकीन और कड़ुआ। ये संवेदन जीभ के अलग-अलग भागों की स्वाद-कलिकाओं को उद्दीपत करते हैं (देखिये चित्र 3)।

सभी प्रकार के स्वाद, केवल एक स्वाद संवेदन या एक से अधिक मूल स्वाद संवेदनों के परस्पर मिलने से उत्पन्न होते हैं। अधिकतर स्वाद संवेदन वास्तव में स्वाद और गंध के मिश्रण होते हैं। उदाहरणतः, प्याज़ का विशेष स्वाद वास्तव में मुख्यतः हमारे मुख में प्याज़ की गंध के कारण होता है।

त्वचाः— त्वचा में नर्व-छोर, ताप, दाब, स्पर्श और दर्द के लिये सुग्राही होते हैं। त्वचा के विभिन्न भागों की तुलना में, ये नर्व-छोर अंगुलियों के किनारों, हथेलियों और ओष्ठों पर अधिक संख्या में होते हैं, प्रत्येक उद्दीपन केवल एक विशेष प्रकार की सुग्राही नर्व-छोर को ही उद्दीपित कर सकता है। त्वचा की चार प्रकार की नर्व-किनारों को माइक्रोस्कोप की सहायता से देखा जा सकता है।

आइये, अब हम विचार करें कि उद्दीपकों के अनुकूल हम किस प्रकार से व्यवहार करते हैं। ज्ञानेन्द्रिय द्वारा
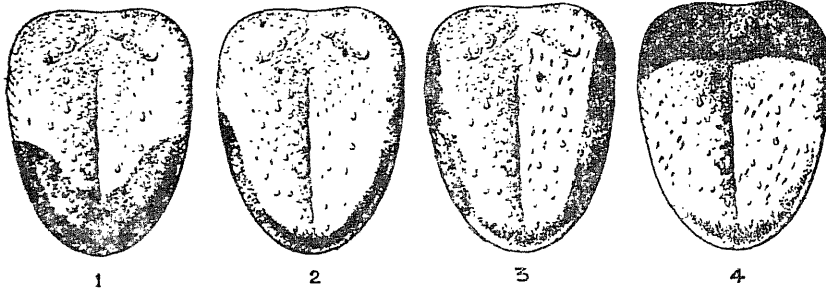
चित्र (3) : जिह्वा के अलग-अलग भागों से स्वाद संवेदन की पहचान;
1- नमकीन, 2- मीठा, 3- खट्टा, 4- कड़ुआ।

ग्रहण किये गये उद्दीपक के अनुकूल व्यवहार करने से पहले, यह आवश्यक है कि नर्व-आवेग, स्पाइनल कॉर्ड या मस्तिष्क से पेशी या ग्रन्थि तक पहुँचे ।

अलग-अलग कोशिकाएँ जो आवेगों को ले जाती है, उन्हें **न्यूरोन** कहते हैं । चित्र (4) में दिखाए गए न्यूरोन के लम्बे भाग को ऐक्सॉन कहते हैं । हमारी टांग में न्यूरोन के ऐक्सॉन की लम्बाई कुछ फीट तक होती है। टेलीफोन केबल की तारों के समान, अनेक ऐक्सॉन परस्पर मिलकर बंडल बनाती हैं, जो हमारे शरीर के सभी भागों में फैले रहते हैं। ऐक्सॉन के इस बंडल को नर्व कहते हैं।

जिस प्रकार टेलीफोन संचार व्यवस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान के संदेशों को परस्पर सम्बद्ध करने के लिये एक केन्द्रीय कार्यालय होता है, उसी प्रकार हमारी नर्वस व्यवस्था में समान कार्य के वास्ते केन्द्रीय कार्यालय होते हैं। ये केन्द्रीय कार्यालय मस्तिष्क और स्पाइनल कॉर्ड हैं, जो परस्पर मिलकर केन्द्रीय नर्वस व्यवस्था बनाते हैं। इस नर्वस व्यवस्था में न्यूरोन होते हैं जो संवेदी और प्रेरक न्यूरोन के मध्य आपसी ठीक सम्बन्ध बनाते हैं । ये संबन्ध ही हमें चारों ओर के वातावरण के उद्दीपकों के अनुकुल व्यवहार करने के लिये प्रेरित करते हैं। मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में शीघ्रता और बुद्धिमता से विभिन्न उद्दीपकों के
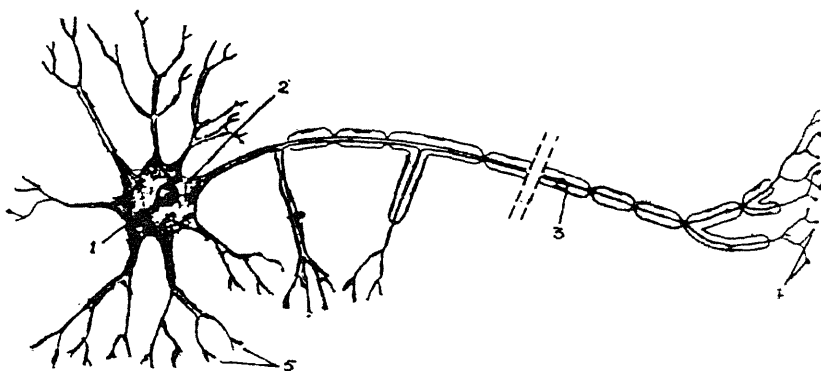
चित्र (4) : एक न्यूरोन; 1-न्यूक्लिअस, 2- साइटोप्लाज्म, 3- ऐक्सॉन, 4- अंत्य ब्रुश, 5- डेन्ड्राइट ।

अनुकूल कई प्रकार का व्यवहार करता है क्योंकि उसकी केन्द्रीय नर्वस व्यवस्था बहुत अधिक विकसित होती है।

स्पाइनल कार्ड :— यदि आप एक मेज के किनारे पर बैठे हों ताकि आपकी निचली टांगें बिना फर्श को स्पर्श किये हुए स्वतंत्रता से हिल सकें। इस अवस्था में, अब आप किसी व्यक्ति से कहिये वह अपने हाथ के किनारे या लकड़ी के छोटे हथौड़े से आपकी एक टांग के घुटने की जोड़ों के समीप ठीक नीचे धीरे से प्रहार करे तो आपकी टांग को एक झटका सा लगेगा।

इस क्रिया का केन्द्र स्पाइनल कॉर्ड है। संवेदी न्यूरोन, आवेग को स्पाइनल कॉर्ड तक ले जाते हैं, जहाँ ये स्पाइनल कॉर्ड की प्रेरक न्यूरोन में पहुंचते हैं (देखिये, चित्र 5)। प्रेरक न्यूरोन से ले जाया गया आवेग पेशियों को संकुचित करता है, जिससे टांग को झटका लगता है।

इस प्रकार की क्रिया बिना किसी सोच-विचार के हो जाती है। इन्हें प्रतिवर्ती क्रिया कहते हैं । इस क्रिया में नर्व आवेग ऊपरी मस्तिष्क में नहीं जाते हैं। ये ज्ञानेन्द्रिय से संवेदी न्यूरोन द्वारा स्पाइनल कॉर्ड में जाते हैं, जहाँ ये प्रेरक न्यूरोन द्वारा पेशियों या ग्रंथियों तक ले जाते हैं। प्रतिवर्ती क्रिया करने में हमें कुछ समझना या सीखना नहीं पड़ता है। ये जन्म से ही हमारे शरीर के भीतर हैं।
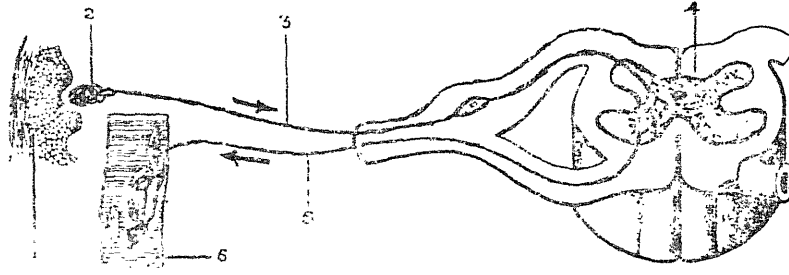
चित्र (5) : प्रतिवर्ती क्रिया में ज्ञानेन्द्रिय से पेशी तक नर्व आवेग का मार्ग; 1- त्वचा, 2- ग्राही, 3- संवेदी न्यूरोन, 4- स्पाइनल कॉर्ड, 5- प्रेरक न्यूरोन, 6- पेशी।

मस्तिष्क:— प्रतिवर्ती क्रिया से अधिक जटिल अनुक्रियाओं में मस्तिष्क भाग लेता है। खोपड़ी में ठीक प्रकार से सुरक्षित, मस्तिष्क लगभग 100 खरब नर्व कोशिकाओं या न्यूरोन से मिलकर बना एक पिंड होता है। मनुष्य के मस्तिष्क का भार लगभग सवा किलो से डेढ़ किलोग्राम तक होता है, जबकि व्हेल के मस्तिष्क का भार लगभग साढ़े सात किलोग्राम होता है। हमारे मस्तिष्क का भार शरीर के भार का लगभग 1/50 वां भाग होता है, जबकि व्हेल के मस्तिष्क का भार उसके शरीर के भार का लगभग 1/10,000 वां भाग होता है।

हम अपने मस्तिष्क को तीन प्रमुख भागों में बांट सकते हैं : प्रमस्तिष्क, अनुमस्तिष्क और मध्यांश (देखिये, चित्र 6) हमारे व्यवहार को नियंत्रित रखने के लिये प्रत्येक भाग निश्चित प्रकार के विशेष कार्य करते हैं।

मानव के मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग प्रमस्तिष्क होता है। ज्ञानेन्द्रियों से स्पाइनल कॉर्ड द्वारा लाये गये सभी आवेगों का निर्वचन और स्पष्टीकरण इसी के भीतर होता है। प्रमस्तिष्क बुद्धि, विचार-शक्ति, स्मरणशक्ति, ज्ञान-शक्ति, तर्क-शक्ति और वाणी को नियंत्रित करता है। प्रमस्तिष्क के प्रत्येक भाग का अपना एक अलग प्रयोजन होता है, परन्तु कोई भी भाग अकेला कार्य नहीं कर सकता है।

प्रमस्तिष्क के पिछले भाग के नीचे अनुमस्तिष्क स्थित होता है। शरीर के समन्वय और संतुलन के केन्द्र यहीं विद्यमान होते हैं। यदि किसी व्यक्ति का अनुमस्तिष्क क्षति हो गया हो, तो वह अपनी टांगों को हिला तो पायेगा लेकिन चल नहीं सकेगा।

मध्यांश मस्तिष्क का सबसे निचला भाग होता है और इसका संबन्ध स्पाइनल कॉर्ड से होता है। मध्यांश स्वचालित व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन क्रियाओं के लिये हमें विचारने की आवश्यकता नहीं होती है, उदाहरणतः, श्वसन, हृदय-स्पन्दन और पाचक तंत्र क्रिया। मध्यांश प्रतिवर्ती क्रियाओं को भी नियंत्रित करता है, उदाहरणतः, पलकों का झपकना, खांसना और छींकना।

आइये, अब हम विचार करें कि उद्दीपकों के अनुकूल मानवी व्यवहार को किसी प्रकार से बदला जा सकता है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि साधारण प्रतिवर्ती क्रियाएं मनुष्य में परम्परागति प्राप्त होती हैं। शिशु जब पहली बार किसी तेज आवाज को अचानक सुनता है तो वह चौंक उठता है। मानवी व्यवहार को सीखकर और अभ्यास कर बदला जा सकता है। इस लेख को पढ़ते समय आपके मस्तिष्क में, एक अनपढ़ व्यक्ति की तुलना में, एक भिन्न प्रकार की अनुक्रिया होती है। इसका कारण यह है कि आपने हिन्दी भाषा को पढ़ने और समझने का अभ्यास किया है, जबकि उस व्यक्ति ने नहीं।

सामान्य प्रकार के सीखने को प्रतिबन्धित प्रतिवर्ती क्रिया कहते हैं। इसे हम एक कुत्ते के व्यवाहार द्वारा

समझा सकते हैं। कुत्तों में जन्म से ही एक साधारण प्रतिवर्ती क्रिया यह होती कि जब उनके मुख में भोजन होता है तो उनकी लार-ग्रंथियां लार निकालती हैं। आप अपने कुत्ते पर एक प्रयोग करें। आप जब भी उसे भोजन दें, तो घंटी बजायें। भोजन खाते समय आपका कुत्ता दो प्रकार के उद्दीपक एक साथ ग्रहण करता है: घंटी की
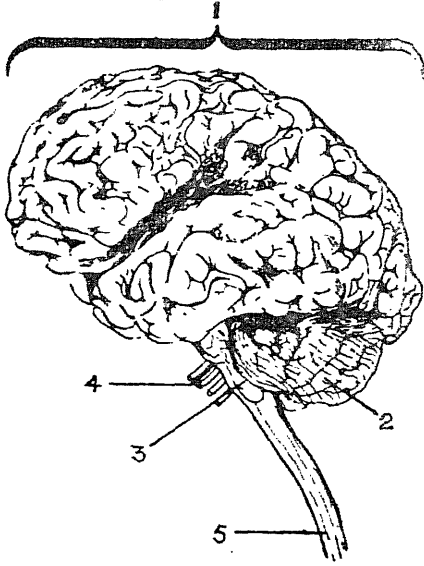
चित्र (6) : मस्तिष्क के प्रमुख भाग : 1- प्रमस्तिष्क 2- अनुमस्तिष्क, 3- मध्यांश, 4- कपाल नर्व, 5- स्पाइनल कॉर्ड

ध्वनि और मुख में भोजन का संवेदन। इन उद्दीपकों के अनुकूल उसके मुख में लार आ जाती है। लगभग एक सप्ताह तक आप इस क्रिया को दोहराते रहें। सप्ताह के बाद, आप कुत्ते को बिना भोजन दिये हुए घंटी बजायें तो आप यह पायेंगे कि कुत्ते के मुख में उसी प्रकार से लार आ टपकती है जैसे कि उसके मुख में भोजन हो।

आपके कुत्ते ने मुख में भोजन की उपस्थिति के साथ घंटी की ध्वनि को संयुक्त करना सीख लिया। उसकी नर्वस व्यवस्था घंटी की ध्वनि से उसी प्रकार की अनुक्रिया करती है जिस प्रकार की उसके मुख में भोजन होने से होती है। लार टपकने की साधारण प्रतिवर्ती क्रिया को प्रतिबन्धित कर लिया गया अर्थात कुत्ते ने नये उद्दीपक से उसी प्रकार का व्यवहार करना सीख लिया, जिस प्रकार से वह मूल उद्दीपक द्वारा अनुक्रिया करता था।

यदि आप अपने मुख में नींबू या संतरे की फांक रखें तो लार आ जाती है। यह एक साधारण प्रतिवर्ती क्रिया है। प्रत्येक बार जब आप नींबू या संतरे की फांक मुख में रखते हैं तो नींबू या संतरे की फांक आपको दिखाई देती है। आप नींबू या संतरे की आकृति को इसके स्वाद के साथ संयुक्त करना सीख लेते हैं। यदि नींबू या संतरे को देखकर आपके मुख में पानी आ जाये तो इसे प्रतिबन्धित प्रतिवर्ती क्रिया कहते हैं। इसे हम सामान्य प्रकार का सीखना कहते हैं।

काफी मानवी ज्ञान संयुक्त रूप से प्राप्त होता है। छोटे बच्चों की पुस्तकों में अनेक चित्र होते हैं। बच्चा कुत्ते के चित्र और परिचित वास्तविक कुत्ते को परस्पर संयुक्त करना सीखता है। लोग उसे कुत्ता दिखाते हैं और साथ ही "कुत्ता" शब्द कहते हैं। वह शीघ्र ही चित्र, शब्द और वास्तविक कुत्ते को संयुक्त करना सीखता है। पुस्तक में चित्र के नीचे कुत्ता लिखा होता है। शीघ्र ही बच्चा कुत्ते के अक्षरों को इसके शब्द, चित्र और वास्तविक कुत्ते से संयुक्त करना सीख लेता है और इस प्रकार से वह पढ़ना सीखना आरम्भ करता है।

स्वभाव :—वह सभी कार्य जो हम स्वतः करते हैं, जन्म से परम्परागत प्राप्त नहीं होते हैं। जब हम एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल चलते हैं, तो हम चलने की क्रियाविधि के विषय में नहीं सोचते हैं। हम चलते समय अनेक विषयों पर सोच सकते हैं और बातचीत भी कर सकते हैं। पैदल चलने की क्रिया अब हमारा स्वभाव हो गई है, परन्तु जन्म से ही हमने चलना नहीं सीखा था। यदि हम एक छोटे बच्चे को लड़खड़ाते हुए चलना सीखते हुए ध्यान से देखें तो हम पायेंगे कि वह कितना एकाग्रचित्त होकर चलना सीखता है। सीखते हुए, वह अनेक

बार गिरता है और भूल करता है और अन्त में बच्चे को चलने की आदत पड़ जाती है।

स्वभाव, प्रतिवर्ती क्रियाओं के समान स्वतः होने वाली क्रिया है। स्वभाव उपार्जित किया जाता है, जबकि प्रतिवर्ती क्रियाएँ परम्पराप्राप्त होती हैं। स्वभाव उपार्जित और स्वचालित अनुक्रिया होती है।

हमारे प्रतिदिन के अनेक कार्यक्रम स्वाभाविक होते हैं। स्नान करना, वस्त्र पहिनना, भोजन करना, खेलना, साइकिल, स्कूटर या कार चलाना और प्रतिदिन के अन्य कार्य अब हमारे स्वभाव बन गये हैं। इन्हें हम बिना सोच समझकर भलीभांति और शीघ्रता से कर सकते हैं। नये स्वभाव, उदाहरणतः टाइप करना, तैरना या किसी वाद्य को बजाना आदि, को कुशलता से सीखने और विकसित करने के लिये यह आवश्यक है कि निम्नलिखित कुछ स्वभाव अपनाने के नियमों का पालन किया जाये।

(1) आपके हृदय में वास्तव में उस स्वभाव को निपुणता से सीखने और विकसित करने की प्रबल इच्छा होनी चाहिये।

(2) आप उस स्वभाव को नियमानुसार नित्य बारम्बार अभ्यास करें।

(3) यदि आपको उस स्वभाव को सीखने और सुधारने में सन्तोष प्राप्त होता है तो आप स्वभाव को शीघ्रता से सीखेंगे। ये नियम आपकी सहायता करेंगे, यदि आप अधिक अच्छा पढ़ना, लिखना, नाचना, वाद्य बजाना या नया खेल आदि सीखना चाहते हैं।

जिस प्रकार स्वभाव सीखा जाता है, उसी प्रकार इसे भूला भी जा सकता है। अभ्यास के अभाव से स्वभाव को भूल सकते हैं। उदाहरणतः, यदि आपने किसी खेल को कुछ महीनों तक नहीं खेला है तो आप पायेंगे कि उस खेल को खेलने में अब आप उतने प्रवीण नहीं रहे जितने कि पहले थे। परन्तु यदि आप फिर उस खेल को नियमित रूप से खेलना आरम्भ कर दें तो आपके खेल में बड़ी शीघ्रता से सुधार होता है और निपुणता पुनः लौट आती है।

अनुचित आदतों को समाप्त किया जा सकता है। किसी बुरी आदत को समाप्त करने के लिये पहले तो आपके हृदय में उसे छोडने की प्रबल इच्छा होनी चाहिये और फिर इसके स्थान पर आपको किसी अन्य उचित आदत का अभ्यास करना चाहिये। उदाहरणतः, यदि आपको अंगुलियों के नखों को दांतों से काटने की बुरी आदत है तो आप इसे समाप्त कर सकते हैं। सबसे पहले आपको गंभीरता से इस आदत को छोड़ने की तीव्र इच्छा होनी चाहिये। इसके पश्चात् जब भी कभी आप अपनी अंगुलियों के नाखूनों को काटना आरम्भ करें तो आप इसके स्थान पर दूसरा कार्य आरम्भ कर दें, जैसे कि नखों को दांतों से कुतरने के स्थान पर, इन्हें ओष्ठों पर फेरना शुरू कर दें। इसी प्रकार अन्य अनुचित आदतों को भी, किसी दूसरी उचित आदत के प्रतिस्थापन और अभ्यास से समाप्त किया जा सकता है।

आइये, अब विचार करें कि हम समस्याओं को किस प्रकार से सुलझाते हैं। हमें अधिक जटिल ज्ञान स्मृति, विवेक, कल्पना, चिन्तन और अन्य अनेक कार्यों द्वारा प्राप्त होता है। ये सभी प्रकार्य प्रमस्तिष्क द्वारा सम्पन्न होते हैं। नई समस्याओं का समाधान करने के लिये हमें बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त करना होता है। इन्हें हल करने के लिये हमें जो क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, उनके परिणाम के विषय में, अग्रिम रूप से, हमें कल्पना या चिन्तन करना पड़ता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में, वनमानुष ही केवल ऐसा जानवर है, जो समस्याओं को विवेक से हल कर सकता है। अन्य जानवर समस्याओं को हल करना सम्पर्क तथा जांच और भूल द्वारा सीखते हैं और शायद विवेक द्वारा नहीं।

प्रयोगशाला में एक वनमानुष को एक समस्या दी गई। कमरे की छत से केलों के एक गुच्छे को काफी

ऊंचा लटका दिया गया, जिसे वनमानुष पैरों पर खड़ा होकर अपने हाथों से नहीं पकड़ सकता था (देखिये, चित्र-7)। कमरे में अनेक सन्दूक थे परन्तु किसी भी सन्दूक की इतनी ऊंचाई नहीं थी, जिस पर खड़ा होकर वह केलों के गुच्छे को उतार सके। केलों तक पहुँचने के लिये वह कमरे में कुछ देर इधर-उधर घूमता रहा। तब अचानक केलों के गुच्छे के नीचे आकर उसने ऊपर की ओर देखा और एक सन्दूक के ऊपर दूसरा सन्दूक रखना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार अन्त में सबसे ऊपरी सन्दूक पर चढ़कर उसने केलों के गुच्छे को उतार लिया। स्पष्टतः, वनमानुष ने विवेक और चिन्तन द्वारा एक सन्दूक को दूसरे सन्दूक पर रखने के परिणाम को अग्रिम रूप से सोचकर इस समस्या का समाधान किया था।

चित्र (7) : एक वनमानुष द्वारा केलों के एक गुच्छे को उतारकर खाने की समस्या का समाधान

प्रतिदिन की समस्याओं को निम्नलिखित विधि द्वारा सरलता और सफलता से सुलझाया जा सकता है। सबसे पहले आप समस्या से सम्बन्धित पिछली किसी स्थिति में अपने पुराने अनुभवों के विषय में विचार करें, जिससे आपको इस वर्तमान समस्या के समाधान में सहायता मिल सके। आप उन व्यक्तियों से भी बातचीत करें, जिन्हें समस्या से सम्बन्धित उसी प्रकार का अनुभव हो। इसके साथ-साथ आप उपयोगी संदर्भी पुस्तकों का भी अध्ययन करें। अब आप समस्या से सम्बन्धित सभी तथ्यों को एकत्रित करें। इसके पश्चात् आप समस्या को हल करने के लिये अपनी एक निश्चित योजना बनायें और उस योजना के अनुसार कार्य आरम्भ करके, उसे सफल बनाने में लगन से जुट जायें। यदि समस्या को हल करने में आपकी योजना सफल नहीं होती है तो अपनी त्रुटि को सुधारने के लिये अपनी योजना में संशोधन करें।

(डा०) महेश कुमार शर्मा
वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी
यंत्र अनुसंधान एवं विकास
संस्थान
देहरादून (उ० प्र०)

यदि परमाणु संयंत्र में विस्फोट हो जाये तो . . . . ?

नलिनी बंसल

परमाणु शक्ति के उपयोग से जहां एक ओर वैज्ञानिकों ने ऊर्जा के नये स्रोतों का आविष्कार किया है, वहीं दूसरी ओर एक सम्भावना पूरे वैज्ञानिक जगत में उथल-पुथल पैदा कर रही है—यदि परमाणु शक्ति चालित किसी संयंत्र में अचानक कोई दुर्घटना हो जाये तो ? संयंत्र की कोई कार्य प्रणाली किसी अवरोध के कारण काम करना बन्द कर दे तो ... ... ? अनेक आशंकायें परमाणुवैज्ञानिकों को घेरे हुये हैं और परमाणु इंजीनियर सुरक्षा के नये मानक स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील है।

परमाणु शक्ति बीसवीं सदी का सर्वाधिक उन्नत प्रयोग है। भूमि से प्राप्त प्राकृतिक सम्पदा का शनैः शनैः ह्रास हो रहा है और किसी भी दिन मनुष्य इन स्रोतों को खाली पा सकता है। इसी प्राकृतिक खनिज के विकल्प के रूप में वैज्ञानिकों ने परमाणु ऊर्जा को एकत्र किया और वैज्ञानिक समाज को नयी दिशा दी। परमाणु संयंत्र मानव के मस्तिष्क तथा शक्ति का निर्माण है अतः संयंत्र में कभी भी घट जाने वाली दुर्घटना की संभावना को नकारा भी नहीं जा सकता।

परमाणु आलोचकों का मत है कि परमाणु संयंत्र की कार्य प्रणाली में कभी भी कोई दोष उत्पन्न हो सकता है। संयंत्र के पम्पों, वॉल्वों, प्रसारण बटनों तथा प्लंगिंग लाइनों के संचालन में कहीं न कहीं उत्पन्न दोष निश्चित ही परमाणु प्रणाली को असफल कर देंगे। परमाणु संयंत्र के असफल होंने पर घटी दुर्घटना के फलस्वरूप गर्म भाप विस्फोटक गैसों तथा पिघले ये ज्वलनशील पदार्थों का उद्भेदन किसी मानव निर्मित ज्वालामुखी के समान फैलकर जलने लगेगा तथा इसकी रेडियोधर्मी राख समीपवर्ती क्षेत्रों में व्यापक रूप से फैलने लगेगी। इस रेडियोधर्मिता के प्रभाव से अनुमानतः हजारों व्यक्ति एक साथ मौत का ग्रास बन जायेंगे और लगभग 25,000 व्यक्तियों पर रेडियोधर्मिता के हानिकारक प्रभाव पड़ेंगे, जिनके लक्षण आगामी कई पीढ़ियों तक नष्ट नहीं होंगे। दुर्घटना की सम्भावना का कल्पित दृश्य अनायास हिरोशिमा और नागासाकी के परमाणु विस्फोट की याद दिला देता है।

परमाणु संयंत्र की दुर्घटना का प्रश्न अत्यधिक विरोधाभासी तथा विवादास्पद है। इस संबंध में कई प्रश्न सामने आते हैं। क्या परमाणु संयंत्र की विध्वसंक दुर्घटनाओं का भय तर्कसंगत है ? क्या अपेक्षाकृत लघु दुर्घटना बड़ी दुर्घटना का रूप ले सकती है ? विध्वंसक दुर्घटना में घटनाओं के कौन से क्रम के अन्तर्गत रेडियोधर्मी सामग्री का व्यापक रूप से आसपास के क्षेत्रों में निष्कासन होगा ? दुर्घटना ग्रस्त संयंत्र के समीपवर्ती क्षेत्रों के निवासी समुदाय पर इसका क्या प्रभाव होगा ? दुर्घटना की सम्भावित स्थिति को लेकर अनेक समस्याओं को वैज्ञानिक और परमाणु इंजीनियर समझने और समझाने में लगे हुये हैं।

परमाणु शक्ति संयंत्र के सुरक्षात्मक तथ्यों के पर्याप्त अध्ययन के पश्चात् अमेरिकन भौतिक समाज द्वारा नियुक्त एक पैनल ने संकेत किया है कि उक्त संयंत्र का सुरक्षा के लक्ष्य को निर्धारित करते हुये परिस्थिति का सतही तथा

भ्रामक विश्लेषण करने की अपेक्षा दुर्घटना कारणों का विस्तृत अध्ययन किया जाये ताकि परमाणु संयंत्र को इन भयंकर परिणामों से बचाया जा सके।

परमाणु संयंत्र की कार्य-प्रणाली :

परमाणु संयंत्र की कार्यप्रणाली अनेक दृष्टिकोणों से कोयला तथा गैस दाह संयंत्र से मिलती जुलती है जिनमें उच्च दाब भाप के गीजर बड़ी टरबाइन को क्रियाशील करते हैं और शक्ति शाली विद्युत उत्पादक प्रणाली गति में आती है।

इन संयंत्रों के अग्नि कक्षों की विभिन्न प्रणाली उन्हें एक दूसरे से अलग करती है। अग्नि कक्ष ताप का स्रोत है जो पानी को भाप में बदलता है। लॉस एंजेल्स से 120 किमी० दक्षिण में सैनक्लीमेंट में स्थापित परमाणु संयंत्र 'सॉन ओनोकर' का अग्निकक्ष विखण्डनकारी प्रकार का है। इस संयंत्र के वाष्पित्र में, नवीन सिद्धान्त के अनुसार यूरेनियम परमाणु के 70 टन यूरेनियम डाइऑक्साइड ईंधन में विखण्डन के फलस्वरूप अग्निताप प्राप्त होता है।

इस संयंत्र में यूरेनियम ईंधन को क्रिस्टलीय रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः मशीनों द्वारा इसे पीसकर सूक्ष्म गुटिकाओं के रूप में परिवर्तित किया जाता है। 70 टन यूरेनियम की इन गुटिकाओं की संख्या 6.75 करोड़ होती है तथा प्रत्येक गुटिका का माप .38 कैलिवर रौल कार्स्टिग के बराबर होता है। इन गुटिकाओं को 300 से० मी० लम्बी तथा 1.25 से० मी० व्यास की संकुचित नलिकाओं में भर दिया जाता है। इन नालिकाओं को ईंधन छड़ कहते हैं। प्रत्येक छड़ में लगभग 240 गुटिकायें होती हैं तथा प्रत्येक संयंत्र में लगभग 28,000 ईंधन छड़ें प्रयोग की जाती है। संयंत्र का वह भाग जिसमें छड़ों का समायोजन किया जाता है 'कोर' कहलाता है। वस्तुतः यह छड़ें एक दूसरे से जरा भी नहीं छूतीं। प्राथमिक शीतलन कक्ष में इन छड़ों के बीच के स्थान में जल रहता है। रिएक्टर कोर में लगातार जल प्रवाहित किया जाता है। परमाणु संयंत्र के रिएक्टर कोर में जल की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। यह जल यूरेनियम परमाणु के विखण्डन से उत्पन्न ऊर्जा को भाप द्वारा टरबोजेनेरेटर में पहुचता है तथा कोर के अन्दर होने वाली शृंखलाबद्ध प्रक्रियाओं पर यह नियन्त्रण रखता है।

शृंखलाबद्ध प्रक्रिया अत्यधिक सुचारू रूप से होती है इसके अन्तर्गत यूरेनियम के एक विखण्डित अणु से स्रावित न्यूट्रॉन समीपवर्ती अणु से टकराते हैं इस अणु की पर्याप्त ऊर्जा टकराव के द्वारा उस अणु को भी विखण्डन के लिये प्रेरित करती है। दूसरे विखण्डित अणु के न्यूट्रॉन इसी प्रकार अन्य अणु पर प्रक्रिया करते हैं। पानी द्वारा इस प्रक्रिया में न्यूट्रॉन की गति नियन्त्रित रखी जाती है। रिएक्टर कोर तथा शीतलन कक्ष एक चिन्हित बोतलनुमा कक्ष में होते हैं, जिसे रिएक्टर 'दाब पात्र' कहते हैं।

परमाणु संयंत्र के प्रकार के आधार पर इसे दो श्रेणियों में बांटा गया है। 'बॉयलिंग जल रिएक्टर', जिसमें पानी को उबाला जाता है तथा 'दाब युक्त जल रिएक्टर जिसमें उचित दाब द्वारा पानी को उबालने से रोका जाता है। दाब पात्र लगभग 12 मीटर लम्बा होता है। इसका व्यास लगभग 3.60 मीटर, वजन 330 टन तथा दीवारें लगभग 25 सेमी० मोटी होती हैं। इसे बनाने के लिये सर्वोतम स्टील का प्रयोग किया जाता है। दाब पात्र के इस अतिविशाल आकार का कारण परमाणु संयंत्र में एकत्र होने वाली अत्यधिक ऊर्जा तथा उच्च दाब है, जिसके द्वारा संयंत्र संचालित किया जाता है। बॉयलर जल रिएक्टर में दाब प्रति वर्ग इंच लगभग 1000 पौण्ड तथा दाब युक्त जल रिएक्टर में 22,00 पौण्ड होता है।

परमाणु संयंत्र की विभिन्न प्रणालियों से विभिन्न नलिकाओं द्वारा इस दाब पात्र का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। बड़ी नलिकाओं द्वारा रिएक्टर में शीतलन प्रक्रिया को संचालित करने के लिये पानी प्रवाहित किया जाता है इस जल प्रवाह की मात्रा प्रति घण्टा लगभग 9·5 करोड़ टन होती है। इस क्षमता से भी अधिक बड़ी

नलिकाओं का प्रयोग किया जाता है जो उच्च ताप जल अथवा भाप को दूसरी प्रणालियों में प्रवाहित करती हैं।

इन नलिकाओं के अतिरिक्त संयंत्र में अन्य नलिका प्रणाली भी होती है जो प्राथमिक शीतलन लूप के असफल होने पर रिएक्टर में अतिरिक्त पानी प्रवाहित कर सकती है। परमाणु संयंत्र में नियंत्रण छड़ों की विशेष भूमिका होती है। यह छड़ें ऐसी धातु सामग्री से बनायी जाती है जो यूरेनियम के विभाजित अणु से स्रावित न्यूट्रॉन को शीघ्र अवशोषित कर लेती हैं।

परमाणु संयंत्र की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली अत्यधिक जटिल प्रक्रियाओं पर आधारित है। प्रत्येक पग पर पूर्ण सुरक्षा का ध्यान रखते हुये इसका निर्माण किया गया है। शृंखलाबद्ध परीक्षणों के पश्चात् इसे अन्तिम रूप से कार्य के लिये स्थापित किया जाता है। फिर भी किसी भयानक सम्भावना का भय परमाणु वैज्ञानिकों के चारों ओर मंडराता रहता है। वर्तमान विवाद इस प्रश्न पर आधारित है कि सुरक्षा के तथाकथित मानक पूर्णतया स्थापित कर पाने में परमाणु इंजीनियर कहाँ तक सफलहुये हैं।

आलोचक तथा समालोचक दोनों पक्ष इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि परमाणु रिएक्टर में अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा समाहित होती है। परमाणु संयंत्रों से निष्कासित रेडियोधर्मी कचरे की विषाक्त प्रकृति से होने वाले हानिकर प्रभावों के बारे में भी वह चिन्तित हैं, किन्तु परमाणु संयंत्र के समर्थक किसी दुर्घटना की सम्भावना को स्वीकार नहीं करते।

परमाणु नियन्त्रण कमीशन के अधिकारी परमाणु प्रयोग से होने वाले लाभकारी प्रयोगों को स्वीकारने के साथ संयंत्र के सम्भावित अहितकर पक्ष के प्रति अत्यधिक जागरुक है। उनके मतानुसार परमाणु भट्टी निर्मित सभी सुरक्षा व्यवस्थायें कभी भी एक साथ एक या अनेक रूप में असफल हो कर विस्फोटक स्थिति धारण कर सकती हैं।

ब्राउन दुर्घटना :

दो वर्ष पूर्व डेकाटूर, अमेरिका के टेनेसी वैली अधिकरण द्वारा स्थापित ट्विन ब्राउन फैरी परमाणु भट्टी तथा कैरोलिना शक्ति तथा प्रकाश कंपनी के 'रॉबिन्सन परमाणु संयंत्र' में घटी, दुर्घटनाएँ इन सम्भावनाओं की पुष्टि करतीं हैं। आलोचकों का कहना है कि जिन दोषों के कारण यह दुर्घटनायें हुयीं यह पहले ही घोषित किये जा चुके थे। इन घोषणाओं को हालांकि परमाणु समर्थक नहीं मानते तथापि वह स्वीकार करते हैं कि ब्राउन फैरी संयंत्र में घटी दुर्घटना अमेरिका की सर्वाधिक गंभीर परमाणु दुर्घटना थी।

ब्राउन फैरी संयंत्र के नियन्त्रण कक्ष में 22 मार्च 1975 की दोपाहर को दो विद्युत कर्मचारी कार्य कर रहे थे। अचानक बिजली के तारों से भरे रैक में आग लग गयी। इन जलते तारों से अचानक उत्पन्न ताप ने संयंत्र के यूनिट 1 तथा 2 की कई प्रणालियों को विद्युत शक्ति से संचालित कर दिया। अधिकारियों की तीव्र कार्यवाहियों के बावजूद भी शॉर्ट सर्किट द्वारा सभी प्रणालियां एक के बाद एक ठप्प हो गयीं। वह दोनों कर्मचारी इस आग को स्वयं बुझाने में लग गये। इस आग की सूचना उन्होंने अधिकारी वैज्ञानिकों को नहीं दी जिसके फलस्वरूप फायर अलार्म को संकेत देने में 14 मिनट लगे। नियन्त्रणकक्ष द्वारा चेतावनी देने मेंभी 6 मिनटलगे फायर अलार्म तथा चेतावनी संकेत के अतिरिक्त भी संचालन अधिकारी ने यूनिट 1 तथा 2 के रिएक्टर को बन्द करने का निर्णय लेने में 30 मिनट हिचकिचाहट में गुजारे।

परमाणु शक्ति संयन्त्र को बंद करना उतना सरल तथा सीधा नहीं है। एक बार नियंत्रण छड़ें सही स्थान पर पहुँचने के बाद शृंखलाबद्ध क्रियात्मकता में गतिरोध पैदा होता है तथा यूरेनियम परमाणु समीपवर्ती ईंधन छड़ों के परमाणुओं में विखण्डन उत्पन्न नहीं होता और इस प्रकार संयंत्र का कार्य बंद किया जाता है।

परमाणु विखण्डन प्रक्रिया में उत्पन्न कणों के रेडियो-

धर्मी मल से ताप उत्पन्न होता है जिसे इंजीनियर व्यपर्थता कहते हैं। इस व्यर्थ ताप अथवा कचरे की रेडियोधर्मी प्रकृति वातावरण को दूषित करती है। अतः इसे शीघ्र नष्ट करना आवश्यक होता है।

रिएक्टर का संचालन बंद होनेके बाद कोर से रिएक्टर में लगातार पानी प्रवाहित किया जाता है। विद्युत तारों के फ्यूज हो जाने से ब्राउनफैरी संयंत्र के रिएक्टर में पानी प्रवाहित करने वाले सभी पम्प तथः प्रणालियां ठप्प हो गये किन्तु व्यर्थ ताप अनवरत् पैदा होता रहा। इस व्यर्थ ताप की गर्मी से संयंत्र के अंदर उपस्थित जल लगातार उवलता रहा तथा उसका स्तर घटने लगा। शीतलन प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका जल स्तर को स्थापित किये रहने की होती है। पानी लगातार घटते रहने से कोर एकदम खाली हो जाने का खतरा था। उसके वाद की प्रतिक्रिया अत्यधिक खतरनाक सिद्ध हो सकती थी। किन्तु नियंत्रण कक्ष के टेनेसी वैली अधिकरण के ऑपरेटरों की सक्रिय सूझबूझ ने सम्भावित विस्फोट का भय दूर कर दिया। ऑपरेटरों ने रिलीफ वॉल्व के परिचालन से अंदर उत्पन्न हो गये अधिक दाव को घटाया तथा कुछ वायु दाब पम्प जो अधिक दबावके कारण ठप्प हो गये थे पुनः चलने लगे। दाब पम्पों से रिएक्टर पात्र में अतिरिक्त पानी प्रवाहित किया जा सका।

इस विवेकशील तत्पर कार्यवाही से ऑपरेटरों ने इस विशेष रिएक्टर को बचा लिया, जिसके एकदम पिघल जाने का गम्भीर खतरा सामने था। इस शीघ्र कार्य के वावजूद भी इतने समय में पानीअपने साधारण स्तर से 500 सेन्टी मीटर से घट कर केवल 120 से० मी० रह गया था। लगभग 16 घण्टे की कशमकश के बाद ब्राउनफैरी संयंत्र की दुर्घटना पर पूर्ण रूप से विजय पायी जा सकी। दोनों रिएक्टरों को बंद कर दिया गया व्यर्थ ताप के नियंत्रण के लिये उचित जल स्तर की स्थापना की गयी, केवल लूप में लगी आग को बुझाया गया तथा एक कोर को पिघलने से बचाया जा सका।

ब्राउनफैरी की इस दुर्घटना ने पूरे वैज्ञानिक जगत को जैसे चेतावानी दी है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मत व्यक्त किये गये। परमाणु शक्ति के समर्थकों के लिये दुर्घटना अधिक गम्भीर थी किन्तु वह आशावादी थे कि भविष्य में संयंत्र संचालन के लिये उन्हें महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त हुये हैं। इन अनुभवों के आधार पर और परमाणु प्रणाली की किसी तत्कालिक विध्वंसक सम्भावना से सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है। किन्तु विरोधियों का मत था कि इस विध्वंस से बच सकने का श्रेय केवल उत्तम भाग्य को दिया जा सकता है। विभाग द्वारा अपनायी गयी किसी सुरक्षात्मक कार्यवाही को वचाव के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। दुर्घटना में रोकथाम कि किसी तत्पर निर्णय की भूमिका की विशिष्टता को नकारते हुये उन्होंने स्पष्ट किया कि 'अगर यह परिस्थिति कुछ घण्टे और रहती तो निश्चाय ही परमाणु प्रणाली का अंत निकट आ जाता।'

शीतलन प्रणाली का महत्व

पारमाणु संयंत्र सम्पूर्ण कार्यप्रणाली बहुत सूक्ष्म है। प्रत्येक कक्ष दूसरे कक्ष से जुड़ा हुआ है। यदि एक कक्ष असफल हो जाये तो उसके प्रभाव से अल्पावधि में ही अन्तिम कक्ष में भयानक प्रतिक्रिया हो सकती है। अतः एक अन्य प्रश्न पैदा होता है कि यदि परमाणु संयंत्र की प्राथमिक तथा पृष्ठात्मक शीतलन प्रणालियां काम करना बंद कर दें तो क्या होगा अभी? तक व्यावहारिक तौर पर इस प्रश्न का उत्तर पा सकना वैज्ञानिकों के लिये सम्भव नहीं हो सका है, किन्तु विशेषज्ञों का मत है कि यह परिस्थिति कभी भी आ सकती है। अतः सभी सुरक्षामानकों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये।

तथाकथित शीतलन दुर्घटना के अंर्तगत प्राथमिक शीतलन लूप में यदि कोई खराबी आ जाये तो 5 से 60 सैकिण्ड के अंदर रिएक्टर पात्र का लगभग 90% पानी भाप में परिवर्तित हो जायेगा तथा रिएक्टर में दाब कम हो जायेगा। रियेक्टर में दाव की इस तीव्र कमी को 'ब्लोडाउन' कहते है।

शीतलन के न होने पर रिएक्टर कोर का ताप प्रति सैकिण्ड 12 डिग्री फारेन्हाइट से बढ़कर 20 डिग्री फारेन्हा-

इट के हिसाब से बढ़ने लगेगा। कोर के कुछ केंद्रों का ताप कुछ सैकिण्ड में ही सामान्य प्रचालक ताप 600 डिग्री फारेन्हाइट से बढ़कर 1500 डिग्री फारेन्हाइट तक हो सकता है।

यदि पृष्ठात्मक शीतलन प्रणाली असफल हो जाये तथा दाब पात्र को पुनः ठण्डे जल से न भरा जाये तो ईंधन छड़ों के धातु का मिश्रण ताप एकदम 2000 डिग्री फारेन्हाइट से अधिक तक बढ़ जायेगा। इस उच्चताप पर पिघली हुयी धातु भाप के साथ क्रिया करेगी और रिएक्टर में घूमते हुए जल अणुओं के हाइड्रोजन परमाणु को अलग कर निष्कासित कर देगी। हाइड्रोजन उच्चताप में जलने लगेगी और इसके प्रभाव से धातु भी भाप के साथ जलने लगेगी। इस क्रिया में उत्पन्न अतिरिक्त ताप विखण्डन तत्वों के जलने से उत्पन्न ताप के लगभग समान होगा।

शीतलन प्रणाली के समाप्त होने के बाद 1 मिनट से कम समय में ही कोर का ताप 3000 डिग्री फारेन्हाइट तक हो जायेगा तथा धातु ईंधन छड़ें जिन्हें 'क्लैडिंग' कहते हैं वह पिघलने लगेंगी। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन परिस्थितियों में क्लैड तथा ईंधन ताप बढ़ने के साथ पिघलता रहेगा। इस संदर्भ में दो सिद्धान्त माने जाते हैं: प्रथम रिएक्टर में उपस्थित तत्व तथा पिघली हुई सामग्री रिएक्टर पात्र के तल में जमा हो जायेंगी जो कई जलती हुई मोमबत्तियों के समान होंगी। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार धातु तत्व तब तक एक साथ जुड़े रहेंगे जब तक कि धातु की रासायनिा संरचना अनुकूल है। रासामनिक संरचना के प्रतिकूल होते ही सामग्री क्रिस्टलीय रूप में पिघलकर रिएक्टर के तल में चली जायेगी। कौन सा सिद्धान्त दुर्घटना में प्रमाणित सिद्ध होगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता तथापि पाइप फटने के 10 से 60 मिनट के अन्दर यह स्थिति सामने आ सकती है।

भाप विस्फोट :

रिएक्टर दाब पात्र के तल की स्टील सतह अत्यधिक मोटी होती है। पिछली वस्तु का धातुपिण्ड जिसमें 50 से 80 प्रतिशत ईंधन की मात्रा होती है, तल पर गिरने के पश्चात् जलते हुए अनेक दीपकों की भाँति लगेगा। कोर के गल जाने के बाद 20 से 60 मिनट के अन्दर पिघला हुआ सफेद गर्म लावा दाब पात्र के तल की स्टील सतह पर क्रिया कर उसे पिघलाने लगेगा। यह गलन-प्रक्रिया शीतलन क्रिया समाप्त होने के 30 मिनट से दो घण्टे बाद होनी शुरु हो जायेगी। इस स्थिति के आने के बाद दाब पात्र का तल खण्डित होकर गिर जायेगा। टूटे हुये तल से पिघली हुयी धातु विशाल मात्रा में अन्तर्विष्ट भवन के फर्श पर लावे के रूप में बिखर जायेगी। इसके बाद वह पानी जो कुछ मिनट पूर्व कोर में प्रवाहित हो रहा था, वह भी फर्श की सतह पर भरने लगेगा।

गर्म लावे पर गिरा ठण्डा पानी अधिक खतरनाक सिद्ध होगा। अत्यधिक गर्म लावा अपेक्षाकृत ठण्डे पानी के सम्पर्क में आने पर उत्पन्न स्थिति को वैज्ञानिक भाप विस्फोट कहते हैं। गर्म पदार्थ के ठण्डी वस्तु के सम्पर्क में आने से ताप ऊर्जा का अचानक एक स्थिति से दूसरी स्थिति में स्थानान्तरण होगा, जिससे उत्पन्न तंरगें रेडियोधर्मी तत्वों तथा पानी को पूरे अन्तर्विष्ट भवन में फैला देंगी। यह स्थिति वैसी ही होगी जैसे उबलते हुए तेल में एक प्याला ठण्डा पानी डाल दिया जाये।

अमेरिकी भौतिक समाज द्वारा अपनी रिपोर्ट में कहा गया है कि 'भाप विस्फोट' की पूर्ण क्रिया जान पाने की हमारी क्षमता बहुत सीमित है। केवल यही कहा जा सकता है कि 3000/स्थानीय दाब का स्थानीय विस्फोट सम्भव हो सकता है।

अनुमानतः भाप विस्फोट के बाद विस्फोट से उत्पन्न सफेद गर्म पिघली हुई धातु की गुटिकायें पूरी इमारत में फैल जायेंगी तथा शीघ्र ही स्टील तथा कंक्रीट से निर्मित भवन में बड़े-बड़े छिद्र बना देंगी। अथवा, इस भाव विस्फोट से दाब-पात्र का ऊपरी भाग प्रभावित होगा तथा अत्यधिक दाब के कारण यह ऊपर की ओर फट जायेगा।
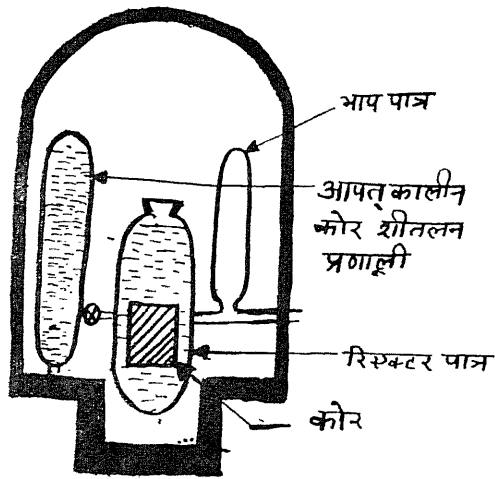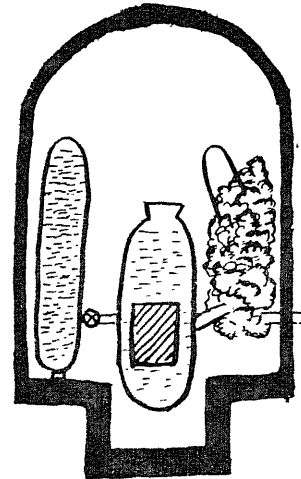
1. 2.
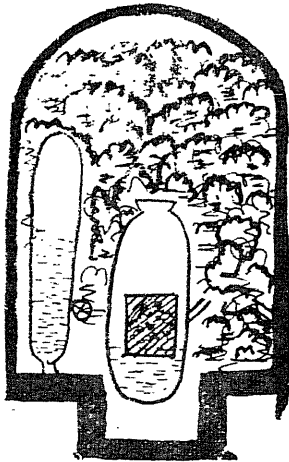
3.
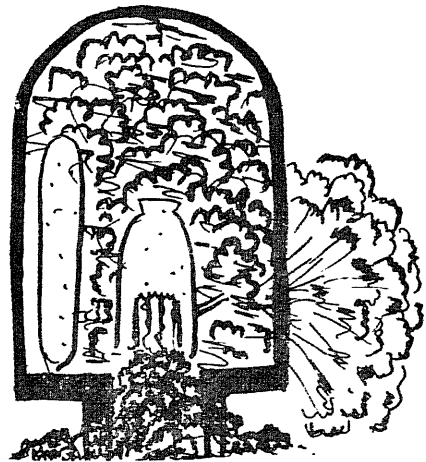
4.

सम्भावित भाप-विस्फोट

1. परमाणु संयन्त्र की संरचना 2. शीतलन प्रणाली की असफलता से भाप पात्र में उत्पन्न विस्फोट
3. शीतलन कक्ष और रिएक्टर पात्र में पानी का घटता हुआ स्तर 4. उच्च ताप के कारण ईंधन पिघल कर भाप के साथ प्रक्रिया करेगा और परमाणु संयन्त्र की स्टील निर्मित सतह फट जायेगी। साथ ही कोर भी गल कर फर्श पर फैलने लगेगा।

यह स्टील निर्मित विशाल खण्डित भाग आसानी से अन्तर्विष्ट भवन में घुसकर भवन को तोड़ डालेगा। दोनों परिस्थितियों का अन्तिम परिणाम एक जैसा होगा अर्थात् पामाणु संयंत्र किसी भी रूप में फट कर खण्डित हो जायेगा और रेडियोधर्मी तत्व वातावरण में फैल जायेंगे।

रेडियोधर्मिता का प्रभाव:—

रेडियोधर्मी तत्वों में अनेक विषयुक्त अंश होते हैं जो मानव जीवन के बहुत हानिकर होते हैं। इस विस्फोट से उत्पन्न रेडियोधर्मी तत्वों के विषैले अंश होंगे = क्रिप्टॉन 85, स्ट्रॉन्शियम- 90, सीज़ियम- 137, तथा प्लूटोनियम-239: इनकी अर्ध जीवनावधि जो कि आधे अणुओं का अ- रेडियोधर्मी तत्वों में परिवर्तित होने का समय है, वह कुछ मिनटों से 24,000 वर्षों तक का हो सकता है। जिसका अर्थ है कि हजारों वर्ष तक रेडियोधर्मिता का कुप्रभाव वातावरण में छाया रहेगा। परमाणु संयत्र भवन से प्रवाहित भाप, जल कणों, गैसों तथा रेडियोधर्मी कणों का यह खतरनाक मिश्रण कितनी दूर तक फैलेगा तथा समीपवर्ती अथवा दूरवर्ती जन समुदाय को इससे कितनी हानि होगी, यह स्पस्टतया नहीं कहा जा सकता।

दुर्घटना के गम्भीर परिणाम कई बातों पर निर्भर करते हैं, यथा संयंत्र से प्रवाहित रेडियो धर्मी सामग्री की निश्चित मात्रा, परमाणु संयंत्र की तत्कालिक स्थिति, दुर्घटनाग्रस्त क्षेत्र के आसपास रहने वाले समुदाय की जनसंख्या, दुर्घटना के आरम्भ से लेकर रेडियोधर्मी तत्वों के प्रकटन की अवधि इत्यादि। साथ ही यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि संकटग्रस्त क्षेत्र को कितने समय में खाली कराया गया है।

परमाणु दुर्घटना के संदर्भ में 2 . 5 करोड़ रुपये व्यय से 2 वर्ष में मैसचुसेट्स तकनीकी अनुसंधान संस्थान द्वारा 'रिएक्टर सुरक्षा अध्ययन' आयोजित किया गया। इस अध्ययन को प्रमुख अन्वेषक डा० नॉरमन सी० रॉसमुसेन के नाम पर रॉसमुसेन अध्ययन के नाम से भी जाना जाता है। इस अध्ययन के अनुसार परमाणु प्रक्रिया कमीशन ने अनुमान लगाया कि परमाणु दुर्घटना में विध्वंस के दौरान उत्पन्न रेडियोधर्मी प्रभाव से सम्भवतया 300 लोग फेफड़ों, थॉयराइड तथा अन्य कैंसर रोगों का शिकार होकर मर सकते हैं। अमेरिकन भौतिक समाज के अनुसार मृतकों की संख्या 10,000 तक हो सकती है तथा विरोधियों का मत है कि मृत्यु संख्या इससे चार या पाँच गुना अधिक होगी।

परमाणु समर्थकों ने अमेरिका तथा अन्य देशों के लगभग 56 परमाणु संयंत्रों का निरीक्षण किया तथा जानना चाहा कि परमाणु संयंत्र में शीतलन दुर्घटना अथवा धातु गलन जैसी कोई स्थिति कहां और कैसे सम्भव हो सकती है किन्तु अभी तक किसी भी संयंत्र की कार्यप्रणाली में कोई खराबी उत्पन्न नज़र नहीं आयी और शीतलन दुर्घटना की सम्भावना लगभग नहीं पायी गयी। छोटी घटनायें किसी भी प्रणाली में सामान्यत: होती रहती हैं, किन्तु परमाणु वैज्ञानिकों का कथन है कि किसी भी दुर्घटना तथा सभी यंत्रों की विस्तृत जाँच की जाती है ताकि अन्य संयंत्रों में दुर्घटना किसी भी रूप में पुन:घंटित न हो सके।

वस्तुत: ब्राउनफैरी दुर्घटना का कारण एक जलती हुयी मोमबत्ती थी जिसे विद्युत कर्मचारी केवल पहुँचाने वाली दीवार के छिद्र के किसी वायु लीकेज को जानने के लिये प्रयोग कर रहे थे। उक्त प्रकार का एक छिद्र मिल जाने पर उन्होंने उस छिद्र को मोम प्लास्टिक से बन्द कर दिया तथा मोमबत्ती को पुन: उस छिद्र के पास ले गये ताकि निश्चित हो सके कि छिद्र पूर्णतया बन्द हो गया है। किन्तु कुछ वायु लीक हो रही थी जिससे मोमबत्ती की लौ उस प्लास्टिक में लग गई और आग एकदम भड़क उठी। इस आग को कार्बन डाइऑक्साइड अथवा अग्निशामक रसायनों से बुझाने के सभी प्रयोग प्रभावहीन रहे। यह आग केवल पानी द्वारा बुझायी जा सकती थी, किन्तु कर्मचारी पानी का प्रयोग नही कर सकते थे क्योंकि पानी से सारे संयंत्र के विद्युतीकरण का खतरा था। आलोचकों का कथन है कि इस दुर्घटना से सिद्ध होता है कि एक छोटी दुर्घटना भी अत्यधिक भयानक रूप ले सकती है।

परमाणु संयंत्र निर्माता इन संयंत्रों को पूर्ण रूप से सुरक्षित बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा निर्माण के समय उन सभी सम्भवनाओं को ध्यान में रखा जाता है जो कभी दुर्घटना का रूप ले सकती हैं। पिछले वर्षों में संयंत्र के संचालन के समय कई घटनायें घटित हुयीं जिनका निर्माण के दौरान ध्यान नहीं रखा गया था। किन्तु यह घटनायें बहुत लघु थीं और किसी भी रूप में जनता के लिये हानिकर नहीं थी। हाल ही के एस अमेरिकन अध्ययन में कहा गया है कि पूर्ण यांत्रिकी जगत में घटित दुर्घटनाओं का अध्ययन किया जाये तो हवाई जहाज दुर्घटना की दो वर्ष में एक बार, आग दुर्घटना में एक बार, तथा भूकम्प दुर्घटना की 20 वर्ष में एक बार होने की संभावना रहती है जिसकी तुलना में परमाणु संयत्र दुर्घटना की सम्भावना रहती है। जिसकी तुलना में परमाणु संयंत्र दुर्घटना की 1,00,00 वर्षों में केवल एक बार हो सकती है जिसमें मरने वालों की संख्या भी 100 से अधिक नहीं होगी। अधिक विध्वंसक दुर्घटना जिसमें मृत्यु संख्या 1,000 से अधिक हो सकती है, केवल 1 करोड़ वर्ष में 1 बार सम्भावित हो सकती है।

सम्पूर्ण अध्ययन से वैज्ञानिक जगत और अधिक जागरूक हो गया है तथा किसी भी सम्भावित दुर्घटना दोष से संयंत्र तथा परमाणु प्रणाली की पूर्ण सुरक्षा के लिये वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। यांत्रिक प्रणाली पूर्णतया दोष मुक्त तो नहीं कही जा सकती किन्तु आशा है कि परमाणु संयंत्र इसी प्रकार मानवीय आवश्यकताओं के लिये दोष रहित कार्य करते रहेंगे तथा विश्व को किसी विध्वंस का सामना नहीं करना पड़ेगा।

नलिनी बंसल,
पी० आई० डी०, सी० एस० आई० आर०
नई दिल्ली-12,

संलयन ऊर्जा का महत्व इसी से आंका जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका ने इस वर्ष इस क्षेत्र में शोध के लिये 32 अरब रुपये व्यय करने की परियोजना बनाई है। लगभग इतनी ही राशि रूस वाले भी लगायेंगे। इस समय के अनुमान के अनुसार इस ऊर्जा के उत्पादन में लगभग 30 वर्ष और लगेंगे।

"हलो ? हलो ? हम पृथ्वी से बोल रहे हैं"

जय प्रकाश नरायण श्रीवास्तव

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। प्रकृति के छिपे हुये रहस्यों का आवरण खोलने की जिज्ञासा ने ही आज हमारी सभ्यता को इतना विकसित कर दिया है। हमारा निरन्तर बढ़ता तकनीकी ज्ञान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पृथ्वी पर हर संभव कल्पनाओं को तो वैज्ञानिकों ने लगभग साकार कर ही दिया है। अब कुछ आधुनिक वैज्ञानिको ने एक अजीब तरह की कल्पना शुरू कर दी है जिसका अभी तक कोई अस्तित्व समझ में नहीं आता। उनका कहना है कि इस अंतरिक्ष (universe) में ऐसे ग्रहों (plauets) के होने की भी संभावना की जा सकती है जिस पर किसी सभ्यता का निवास हो और जो हमारी पृथ्वी की भांति ही "अपने सूर्य" के चारों ओर घूमती हो। यद्यपि विज्ञान के सिद्धान्त इस उत्पत्ति की संभावना का समर्थन तो करते हैं फिर भी अभी तक वैज्ञानिकों के समक्ष कुछ ऐसी जटिल समस्यायें हैं जिन्हें सुलझाने का प्रयास निरन्तर किया जा रहा है।

वैज्ञानिकों ने इन नवी सभ्यताओं का नाम ई०टी०आई० सभ्यता (Extra Terresstnial Intelligence) रखा है। अब यदि हम यह मान ले कि इस तरह की सभ्तायें अंतरिक्ष में हैं तो यह भी सोचना आवश्यक हो जाता है कि संभव है उनमें से कुछ हमारी सभ्यता की भांति ही विकसित हों और उनका तकनीकी ज्ञान हमारे जैसा ही हो। साथ ही कुछ सभ्यतायें ऐसी भी हो सकती है जो विकास में हमसे बहुत पीछे हो और कुछ बहुत विकसित हो गये हों। परन्तु इन सभी संभावनाओं की सत्यता को परखने के लिये वैज्ञानिकों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इनसे संपर्क कैसे स्थापित किया जाये।

प्रारम्भ में संपर्क को स्थापित करने के लिये प्रकाश को एक अच्छा माध्यम माना गया परन्तु वैज्ञानिकों ने तुरन्त ही महसूस किया कि प्रकाश का ऐसे किसी ई० टी० आई० ग्रह पर पहुँचना असंभव है क्योंकि भेजा गया प्रकाश पुंज सूर्य के आस पास क्षीण पड़ जायेगा। अत: हुई टी० आई०सम्पता हमारे इस संकेत से आर्कषित नहीं हो सकेगा। प्रकाश पुंज का ऐसे कार्यों में विशेष महत्व होता है जिनमें बहुत कम समय में लम्बा संदेश भेजना होता है। अत: प्रकाश की इस उपयोगिता का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता जब कि हमें केवल "हां या नहीं" की भांति संक्षिप्त संदेश ही भेजना हो। इस संक्षिप्त संदेश के लिये रेडियो तरंगे बहुत उपयोगी हो सकती हैं। ये तरंगे लगभग प्रकाश की ही गति से चलती हैं और इनका उत्पादन एवं प्रसारण सस्ता भी होता है। सबसे मुख्य विशेषता यह है कि 'रेडियो तरंगों' का उपयोग हमारे आज के तकनीकी विकास के अनुकूल है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी ई० टी० आई० सभ्यता से संपर्क स्थापित करने के लिये किसी आवृति (frequency) की रेडियो तरंगे चुनी जायें। कार्ल सागन का कहना है कि "इसका सही अनुमान लगाना इतना आसान नहीं लेकिन इतना कठिन भी नहीं जितना कि हम सोचते हैं।" चूंकि रेडियो तरंगे माइक्रो रेडियो तरंगों से लेकर दीर्घ रेडियो तरंगों (long redio waves) तक होती हैं अत: ऐसी स्थिति में हमारी स्थिति उस बालक के सदृश हो जाती है जिसे किसी अपरिचित व्यक्ति ने फोन करके मिलने को कहा हो और यह बताना भूल गया हो कि किस स्थान पर मिले। परन्तु यदि बालक यथा क्रम से उस व्यक्ति को ढूंढ़ता है तो ऐसी

भी संभावना है कि वह व्यक्ति प्रथम प्रयास में ही मिल जाये।

ई० टी० आई० सम्पता को संदेशों के भेजने के प्रारम्भिक प्रयत्नों में फिलिप मोरिसन एवं ग्यूसेप्पा ककोनी ने उदासीन हाइड्रोजन की उत्सर्जन रेखा (emission line) के प्रयोग का सुझाव दिया। इस रेखा का उपयोग वैज्ञानिकों ने ई० टी० आई० सम्पता के संकेतों पर ध्यान रखने के लिये किया। हाइड्रोजन अंतरिक्ष में सबसे अधिक मात्रा में पाया जाने वाला तत्व है और यह किसी भी प्राकृतिक संरचना की एक मौलिक इकाई है। हाइड्रोजन की इसी विशेषता के कारण इसे इस प्रयोग के लिये स्वीकार किया गया।

कुछ समय उपरान्त वैज्ञानिकों ने महसूस किया कि हाइड्रोजन का यह आवृति कुछ अधिक ध्वनि (noisc) उत्पन्न करती है। अतः अमेरिका के हावर्ड पकार्ड कम्पनी के वर्नाड एम० ओलिवर ने हाइड्रोजन के एक दूसरे प्राकृतिक आवृति (natural frency) 1667 GHz, जिसे वाटर होल (water hole) भी कहा जाता है, के उपयोग का सुझाव रखा। अब यदि यह सोचा जाये कि क्यों न अंतरिक्ष में या चन्द्रमा पर रेडियो दुरबीन (redio telescpe) लगाकर कुछ परीक्षण किया जाये तो ऐसी स्थिति में संदेश के प्रसारण एवं ग्रहण करने की खिड़की को अधिक बड़ा करना पड़ेगा। इस तरह पृथ्वी के वायुमण्डल (atmosphere) द्वारा उत्पन्न रेडियो तरंगों के शोर से छुटकारा मिल सकता है। अवरक्त (Inprared) तरंगों के द्वारा संदेशों के आदान-प्रदान की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुये वर्नाड एम० ओलिवर ने एक अन्य प्राकृतिक आवृति (natureal frequency) 5·6 GHz के प्रयोग का भी सुझाव दिया। अब वैज्ञानिकों ने कुछ अन्य तरंगों के प्रयोग की संभावनाओं पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया है। अतः भविष्य में लेसर किरणे, गुरुत्वाकर्षी तंरगे (grasihationel waus) न्यूट्रिनी पुंज और लम्बे तरंगधैर्य की ई० एस० पी० (ESP) किरणें भी प्रयोग में लायी जा सकेगी।

लंदन के संत जोन विद्यालय के० टांग वी० टेन्ग के "प्रीज्यूम्ड माडेस्टी" (presumed modesty) के सिद्धान्तानुसार ई० टी० आई० सम्पता से संपर्क स्थापित करने के प्रयास में अति आधुनिक तकनीक का प्रयोग नहीं करना चाहिये। पृथ्वी की सम्पता के तीस हजार लाख वर्षों के विकास काल में अभी पिछले सौ वर्षों से ही हम रेडियो तरंगों का ज्ञान प्राप्त कर सके हैं। अतः हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसे ही विकास क्रम की संभावना ई० टी० आई० सम्पता पर भी लागू हो सकती है। ऐसी स्थिति में हमें संपर्क के बहुत पुराने ढंगो का प्रयोग करना चाहिये जिससे कि विकासशील ई० टी० सभ्यता उन्हें शीघ्र ही समझ ले और उसका उत्तर अपनी सीमित तकनीकी ज्ञान के आधार पर दे सके।

अप्राकृतिक संकेतों की पहचान प्राकृतिक संकेतों की अपेक्षा अधिक आसान होती है। अतः अप्राकृतिक संकेतों का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जहां तक संभव हो ये अप्राकृतिक संकेत गणित एवं विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित होने चाहिये। कार्य की किसी भी विकासशील ई० टी० आई० सभ्यता को गणित एवं विज्ञान के इन आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान तो होगा ही। उदाहरणार्थ ऐसा संकेत जिनमें संदेश प्रकाश के वेग और आवर्त सारणी (peoiodic table) में तत्वों के क्रम आदि से सूचित किये जाये और चूंकि ये सभी सार्वभौम (unireal) हैं अतः ई० टी० आई० सभ्यता को चांका देने में सफल हो सकते हैं। संदेशों को एक अन्य अधिक प्रभावशाली ढंग से मार्स कोड के रेखा एवं विन्दु (dashes and dots) द्वारा भी भेजा जा सकता है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार संदेशों को टोलीविजन प्रसारित चित्रों की भांति (जो बिन्दुओं का समूह मात्र होता है) भी भेजा जा सकता है। कुछ भी हो जब भी कोई संकेत ई० टी० आई सभ्यता के लिये भेजा जाये तो वे साधारण से साधारण भाषा में "पीज्यूम्ड माडेस्टी" के सिद्धान्त पर आधारित होने चाहिये।

ई० टी० आई० सभ्यता की खोज का प्रथम प्रयास 15 वर्ष पूर्व ओज्मा प्रोजेक्ट के अंतर्गत अमेरिका

में पश्चिम वरजिनिया के राष्ट्रीय रेडियो खगोलशाला (Astronomy) केन्द्र में किया गया। हमको मुख्य वैज्ञानिक फ्रेन्क ड्रेक एवं कलिसागन थे। इस कार्य के लिये 85 फुट का रेडियो दूरवीन प्रयोग में लाया गया। इस अनुसंधान का मुख्य उपदेश सूर्य जैसे दो ग्रहों (Tau ceti) एवं (Epsilon Eridani) से आते हुये किसी भी संकेत को ग्रहण करना था। ये दोनों ग्रह पृथ्वी से कई खरब किलोमीटर दूर हैं। सन् 1974 में इन्हीं वैज्ञानिकों ने अरेसिवो प्यूट्रो रिको (Areeibo puetro Rico) नामक स्थान पर पुनः कार्य शुरू किया। इस बार 1000 फुट का रेडियो दूरवीन प्रयोग में लाया गया एवं हरकुलिस (Hercules) के घने तारापुंज, जिसमें लगभग 300,000 तारों के होने का अनुमान लगाया जाता है, पर ध्यान केन्द्रित किया गया। साथ ही Galaxy messier—13 एवं अन्य तीन ग्रहों की भी विभिन्न आवृतियों पर परीक्षा की गयीं। परन्तु वैज्ञानिकों को कोई सफलता हाथ न लगी। ऐसे दो प्रयास ग्रीन बैंक अमेरिका एवं एंग्लोक्वीन अनुसंधान केन्द्र कनाडा में भी किये गये। उसमें भी कई स्थानों पर ऐसे प्रयास किये गये परन्तु उनकी सफलता-असफलता के विषय में किसी को कुछ ज्ञात नहीं। उपर्युक्त प्रयोगों की एक विशेषता यह थी कि उनके संदेशों में लगभग वे सभी बातें थी जो एक अपरिचित ई० टी० आई० सभ्यता ग्रहण करने पर संदेश-प्रेषक के विषय में जानना चाहेगी।

अंतरिक्ष की किसी भी सभ्यता की जानकारी उस सभ्यता के ग्रह के चारो ओर वायुमण्डल में बिखरी रेडियो तरंगों से भी की जा सकती है। यह सिद्धान्त तो पृथ्वी की सभ्यता की उपस्थिति किसी विकसित ई० टी० आई० सम्पता को बताने में बहुत सहायक हो सकता है, पृथ्वी पर हजारों टेलीविजन एवं रेडियो केन्द्रों के उपग्रह एवं अन्य संचार व्यवस्थायें निरन्तर असंख्य रेडियो तरंगों का प्रसारण कर रही है। संक्षिप्त में यही कहना श्रेष्ट होगा कि पृथ्वी से निरंतर इतनी ऊर्जा विकरित हो रही है कि इसे बहुत दूर स्थित कोई भी साधारण रेडियो दूरवीन ग्रहण कर सकता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि इस तरह हम पिछले 20 वर्षो से अंतरिक्ष में प्रति सेकन्ड एक संदेश भेज रहे हैं। अंतरिक्ष में अपनी लम्बी यात्रा के दौरान ये संदेश प्रतिबर्ष 20 ग्रहों को यह सूचित करते है कि सूर्य ग्रह पर एक ऐसी सभ्यता विकसित हो चुकी है जो रेडियो तरंगों की उत्पन्न करने लगी है। परन्तु ऐसा लगता है कि अभी तक किसी ने इसे सुना नहीं और यदि सुना भी तो ध्यान नहीं दिया।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी अन्य विधियां भी हो सकती हैं जिनके द्वारा कोई ई० टी० आई० सभ्यता अपनी उपस्थिति बताने का प्रयत्न करे। उदाहरण के लिये अपनी उपस्थिति बताने के लिये कोई ई० टी० आई० सभ्यता हजारों टन अप्राकृतिक रेडियो-धर्मी तत्वों को अपने निकटवर्ती ग्रह पर फेंक दें। अब यह पृथ्वी के वैज्ञानिकों पर निर्भर करता है कि वे इसका पता लगा सके। परन्तु अपनी उपस्थिति बताने के इस अति साधारण तरीके को पृथ्वी के लोगों को उपयोग में नहीं लाना चाहिये।

अनुसंधान के इस क्षेत्र में अभी तक हमारे वैज्ञानिक कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं। इसका एक कारण यह भी है कि अभी तक इस विषय में बहुत कम ही प्रयास हुये हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसे प्रयोगों में बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है क्योंकि यहां से भेजे गये किसी भी संकेत को किसी ई० टी० आई० सभ्यता पर पहुँचने में सैकड़ों वर्ष लगता है और इतना ही समय उसे वहां से वापस आने में लगेगा यदि उसका उत्तर दिया गया। अतः वैज्ञानिकों को बहुत लम्बे समय तक धैर्य के साथ प्रतीक्षा करनी होगी।

यद्यपि ई० टी० आई० सभ्यता से संदेशों के आदान-प्रदान में कोई विशेष महत्व नहीं दिखायी देता फिर भी हमारे वैज्ञानिक इनकी खोज आसानी से इतनी शीघ्र नहीं त्यागने वाले। इस तरह की खोजो कई खगोल शालाओं में विभाजित रूप से चल रहे हैं यद्यपि इनके ऊपर अभी उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है जितनी कि उनको आवश्यकता है। वैसे यदि सम्मिलित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किये जायें तो संभव है कुछ महत्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त हो जायें।

पुरानी औषधियों के नये उपयोग

● संकलित

शिकागो में, एक युवक की श्रवण-शक्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। लेकिन अब न केवल उसका घटना बन्द हो गया है, बल्कि उसकी खोयी हुई श्रवण-शक्ति कुछ वापस भी आ गयी है। सैक्रोमेण्टो, कैलिफोर्निया, में एक गृहिणी को, जिसे एक मोटर दुर्घटना के बाद सिरदर्द के दौरे आते रहते थे, किन्तु काफी अरसे तक सामान्य उपचारों से कोई लाभ नहीं पहुंचा था, अब इस पीड़ा से मुक्ति मिल चुकी है। नोरवाक, कनैटिकट, में दर्जनों बच्चों को भयंकर स्वप्न आते रहते थे और उनमें से कुछ नींद में भी उठ कर चलने-फिरने लगते थे। लेकिन अब उन्हें इन सभी समस्याओं से छुटकारा मिल चुका है।

ये उन हजारों रोगियों में से कुछ हैं, जिन्हें चिकित्सा के क्षेत्र में की गयी अनेक खोजों से लाभ प्राप्त होने लगा है। किन्तु ये खोजें नई औषधियों की नहीं, बल्कि पुरानी औषधियों के नये गुणों की खोजें है।

आम तौर पर विभिन्न औषधियों के साथ कुछ विशेष गुण सम्बद्ध माने जाते हैं। जब कभी कोई दवा किसी विशेष रोग में उपयोगी सिद्ध होती है, तो उसे केवल उसी रोग की दवा मान लेने की प्रवृत्ति पायी जाती है। लेकिन, इधर हाल में, इस प्रकार की कुछ 'विशिष्ट' औषधियों के नये-नये गुणों का पता लगाने के लिए अनुसन्धान किये गये हैं। इन अनुसन्धानों के परिणाम अधिकाधिक लाभ-दायक सिद्ध हुए हैं।

बहरापन

प्राय: 18 और 40 वर्ष के बीच की आयु वाले युवा प्रौढ़ों में श्रवणशक्ति के क्षीण होने का एक सामान्य कारण यह है कि भीतरी कर्ण-कुहर को ढक रखने वाला कड़ा अस्थि-सम्पुट ढीला या नर्म पड़ जाता है। इसे 'ओटोसेलेरोसिस' कहते हैं। अब इस रोग को दूर करने में सोडियम फ्लोराइड बहुत ही बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। सोडियम फ्लोराइड एक मिश्रण है, जिसका प्रयोग आम तौर पर बच्चों के दांतों को मजबूत और कड़ा करने के लिए किया जाता है, ताकि उनका क्षरण न होने पाये।

नार्थ वेस्टर्न विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल के डा० जार्ज ई० शैम्बाग ने 'ओटोसेलेरोसिस' के 2,000 तरुण रोगियों पर सोडियम फ्लोराइड का प्रयोग किया है, जिनमें से 80 प्रतिशत को इससे लाभ पहुंचा है, और वे फिर सामान्य रूप में सुनने लगे हैं।

अन्य रोगियों की तरह ही शिकागो के युवक को भी प्रतिदिन दोनों समय भोजन के बाद 20 मिलीग्राम सोडियम फ्लोराइड दिया गया। उसे भोजन पूर्व 0.5 ग्राम कैल्शियम ग्लुकोनेट तथा दिन में एक बार मल्टी विटामिन की एक गोली भी दी गयी। इस उपचार से न केवल उसकी श्रवण शक्ति का घटना बन्द हो गया, बल्कि उसकी खोयी श्रवण शक्ति कुछ अंश तक वापस आ गयी।

सिरदर्द

सैक्रामेण्टो की जिस गृहिणी का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह सिरदर्द के पुराने रोग से पीड़ित थी। यह सिरदर्द एक मोटर दुर्घटना के फलस्वरूप शुरू हुआ था। इस प्रकार का सिरदर्द प्राय: गले में चोट लगने के बाद उत्पन्न हो जाता है। इसमें आम तौर पर सिर के एक

ओर भयानक पीड़ा होती है। रोगी पसीने से तर हो जाता है और उसकी आंखें उलट जाती हैं।

किन्तु, हाल में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डेविस स्थित स्कूल आव् मेडिसिन्स में डा० एन० विजयन और डा० पी० एम० ड्रेफ़ुस ने एक शोध-रिपोर्ट में बताया है कि इस प्रकार के रोगियों को प्रोप्रानोलोल हाइड्रोक्लोराइड देने से सिर की पीड़ा और उससे सम्बद्ध अन्य विकारों से तत्काल राहत मिल जाती है। सामान्यत: इस औषधि का प्रयोग हृदय विकार से पीड़ित रोगियों के उपचार में किया जाता है। जो लोग हृदय विकार और पुराने सिरदर्द (माइग्रेन), दोनों के मरीज होते हैं, उन्हें इस दवा से दोनों रोगों में लाभ होता है। परीक्षणों से यह पता चला है कि यह दवा पुराने सिरदर्द को दूर करने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है।

एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार, अधकपारी या पुंजीभूत सिरदर्द (क्लस्टर हेडेक) में एक अन्य पुरानी दवा बड़ी कार-आमद साबित हुई है। सिर में इस तरह की पीड़ाएं एकसाथ ही उत्पन्न होती हैं, कई-कई दिन तक बनी रहती हैं, कुछ समय के लिए बन्द हो जाती हैं और फिर शुरू हो जाती हैं। इसीलिए इन्हें पुंजीभूत सिरदर्द कहा जाता है। इसमें सिर के एक भाग में असह्य पीड़ा होती है, जिससे आंख, ठुड्डी, गला और चेहरा प्रभावित होते हैं। कैलिफोर्निया के स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में, डा० एलबर्ट बी० गियामपावली ने हाल में यह खोज की है कि इस प्रकार के सिरदर्द में एपिनेफ्रीन के प्रयोग से राहत मिलती है। इस दवा को एड्रेनेलीन भी कहते हैं जिसका प्रयोग अभी तक तीव्र दमा और एलर्जी के रोगियों को राहत देने के लिए होता रहा है। डा० गियामपावली ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि इसे 15 से 20 मिनट के अन्तर पर 3 से 6 बार तक सूंघने में पुंजीभूत सिरदर्द दूर हो जाता है।

दु:स्वप्न और कम्पन

इमीप्रामिन नामक औषधि का प्रयोग आम तौर पर मानसिक अवसाद से पीड़ितों को राहत देने के लिए किया जाता है। लेकिन अब उसके एक अन्य अद्भुत गुण की भी खोज करली गयी है। यह दवा दु:स्वप्न और नींद में चलने की बीमारी को दूर करने में भी अतीव लाभप्रद सिद्ध हुई है। बच्चों को सोने से पूर्व इस दवा की 25 से 30 मिलिग्राम की खुराकें दी जाती हैं यह पाया गया है कि अधिकांश रोगियों को चंगा करने के लिए दो हफ्ते तक इस दवा का प्रयोग करना पर्याप्त होता है।

चिकित्सा विषयक रहस्य

टेगरेटोल' नामक औषधि का प्रयोग पहले चेहरे के स्नायविक विकार, त्रिधारा-स्नायुशूल (ट्रिगैनिनल न्यूरालिजिया) से पीड़ित-रोगियों को राहत देने के लिए होता था। लेकिन अब उसके एक ऐसे गुण की खोज की गयी है, जिससे कम से कम ऐसे बच्चे तो लाभान्वित हो ही सकते हैं जो अंगों की सामान्य गति में पियार या ऐंटन सम्बन्धी रोग (डिस्टोनिक डिजार्डर) से पीड़ित हैं। अभी तक इस रोग का सही-सही निदान नहीं हो सका है, और न ही इस बात का पता लगाया जा सका है कि 'टेगरेटोल' के प्रयोग से इसमें किस प्रकार राहत मिलती है। ये दोनों ही बातें अभी रहस्य बनी हुई हैं। लेकिन न्यूयार्क सिटी के माउण्ट सिनाई चिकित्सा विद्यालय में यह खोज की गई है कि जिन थोड़े से रोगियों पर इस इलाज की आजमाइश की गयी थी, उनकी हालत में बराबर क्रमबद्ध सुधार हुआ। इन्हें प्रतिदिन 300 से 1200 मिलीग्राम तक की मात्रा में यह दवा दी गयी। इन रोगियों में से आधे तो वंशगत स्नायविक ऐंठन से और आधे शारीरिक दुर्बलता के कारण उत्पन्न स्नायविक ऐंठन से पीड़ित थे।

जिन रोगियों पर इस दवा का अनुकूल प्रभाव पड़ा है, उनमें 12 वर्षीय बालक है, जिसे एक ऐसा दौरा आया जिसमें उसका दाहिना पैर अनियन्त्रित रूप से फैल गया। इसके अलावा उसे दिन में 40 बार इस रोग के ऐसे दौरे आते रहे, जिनमें उसके मुंह के दायें भाग और धड़ में ऐंठन और मरोड़ उत्पन्न हो जाती थी। इन रोगियों में एक 5-वर्षीय बालक है, जिसके दहिने पांव की मांसपेशियों

में आकस्मिक आकुंचन या ऐंठन के दौरे आते थे जिससे वह अक्सर गिर पड़ता था। इनके अलावा, 16 वर्ष की एक अन्य बालिका भी है, जिसको धड़, पैर और हाथ में ऐंठन के दौरे आते रहते थे।

शरीर के अंगों में ऐंठन या कम्पन सम्बन्धी एक अन्य रोग 'हैमीवालिस्मस' है, जिससे शरीर के आधे भाग में लगातार ऐंठन या कम्पन के दौरे आते रहते हैं। इस रोग में 'हैलोपेरिडौल' नामक दवा काफी लाभदायक साबित हुई है, जिसका प्रयोग पहले 'ट्रैंक्विलाइजर' के रूप में हुआ करता था। साउथ फ्लोरिडा विश्वविद्यालय के टाम्पा स्थित चिकित्सा विद्यालय में डा० गोर्डन जे० गिलबर्ट ने हैमिवालिस्मस के रोगियों पर इस दवा का परीक्षण करके बहुत ही उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त किया है। इस उपचार से एक बूढ़े व्यक्ति की हालत 48 घण्टे के भीतर सुधरने लगी थी।

एक अन्य पुरानी दवा के नये उपयोग से अपस्मार या मिर्गी के बहुत से रोगी लाभान्वित हो सकते हैं। वह दवा है—'डेक्स्ट्रोएम्फीटामिन'। यह केन्द्रीय स्नायु प्रणाली को सक्रिय करने के लिए प्रयुक्त एक विख्यात दवा है। लेकिन अब अमेरिका के एक प्रमुख अपस्मार विशेषज्ञ, डा० सैमुएल लिविंगस्टन ने, जो बाल्टीमोर के लिविंगस्टन एपिलेप्सी डायगनोस्टिक ऐण्ड ट्रीटमेण्ट सेण्टर से सम्बद्ध हैं, अपनी रिपोर्ट में बताया है कि यह दवा मिर्गी के रोगियों के लिए भी बहुत उपयोगी है। मिर्गी के रोगियों को दी जाने वाली कई दवाएं उनींदापन उत्पन्न करती हैं। 'डेक्स्ट्रोएम्फीटामिन' का प्रयोग करने से यह उनींदापन दूर हो जाता है। अतएव इस दवा का प्रयोग मिर्गी की उपर्युक्त दवाओं के साथ करने पर रोगी अच्छी तरह काम करने में समर्थ हो सकता है। कभी-कभी इसका अकेले प्रयोग करने से भी साधारण किस्म की मिर्गी की रोकथाम हो जाती है।

अन्य समस्यायें

पुरानी दवाएं कई प्रकार की अन्य समस्याएं दूर करने में भी सहायक हो रही है। उदाहरण के लिए, 'काजल्जिया' नामक रोग में 'प्रोप्रानोलोल' नामक दवा से काफी लाभ होने की सम्भावना प्रतीत होती है। 'काजल्जिया' रोग में शरीर के अंगों में तेज जलन होने लगती है जो कभी-कभी मामूली चोट से भी पैदा हो सकती है। इसमें राहत के लिए कभी-कभी स्नायु सम्बन्धी शल्योपचार, 'सिम्पैथेक्टोमी,' की भी आवश्यकता पड़ सकती है। परन्तु अब अलबुकर्क, न्यू मैक्सिको, के डा० जार्ज साइमन ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि कई रोगियों की हालत में 'प्रोप्रानोलोल' के प्रयोग से नाटकीय सुधार दिखलायी पड़ा है। उन्होंने एक औरत को जिसे एक पांव में तीव्र जलन हो रही थी, यह दवा दी। इस दवा के प्रयोग से उसे 48 घण्टे में ही आराम मिल गया। अन्यथा उसे अपने रोग से राहत के लिए नशीली दवाएं लेनी पड़ रही थीं। अब उसे इन नशीली दवाओं का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रही। एक अन्य पुरुष को 'प्रोप्रानोलोल' का प्रयोग करने से 'काजल्जिया' की पीड़ा से 12 घण्टे में आराम मिल गया और 24 घण्टे के भीतर बोझा ढोने में समर्थ हो गया।

इसी प्रकार, माउण्ट सिनाई चिकित्सा विद्यालय के डा० डोरोथी टी० गीगर ने हाल में यह खोज की है कि 'कुशिंग' के रोग में—जिसके अन्तर्गत गुर्दे के सिरे पर स्थित अधिवृक्क ग्रंथिया गिल्टी के अतिशय सक्रिय होने से बहुत ही अधिक मात्रा में हारमोनों का स्राव होता है और उसके फलस्वरूप मांसपेशियां कमजोर पड़ने लगती है और रोगी मनोविकार से भी पीड़ित हो जाता है—'साइप्रोहेप्टाडीन' नामक औषधि का प्रयोग करने से रोगी को तत्काल राहत मिलती है और उसकी हालत में नियमित रूप से सुधार होने लगता है। अभी तक इस दवा का प्रयोग परागज (गंध से उत्पन्न होने वाले) ज्वर में होता रहा है।

मुंह में होने वाले कर्कट व्रण से रोगी को लगातार पीड़ा होती रहती है। उसे राहत देने का एक सरल उपाय यह है कि उस फोड़े पर ऐस्पिरिन की एक टिकिया चिपका रखी जाय। इससे प्रारम्भिक पीड़ा बन्द हो जाती है। उसके पांच मिनट बाद कुल्ली कर लेना चाहिये।

[शेष पृष्ठ 27 पर]

स्ट्रॉशियम–90 के दुष्प्रभाव

प्रकाश चन्द्र सोमानी

प्रकृति में स्ट्रॉशियम के कई समस्थानिक विद्यमान हैं। यह 0.56% स्ट्रॉशियस -84, 9.86% स्ट्रॉशियम -86, 7.02% स्ट्रॉशियम -87, तथा 83.56% स्ट्रॉशियम -88 के रूप में पृथ्वी पर उपस्थित रहता है। कृत्रिम रूप से भी स्ट्रॉशियम के कई रूपों का संश्लेषण किया गया है। इन्हें स्ट्रॉशियम के रेडियों-समस्थानिक कहते है। स्ट्रॉशियम के प्रमुख रेडियो-समस्थानिक निम्न लिखित हैं।

1. स्ट्रॉशियम -83 अर्द्ध आयु 33 घंटे, 2· स्टॉशियम-85 अर्द्ध आयु 65 दिन, 3. स्ट्रॉशियम-89 अर्द्ध आयु 35 दिन, पस्ट्रॉ- शियम-90 अर्द्ध आयु 28 वर्ष,. स्ट्रॉशियम-91 अर्द्ध आयु 9.7 घंटे एवं 9· स्ट्रॉशियम-92 अर्द्ध आयु 2.7 घंटे।

मल्टी मेगाटन परीक्षणों के फलस्वरूप स्ट्रॉशियम-89 तथा स्ट्रॉशियम-90 लगभग बराबर मात्राओं में उत्पन होते हैं। स्ट्रॉशियम-89 को अर्द्ध आयु कम होने से एक वर्ष में ही इसकी मात्रा स्ट्रॉशियम-90 की एक प्रतिशत रह जाती है। दो वर्ष पश्चात् इसकी मात्रा स्ट्राशियम-90 की 0.01% रह जाती है। स्ट्रॉशियम-90 की अर्द्ध आयु अधिक होने से यह सबसे महत्वपूर्ण हैं। एक हजार किलो ग्राम विखंडन उत्पादों के साथ लगभग 13.5 किलोग्राम स्ट्रॉशियम-90 मुक्त होता है।

भूमि पर आने के पश्चात् स्ट्रॉशियम-90 मृदा की ऊपरी 5 से 7 से० मी० की परत में जमाव कर लेता है। कैल्शि-यम तथा स्ट्रॉशियम आवर्त सारणी में एक ही समूह के सदस्य हैं। अतः ऐसा माना जाता है कि यह मृदा से पौधों के शरीर में पहुंचने के लिये केल्शियम के समान ही पथ का अनुसरण करता है। पौधों की उप पाचयी क्रियाओं में केस्शियम तथा स्ट्रॉशियम साथसाथ चलते हैं; तथा ये एक दूसरे से बहुय अधिक प्रथक नहीं होते।

मानव शरीर में लगभग एक किलोग्राम केस्शियम उपास्थित रहता है। शरीर में केल्शियम प्राप्त करने का अन्य साधन मृदा ही है। मृदा से केल्शियम पौधों में पहुंचता है तथा पौधों से भोजन शृंखता के फलस्वरूप यह हमारे शरीर में पहुंचता है। इसके साथ मृदा में उपस्थित रेडियो-धर्मी स्ट्रॉशियम-90 भी हमारे शरीर में पहूंच जाता है। शरीर में प्रविष्ठ होने के पश्चात् यह शरीर की अस्थियों में कैल्शियम के साथ साथ उपस्थित रहता है एवं यहाँ यह दीर्घकाल तक ठहरता है।

अब यहाँ पर परमाणु विस्फोटों से मुक्त स्ट्रॉशियम-90, जो विभिन्न विधियों द्वारा शरीर में पहुंच जाता हैं, के दुष्प्रभावों के संबंध में विचार करेंगे।

1. **अतिश्वेत रक्तता**— यह एक प्रकार का रक्त केंसर है। अस्थियों में उपस्थित स्ट्रॉशियम-90 द्वारा बीटा विकिरण निकलते हैं। इन विकीरणों का प्रभाव अस्थियों के अतिरिक्त अस्थि मज्जा पर भी पड़ता है। वैज्ञानिकों द्वारा अब यह भली भाँति ज्ञात कर लिया गया है कि अयनिक विकिरणों का संपूर्ण शरीर अथवा रक्त उत्पन्न करने वाले अंगों पर अनावरण अतिश्वेत रक्तता नामक रोग उत्पन्न कर देते हैं। रोग शरीर पर अनावरित विकीरण की मात्रा पर निर्भर

करता है। ऐसा माना जाता है कि रक्त उत्पन्न करने वाली कायिक कोशिकाओं में विकिरणों के प्रभाव से उत्परिवर्तन हो जाता है जिससे शरीर में यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

2. **अस्थि-अर्बुद—**

पशुओं पर किये गये प्रयोगों के आधार पर यह ज्ञात किया गया है कि रेडियोधर्मी स्ट्रॉंशियम-90 द्वारा उत्पन्न विकिरण का शरीर पर अनावरण करने पर अस्थि अर्बुद उत्पन्न हो सकता है। विकिरण की मात्रा तथा उत्पन्न अस्थि अर्बुद में संबंध के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

3. **जीवन काल में कमी—**

विकिरण के अनावरण से मनुष्य की आयु में कमी हो जाती है। रेडियोधर्मी स्ट्रॉंशियम-90, बिटा *B* विकिरण उत्पन्न करता है इनसे मनुष्य के जीवन काल में कमी हो जाती है। आयु में कमी विकिरण मात्राओं के अनावरण के अनुपात में होता है। स्ट्रॉंशियम—90 द्वारा उत्पन्न अति श्वेत रक्तता एक प्रकार का कैंसर है जो कभी कभी मनुष्य की मृत्यु का कारण बन जाता है।

4. **आनुवंशिकता पर प्रभाव** — स्ट्रॉंशियम-90 की मृदु ऊतकों में बहुत कम मात्रा विद्यमान रहती है। शरीर में उपस्थित कुल मात्रा का एक प्रतिशत से भी कम मृदु ऊतकों में विद्यमान रहता है। अतः मृदु ऊतकों में निकलने वाले विकीरणों की मात्रा बहुत कम होती है। जननांगों की कोशिकाओं पर इसका इस प्रकार बहुत कम प्रभाव पड़ता है— अतः आनुंवशिकता पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ पाता है। यह सौभाग्य की बात है कि स्ट्रॉंशियम—90 का प्रभाव कायिक कोशिकाओं तक ही सीमित है अतः इसके प्रभाव व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहते हैं एवं उसके वंशजों पर इसका कोइ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

सभी राष्ट्रों का यह दायित्व है कि वे ऐसे परमाणु परीक्षण नहीं करें जिससे मानवता को हानि पहुंचने की संभावनएँ हों। केवल ऐसे परीक्षण किये जायँ जो मानव जाति के लिये हितकर हों तथा जिससे दुष्प्रभाव कम से कम फैलें।

प्रकाश चन्द्र सोमानी
वरिष्ठ अध्यापक रसायनशास्त्र
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय
सलुम्बर जि० उदयपुर (राज०)

(शेष पृष्ठ 25 का)

इसी तरह बुखार के बाद मुंह या ओठों के ऊपर पपड़ी निकलने लगती है। मोर्गनटाउन स्थित वेस्ट वर्जिनिया विश्वविद्यालय के मेडिकल सेण्टर के डा० नुजेण्ट और डा० एस० एम० चाऊ का कहना है कि उस पर ईथर में भिगोई पट्टी चिपका देने से तत्काल लाभ पहुंचता है। उनका विश्वास है कि इस दवा से रोग के कीटाणु, जिन्हें हर्पस सिम्पलेक्स कहते हैं, समाप्त हो जाते हैं।

डॉ० जे० के० खन्ना

प्राणदायक आक्सीजन कहाँ से आती है ?

अभी हाल के वर्षों तक, हरे पौधों को, धरती के वातावरण में आक्सीजन की पूर्ति के लिये आवश्यकता से कहीं अधिक महत्व दिया जाता रहा है। अमरीकी नौसेना शोधशाला द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार, अनेक वैज्ञानिक परीक्षणों के पश्चात लोग अब यह मानने लगे हैं कि पृथ्वी के वायुमंडल में प्राप्य मुक्त आक्सीजन का अधिकांश भाग पृथ्वी के बाहरी वातावरण पर सूर्य किरणों के प्रभाव से प्राप्त होता है न कि पौधों में होने वाली प्रकाश-संशलेषण प्रक्रिया द्वारा।

चन्द्रमा को भेजे गये यान अपोलो-16, में रक्खे उपकरण द्वारा लिये गये स्पेक्ट्रम से यह जानकारी प्राप्त की गई। उपकरण के माध्यम से, अन्य चीजों के अलावा, पृथ्वी के "ग्योकोरोना" (पृथ्वी के वातावरण के सबसे दूर स्थान) में लगभग शुद्ध आक्सीजन की सतह का पता चला। प्राप्त प्रमाण इंगित करते है कि "ग्योकोरोना" का निर्माण, वातावरण में उपस्थित जलवाष्प पर सूर्य किरणों के प्रभाव से हुआ है। सूर्यकिरणों के प्रभाव से जलवाष्प हाइड्रोजन आक्सीजन व गैस में विभक्त हो जाती है। हाइड्रोजन गैस, हल्की होने के कारण वातावरण में ऊपर उठ जाती है व अंत में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के बाहर हो जाती है व भारी आक्सीजन गैस, पृथ्वी की नीचे बैठती जाती है, जिसे हम श्वास के रूप में ग्रहण करते हैं।

प्रवक्ता, रसायन विभाग
क्राइस्ट चर्च महाविद्यालय,
कानपुर—208001।

'ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चरित्र निर्माण होना चाहिये'
—मो० क० गांधी

पुस्तक समीक्षा

भारत की सम्पदा-प्राकृतिक पदार्थ: चतुर्थ खन्ड : प

प्रकाशक—पब्लिकेशन्स एण्ड इन्फार्मेशन डाइरेक्टरेट, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12
सन् 1976 पृष्ठ संख्या 384

लगभग 6 वर्ष पूर्व 'भारत की सम्पदा' नामक ग्रंथ माला का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। हिन्दी में यह प्रथम कोश है जो देश की प्राकृतिक सम्पदा से अवगत कराने के उद्देश्य से Wealth of India-Raw materials नामक अंग्रेजी ग्रंथमाला से अनूदित किया गया। इसकी उपयोगिता सर्वविदित है। प्रस्तुत खण्ड 'प' से प्रारम्भ होने वाले समस्त शीर्षकों के सम्बन्ध में सामग्री प्रदान करने वाला है।

इस खण्ड के कुछ महत्वपूर्ण लेख फलों, औषधियों तथा ऊर्जा-पदार्थ से सम्बन्धित हैं - यथा आड़ू, आलू, बुखारा, बादाम जैसे फलों, अफीम, पोस्ता जैसी औषधि क्षुपों और पेट्रोलियम जैसे ऊर्जा पदार्थ। पेट्रोलियम सम्बन्धी लेख तो अत्यन्त सूचनाप्रद हैं और आधुनिकतम सूचनाओं से युक्त है।

इस खण्ड में कई आकर्षक रंगीन चित्र तथा अनेकानेक रेखाचित्र हैं। छपाई पूर्व के खण्डों की ही भाँति स्तरीय है। सामग्री का संयोजन, शैली आदि निर्दिष्ट मानक के अनुसार हैं जो किसी भी ग्रंथमाला के लिये आवश्यक है। इससे सम्पादक मण्डल की सचेष्टता सुस्पष्ट है।

इस खण्ड की कुछ न्यूनताओं का उल्लेख इसलिये आवश्यक है कि अगले खण्डों में इस ओर ध्यान रखा जाय। ये हैं :

(1) कुछ यौगिकों को स्त्रीलिंग रूप प्रदान करना—वसा तथा शर्करा (जो व्यापक परिभाषित शब्द हैं) के अतिरिक्त कोई भी कार्बनिक यौगिक स्त्रीलिंग नहीं माना जाता किन्तु इस खण्ड में स्थान-स्थान पर **टैनिन**, **एंजाइम**, **प्रोटीन** स्त्रीलिंग रूप में स्वीकृत हैं और उनके बहुवचन रूप प्रयुक्त हैं जो ठीक नहीं है।

(2) कुछ यौगिकों के उच्चारण में एक रूपता नहीं मिलती—यथा एंजाइम तथा ऐंजाइम; **अमीन** तथा **ऐमीन** दोनों ही रूप मिलते हैं। एक ही पैरा में पक्षी (पुल्लिंग) तथा चिड़िया (स्त्रीलिंग) प्रयुक्त मिलते हैं (पृ० 4)।

(3) कुछ वर्तनियाँ अशुद्ध हैं—जो अवश्य ही प्रूफ की त्रुटियां हैं। इन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पृ० 7 पर **'गैब्रो'** के स्थान पर 'ग्रैबो' छपा है जो भ्रामक है। पृ० 8 में **शेल** के स्थान पर सर्वत्र **शैल** का प्रयोग चिन्तनीय है।

(4) कुछ शब्दों के प्रयोग अटपटे हैं—परागक पक्षी (पृ० 1) हानिकारक क्रियायें (पृ० 1), अनिच्छक मांस-पेशियाँ (पृ० 32), कायिकीय क्रिया (पृ० 71), फसल की उतराई (पृ० 82), अ-अपचायक (पृ. 109), अ-अंकुरित दाल (पृ. 111), आहारण प्रयोग (पृ. 105)।

(5) पृ. 37 पर भेड़िये 5-9 बच्चों को जन्म देते हैं--यहाँ पर मादा भेड़िया का उल्लेख होना चाहिये था।

(6) पृ. 40 पर स्टीऐरिक तथा ट्राई, डाई— जैसे उच्चारण एवं प्रयोग स्वीकृत रूपों से भिन्न हैं।

(7) इस तेल में ये चीजें थीं—(पृ. 90) में 'चीजें' का प्रयोग परिभाषिक नहीं है।

(8) पृ. 192 में बरानी खेती तथा 'बारानी' दोनों ही का प्रयोग है जो छापे की भूल है। 'वर्षाहीन खेती' शब्द का प्रयोग अच्छा है। पोस्ते की खेती इसके शीर्षों के हेतु (पृ. 241) की जाती है—यहाँ पर 'शीर्षों' का प्रयोग विचारणीय है। इसी तरह इसे कृष्ट किया जाता है।

(9) वाक्य योजना - कहीं कहीं अंग्रेजी की झलक मिलती है। यथा पृ. 241 में—किस्म ऐल्बम, जिसके बीज सफेद होते हैं की खेती की जाती है। अथवा खली का वह भाग...गरीबों द्वारा खाया जाता है।

शिव गोपाल मिश्र

फूलों का परिचय

लेखक--श्याम सुन्दर पुरोहित, प्रकाशक—किताबघर दिल्ली

मूल्य रु० २.५० मात्र, पृष्ठ संख्या ५२

बागवानी का शौक धीरे-धीरे बढ़ रहा है बिना पर्याप्त जानकारी के पौधों का उगाना, उनकी देख-रेख करना तथा उन्हें दर्शनीय बना पाना सम्भव नहीं है। इस पुस्तक में लेखक ने बागबानी की सूचना देने का जो प्रयास किया है वह सराहनीय है। पौधों को कब, कैसे लगायें और कीट आदि से कैसे बचायें इसका अच्छा वर्णन किया गया है। तालिका 1 में दिया गया विभिन्न फूलों के लिए समय पौधों को लगाने के समय की जानकारी देता है। कुछ चित्रों द्वारा क्यारी कैसे बनाई जाय इसके बारे में भी बताना चाहिए था। फूल कहाँ, कब और कैसे लगायें वाले अध्याय की ओर भी विस्तृत रखना चाहिये था ताकि पूरी जानकारी समावेशित की जा सकती।

भूचाल की पूर्व सूचना

मनीषी बर्नवाल

आजकल भूचाल की भविष्यवाणी अधिक तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक ठोस आधारों पर सम्भव हैं। वैज्ञानिक आधारों पर चीन में 4 फरवरी 1975 में लिआओनिग में आए एक बड़े भूचाल की भविष्यवाणी कई वर्ष पहले की थी जो सत्य सिद्ध हुई। पौराणिक कथाओं व अन्य विश्वासों के अनुसार, एक भूचाल आने से पहले मछलियों व जानवरों का व्यवहार असाधारण हो जाता है, एक रहस्यमय इन्द्रधनुष दिखाई देता है, चुम्बक की आकर्षण शक्ति समाप्त हो जाती है, मौसम असाधारण हो जाता है इत्यादि। कुछ पौराणिक कथाओं के अनुसार मछली की एक विशेष जाति "कैट फिस" और अन्य कुछ मछलियों का व्यवहार असाधारण हो जाता है। वैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि ये मछलियां भूचाल क्रियाओं के प्रति सवेंदनशील है। इसके अतिरिक्त छोटे, जानवरों का भाग जाना, कुत्तों का रेंकना, बन्दरों का घुड़कना इत्यादि लक्षण जानवरों में भूचाल आने से पूर्व पाए जाते हैं। भू जल में परिवर्तन प्राप्त होता है जैसे कुओं के जल स्तर का ऊंचा नीचा होना, पानी को कीचड़ युक्त होना इत्यादि। इसके अतिरिक्त सांख्यकीय अध्ययनों द्वारा यह पता चला कि भूचालीय घटनाएं नए चन्द्रमा, पूर्ण चन्द्रमा एवं चन्द्रमा की बढ़ती नयी कलाओं के लिए अधिक हैं।

वैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा भूचाल आने से पहले कुछ निश्चित अग्रदूत संकेतों के मिलने का पता चला है। इनमें से कुछ जैसे पृथ्वी की सतह का विकृत होना, समुद्र के स्तर एवं विस्तार में परिवर्तन, पृथ्वी सतह में झुकाव व तनाव का उत्पन्न होना है। एक भूचाल आने से पूर्व साधारणतया छोटे छोटे कई झटके आते हैं, जिन्हें "पूर्व झटके" कहते हैं। प्रायः पूर्व झटके भूचाल आने के कई सौ दिन पहले आना शुरू हो जाते हैं। इसके साथ-साथ सूक्ष्म भूचालों की संख्या में कमी, भूचालीय किरणों की गति के मान में परिवर्तन, पृथ्वी की विद्युतीय धाराओं एवं भू चुम्बकीय मान में परिवर्तन, पृथ्वी की बाहरी सतहों के विद्युत अवरोधकता के मान में कमी, भू-जल में पाए जाने वाले रेडान गैस की मात्रा में बढ़ोत्तरी कुओं में पानी की सतह में परिवर्तन या पानी कीचड़ युक्त होना, तेल के कुओं में तेल बहने की मात्रा में परिवर्तन इत्यादि भी प्राप्त होते हैं। इन परिवर्तनों को "डाइलाटेन्सी" द्वारा समझाया जा सकता है। इस अभिकल्पना के अनुसार पृथ्वी की बाहरी सतहों में, आन्तरिक दबावों के कारण पहले विकृतता उत्पन्न होती हैं तत्पश्चात चट्टानें टूट जाती है। चट्टानों के टूटने से पहले चट्टानों में छोटी-छोटी दरारों की संख्या बढ़ जाती है, इससे चट्टान फूल जाती है और उसका आयतन बढ़ जाता है। इस

प्रकार से आयतन में अप्रत्यस्थ रूप से बढ़ोत्तरी की घटना को "डाइलाटेन्सी" कहते हैं।

भूचाल की पूर्व—सूचना समय के आधार पर मुख्यतया तीन स्तरों में उल्लेखित की जा सकती है :—

प्रथम स्तर :—सांख्यकीय आधार पर पूर्व सूचना— इस तरीके द्वारा पूर्व सूचना के लिए किसी एक क्षेत्र में अब तक आए हुए कुल भूचालों का अध्ययन करते हैं और इनमें नियमितताओं को देखते हैं। अध्ययन एक विशेष मात्रा के भूचाल घटना से उत्पन्न खतरे के बारे में बहुत ही लाभदायक है, परन्तु एक विशेष भूचाल की पूर्व सूचना देने के लिए बिल्कुल बेकार है।

द्वितीय स्तर : विकृति के एकत्रित होने का स्तर :— पृथ्वी में भूचाल आने का कारण पृथ्वी की बाह्य सतह में विकृतता होती है। इनके कारण बाह्य सतह टूटती है और भूचाल पैदा होते हैं। यह पता लगा लेने पर कि पृथ्वी की बाहरी सतह को बनाने वाली चट्टाने कितना दबाव सहन कर सकती हैं, भूचाल की पूर्व सूचना सम्भव है। यहाँ पर यह मान लिया जाता है कि दिए गए क्षेत्र में पिछले भूचाल के समय सतह में दबाव समाप्त हो गए थे। इस आधार पर कई वर्षों पूर्व लम्बे समय की पूर्व-सूचना देना सम्भव है।

तृतीय स्तर : चट्टान के टूटने के पहले का स्तर-बहुत ही कम समय में आने वाले भूचाल की पूर्व सूचना— एक बड़े भूचाल आने से पहले कुछ अग्रदूत संकेत प्राप्त होते हैं जिनमें पृथ्वी का तिरछा होना, विषमता पूर्ण समुद्र का पीछे हटना या विस्तार का कम होना, विद्युत अवरोधकता के मान में परिवर्तन भूचालीय तंरगों के मान में परिवर्तन इत्यादि है।

उपर्युक्त कहे गए संकेतों के आधार पर चीन में 1974 में भूचाल वैज्ञानिकों ने दो वर्षों के अन्दर आने वाले एक बड़े भूचाल की पूर्व सूचना दी थी। 1974 के अन्त में और 1975 के प्रारम्भ में पृथ्वी की बाहरी सतह में विकृतता, पृथ्वी का तिरछा होना, जानवरों के व्यवहार में असाधारण परिवर्तन, कुओं में पानी के स्तर में परिवर्तन एवं बुलबुलों की उपस्थिति, भूजल में रेडान विकिरण की मात्रा में वृद्धि इत्यादि पाए गए। इस प्रकार के संकेतों के आधार पर 4 फरवरी को जनसाधारण को अपने घर खाली करने और आकस्मिक तैयारियाँ करने के लिए सूचना दी गई। इस सूचना के चन्द घन्टों के पश्चात् एक बड़ा भूचाल आया परन्तु पूर्व सूचना के कारण जन व सम्पत्ति की हानि बहुत कम हुई।

भविष्य में इस प्रकार की ठीक भूकम्प भविष्य वाणियां सम्भावित है। इन भविष्य वाणियों से होने वाले हानि की अपेक्षा लाभ होने की सम्भावना अधिक है। पूर्व सूचनाओं द्वारा सभी प्रकार की जन-हानि और सम्पत्ति हानि को कम किया जाना सम्भव हो सकेगा।

● ●

'अज्ञान तथा आलस्य ऐसे दो कीड़े हैं जो मनुष्य को खा जाते हैं'

'भारतीय विज्ञान पत्रिका-समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 6-7
सं० 2034 विक्र०
जून-जुलाई 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

सम्पादकीय

1971 की जनगणना के अनुसार हमारे देश में साक्षरों की संख्या कुल आबादी का 34.5% थी जब कि यह संख्या 1961 में 28.3% तथा 1951 में केवल 18.31% थी। बीस वर्षों में लगभग दुगुनी होने पर भी साक्षरों की संख्या केवल एक तिहाई ही है। सभी शिक्षाविदों का मत है कि शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन होने चाहिए। बिहार आन्दोलन की एक मांग शिक्षा नीति में राष्ट्र स्तर पर आधारभूत परिवर्तन करने की भी है। वर्तमान सरकार ने भी युवा वर्ग की इस मांग पर भली भांति विचार करके शिक्षा में अभीष्ट सुधार करने का वादा किया है। केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने पद भार ग्रहण करने के शीघ्र बाद शिक्षाविदों की एक बैठक भी बुलाई थी। क्या निर्णय लिया गया अभी किसी को पता नहीं। शिक्षा मंत्री के अनुसार 10+2+3 शिक्षा प्रणाली को कार्यान्वित करने की दिशा में कोई कदम उठाने के पूर्व उस पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। नया सत्र आरम्भ हो गया है। अभी कोई नीति निर्धारित नहीं की जा सकी है। नई सरकार को अभी समय अधिक नहीं मिल पाया है परन्तु विषय की गूढ़ता एवं उसकी आवश्यकता देखते हुए शीघ्र निर्णय लेना होगा। शिक्षा का स्तर उठाने के लिए विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा अभिभावकों को अपना पूरा-पूरा योगदान देना चाहिये। किसी राष्ट्र के लिये उद्योग यदि फेफड़ा और व्यापार हृदय है तो शिक्षा उसकी आत्मा है।

शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है जिससे युवकों में निराशा की भावना उपज रही है। हमारी शिक्षा प्रणाली हमारे देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये विकसित की जानी चाहिये। ग्राम विकास की ओर अब हम अभिमुख हुये हैं, क्या हम ऐसा नहीं कर सकते कि कुटीर उद्योग को इस प्रकार बढ़ावा दें कि ग्रामीण युवक अभीष्ट शिक्षा के बाद उसी में खप जायें। विज्ञान का पाठ्यक्रम बराबर बदलता रहता है और उसमें नई खोजों के आधार पर नये-नये कोर्स बढ़ते रहते हैं। विद्यार्थी विज्ञान परक शिक्षा को आज बहुत ही कठिन मानता है और यह भी सोचता है इसमें भविष्य निश्चित नहीं है इसीलिये अच्छे विद्यार्थी आगे चल कर विज्ञान को छोड़ कर कलाथा वाणिज्य को अपना विषय चुनते हैं। विज्ञान व टेक्नालाजी के बिना देश की प्रगति कठिन होती है अतः विज्ञान पढ़ने वालों की संख्या दिनों दिन क्यों घट रही है इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। जितनी जल्दी हम अपनी नीति निर्धारित करके इस योजना को कार्यान्वित करने लगेंगे उतना ही अच्छा होगा।

ऑक्सिन की क्रियाविधि—एक समस्या

श्याम सुन्दर पुरोहित

ऑक्सिन एक पादप हार्मोन है। यह पौधों के स्तंभ व जड़ों के शीर्षस्थ भाग में निर्मित होता है। प्रकृति में पाये जाने वाले ऑक्सिन को प्राकृतिक ऑक्सिन कहते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न वैज्ञानिक विधियों द्वारा भी अन्य ऑक्सिनों का संश्लेषण किया जा चुका है जिन्हें संश्लेषित ऑक्सिन कहते हैं। प्रायः सभी ऑक्सिन अम्लीय स्वभाव के होते हैं तथा इनकी रासायनिक संरचना का निर्माण असंतृप्तचक्रीय केन्द्रकों अथवा इन्हीं अम्लों के व्युत्पन्नों से होता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के ऑक्सिनों इन्डोल ऐसीटिक अम्ल (IAA), इन्डोल-3-ऐसेट-ऐल्डिहाइड (IAAld), इन्डोल-3-पारूविक अम्ल (IPyA), इन्डोल-3-एथिनोल (IEtOH) आदि हैं। ये सभी प्राकृतिक आक्सिन हैं। कुछ महत्वपूर्ण कृत्रिम या संश्लेषित आक्सिन इन्डोल ब्युटरिक अम्ल (IBA), इन्डोल प्रोपी-ऑनिक अम्ल (IPA), β-नेफ्थेऑक्सी ऐसीटिक अम्ल (BONA) आदि हैं। ऑक्सिन कभी भी स्वतन्त्र अणुओं के रूप में नहीं मिलते हैं। कोशिकाओं में ये प्रायः अमीनो अम्ल अथवा शर्करा से संयुग्मित स्थिति में पाये जाते हैं। यद्यपि अब तक विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक एवं कृत्रिम ऑक्सिनों की विविक्ति की जा चुकी है लेकिन फिर भी IAA को, जो कि सर्वव्यापी ऑक्सिन है, सभी ऑक्सिन की योग्यता सूची में प्रथम स्थान की मान्यता प्राप्त है।

ऑक्सिन मुख्य रूप से स्तंभ एवं प्रांकुर चोल की कोशिकाओं का विवर्धन एवं दीर्घीकरण करता है। यह पौधों पर अन्य प्रभाव भी दर्शाता है जिनमें अधोकुंचन (Epinesty) का निवाहरण, कोशिका विभाजन, कैलस (Callus) निर्माण, जड़ों एवं फूलों का निर्माण, वियोजन परत का निवाहरण आदि मुख्य है।

ऑक्सिन की काय प्रणाली के संदर्भ में कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

हैयेन (1931) के अनुसार ऑक्सिन कोशिकाओं की सुघट्यता (Plasticity) को प्रेरित कर विवर्धन तथा दीर्घीकरण को आरम्भ करता है। लेकिन यह अवधारणा अभी तक अज्ञातप्राय है कि यह किस प्रकार कोशिकाओं की सुघट्यता में वृद्धि करता है।

एक और सिद्धान्त के अनुसार ऑक्सिन कोशिका भित्ति के आकार में विस्तार करता है। फलतः कोशिका के चारों ओर भित्ति दाब (Wall Pressure) में निम्नता आ जाती है तथा साथ ही कोशिका में उत्पन्न हुए स्फीति दाब से जल कोशिका में प्रवेश करता है। फलतः कोशिका का दीर्घीकरण होता है।

लेकिन गोल्सट्न और डेविस (1969) के अनुसार कोशिका में उत्पन्न होने वाली सुघट्यता अपरिवर्तनशील होती है, जो कि कोशिका भित्ति एवं सेल्युलोस के सूक्ष्म-तन्तुओं के मध्य उपस्थित अनुप्रस्थ-तन्तुकों (Cross fibers) के टूटने से उत्पन्न होती है। वास्तव में कोशिकाओं की वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में कोशिका

भित्ति में शिथिलन (Loosening) आरंभ होता है फलतः कोशिका में जल अवशोषण क्रिया व भित्ति विस्तार होता है।

रेयले व उसके सहयोगियों (1970) के अनुसार कम पी-एच वाले विलयन भी प्रांकुर चोल की कोशिका भित्ति का शिथिलन करने में सक्षम होते हैं। रेयले द्वारा प्रस्तुत अवधारणा ने पादप हार्मोनों पर कार्यरत शोधविदों के समक्ष एक समस्या खड़ी कर दी है क्योंकि उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार कोशिका भित्ति की संश्लेषण क्रिया प्रत्यक्ष रूप से कोशिका दीर्घीकरण प्रवर्ध को प्रभावित नहीं करती है।

इस आधार पर एक और परिकल्पना हमारे समक्ष आती है कि ऑक्सिन कोशिका भित्ति के संश्लेषण में प्रयुक्त न हो कर या तो वह कोशिका भित्ति में हाइड्रोजन आयनों की निर्मुक्ति कर के उसका दीर्घीकरण करता है या कोशिका भित्ति के अनुप्रस्थ तन्तुकों को भंग (तोड़ने) करने में प्रयुक्त होने वाले एन्जाइमों का निर्माण करता है (रेयले एवं साथी 1970)। जैवरासायनिक आधारों पर भी यह प्रमाणित हो चुका है कि ऑक्सिन कोशिकाओं में संश्लेषित होने वाले एन्जाइमों के संश्लेषण को नियन्त्रित करता है। थिमन के अनुसार ऑक्सिन संभवतः कोशिका के सन्देशवाहक RNA की क्रिया क्षमता को बढ़ा कर विभिन्न प्रकार के एन्जाइमों का संश्लेषण करता है। ये संश्लेषित एन्जाइम कोशिका भित्ति में निरन्तर नव-संश्लेषित पदार्थों का योग कर उसकी भित्ति में विस्तार करते हैं।

सैलमैनिन व उसके साथियों के अनुसार ऑक्सिन पौधों के विभिन्न भागों में RNA तथा प्रोटीन संश्लेषण को प्रेरित कर कोशिकाओं की वृद्धि करता है।

ऑक्सिन के प्रभावों का आणविक स्तर पर किये गये अध्ययनों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि ऑक्सिन कोशिकाओं में RNA व प्रोटीन संश्लेषण को प्रेरित करता है।

जिब्रेलिक अम्ल भी पादप कोशिकाओं का दीर्घीकरण करता है। वान ओवरबीक (1966) के अनुसार जिब्रेलिक अम्ल (GA) पादप कोशिकाओं में प्रोटिओलिटिक एन्जाइमों का संश्लेषण कर ट्रिप्टोफेन (Tryptophane) का निर्माण करता है। ट्रिप्टोफेन IAA का पूर्वगामी रसायन है जो कि विभिन्न जैवरासायनिक क्रियाओं से पारित होकर IAA का निर्माण करता है। खुरेशी और मुईर (1963) ने बताया कि GA कोशिकाओं में IAA को स्वयं के क्रिया स्थान पर स्थानान्तरित करने में सहायक होता है। लैम्पपोर्ट (1970) ने कोशिका दीर्घीकरण में एक नये प्रकार के प्रोटीन की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया जिसे एक्सटेनसिन (Extensine) कहते हैं। यह प्रोटीन हाइड्रोक्सी-प्रोलीन स्वभाव का होता है। इस प्रोटीन का निर्माण भी आक्सिन द्वारा प्रेरित होता है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी पादप क्रियाविदों के समक्ष यह समस्या यथावत् बनी हुई है कि ऑक्सिन किस प्रकार कोशिका दीर्घीकरण व परिवर्धन में सहायक होता है?

अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग,
राजस्थान महाविद्यालय,
डूँगरपुर, राजस्थान

भारत का द्वितीय भू-उपग्रह केन्द्र

कृष्ण स्वरूप द्विवेदी

भारत के द्वितीय भू-उपग्रह केन्द्र का औपचारिक उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी ने 25 फरवरी 1977 को किया था। देहरादून स्थित इस केन्द्र का नाम स्वर्गीय राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद के नाम पर रखा गया है। इस अवसर पर श्रीमती गाँधी ने फ्रांस के प्रधान मंत्री से बातचीत की। इस अवसर पर दोनों देशों के दूरदर्शनों ने कार्यक्रमों का विनिमय किया। इस अवसर के महत्व को इस बात से आंका जा सकता है कि इस अवसर पर अंतर्राष्ट्रीय दूर संचार उपग्रह (International Telecommunication sattelite) के महा निदेशक श्री आस्ट्रेन वाशिंगटन से दिल्ली पधारे थे।

देहरादून घाटी अपनी सुन्दरता तथा स्वास्थ्यवर्धक वातावरण के लिए विश्वविख्यात है। इस मनमोहक घाटी में भारत का दूसरा भू-उपग्रह केन्द्र बनाया गया है। इस केन्द्र के कारण देहरादून का नाम अंतर्राष्ट्रीय मानचित्र पर अंकित हो गया है।

भारत के प्रथम भू-उपग्रह केन्द्र की स्थापना फरवरी 1971 को अरवी (महाराष्ट्र) में हुई थी। आज यह केन्द्र अपने देश के साथ अन्य देशों की दूर संचार आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। प्रथम उपग्रह केन्द्र की स्थापना के बाद भारत में विदेशों से वातचीत करने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और भारत जैसे विशाल देश की दूर संचार व्यवस्था की पूर्ति अकेले एक ही केन्द्र नहीं कर सकता, अतः प्रथम केन्द्र की स्थापना के तुरन्त बाद से ही दूसरे केन्द्र की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। परिणामस्वरूप द्वितीय भू-उपग्रह केन्द्र की स्थापना हुई। भू-उपग्रह केन्द्रों के विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित करने के कई लाभ हैं; अरवी स्थित केन्द्र को सहायता करना अंतर्राष्ट्रीय संचार व्यवस्था पर बहुत समय तक निर्भर न रहना, सभी क्षेत्रों की संचार व्यवस्था का संतुलित विकास, विभिन्न उपग्रहों के साथ कार्य करने की क्षमता में वृद्धि करना, दिल्ली क्षेत्र के लिए अंतर्राष्ट्रीय टीवी (TV) रिले सेवायें प्राप्त करना तथा संचार व्यवस्था को उन्नत तथा अधिक सक्षम बनाना। इस परियोजना की अनुमानित लागत 10 करोड़ रु० है जिसमें 2·67 करोड़ रु० की विदेशी सहायता भी सम्मिलित है। इस परियोजना में 60% स्वदेशी साज-सामान लगाया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रथम परियोजना में केवल 30% स्वदेशी सामान प्रयुक्त किया गया था। देहरादून केन्द्र में केवल वही सामान विदेशों से मँगाया गया था जो अपने देश में उपलब्ध नहीं था। इसके लिए आर्थिक सहायता कनाडा देगा, उसने अरवी के लिए भी आर्थिक सहायता दी थी। इस परियोजना के साज-सामानों की आपूर्ति कुछ प्राइवेट कम्पनियों के साथ इलेक्ट्रानिक्स कार्पोरेशन आफ इंडिया, इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज, हिन्दुस्तान टेलीप्रिंटर्स लिमिटेड तथा त्रिवेणी स्ट्रक्चरलस् लिमिटेड ने की है।

स्टेशन, देहरादून से ऋशीकेश जाने वाली सड़क पर देहरादून से लगभग 23 कि० मी० दूर लच्छिवाला वन

शृंखला में 23 हेक्टेयर क्षेत्र में स्थित है। यह 6 लूप लाइनों द्वारा दिल्ली से संबंधित है। यह दो-रास्तों वाले परिपथों द्वारा एक दूसरे से संबंधित हैं, प्रत्येक में एक साथ 960 टेलीफोन कलर टी० वी० प्रोग्राम को प्रेषित करने की क्षमता है।

उपग्रह से प्राप्त संकेत बहुत क्षीण होते हैं अतः इनको ग्रहण करने के लिए बहुत बड़े एण्टेना की आवश्यकता होती है। देहरादून में लगी एण्टेना परवलयाकार है जिसका व्यास 30 मी० तथा भार 300 टन है। इसको बनाने तथा खड़ा करने में बहुत सावधानी एवं चतुराई बरती गयी। यह दूर आकाश में 36,000 कि० मी० ऊँचाई पर स्थित उपग्रह पर नजर रखता है। चूंकि उपग्रह से प्राप्त होने वाले संकेत बहुत ही क्षीण स्तर के होते हैं और साथ ही इनके साथ कोलाहल भी सम्मिलित होता है, अतः संकेत को आवर्धित करने से पूर्व दोनों में भेद करना आवश्यक होता है। इसके लिए अति आधुनिक निम्न ध्वनि संग्राही उपकरण लगाया गया है। इसका तापमान हमेशा परम ताप (273°) के आसपास रखा जाता है जिससे कि आंतरिक ध्वनि कम से कम रहे। उपग्रह को संकेत भेजने के लिए 3 क्लस्ट्रोन माइक्रोवेव शक्ति आवर्धक लगे हैं। इनमें प्रत्येक का उत्पादन (output) 3 किलो वाट है। इस केन्द्र में सभी आवश्यक उपकरण दोहरे लगे हैं जिससे कहीं गड़बड़ होने पर कार्य न बंद होने पावे। उसको दो अलग-अलग विद्युत स्टेशनों से पावर की आपूर्ति की जाती है, साथ ही अगर दोनो स्टेशनों से विद्युत् आपूर्ति में गड़बड़ हो जाय तो, तुरन्त चालू होने वाले डीजल सेट विद्युत् सप्लाई के लिए लगाए गए हैं। यही कारण है कि हमारा अरवी स्थित प्रथम भू-उपग्रह केन्द्र 99·9% शुद्धता के साथ काम कर रहा है।

देहरादून केन्द्र 28 दिसम्बर 1976 को सफल प्रयोगों के साथ चालू हो गया था। इससे भारत तथा फ्रांस के बीच सीधा टेलीफोन सम्पर्क हो गया। प्रारम्भ में केन्द्र भारतीय महासागर स्थित उपग्रह, इनटलसेट 4, के साथ कार्य प्रारम्भ करेगा। इससे तीन देशों फ्रांस, इंगलैण्ड तथा जापान से सीधा सम्पर्क हो जायगा। धीरे-धीरे इससे यूरोप तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों तथा खाड़ी के देशों के साथ सम्पर्क किया जायगा।

भारत सरकार एवं वैज्ञानिक अब इस बात का प्रयास कर रहे हैं कि घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपग्रह तंत्र स्थापित किया जाय। भारत ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उपग्रह स्थापित करने की आवश्यकताओं के बारे में अंतर्राष्ट्रीय संगठन को पूर्व सूचित कर दिया है।

अब हमें अपने उपग्रह को शीघ्रतिशीघ्र कक्षा में स्थापित करना है वर्ना अगर दूसरे किसी देश ने अपना उपग्रह स्थापित कर दिया तो हमारा स्वामित्व नहीं रहेगा क्योंकि इस बारे में जो पहल कर लेगा उसी का उस कक्षा पर अधिकार हो जायगा। इस बारे में भारत ने इंडोनेशिया, रूस तथा अंतर्राष्ट्रीय दूरसंचार संगठन से आपसी सहयोग के बारे में बात चीत कर ली है।

रसायन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

पुष्प परिवर्धन का जीव रसायन

शान्ती लाल जैन

पादप सृष्टि की सबसे महत्वपूर्ण रचना है, इनसे ही जीवों का अस्तित्व सम्भव है। किसी भी पौधे को देखने पर हमारा ध्यान उसके पुष्पों पर पड़ता है जो उस पौधे को पहचानने में हमारी सहायता करते हैं। कभी आपने इन पुष्पों को खिलने का भेद जाना है या जानना चाहा है ? वैज्ञानिकों ने इनके खिलने का भेद जानने की कोशिका की है जिसका संक्षिप्त ब्योरा यहां दिया गया है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

सर्वप्रथम परिवर्धन कायिकी पर महत्वपूर्ण कार्य केल्बस (1918) ने किया था। उनके अनुसार वातावरण में होने वाले परिवर्तन पौधों की वृद्धि व परिवर्धन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं जिनमें पुष्प परिवर्धन भी एक है। वैज्ञानिक गेसनर ने यह बताया कि शीतकालीन राई को पुष्पन के लिए अंकुरण या परिवर्धन की अन्य अवस्थाओं में कुछ समय के लिए ठण्डे तापमान (3—5°सें०) तक गुजरना आवश्यक है, जबकि ग्रीष्मकालीन राई को ऐसी परिस्थिति की कोई आवश्यकता नहीं है। गारनर व एलार्ड (1920-25) पौधों पर दीप्तिकालीता के प्रभाव का अध्ययन करते वक्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पौधे के सामान्य परिवर्धन हेतु एक निश्चित अवधि के दिन व रात आवश्यक हैं। कोब्ज (1936-37) ने यह दर्शाया कि वर्धी प्रावस्था की समाप्ति व जनन प्रावस्था का प्रारम्भ दीप्तिकाल पर निर्भर करता है। ग्रिगार्ड (1937) ने पौधों के लिए परिवर्धन को नियंत्रित करने वाली दो जैवरासायनिक अभिक्रियाएं बताईं। ये अभिक्रियाएं तापमान व प्रकाश उत्प्रेरक क्रिया द्वारा नियंत्रित होती हैं।

दीप्तिकाल के आधार पर पौधों का वर्गीकरण :

गारनर व एलार्ड (1920) ने दीप्तिकाल के सिद्धान्त को सर्वप्रथम समझा और स्पष्ट रूप से उसका उल्लेख किया। उनके अनुसार दीप्तिकाल का प्रभाव "दीप्तिकाल के प्रति पौधों में अनुक्रिया अथवा दिन या रात की लम्बाई का अनुपात, जिसमें पौधे को प्रकृति में प्रकाश मिलता है, का पौधो पर प्रभाव है।"

1. **लघु-दीप्तिकाली** : वह पौधे जिनमें पुष्प विकसित होने के लिये प्रकाश कम समय के लिये चाहिये लघु-दीप्तिकाली पौधे कहलायेंगे, यद्यपि प्रकाश निर्णायक समय से कुछ ज्यादा है फिर भी पुष्पन होगा परन्तु ज्यादा समय लगेगा और सतत प्रकाश अवस्था में ही रहेगा। उदाहरण : गुलदाऊदी कॉसमोस, गोभी, मटर, सोयाबीन आदि।

2. **दीर्घ-दीप्तिकाली** : जिन पौधों को पुष्प उत्पन्न करने के लिए बहुत समय (12 घण्टे या अधिक) तक प्रकाश की आवश्यकता होती है वे दीर्घ-दीप्तिकाली पौधे कहलाते हैं। इन पौधों को छाया में रखा जाय तो

निरन्तर कायिक वृद्धि होती जायगी । उदाहरण-भिण्डी, मूली, बाजरा आदि ।

3. **उदासीन-दीप्तिकाली** : जिन पौधों पर दिन की लम्बाई का प्रभाव नहीं होता है। ऐसे पौधे उदासीन-दीप्तिकाली कहलाते है। उदाहरण टमाटर, सदाबहार, कपास आदि।

बाद की खोजों से दो अन्य प्रकार के वर्गों की जानकारी और हुई जो निम्न हैं।

4. **लघु-दीर्घ-दीप्तिकाली** : पुष्पन तभी होता है जबकि पौधों को पहले लघु दीप्तिकाल व उसके बाद दीर्घ-दीप्तिकाल में रखा जाये। उदाहरण-ब्रायोफील्लम ।

5. **दीर्घ-लघु-दीप्तिकाली** : पहले पौधों को दीर्घ-दीप्तिकाल व उसके बाद लघु-दीप्तिकाल में रखा जाय तब ही इसमें पुष्पन होता है। उदाहरण:केम्पेन्युला।

पादप पुष्पन के सिद्धान्त :

1. **अन्तर्जातताल सिद्धान्त** : पादप ताल जो बाह्य दाब से होते हैं बाह्यताल तथा स्वतः होने वाले ताल अन्तर्जातताल कहलाते हैं।

बोनींग के सिद्धान्त के अनुसार दीप्तिकाल में अन्तर्जात ताल होता है। दैनिक ताल में प्रकाश रागिता प्रावस्था में पादप तीव्र संश्लेषण में तथा अन्धकाररागिता प्रावस्था में तीव्र जलअपघटन, होता है। SDP तथा LDP दोनों ही में ताल समान होते हैं परन्तु SDP में यह क्रिया जैसे ही प्रदीप्ति मिलती है शुरू हो जाती है तथा LDP में यह क्रिया 8 से 12 घण्टे देरी से शुरू होती है।

2. **फाइटोक्रोम सिद्धान्त** : बोर्थवीक, पारकर तथा हेन्ड्रीक्स ने बताया कि कोकलेवर, एमरेन्थस तथा क्राइसेन्थेमम के लघु दीप्तिकाली पौधों को यदि अन्धेरी अवस्था के मध्य लाल प्रकाश दिया जाय तो पुष्पन क्रिया रुक जायगी तथा उसके तुरन्त बाद यदि अवरक्त प्रकाश दिया जाय तो पुनः पुष्पन क्रिया शुरू हो जाती है। इसके विपरीत यदि जौ के पौधे को, जो कि दीर्घ-दीप्तिकाली है, लाल प्रकाश दिया जाय तो पुष्पन क्रिया को प्रोत्साहित करेगा और उसके तुरन्त बाद अवरक्त प्रकाश पुष्पन क्रिया को रोक देगा।

यह माना जाता है कि फाइटोक्रोम का P_{730} (P_{FR}) रूप लघु-दीप्तिकाली पौधों में पुष्पन क्रिया का दमन करता है तथा दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में उद्दीपन । अन्धेरे में फाइटोक्रोम की P_{730} अवस्था में P_{660} अवस्था के रूपान्तर की अवधि क्रांतिक रात के बरबार होती है इसलिए पुष्पन व पुष्पन हारमोन निर्माण के लिए आवश्यक उपापचय तब तक नहीं होगा जब तक कि फाइटोक्रोम P_{730} रूप से P_{660} रूप में रूपान्तरित न हो जाये अर्थात् जब तक कि फाइटोक्रोम का रूपान्तर उस रूप में नहीं हो जाय जो लाल किरणों को अवशोषित करने योग्य हो। दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में फाइटोक्रोम का P_{730} रूप लम्बे समय तक विद्यमान रहता है तथा पुष्पन उद्दीपन करता है जबकि लघु-दीप्तिकाली पौधों में पुष्पन क्रिया का दमन करता है। लघु-दीप्तिकाली पौधों में फाइटोक्रोम का P_{660} रूप लम्बे समय तक विद्यमान रहता है तथा पुष्पन उद्दीपन करता है और दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में पुष्पन क्रिया का दमन करता है। फाइटोक्रोम अपना प्रभाव श्वसन उपापचय क्रिया को प्रभावित कर, फास्फोरीकरण उपचयन, एन्थोसाइनिन संश्लेषण, पर्णहरित संश्लेषण, एन्जाइम सक्रियता तथा वृद्धि उद्दीपक हारमोन की सान्द्रता आदि के द्वारा दर्शाता है। फाइटोक्रोम शायद एक वर्णक प्रणाली है जो कि दीप्तिकाल के प्रकाशानुभूति में भाग लेता है तथा साथ ही प्राथमिक उपापचय क्रिया में रूपान्तर करता है तथा इस प्रकार पादप पुष्पन क्रिया में अपना प्रभाव दर्शाता है।

$$P_{660} \underset{\text{(730nm प्रकाश या अन्धेरे में एन्जाइम द्वारा)}}{\overset{\text{660nm प्रकाश}}{\rightleftarrows}} P_{730}$$
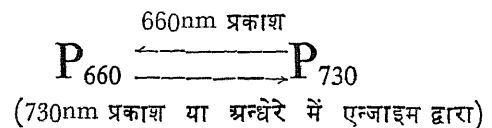
प्रकाश अभिक्रिया व अप्रकाशिक अभिक्रिया के अनुपात सम्बन्धी परिकल्पना :

लुबीमेन्को व साइलोव के अनुसार दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में श्वसन ऊर्जा प्रकाश संश्लेषण से ज्यादा है जबकि लघु-दीप्तिकाली पौधों में यह अनुपात बहुत कम है। दूसरे शब्दों में दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में लघु-दीप्तिकाली पौधों की तुलना में अप्रकाशिक अभिक्रिया का अनुपात ज्यादा है एवं प्रकाश अभिक्रिया का अनुपात कम है। ताप व वातन परिस्थितियाँ प्रभावित प्रकाश व अप्रकाशिक अभिक्रिया की तुलना की जाय तो यह पता लगता है कि लघु-दीप्तिकाली पौधों में प्रकाश-संश्लेषण उत्पादों का पूर्ण अपघटन होता है तथा दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में आंशिक। इसके विपरीत अप्रकाशिक अभिक्रिया में दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में प्रकाश-संश्लेषण उत्पादों का पूर्ण अपघटन तथा लघु-दीप्तिकाल में आंशिक अर्थात् लघु-दीप्तिकाली पौधों में प्रकाश अभिक्रिया व दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में अप्रकाशिक अभिक्रिया शीघ्रता से होती है।

दीर्घ-दीप्तिकाली अवस्था में ताप में कमी से प्रकाश अवस्था में दीर्घ-दीप्तिकाली पौधों में पुष्पन का दमन होता है तथा लघु-दीप्तिकाली पौधों में पुष्पन उद्दीपन होता है जबकि तापमान में कमी अन्धेरे में अपना कोई प्रभाव नहीं डालती है।

पुष्पन की दो प्रावस्था संकल्पना : दो प्रावस्था संकल्पना पोषणज व हारमोन के प्राप्त आंकड़ों पर आधारित है।

दीर्घ-दीप्तिकाली पौधो पर दीर्घ-दीप्तिकाल में प्रभाव : कार्बोहाइड्रेट सान्द्रता में बढत तथा नाइट्रोजन यौगिकों में कमी पुष्पन क्रिया को उद्दीप्त करती है। यह क्रिया श्वसन की उस अवस्था से, जो कि प्रकाश द्वारा सक्रियित होती है तथा भारी धातु वाले एन्जाइमों से सम्बन्धित है, द्वारा नियन्त्रित है। आक्सीन वढने से पुष्पन तेजी से होगा।

लघु-दीप्तिकाली पौधों पर लघु-दीप्तिकाल में प्रभाव : कार्बोहाइड्रेट सान्द्रता में कमी तथा नाइट्रोजन यौगिकों की सान्द्रता में बढत पुष्पन क्रिया को उद्दीप्त करती है। पुष्पन क्रिया श्वसन की उस अवस्था से, जो कि अन्धेरे द्वारा सक्रियित होती है तथा अवशिष्ट एन्जाइमों से सम्बन्धित है, द्वारा नियन्त्रित होती है। यदि तनों में आक्जीन की मात्रा वढ़ेगी तो पुष्पन क्रिया में दमन होगा।

पुष्पन के लिए आवश्यक चयापचयज (एन्थेसीन्स) : एन्थेसीन परिकल्पनात्मक हारमोन पदार्थ है जिसका निर्माण फ्लोरीजिन व जिबरेलिक अम्ल (GA) द्वारा होता है।

GA+फ्लोरीजिन=एन्थेसीन
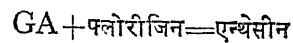
GA जो कि तने के निर्माण व वृद्धि में तथा पुष्पन के लिए आवश्यक पदार्थ के निर्माण के लिए आवश्यक है, एन्थेसीन कहलाता है। यह स्पष्ट है कि दीर्घ-दीप्तिकाली पौधे लघु-दीप्तिकाल अवस्था में पुष्पित नहीं होंगे क्योंकि GA की कमी होगी जबकि लघु-दीप्तिकाली पौधे दीर्घ-दीप्तिकाल में पुष्पित नहीं होंगे क्योंकि उस अवस्था में एन्थेसीन नहीं होगा।

वोहनींग, हाफमेन व जीवर्ट के अनुसार स्टेरॉएड के जीव संश्लेषण को रोकने पर पुष्पन रुक जाता है। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे की स्टेरॉएड ही वह पदार्थ है जो पुष्पन के लिए आवश्यक है।

यह अनुमान है कि दीप्तिकाल का प्रभाव पत्तियों पर होता है। ये पुष्प विकसित करने वाले हारमोन उत्पन्न करती हैं। यदि पौधे की एक भी पत्ती को उपयुक्त दीप्तिकाल मिल जाय तो पौधे में प्रतिकूल परिस्थिति में भी पुष्प उत्पन्न हो जायेंगे। यदि पौधे की पत्तियों को तोड़ कर उसे उपयुक्त दीप्तिकाल में रखें तो भी पुष्प नहीं आयेंगे।

⊙ राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, झालावाड़

तेल की बचत के लिए सौर शक्ति का दोहन

⊙ संकलित

सन् 2000 तक हम इतनी अधिक सौर एवं भूतापीय ऊर्जा उत्पादित कर पाने में समर्थ हो जायेंगे कि ऊर्जा सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकता का एक बड़ा भाग पूरा हो सकेगा। इस प्रकार, तब लाखों बैरल तेल की बचत हो सकेगी।

यह कोई कपोलकल्पना नहीं है। अमेरिका द्वारा अपने बजट का काफी अंश तेल पर खर्च करना पड़ता है। अतः संघीय सरकार ने अपने सौर-ऊर्जा और भूतापीय-ऊर्जा के विकास-कार्यक्रमों को तेज करने का निर्णय किया है। 1976 के वित्तीय वर्ष में इन कार्यक्रमों के लिए 10 करोड़ 90 लाख डालर निर्धारित किये गये जबकि इसके पूर्व इसके लिए बहुत सीमित धनराशि प्रदान की गई थी।

सौर-शक्ति को ऊर्जा में परिवर्तित करने के लिए किन्हीं विशेष तकनीकों के खोजने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसी तकनीक को अगले 10 वर्षों में आवासों को गर्म तथा ठण्डा करने और कृषि तथा औद्योगिक कार्यों में बहुतायत से प्रयोग कर पाने में समर्थ हो जायेंगे।

1974 में, अमेरिका में घोषित एक कानून के अनुसार, आवासीय और औद्योगिक भवनों को 1977 अंत तक सौर-ऊर्जा द्वारा गर्म करने और 1979 तक उनको ठण्डा रखने के साधन खोज निकालने होंगे।

सौर-ऊर्जा द्वारा ताप और शीत प्रदायक साधन आजकल मितव्ययी नहीं है। इस समय सौर-ऊर्जा द्वारा आवासों को गर्म रखने के लिए अतिरिक्त उपकरण लगाने की आवश्यकता होती है जिनसे गृह-निर्माण की लागत काफी बढ़ जाती है।

अभी तक सौर-ताप वाले भवनों की संख्या कुछ-सौ ही है, परन्तु 1980 तक ऐसे भवनों की संख्या काफी बढ़ जायेगी। हमें आशा है कि 1985 तक नये बनने वाले भवनों में से कम से कम 10 प्रतिशत सौर-प्रणाली से सज्जित होंगे और अनेक पहले के निर्मित भवनों में भी यह प्रणाली पुनर्स्थापित होने लगेगी। इस प्रकार, तब प्रतिदिन लगभग एक लाख बैरल तेल की बचत होने लगेगी और 2000 में तो यह बचत 10 लाख बैरल प्रतिदिन से अधिक पहुंच जायेगी।

कृषि और उद्योगों में प्रयुक्त होने वाली ताप-ऊर्जा की पूर्ति भी सौर-शक्ति से होने की आशा की जा रही है। इस समय इस क्षेत्र में बहुत अधिक ईंधन की खपत होती है। अमेरिकी कृषि विभाग फसलों को सुखाने, साग-सब्जी उगाने और पशुओं के बाड़ों को तापयुक्त रखने में सौर-ऊर्जा के प्रयोग की सम्भावनाओं की खोज कर रहा है।

उद्योगों में भी सौर-प्रणाली की सफलता के प्रयास जारी हैं। एक विधि के अन्तर्गत छिछले सौर-तालों द्वारा खानों और मिलों को गर्म पानी उपलब्ध कराना है।

भवन-ऊर्जा को भी अधिक उपयोगी और सरल बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। 1930वें दशाब्द से

पूर्व, जब सरकार द्वारा गाँवों को सस्ती और अधिक क्षमतापूर्ण विद्युतशक्ति उपलब्ध की गयी, पवनचक्कियों से देश भर में पानी निकाला जाता था। आशा है कि अब निकट भविष्य में पवनचालित जेनरेटरों द्वारा विशाल मात्रा में ऊर्जा प्राप्त होने लगेगी।

1975 में 'नासा' द्वारा निर्मित एक 100 किलो-पवन-ऊर्जा वाला परीक्षणात्मक यन्त्र स्थापित किया गया जिसके पंखों का व्यास 40 मीटर हैं। इन यन्त्रों को किसी भी आकार का बनाया जा सकता है। अनुमान है कि पवन-प्रणाली द्वारा विद्युत उत्पादन में कोई विशेष कठिनाई नहीं आयेगी और आशा है कि 1980 तक इनके परीक्षण में सफलता मिल जायेगी।

ऐसी मेगावाट-प्रणाली की प्रारम्भिक डिजाइन बना ली गई है जो 65 मीटर व्यास की पवनचक्की द्वारा 20 किलोमीटर प्रति घण्टे वाली वायु से विद्युत उत्पादन कर सके। अन्य वायुगतियां में सफल रहने वली पवनचक्कियों के विकास पर भी परीक्षण हो रहे हैं।

सूर्य-प्रकाश (धूप) से विद्युत-उत्पादन करने की प्रणालियों—फोटोवोल्टीय, सागरतापीय और सौरतापीय रूपांतरण, तथा जीवपंजों द्वारा तेल आदि के विकास में अभी काफी समय लग जयेगा।

सौर-ऊर्जा पर आने वाली लागत घटाने पर भी बरावर ध्यान केन्द्रित है।

फोटोवोल्टीय ऊर्जा प्रणाली का आधार सौर-सेल है जो काफी मंहगे हैं। यद्यपि नौचालन, पर्वत-शिखरीय विद्युत स्टेशनों और अन्तरिक्षयानों के कारण इन सेलों की कीमत कुछ घटी है परन्तु अभी भी इनकी कीमत सामान्य प्रयोग की दृष्टि से 100 गुणा अधिक है। 1980 अथवा इससे पूर्व ही इनकी कीमत 90 प्रतिशत से अधिक तक कम होने की सम्भावना है।

सागरतापीय ऊर्जा रूपांतरण कार्यक्रम के अन्तर्गत सौर-ताप का संग्रह सागरीय सतह-जल में किया जाता है और उसके विद्युत का उत्पादन किया जाता है। ऐसा एक छोटा संयंत्र 40 वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था। इस प्रकार के सागरीय संयंत्रों के निर्माण में कुछ तकनीकी, वातावरणीय और कानूनी अड़चनें हैं। ऐसा एक परीक्षणात्मक संयंत्र 1985 तक चालू होने की सम्भावना है।

जीवपुंजों और वनस्पति को ऊर्जा में रूपांतरित करने की प्रणाली युगों पुरानी है। लकड़ी का ऊर्जा के लिए प्रयोग एक आम बात है। परन्तु लकड़ी हमारी ऊर्जा सम्बन्धी सभी आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती। कुछ विशेष प्रकार की फसलें उगा कर हम इसकी कुछ अंश तक पूर्ति कर सकते हैं।

संश्लिष्ट प्राकृतिक गैस, एल्कोहल तथा सघन ईंधन और खाद तथा पेट्रोलियम-प्रतिस्थापकों से भी ऊर्जा प्राप्त हो सकती है।

भूताप-स्रोतों के दोहन और रूपांतरण प्रक्रियाओं के समुचित प्रयोग द्वारा अमेरिका में बहुत अधिक मात्रा में विद्युतशक्ति प्राप्त की जा सकेगी और मेथेन गैस की मात्रा भी बढ़ाई जा सकेगी। आशा की जाती है किअन्य राष्ट्र भी इसे बाद में अपना सकेंगे।

चूहे क्या क्या कर जाते हैं

डा० ओम प्रसाद

चूहा एक बहुत ही छोटा व क्षुद्र प्राणी समझा जाता है, पर इसको छोटा समझना ही हमारी सबसे बड़ी भूल है । ये सदा समस्यायें उत्पन्न करते रहे हैं और करते रहेंगे । इसका अंदाजा कुछ दिन पूर्व अखबारों में निकले एक समाचार से लगाया जा सकता है जिसके अनुसार एक चूहे के बिल से 20 किलोग्राम अनाज निकाला गया । यदि देश में करोड़ों चूहों की बिलों में इसी प्रकार अनाज दबा पड़ा है तो आप सोच सकते हैं कि हमारी खाद्य समस्या को बढ़ाने में इनका कितना बड़ा हाथ है ।

चूहे सामान्यतः तीन प्रकार के होते हैं । इनमें केवल एक प्रकार का चूहा जो सफेद होता है, पाला जाता है और वैज्ञानिक परीक्षणों में काम आता है । बाकी दो प्रकार के चूहे जो काले व भूरे होते हैं पाले नहीं जा सकते व जंगली ही रहते हैं । चूहों की उत्पत्ति अन्य स्तनी प्राणियों के साथ ही हुई और इनका मूल निवास स्थान एशिया महाद्वीप ही था पर अब ये सारे संसार में पाये जाते हैं । काला चूहा दक्षिणी एशिया का और भूरा चूहा मध्य एशिया का मूल निवासी है । बारहवीं व तेरहवीं शताब्दी में ये चूहे जहाजों के साथ खाने पीने के सामानों व गोदामों में घुस कर योरप एवं अमेरिका पहुंचे और अब तो जहाँ भी मनुष्य जाति है उसके पीछे ये साये की तरह लगे हुये हैं । काले व भूरे चूहों में रंग के आधार पर भेद कर पाना बहुत कठिन है पर भूरा चूहा काले की अपेक्षा ज्यादा मोटा तगड़ा व भारी भरकम होता है । काला चूहा सामान्यतः गर्म देशों में पाया जाता है और ठण्डे स्थानों पर यह बहुधा घरों के बंद कमरों व गोदामों वगैरह में रहता है । ज़रा सा खतरा होने पर भी यह ऊपर की ओर चढ़ कर छिपने व भागने की कोशिश करता है । यह नाली के पाइपों पर भी चढ़ सकता है तथा पानी में अच्छी तरह तैर लेता है और घरों में अक्सर नाली के रास्ते से घुसता है । भूरा चूहा अधिक ठंडक बर्दाश्त कर सकता है अतः यह अधिकतर खेतों में बिल बना कर रहता है । कभी-कभी ये बिल बढ़ते-बढ़ते घरों तक पहुंच जाते हैं जिनसे यह घरों में घुस जाता है । नाली के रास्ते भी यह घरों में आ सकता है ।

इनकी जनन शक्ति बहुत ही तेज होती है। यदि एक भी मादा चूहा बच जाय तो वह पूरे परिवार का बहुत थोड़े समय में फिर से सृजन कर लेती है। एक स्वस्थ मादा साल में चार पांच बार बच्चे देती है और हर बार 4 से 10 बच्चे तक होते हैं अतः औसतन एक मादा साल में लगभग 30 बच्चे पैदा करती है। इनका प्रजनन 4 से 6 महीने की अवस्था में शुरू हो जाता है।

चूहों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कुतरने वाली आदत है और इस आदत के कारण ये जितना भी नुकसान करें कम है। कौन सी ऐसी चीज है जिसमें चूहे अपना दांत लगाने से चूकते हैं। चाहे वह कापी-किताब हो या आप का कपड़ा, बिस्तर हो, या खाने का सामान, जूता चप्पल हो या कुर्सी की गद्दी जहां भी इनकी पहुंच हुई उस चीज़ का सर्वनाश अवश्यंभावी है। मोटे से मोटे लकड़ी के दरवाज़े व काठ के बक्से भी कीमती कागजात, कपड़े व नोटों को इनके तेज दांतों से नहीं बचा सकते। ये घरों के अंदर ही थोड़ा-बहुत नुकसान करके संतुष्ट हो जाते तो शायद मनुष्य को इनसे इतनी घबराहट न होती पर ये अपने बड़े-बड़े बिलों से ऊंची-ऊँची इमारतों की नींव हिला डालते हैं। बड़े-बड़े बांधों के जलाशयों एवं नहरों की दीवारों में छेद करके उन्हें कमजोर कर देते हैं और समय कुसमय उन्हीं द्वारा आस-पास के इलाकों में बाढ़ भी आ जाती है। कपड़ा मिलों व गोदामों में चूहों के बिजली के तारों को जगह-जगह काटने से अक्सर आग भी लग जाती है। अब आप सोचिये कि यह छोटा प्राणी कितना भयानक है।

खेतों में रहने वाले चूहे जिस बुरी तरह फसल का नुकसान करते हैं उससे सारे संसार में इन्हें समाप्त करने का एक अभियान चल रहा है पर अभी तक इन पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई है। करोड़ों रुपयों का गल्ला सारे संसार में चूहों के बिलों में प्रत्येक वर्ष पहुंच जाता है जिसे खा-खा कर ये मोटे होते रहते हैं और मोटे हो जाने पर खाली अन्न से इनका काम नहीं चलता और तब ये निकल पड़ते हैं मांस की तलाश में और इस जरूरत को पूरा करते हैं ये अस्पतालों के मुर्दाघरों में। ऐसे चूहें जो मांसभक्षी हो जायं बहुत ही खकरनाक सिद्ध हो सकते हैं।

चूहे केवल नुकसान ही नहीं करते हैं बल्कि बहुत सी बीमारियों के जीवाणु भी इनके शरीर में वास करते हैं। इनके द्वारा फैलने वाली सबसे भयानक बीमारी प्लेग है जो एक प्रकार की केवल चूहों पर पाई जाने वाली मक्खियों से फैलता है। यह मक्खी पिस्सू कहलाती है। पहले तो यह भयानक बीमारी अक्सर फैल जाती थी पर अब इसके रोकथाम के तरीके निकल आये हैं अतः यह लगभग खत्म सी ही है। चूहों पर दो प्रकार के मोतीझरा बुखार पैदा करने वाले जीवाणु भी पाये जाते हैं जो चूहों के चीलरों (mites) द्वारा मनुष्य में पहुंच जाते हैं। हैं। चूहों द्वारा खाने पीने की चीजों को जूठा करने से सालमोनेला (solmonella) वर्ग के जीवाणुओं द्वारा हैजा हो जाता है। चूहों के मूत्र पाये में जाने वाले स्पाइरोकीट (spirochete) से एक प्रकार का छुतहा पीलिया रोग से हो जाता है।

जब चूहों ने इतना आतंक फैला रक्खा है तो आइये जरा इनके रोकथाम पर भी ध्यान दिया जाय। घरेलू चूहों को समाप्त करने के लिये एक सामूहिक अभियान आवश्यक है अन्यथा वह एक स्थान से भाग कर दूसरे स्थान पर पहुंच जायेंगे। घरेलू चूहों को समाप्त करने के लिये घर की सफाई आवश्यक है जिससे चूहों को छिपने व बच्चे देने का स्थान न मिले। जहां भी बिल दिखाई पड़ें उन्हें बंद करते रहना चाहिये। खाने का समान चूहों की पहुंच से बाहर रखना चाहिये। खलिहानों के हटते ही खेत को साफ कर देना चाहिये। गल्ला गोदामों में फर्श व नीचे की दीवार सीमेंट से जुड़ी होनी चाहिये। दरवाज़ों के निचले भाग पर टीन चढ़ा होना चाहिये जिससे वे उसे काट न सकें। गल्ला गोदामों में नाली तथा रोशनदान पर तार की जाली लगा देनी चाहिये। बिलों के मुंह पर कपड़ा ठूंसकर धुआं भर देना चाहिये और चूहेदानी लगाकर इन्हें पकड़ना चाहिये। जहां यह सम्भव न

हो वहां चूहामार दवाओं का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये बेरियम कार्बोनेट सबसे उपयुक्त दवा है। इसको खाद्य पदार्थों में मिला कर या ग्रांटे की गोलियां बना कर चूहों को खाने के लिये बिखेर देना चाहिये, पर इस दवा को प्रयोग करते समय काफी सावधानी बरतनी चाहिये ताकि छोटे बच्चे या अन्य पालतू जानवर इसे न पा सकें वरना उनके लिये भी यह घातक सिद्ध हो सकती है। उन स्थानों पर जहां चूहों के मरने से बदबू फैल रही हो बिलों में थोड़ा लायसाल या जिंक क्लोराइड डाल देना चाहिये जिससे बदबू समाप्त हो जाती है।

चूहों का शरीर-विज्ञान मनुष्य से बहुत मिलता-जुलता है जिससे तमाम वैज्ञानिक परीक्षणों (खास तौर पर नई दवाओं के उपयोग) में चूहों की ही मदद ली जाती है। ये परीक्षण सफेद चूहों पर किये जाते हैं जो स्वभाव से बहुत सीधे व पालतू होते हैं। इन्हें प्रयोगशालाओं में ग्रासानी से पाला व बढ़ाया जा सकता है। यही है इतनी सहायता जो हमको इनसे प्राप्त होती है पर काले व भूरे चूहों को समाप्त कर के ही सुख-चैन मिल सकता है।

⊙ जीव विज्ञान विभाग इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

पठन पाठन के कार्य में हिन्दी को आपका समर्थन प्राप्त हो, इसके लिए एकमात्र उपाय है कि आप मासिक पत्रिका 'विज्ञान' के ग्राहक बनें।

स्कूलों तथा कालेजों के लिए सर्वथा उपयोगी, कम दाम में सुरुचि-पूर्ण सामग्री।

—सम्पादक

विशेष लेखमाला—१

विज्ञान की भाषा

डा० शिवगोपाल मिश्र

मैं किसी भाषावैज्ञानिक की पुत्री नहीं हूँ। मुझे वे स्वीकारते भी तो नहीं। मैं तो वैज्ञानिक की मानस पुत्री हूँ—आप दिमागी उपज भी कह लें। किन्तु कोई पूछे कि वह वैज्ञानिक कौन है तो शायद मैं न बता पाऊँ...आखिर किसका नाम लूँ। मेरी उत्पत्ति का सन्-सम्वत भी मुझे ज्ञात नहीं, फिर राशि, गोत्र आदि की जिज्ञासा व्यर्थ होगी।

ब्रह्मा के 'एकोऽहं बहुस्याम' वाक्य से विपरीत मेरी उत्पत्ति है। मैं बहुतों के मुख से उपजी एक हूँ। मैं एकधा होते हुये भी प्रभुत्व के कारण शतधा हो गई हूँ। अब चाहे जो भी मुझे अपना कहकर पुकार ले, मैं सबकी हो गयी हूँ। लेकिन मेरा जनक तो वैज्ञानिक है, वही मेरे गुह्य से गुह्यतर अर्थ को समझता है, शेष तो सिर हिलाकर सन्तोष प्रकट करते हैं।

मैं अपने जनक को भले ही न पहचान पाऊँ लेकिन न्यूटन से लेकर आइन्सटीन तथा खुर्राना सभी तो मुझे मानते हैं, सभी मेरा प्रयोग करते हैं। मैं ही उनकी सरस्वती हूँ।

कहते हैं कि चन्द्रमा का जन्म सिंधु मंथन से हुआ, उसमें अमृत था और थी मृदुता। किन्तु मैं तो निरी शुष्क एवं नीरस हूँ। मैं साहित्य की भाषा के समान सरस नहीं, शायद इसीलिये मेरा शृंगार नहीं होता। फिर मुझ शृंगारविहीन को कोई क्यों कण्ठ लगाने लगा।

मैं यथार्थवादिनी जो हूँ। मुझे सत्य प्रिय है और सत्य कटु भी तो होता है। मेरा अस्वादकर्ता, मेरा प्रणयी गरलपायी ही हो सकता है। लेकिन तो भी ऐसे रसिकों की संख्या कम नहीं है। मेरे प्रणयी चाहे अमरीका के हों, या फ्रांस के; इंगलैंड के हों या रूस के ही सही वे मेरे संकेतों को समझते हैं। यहाँ तक कि चीनी लोग भी मुझे चाहते हैं। भारतवासी तो अनन्त काल से मुझे प्रश्रय देते आये हैं। नागार्जुन, चरक, सुश्रुत, आर्यभट्ट सभी से मुझे स्नेह मिला है।

मैं वह मोहिनी शक्ति हूँ कि काले-गोरे समान रूप से मेरे प्रभाव में आते हैं। यदि मैं यह कहूं कि सर्वत्र ही मेरी ससुराल है या सभी जगह मेरा पीहर है तो अतिशयोक्ति न होगी। लेकिन कोई मेरे ननिहाल को न पूछे, आखिर मैं किसे अपनी मां कहूँ? लेकिन आप कहेंगे कि बिना माँ के कैसे मैं अवतरी! तो क्या मैं यह कहूं कि मैं ही अपनी जननी हूँ?—जहाँ भी हूँ वहीं ननिहाल, ससुराल, मायका सभी है—तभी तो सारा संसार मेरे प्रभाव-क्षेत्र में है।

सच तो यह है कि मैं रानी हूँ। मेरा अपना भाषाई संसार है। इसमें अपने ढंग से शब्द उत्पन्न होते हैं विकसित और पूरे संसार में छा जाते हैं।

लेकिन मैं हूँ तो भाषा ही । तब आप मुझ भाषा का व्याकरण पूछेंगे क्योंकि हर भाषा का व्याकरण होता है—संस्कृत का व्याकरण है, अंग्रेजी का व्याकरण है । लेकिन मेरा ?—मेरा कोई व्याकरण नहीं है । लेकिन मेरे अनेक कोश हैं । जितनी विज्ञान की शाखाएं उतने ही कोश । इन्हीं कोशों में शब्दों की व्याख्या मिलेगी । किन्तु ऐसे लोग जो शब्दों का प्रयोग अपनी रुचि के अनुसार करने के अभ्यस्त हैं वे मेरे शब्दों के अर्थ को नहीं समझ पाते । समझें भी कैसे । उन्होंने अपने भीतर झाँका ही नहीं ।

यद्यपि विज्ञान किसी की बपौती नहीं हर प्राणी जन्मजात वैज्ञानिक है, किन्तु राजनीति उस पर हावी हुई नहीं कि वह सब कुछ भूल बैठता है । राजनीतिज्ञ एकत्र होते हैं तो मन्त्रणा करते हैं कि विज्ञान की भाषा सरल हो तो हम भी समझें । किन्तु क्या वे आज तक समझ पाये ! यदि कभी समझ पाये या फिर किसी वैज्ञानिक को वरगला पाये कि बस संहार की योजना बना डाली ।

राजनीतिज्ञ मुझसे घबड़ाते हैं । प्रणय की भीख माँगते हैं । उन्हें मेरी विनाशकारी शक्ति का पता है—इसीलिये कतराते भी हैं, आँखें चार करना तो कोसों दूर रहा ।

मेरी शब्द प्रसव प्रक्रिया विचित्र है—नई खोज होती है उसे शब्दबद्ध करके जगत के समक्ष रखना होता है तो मेरा ध्यान सर्वत्र जाता है । नूतनता के साथ ही भावों को व्यक्त करने वाले शब्द स्वत: फूट पड़ते हैं—अलग-अलग विज्ञान-ऋषियों के शब्द मन्त्र उच्चरित होते हैं जिन्हें मैं संजोती रहती हूँ ।

मेरे लिये वाक्य उतने महत्वपूर्ण नहीं जितने कि शब्द । शैली या अलंकरण पर भी उतना बल नहीं जितना कि भाव वहन पर । मैं जो कहती हूँ वही मेरा तात्पर्य होता है । मैं जिस एक शब्द का उच्चारण करूं सारे विश्व के वैज्ञानिकों में एक ही भाव झंकृत होता है । मेरा रक्त प्रवाह मेरा संवेदन इन शब्दों के अर्थ में निहित रहता है । यदि आप कहीं साहित्यिक हुये तो आपको निराश होना पड़ेगा क्योंकि मेरी शब्दावली में पर्यायों का टोटा मिलेगा ।

इसीलिये विज्ञान को साहित्यकार साहित्य नहीं मानता, न ही विज्ञानी को साहित्यक । कहते हैं कि विज्ञानी जनसमुदाय से कटा हुआ है तो क्या मैं पूछ सकती हूँ कि साहित्यकार क्यों स्वांत:सुखाय की बात कहता है । विज्ञानी समुदाय अपनी पृथक दुनिया बनाते हैं । उसमें उनके शब्दों एवं उनकी भाषा का वैसा ही मान है जैसा कि साहित्यिक जगत में किसी साहित्य महरथी का ।

विज्ञानी उतना शुष्क नहीं होता जितना लगता है । उसके शब्द शब्द का मूल्य है । मैं तो प्रयत्न में हूँ कि साहित्य और विज्ञान की भाषा एक हो । वे सत्य को एक-सा महत्व दें । वह दिन इस विश्व के लिए स्वर्णिम अवसर होगा—इसी की आवश्यकता है ।

कहते हैं कि जब मैं भारत में जन्मी तो वह दास था, जब बढ़ी तो मुक्त हुआ और उसने मुझे गले लगाया । इसीलिए भारत में मेरी रुचि है और भारत भी मुझे समादरित करता है ।

तो अगली किस्त में मेरी कहानी पढ़ें ।

(क्रमश:)

अंतरिक्ष में झांकने के लिए एक नई खिड़की

श्याम लाल काकानी

सन् 1956 से पूर्व अंतरिक्ष में देखने एवं अंतरिक्ष के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने हेतु मानव के पास **प्रकाशिक टेलिस्कोपों** के अतिरिक्त अन्य कोई उपकरण उपलब्ध नहीं थे। इन प्रकाशिक टेलिस्कोपों की उपयोगिता भी सीमित ही है, क्योंकि इनके द्वारा पृथ्वी के वायुमंडल में वेधन करने वाले दृश्य प्रकाश विकिरण एवं निकट अवरक्त और निकट पराबैंगनी विकिरण (दृश्य प्रकाश के समीप) का ही अभिज्ञान संभव है। लेकिन पिछली दो दशाब्दियों में ब्रह्मांड को देखने की हमारी योग्यता में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

प्रेक्षण खगोलिकी अब अंतरिक्ष में आकाशीय पिंडों के अध्ययन हेतु कई खिड़कियों का उपयोग करती है। आधुनिक खगोलज्ञ के उपकरणों में आज वे युक्तियाँ भी सम्मिलित होती हैं जो रेडियो तरंगों, अवरक्त तरंगों, पराबैंगनी तरंगों, X- किरणों एवं अंतरिक्ष किरणों के अभिज्ञान के लिए आवश्यक होती हैं। ये सभी विकिरण अंतरिक्ष में पिंडों एवं क्षेत्रों द्वारा उत्सर्जित किए जाते हैं। सन् 1950 से पूर्व इन विकिरणों का संसूचन संभव नहीं था, क्योंकि वैज्ञानिकों के पास उन खिड़कियों का उपयोग करने के लिए उपयुक्त उपकरण नहीं थे जिनके द्वारा इन विकिरणों को ग्रहण किया जा सकता था।

प्रेक्षण तकनीकी के क्षेत्र में हो रही इस नई प्रगति के युग में X-किरण खगोलिकी का प्रादुर्भाव अभी ही हुआ है, लेकिन इस नई प्रेक्षण तकनीकी ने अत्यधिक तेजी से प्रगति की है। इस नई प्रेक्षण तकनीक का उपयोग कर खगोलक्ष अन्तरिक्ष के कई ऐसे रहस्यों से पर्दा हटा सकते हैं जो पूर्व में कई वैज्ञानिकों के लिए जटिल समस्याएँ ही रही हैं। यही नहीं इस नई तकनीक से हम उन पिंडों एवं क्षेत्रों को देख सकते हैं जिनको पूर्व में देखा ही नहीं जा सका है एवं उन पिंडों एवं क्षेत्रों के बारे में और अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं जिनको पूर्व में देखा जा चुका है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि संभवतया X-किरण खगोलिकी अंतरिक्ष में उन रहस्यों को उद्घाटित कर सकेगी जिनके बारे में पूर्व में वैज्ञानिकों ने कभी कल्पना ही नहीं की थी।

खगोलीय X किरणों का संसूचन या अभिज्ञान :

आकाशीय पिंडों द्वारा उत्सर्जित सभी परिवार संभवतया सम्पूर्ण विद्युत्-चुंबकीय स्पेक्ट्रम का निर्माण करते हैं, दूसरे शब्दों में ये सभी विकिरण जैसे रेडियो तरंगें, अवरक्त प्रकाश, दृश्य प्रकाश, पराबैंगनी प्रकाश, X- किरणें, गामा किरणें, अंतरिक्ष या कॉस्मिक किरणें, बृहद् विद्युत् चुंबकीय विकिरणों के ही सदस्य हैं। इन सभी विकिरणों को तरंग दैर्ध्य (λ) आवृत्ति (ν) एवं क्वांटम ऊर्जा (E) अभिलाक्षणिकों से प्रदर्शित करते हैं। इन सभी विकिरणों में ऊर्जा विविक्त बंडलों या क्वांटा, जिन्हें फोटॉन कहते हैं में होती है एक फोटॉन ऊर्जा में निहित क्वांटम ऊर्जा का माप होती है और यह विकिरण की आवृत्ति पर सीधा निर्भर करती है। अर्थात्, उच्च आवृत्ति वाले विकिरण की ऊर्जा

भी उच्च होगी। क्वांटम ऊर्जा, विकिरण की तरंग दैर्ध्य के व्युत्क्रमानुपाती होती है **अर्थात्** निम्न तरंग दैर्ध्य वाले विकिरणों की ऊर्जा अधिक होगी। आकाशीय X-किरण स्रोतों से प्रेक्षित आवृत्तियां 10^{17} से 10^{20} साइकिल प्रति सेकंड की परास में है। साइकिल प्रति सेकंड का आधुनिक नाम हर्ट्ज है जिसे Hz से भी प्रदर्शित करते हैं। इन आवृत्तियों के तरंग की दैर्ध्य लगभग 50 से 0.05 ऐंग्स्ट्रॉम (1 ऐंग्स्ट्रॉम $=10^{-8}$ सेमी०) है।

इन तरंगों की क्वांटम ऊर्जा 250 से 50000 इलेक्ट्रॉन वोल्ट (ev) की परास में होती है। तुलनात्मक दृष्टि से चिकित्सा रेडियोग्राफी में सामान्यतया उपयोग में ली जाने वाली X-किरणों की ऊर्जा लगभग 10000 इलेक्ट्रॉन वोल्ट होती है। चूंकि इन X- किरणों की वेधन शक्ति विचारणीय होती है, अतः इन्हें **अतिवेधी X-करणें** कहा जाता है। बाह्य अंतरिक्ष से आने वाली अतिवेधी एक्स किरणें पृथ्वी के वायुमंडल को 24 से 32 किलोमीटर (पृथ्वी की सतह से) तक वेध सकती हैं और सामान्यतया **बैलून-वाहित** संसूचकों से प्रेक्षित की जा सकती हैं। 1000 इलेक्ट्रॉन वोल्ट परास वाली एक्स किरणें **कम ऊर्जित** होती हैं और ये एक कागज द्वारा पूर्ण रूप से अवशोषित की जा सकती हैं। इन किरणों को **अल्पवेधी एक्स किरणें** कहते हैं। ये X-किरणें (अल्प वेधी) वायुमंडल की बहुत पतली परत को ही वेध सकती हैं, रॉकेटों एवं कृत्रिम उपग्रहों से संसूचित की जा सकती हैं।

चूंकि X-किरणों का सामान्य लेंसों द्वारा फोकसन या रूढ़ टेलिस्कोपों द्वारा परावर्तन संभव नहीं हो सकता है अतः एक्स-किरण टेलिस्कोपों का आकार असामान्य होता है। चूंकि X- किरणों का परावर्तन प्रकाश किरणों के परावर्तन से कुछ भिन्न प्रकार से होता है, अतः एक्स-किरण टेलिस्कोप **कुछ शुंडीय सिलिंडर** के आकार का होता है। एक्स-किरणों के तत्परता से परावर्तन के लिए टेलिस्कोप का व्यास बृहद् परावर्तक भाग लम्बा होना चाहिये क्योंकि इनका आकार बृहद् होना है अतः अंतरिक्ष यानों में इनका प्रयोग सीमित ही है।

खगोलीय एक्स किरण प्रक्रियाएँ : निम्न लिखित भौतिक प्रकियाओं से X-किरणें उत्पन्न होती हैं :

(i) **ऊष्मीय अवमंदक विकिरण या ब्रेम्स्ट्रालुंग:** ब्रेम्स्ट्रालुंग का साहित्यिक अर्थ ब्रेक या रोधी विकिरण होता है। अवमंदक विकिरणों से हमारा तात्पर्य इलेक्ट्रॉन की उस ऊर्जा से है जो इलेक्ट्रॉन के एक परमाण्वीय न्यूक्लियस के वैद्युत् क्षेत्र से गुजरते समय लुप्त हो जाती है। उन्नयित (अत्यधिक ऊँचे) ताप पर गैस के अणु अत्यधिक ऊँचे वेग से गति करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर तेजी से संघट्टन (टक्कर) होने लगता है और इस प्रकार पदार्थ **प्लाज्मा** अवस्था को प्राप्त करता है (प्लाज्मा, पदार्थ की चतुर्थ अवस्था कहलाती है एवं इस अवस्था में मुक्त धन आयनों एवं ऋणात्मक इलेक्ट्रॉनों की संख्या लगभग बराबर होती है तथा इन दोनों की गति लगभग एक दूसरे के प्रभाव से मुक्त होती है। ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मांड में 99% से अधिक पदार्थ प्लाज्मा अवस्था में है)। ब्रह्मांड में प्लाज्मा अत्यधिक निम्न दाबी आयनीकृत गैसों के रूप में विद्यमान है। इस प्लाज्मा का घनत्व सामान्य वायु के घनत्व से कई अरब गुना कम सघन होता है 10^6 से 10^8 डिग्री केल्विन ताप के परास में ताप होने पर प्लाज्मा में **ऊष्मीय ब्रेम्स्ट्रालुंग विकिरण** उत्पन्न होते हैं एवं इसके कणों से स्पेक्ट्रम उत्सर्जित होता है जिसकी अधिकतम ऊर्जा अल्पवेधी एक्स-किरण परास में होती है। इससे ऐसे विकिरण भी उत्सर्जित होते हैं जो इससे रेडियो तरंगों के परास तक विस्तृत होते हैं।

(ii) **कृष्णिका विकिरण**: एक उच्च तापीय प्लाज्मा जो इतना सघन होता है कि इसके स्वयं के विकिरण इससे निकसित नहीं होने पाते हैं तो उन्हें प्रकाशीय स्थूल या कृष्णिका विकिरण कहते हैं। प्रकाशीय स्थूल प्लाज्मा में उत्पन्न X-किरणें ऊष्मीय ब्रेम्स्ट्रालुंग से उत्पन्न X-किरणों की तुलना में दीर्घ तरंगदैर्ध्य पर कम सघन होती हैं।

(iii) **सिंक्रोट्रॉन विकिरण या चुंबकीय ब्रेम्स्ट्रालुंग:** चुंबकीय क्षेत्र में लगभग प्रकाश के वेग से दौड़ते हुए

इलेक्ट्रॉनों का पथ क्षेत्र रेखाओं के चारों ओर **सर्पिलाकार** हो जाता है। सर्पिलाकार गति में (जैसा कि मानव निर्मित कण त्वरित्रों-सिक्रोट्रॉनों में होता है) इलेक्ट्रॉन अपनी गति की दिशा में विद्युत् चुंबकीय विकिरणों की एक फुहार उत्सर्जित करते हैं। 40Mev ऊर्जा या इससे आधिक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रॉन X-किरणें प्रकाश एवं रेडियो तरंगें उत्सर्जित करते हैं।

(iv) **कॉम्पटन उत्सर्जन :** उच्च ऊर्जा इलेक्ट्रॉनों का तारकीय प्रकाश फोटॉनों या रेडियो ऊर्जा के साथ संघट्टन हो सकता है। यदि संघट्टित हो रहे इलेक्ट्रॉनों का वेग प्रकाश के लगभग तुल्य होता है (कोई भी कण या उप परमाण्वीय कण प्रकाश के वेग से गति नहीं कर सकता है। सभी का वेग प्रकाश के वेग से कम ही होता है) तो ऐसे संघट्टनों से फोटॉनों की ऊर्जा का स्तर एक्स-किरणों के स्तर तक उत्थित हो सकता है। इस वेग पर कणों की कुछ ऊर्जा द्रव्यमान में परिवर्तित हो सकती है और इलेक्ट्रॉनों के द्रव्यमान में अप्रत्याशित वृद्धि हो जाती है।

(v) **रेखीय उत्सर्जन :** जब इलेक्ट्रॉनों का संघट्टन आयनों से होता है तो ये इलेक्ट्रॉन कभी-कभी परमाणु के आंतरिक कोश में दृढ़ता बंध इलेक्ट्रॉनों से अन्योन्यसे क्रिया करने लग जाते हैं जिससे आंतरिक कोश में इलेक्ट्रॉन एक ऊर्जा स्तर से दूसरे ऊर्जा स्तर में कूदने लगते हैं। परिणामस्वरूप एक्स किरणें उत्सजित होती है।

गैलेक्सीय एक्स-किरणों की खोज: एक्स-किरण खगोलिकी का इतिहास सन् 1949 से ही प्रारंभ होता है। इस वर्ष प्रथम बार रॉकेट की सहायता से सौर एक्स-किरणों के प्रेक्षण लिए गए थे। उस समय तक यह अच्छी तरह से ज्ञात था कि सूर्य का एक विस्तृत बाह्य वायुमंडल होता है जिसे **किरीट** या **कोरोना** कहते हैं। सूर्य किरीट साधारणतया पूर्ण ग्रहण के समय ही दिखाई देता है एवं सौर डिस्क के किनारे से कई लाखों मील तक विस्तृत होता है। इस पतले गैस प्रभामंडल या परिवेष का ताप कई लाख डिग्री तक होता है।

कोरोना के उच्च ताप पर गैस द्वारा अपनी अधिकांश ऊर्जा का उत्सर्जन एक्स-किरणों के रूप में होना चाहिए। इस सैद्धांतिक प्रागुक्ति की पुष्टि रॉकेट द्वारा लिए गए प्रेक्षणों से होती है। इसके पश्चात ही अंतरिक्ष में सूर्य से परे अन्य एक्स-किरण स्रोतों की खोज प्रारंभ हो गई। हमारा सबसे निकटतम तारा अल्फा सेल्टौरी हमसे लगभग 4·5 प्रकाश वर्ष दूर है। यदि अल्फा सेन्टौरी के भी सूर्य की तरह ही किरीट है तो उससे उत्सर्जित X-किरणों की तीव्रता सौर X-किरणों की तीव्रता की लगभग 10^{-11} गुना ही होगी (विकिरण तीव्रता दूरी के वर्ग के व्युत्क्रमानुपाती होती है)। स्पष्ट है कि अति दूर तारों के किरीट का संसूचन अत्यधिक कठिन ही है। लेकिन 1962 में वैज्ञानिकों के कई समूहों ने अत्यधिक शक्तिशाली संसूचकों को रॉकेटों में रखकर आकाश में रात्रि में ऊपर भेज कर प्रेक्षण लिए। यद्यपि इन प्रयोगों से वे किसी विशिष्ट स्रोत का पता तो नहीं लगा सके लेकिन उन्हें सुदूर अंतरिक्ष से आती हुई एक्स-किरणों का पता अवश्य चल गया। प्रायोगिक परिणामों के विश्लेषण से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि एक्स-किरणें हमारी गैलेक्सी के केन्द्र के किसी पिंड से आ रही है। सन् 1963 में और अधिक शक्तिशाली संसूचकों की सहायता से प्रयोगों को दोहराया गया एवं दो विविक्त एक्स-किरण स्रोतों की खोज हो गई : (i) तारामंडल वृश्चिक या स्कार्पिअस जिसे SCO XR1 नाम दिया गया (ii) कर्क-नीहारिका के लगभग संपाती तारामंडल वृप या टारस जिसे Tau X R-1 नाम दिया गया। सन् 1964 तक ये दोनों ही एक्स-किरण स्रोत ज्ञात थे। इसके पश्चात् न्यूट्रॉन तारा सिद्धान्त पर अन्य X-किरण स्रोतों की खोज प्रारंभ हो गई। आज लगभग 40 से अधिक X-किरण पिंडों की खोज हो चुकी है और इनमे से कुछ को छोड़कर सभी आकाशगंगा तल के समीप स्थित हैं। एक्स किरण स्रोतों की यह प्रकृति है कि ये गैलेक्सी की सर्पिलाकार भुजा **सॉग्नस-ऑरियन भुजा** एवं **सैजिट्रेरियस भुजा** के समीप ही इकट्ठे हैं।

स्रोतों के गुण : अब प्रेक्षणों से यह स्पष्ट हो गया

है कि कई एक्स-किरण स्रोत समय में परिवर्तित होते हैं अर्थात् एक प्रेक्षण से दूसरे प्रेक्षण तक ही इनका परिणाम परिवर्तित हो जाता है। अत्यधिक उल्लेखनीय उदाहरण सैन्टॉरस XR-2 का है। अप्रैल 1965 में सैन्टॉरस क्षेत्र का क्रमवीक्षण किया एवं पुनः नवम्बर 1965 में करने पर उस स्थान पर X-किरण उत्सर्जन का कोई चिन्ह तक नहीं पाया गया। मई सन् 1967 में तीन रॉकेटों की उड़ानों की सहायता से SCO-XR-1 के समान ही चमकदार स्रोत की खोज की गई लेकिन 44 दिन पश्चात् ही इसकी चमक $\frac{1}{5}$ हो गई। कुछ महीने पश्चात् तो इसका संसूचन भी संभव नहीं हो सका।

नोवा एवं सुपरनोवा अन्तर्गस्त विस्फोट के परिणाम में भिन्न होते हैं। सुपर नोवा में निर्मुक्त ऊर्जा कई हजार गुनी अधिक होती है। संभवतया सैन्टॉरस K R 2 एक नोवा हो। यह आकाश में एक ऐसे क्षेत्र में स्थित है, जो धूल के कारण अपारदर्शी बना हुआ है एवं इसी कारण से इसके प्रकाशिक प्रतिरूप का अभिज्ञान अभी संभव नहीं हो पाया है।

SCO-R-1 का X-किरण स्रोत में जितना विस्तृत अध्ययन किया गया है उतना अन्य किसी स्रोत का नहीं किया गया है। इसका स्पेक्ट्रमी ऊर्जा वितरण लगभग 50 लाख डिग्री सेन्टीग्रेड ताप पर एक पतले उष्ण प्लाज्मा से ऊष्मीय ब्रैम्स्ट्रालुंग के सदृश है।

लगभग प्रत्येक ज्ञात वाह्य नोवा एक युग्म तारा निकाय होता है जिसमें तारों का एक युग्म एक दूसरे के चारों ओर घूमते हुए गुरुत्वीय घेरे में दृढ़ता से बंधा होता है। एक्स-किरण स्रोतों के सैद्धांतिक मॉडल इस युग्म तारा निकाय सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। CYG-XR-2 सापेक्षतया एक प्रवल एक्स-किरण स्रोत का संसूचन एक प्रकाशिक युग्म तारा के रूप में ही किया गया है।

M 87 गैलेक्सी की दिशा में एक एक्स किरण-स्रोत की खोज हुई है। इसकी X-किरण शक्ति इसकी रेडियो शक्ति से 70 गुना है फिर भी इसे द्वितीय द्युति रेडियो गैलेक्सी के स्थान पर ही रखा गया है।

सबसे तीव्र रेडियो गैलेक्सी CYG A से X-किरण उत्सर्जन के लिए सावधानी से खोज की गई है। CYG A की रेडियो शक्ति 10^{34} किलोवाट है।

विसरित एक्स किरण पृष्ठभूमिक विकिरण

पृष्ठभूमिक विकिरणों की व्याख्या के लिए इस समय दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। एक सिद्धान्त के अनुसार यह माना गया है कि हमारी गैलेक्सी इलेक्ट्रॉनों से भरी हुई है और सर्वत्र घनत्व पृथ्वी के परिवेश में मापे गए घनत्व के तुलनीय ही है। ये उच्च ऊर्जा इलेक्ट्रॉन तारकीय प्रकाश फोटॉनों के साथ संघट्टन में कॉम्पटन प्रक्रिया के द्वारा फ़ोटॉनों को X-किरण ऊर्जाओं तक पहुँचा देते हैं। प्रेक्षण एवं परिकलन द्वारा प्राप्त मानों में बहुत अन्तर है।

पृष्ठभूमिक विकिरणों की व्याख्या की द्वितीय विधि में प्रेक्षणीय ब्रह्मांड में समस्त गैलेक्सियों से पृथ्वी पर पहुँचे विकिरणों का अनुमान लगाना है (यहां हमने यह मान लिया है कि प्रत्येक गैलेक्सी हमारी गैलेक्सी की तरह ही एक्स-किरणें विकिरत करती है)। परिकलन से परिणाम, परिमाण का एक या दो कोटि कम आता है।

वर्तमान में पृष्ठभूमिक X-किरण विकिरणों का उदभव अज्ञात है लेकिन यह प्रश्न ब्रह्मांडिकी के कुछ प्रमुख अनुत्तरित प्रश्नों से जुड़ा हुआ है, जैसे अंतरा गैलेक्सी अंतरिक्ष में कोई गैस है ? क्या अंतरिक्ष किरणें गैलेक्सी तक ही सीमित हैं या ये सम्पूर्ण ब्रह्मांड में फैली हुई हैं ? क्या कई अति शक्तिशाली X-किरण गैलेक्सियां हैं ?

X-किरण खगोलिकी का भविष्य : X-किरण खगोलिकी का भविष्य उपग्रहों पर स्थापित उपकरणों के पूर्ण उपयोग एवं अनवरत प्रेक्षणों पर निर्भर करता है। परि-

(शेष पृष्ठ 24 पर)
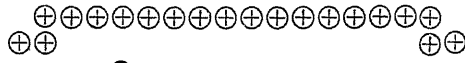
विज्ञान समाचार

चिकित्सा के क्षेत्र में कुछ प्रमुख उपलब्धियां

एक 52 वर्षीय वकील सेण्ट लुई के बार्नस अस्पताल से प्रसन्न मुद्रा में बाहर आया। वह 15 वर्ष से नेत्र-ज्योति चले जाने के कारण कुछ भी देख पाने में असमर्थ था। परन्तु, अब वह पूरी तरह सब-कुछ देख सकता है। वह इतना अधिक उल्लसित है कि अपनी पत्नी के साथ कार पर सवार हो कर प्रतिदिन, लगभग दो सप्ताह तक, सारे नगर का भ्रमण करता रहा है ताकि वहाँ निर्मित नये-नये आकर्षक भवनों का पूरी तरह अवलोकन कर सके।

उसे पुनः देखने में समर्थ बनाने का श्रेय नवीन प्रकार की 'माइक्रोसर्जरी' को है जो मधुमेह के कारण दृष्टिहीन जनों को भी पुनः नेत्रज्योति प्रदान करने में समर्थ है।

'अमेरिकन हास्पिटल एसोसियेशन' के अनुसार, यह उन नवीन और श्रेष्ठ तकनीकों में से एक है जिनका अमेरिका के अस्पतालों में अब प्रयोग किया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस और विलक्षण नेत्र-चिकित्सा तकनीक की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

नेत्रहीनों को नई दृष्टि :

आज, अमेरिका में नेत्रहीनता का प्रमुख कारण मधुमेह है। अमेरिका में प्रत्येक वर्ष लगभग 5000 स्त्री-पुरुष मधुमेहजनति नेत्ररोग के कारण नेत्रज्योति खो बैठते हैं। इस रोग में नेत्रों में रक्त जमा होकर चर्बी और तन्तुजाल के रूप में चक्षु-पटल को ढ़क लेता है। अब तक इस प्रकार के रोगियों को नेत्रज्योति वापिस दे पाना नितान्त असम्भव था। एक नेत्ररोग विशेषज्ञ, डा० राबर्ट माकेमर ने, जो फ्लोरिडा के मियामी विश्वविद्यालय अस्पताल में नेत्रशल्य चिकित्सक हैं, इस प्रकार के रोगियों के नेत्र-पटल (रैटीना) से इन तन्तुओं को अलग करने की विधि का सर्वप्रथम पता लगाया है और दो अन्य नेत्ररोग विशेषज्ञों ने इस विधि में सुधार किया है। इस विधि के अन्तर्गत माइक्रोस्कोप की सहायता से आंख में एक अत्यन्त सूक्ष्म उपकरण प्रविष्ट कर दिया जाता है जो तन्तुओं में चूषक क्रिया द्वारा सूक्ष्मतम छिद्र बना देता है और तब एक अन्य उपकरण उन तत्वों को अत्यधिक छोटे टुकड़ों में काट देता है जिससे वे चूषण क्रिया द्वारा निकाले जा सकें। इस प्रकार चक्षु-पटल तक पुनः प्रकाश पहुंच सकता है और रोगी देख सकने में समर्थ होता है।

अब तक अमेरिका के लगभग 100 अस्पतालों में इस विधि द्वारा 2,000 से अधिक ऑपरेशन किये जा चुके हैं और इनमें 60 प्रतिशत से अधिक सफल रहे हैं।

कृत्रिम कलाई :

टक्सन के एरिजोना चिकित्सा-केन्द्र में उन व्यक्तियों के लिए एक नई प्रकार की कृत्रिम कलाई का विकास किया गया है, जिनकी कलाइयां संधिवातीय गठिया, अन्य विकलांगीय रोगों अथवा दुर्घटनाओं के कारण विकृत हो जाती हैं और जिसके कारण वे इनसे अनेक वर्षों से कोई भी काम नहीं कर पाते हैं। अब, वे इस नई कलाई की सहायता से अपना काम कर सकने में समर्थ होंगे, जैसे वस्त्रों के बटन आदि लगाना, दरवाजे की मुठिया घुमा कर उसे खोलना आदि। यहाँ तक कि वह बोझा भी उठा सकेंगे और सबसे बढ़ कर, उन्हें दुखदायी पीड़ा से छुटकारा मिल जायेगा।

नई कृत्रिम कलाई का निर्माण विकृतांग रोगों के शल्य-विशेषज्ञ, डा० रॉबर्ट वाल्ज ने किया है। प्लास्टिक और धातु से निर्मित इस छोटे से उपकरण को कलाई के अन्दर एक वर्गइंच स्थान में लगा दिया जाता है। जबकि, अन्य कृत्रिम कलाई उपकरण केवल अप्राकृतिक और अस्थाई गतिविधि प्रदान करते हैं, वाल्ज का यह उपकरण कलाई को पूर्ण गतिशीलता और स्थायित्व प्रदान करता है।

सर्वप्रथम इस उपकरण को एक चित्रकार और गिटारवादक व्यक्ति के लगाया गया था जो गिर पड़ने के कारण सीधे हाथ से लुंज हो गया था और संगीत दे पाने में सर्वथा असमर्थ था। अब, वह पुनः अपना वाद्यवृन्द बजाता और रोजी कमाता है।

खांसी हृदय को पुनः जीवन दे सकती है :

किसी भी अस्पताल में यह कभी सम्भव है कि एकाएक, बिना किसी पूर्व संकेत के, रोगी का हृदय रुक जाये। इसे हृदावरोध (कार्डिक अरेस्ट) कहा जाता है। 11 सेकण्ड के अन्दर ही ऐसा रोगी संज्ञाशून्य हो सकता है और बाद में उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

यदि समय पर रोकथाम की जाये और एक विद्युतीय उपकरण का प्रयोग किया जाये तो सम्भव है कि रोगी का हृदय पुनः धड़कने लगे। परन्तु, इसमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि उपकरण लगाये जाने तक रोगी को जीवित कैसे रखा जाये। हाँ, यदि रोगी के वक्ष को वेग से निरन्तर मला जाय तो यह सम्भव है, परन्तु इसमें भारी खतरा है। इससे उसकी पसलियां टूट सकती हैं, तथा अन्य हानियां हो सकती हैं। सौभाग्यवश, एक उत्तम, सुरक्षित तकनीक—जो अत्यन्त सरल भी है—का विकास क्वीलैण्ड (ओहायो) चिकित्सालय के विश्व प्रसिद्ध हृदयविशेषज्ञ, डा० एफ० मैसन सोनेस, ने किया है। इस तकनीक के अन्तर्गत रोगी से वेग के साथ निरन्तर खांसने के लिए कहा जाता है और इस प्रकार हृदय के पुनः सामान्य रूप में धड़कने की काफी सम्भावना रहती है।

अमेरिका चिकित्सा संघ की पत्रिका में दिये गये इस तकनीक के परीक्षणों के विवरण में इसे बहुत सफल बताया गया है।

बधिरता की जांच की नयी विधि :

एक कर्णस्वर विज्ञान-विशेषज्ञ डा० राल्फ एफ० नाइटन और मनोविज्ञान विशेषज्ञ डा० स्टैनले ने कर्णरोग चिकित्सकों की एक प्रमुख समस्या को हल किया है—यह किस प्रकार पता लगाया जाय कि कोई अबोध और छोटा बच्चा पूर्णरूप से बहरा है। बधिरता की जांच के लिए अब तक जो विधि अपनायी जाती है, उसमें रोगी के लिए ध्वनि की अविरल धारा प्रवाहित की जाती है और उसे क्रमशः धीमा किया जाता है और देखा जाता है कि रोगी सुन पाता है या नहीं। परन्तु, इस प्रकार की जांच अबोध बच्चों और छोटे बच्चों के लिए उपयुक्त नहीं होती है।

इन वैज्ञानिकों ने जिस विधि का विकास किया है उसे 'इलेक्ट्रोचोविक्लयोग्राफी' कहा जाता है और उसमें रोगी को प्रत्यक्ष भाग नहीं लेना पड़ता है। रोगी की सुप्तावस्था में उसकी श्रवणशक्ति की जांच की जाती है। इसके लिए रोगी के कान में विद्युत का पतला तार डाल दिया जाता है और कम्पयूटर की सहायता से उसकी श्रवण-शक्ति मापी जाती है। और, इस माप के अनुसार ही श्रवण-यन्त्र (ह्रीयरएड) अथवा चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

इस विधि का एक लाभ यह है कि इससे अबोध बच्चे के बारे में यह भी पता चल सकता है कि वह सुन सकता है अथवा नहीं। इन चिकित्सकों ने इस विधि की सहायता से एक दो वर्ष के बच्चे की जांच करके—जिसके माता-पिता को शिकायत थी कि वह किसी भी प्रकार का शोर या आवाज नहीं सुन पाता था—घोषित किया कि बच्चे में सुनने की पूर्ण क्षमता थी। उसकी समस्या भावनात्मक थी। वह सुन तो सकता था, परन्तु सुनना नहीं चाहता था। इस तरह, वह अपने माता-पिता के झगड़ों और बकझक को बन्द कराने में सफल रहा।

चेहरे के दर्द की चिकित्सा :

चिकित्सकों की राय में मनुष्य के चेहरे में दर्द (टिक डाऊलैरिऊक्स) भयंकर पीड़ादायक होता है—जैसे किसी ने छुरा भोंक दिया हो। बिजली से झुलस जाने की तरह सम्पूर्ण चेहरे पर फैल जाने वाला यह असह्य दर्द किसी भी कारण हो सकता है जैसे खाना खाने, दाढ़ी बनाने, मुंह धोने आदि से। पहले, दवाओं द्वारा इस दर्द को थोड़ी देर के लिए रोक दिया जाता था, या शल्य क्रिया की जाती थी जिससे चेहरा भावशून्य हो जाता था।

अब, इसकी चिकित्सा सम्भव है। डा० पीटर जे० जानेटा ने, जो एक प्रसिद्ध तन्त्रिका-शल्यचिकित्सक हैं, खोज की है कि इस दर्द का कारण मस्तिष्क के नीचे स्थित धमनी द्वारा त्रिधारा तंत्रिका (ट्रिजेमिनल नर्व) पर दवाव को दूर करने के लिए एक शल्यक्रियात्मक विधि खोजी है। इसके अन्तर्गत वह कान के पीछे दो इंच का चीरा लगा कर मस्तिष्क के नीचे धमनी और तन्त्रिका के बीच में प्लास्टिक स्पंज का एक छोटा टुकड़ा रख देते हैं, जिससे त्रिधारा तंत्रिका पर दवाव नहीं रह जाता है और दर्द हमेशा के लिए तिरोहित हो जाता है।

वातिशोथ की पूर्व जांच :

अब गोदी के शिशुओं की भी वातिशोथ सम्बन्धी जांच सम्भव है कि क्या उन्हें 30 वर्ष बाद वातिरोग अथवा अन्य फेफड़ों सम्बन्धी जीर्ण रोग होने की सम्भावना है। यह जांच रक्त का परीक्षण, जिस 'रैपी टेक्स आट' कहा जाता है, करके की जाती है।

यह जांच 6 सप्ताह तक के बच्चे की भी हो सकती है। चिकित्सकों का कहना है कि जिन परिवार के सदस्य वातिरोध-रोग से पीड़ित हों उन्हें यह जांच अवश्य करानी चाहिये जिससे उसकी समय रहते ही रोकथाम की जा सके।

आत्महत्याओं की रोकथाम :

अब उन लोगों को जो तन्द्रा लाने वाली गोलियां (स्लीपिंग पिल्स) अथवा अन्य दवाओं की अधिक मात्रा खा कर आत्महत्या करने का प्रयास करते हैं, बचाया जा सकता है।

10 वर्ष के प्रयत्न करने के बाद एक गुर्दा विशेषज्ञ, डा० जेरी एल० रोजेनबौम, ने इस प्रकार के विष को रक्त से अलग करने के लिए एक नये उपकरण का विकास किया है। इस उपकरण को 'ई एक्स-60 कार्टरिज' कहा जाता है। रोगी के शरीर से विषयुक्त रक्त निकाल कर, उसे इस उपकरण की सहायता से साफ कराने के बाद पुनः रोगी के शरीर में प्रवाहित कर दिया जाता है।

'ई एक्स-60 कार्टरिज' बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। उन अनेक ऐसे व्यक्तियों को, जो विष खाने से या तो कुछ समय बाद मर सकते थे अथवा चार या पांच दिन तक अचेत रह सकते थे, तीन-चार घण्टे में पूर्ण स्वस्थ कर दिया गया।

स्मरण रखने वाला सूक्ष्मदर्शी यन्त्र :

रक्त से श्वेत कणों की गणना करना एक अति दुस्साध्य कार्य है। इसके द्वारा पराजीवी, जीवाणु या विषाणुजन्य संक्रामक रोगों, दमा, उपान्त्र (अपेण्डिक्स) या रक्तश्वेताणुमयता (ल्युकेमिया) आदि का पता लगाया जाता है। अब तक इसकी गणना अधिकांशतः हाथ-मशीन से की जाती है जो अति कष्टसाध्य और त्रुटि-पूर्ण है।

अब यह कार्य संगणकयुक्त सूक्ष्मदर्शी यन्त्र कर सकता है। कम्प्यूटर के अन्दर निहित एक टेलिविजन कैमरा सूक्ष्मदर्शी की सहायता से इन श्वेत कणों को परखता है और कम्प्यूटर उन्हें पहचान कर उनका वर्गीकरण करता है। यदि यह किसी असामान्य कोश को नहीं पहचान पाता तो वह तुरन्त इसकी सूचना आपरेटर को देता है।

इस उपकरण का नाम 'लार्क' (ल्यूकोसाइट आटोमैटिक रिकोग्नीशन कम्प्यूटर) है जो शीघ्र विश्लेषण भी प्रस्तुत कर देता है। 'लार्क' उपकरण का विकास सिनसिनाटी के गुड सैमैरिटन हास्पिटल में किया गया है। इसका विश्लेषण अत्यन्त विश्वसनीय माना जाता है।

(पृष्ठ 20 का शेष)

वर्ती स्रोतों की पहचान के लिए उनको अनवरत निरीक्षण एवं X-किरण परिवर्तों को प्रकाशिक गुणों से संबंधित करना भी आवश्यक है। चन्द्रमा पर एक वेधशाला या आब्जर्वेवेटरी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। ऐसी आशा की जा सकती है कि अगले दशक में एक्स किरण खगोलिकी अन्तरिक्ष के कई रहस्यों का उदघाट्न कर अन्तरिक्ष विज्ञान की प्रगति में उल्लेखनीय योगदान कर सकेगी।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 8
सं० 2034 विक्र०
अगस्त 1977

●

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

सम्पादकीय

1971 की जनगणना के अनुसार पाँच वर्ष से बड़े किन्तु पन्द्रह वर्ष से कम उम्र वालों में साक्षरता का प्रतिशत 34.5 था जबकि यह प्रतिशत 1961 में 28.3 और 1951 में 18.31 था। बीस वर्षों में प्रतिशत साक्षरता दुगुना हो जाने के बावजूद निरक्षरों का प्रतिशत काफी अधिक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साक्षरता बढ़ाने की दिशा में प्रगति हुई इसमें संदेह नहीं। परन्तु हमारे देश में निरक्षरों की संख्या को देखते हुए यह प्रगति बहुत ही कम है। वर्तमान सरकार ने अगले दस वर्षों में निरक्षरता को दूर कर देने का वादा किया है और इस दिशा में कदम भी उठाये जा रहे हैं। निरक्षरता देश के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। निरक्षरता से अज्ञानता बढ़ती है और कृषि, उद्योग तथा चिकित्सा के क्षेत्र में देश की जनता का पिछड़ा होना बहुत कुछ इसी कारण से है। प्रौढ़ शिक्षा भी आवश्यक है और अगले वर्ष महात्मा गांधी के जन्म दिवस के अवसर पर व्यापक कार्यक्रम आरम्भ करने की योजना चल रही है। आवश्यकता इस बात पर बल देने की है कि प्राथमिक शिक्षा का प्रचार इतना व्यापक किया जाये कि आने वाली पीढ़ी निरक्षर न रह जाये। अनुमान है कि प्राथमिक पाठशालाओं में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या घट गई है। यदि यह सच है तो यह देश का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। सरकार ने 6-14 वर्ष के अवस्था समूह के हर बच्चे को अनिवार्य रूप से शिक्षा ग्रहण करने की नीति को घोषित किया है। अगले सात वर्षों में इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए राज्यों तथा केन्द्र के शिक्षा मन्त्रियों की बैठक चल रही है। इस योजना के अनुसार पहली से आठवीं कक्षा तक के किसी विद्यार्थी को बिना रोके कक्षा उन्नति दी जायेगी। कक्षा पांच तथा कक्षा आठ में सर्टीफिकेट परीक्षायें आरम्भ की जायेगी जिसमें बिना पाठशाला में प्रवेश लिए हुए विद्यार्थी बैठ सकेंगे। नवीन शिक्षा पद्धति 10+2+3 पर भी विचार किया जा रहा है। अधिकांश राज्यों ने इस पद्धति को आरम्भ कर दिया है और शेष ने स्वीकार कर लिया है। जहां यह आरम्भ नहीं किया गया वहां अगले सत्र के आरम्भ होने के पूर्व नीति निर्धारित हो जाना चाहिये और उसको सफल बनाने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। +2 कक्षा में व्यावसायिक शिक्षा पर बल देने की सरकारी नीति अच्छी तो है पर क्या सभी कालेज इसके योग्य हैं और उनमें क्षमता है ?

मैग्मा एवं लावा

विजयकान्त श्रीवास्तव

मैग्मा वह पदार्थ है जिससे आग्नेय शिलाओं का निर्माण होता है। इस पदार्थ में द्रवीय सिलिकेट तथा घुलनशील गैसें पायी जाती हैं यह पृथ्वी-पृष्ठ के नीचे बड़े भण्डार जैसी रचनाओं में पाया जाता है तथा पृष्ठ पर दरारों तथा ज्वालामुखी उद्गारों द्वारा आता है।

रेडियोधर्मी प्रक्रियाओं से ज्ञात होता है कि पृथ्वी-पृष्ठ में ताप अत्यधिक है साथ ही साथ दाब भी अत्यधिक पाया जाता है। अत्यधिक ताप एवं दाब के कारण सिलिकेट पदार्थ द्रव रूप में पाया जाता है। 25 कि० मी० नीचे पाये जाने वाली ग्रेनाइट शिला में इतनी अधिक रेडियोधर्मी ऊर्जा पायी जाती है कि पृथ्वी-पृष्ठ पर ऊर्जा का बहाव हो सके। भूद्रोणियों में पाये जाने वाले अवसदीय शिलाओं में भी रेडियोधर्मी ऊर्जा पायी जाती है। मैग्मा प्रायः भूद्रोणीय स्थलों पर अनेक द्रवों के मिश्रण तथा सब ऊर्जा के सममिश्रण से उत्पन्न होते हैं तथा इन स्थलों पर मैग्मा में प्रायः गेनाइट ग्रेनोडायोराइट संरचना के द्रव पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी मैग्मा पाये जाते हैं। बसाल्ट मैग्मा का अधिक उद्गार पाया जाता है। भौमिकीय काल में समय-समय पर पृथ्वी पृष्ठ पर अनेक दरारों तथा भ्रंशों द्वारा विशाल मात्रा में बसाल्ट मैग्मा का उद्गार हुआ है इसीलिए पृथ्वी पृष्ठ के नीचे बसाल्ट मैग्मा का भण्डार पाये जाने की कल्पना की गई है। पृथ्वी के नीचे लगभग 60-70 कि० मी० गहराई पर प्राथमिक बसाल्ट मैग्मा का भंडार स्थित होने की कल्पना की गई है। दाब से बसाल्ट पदार्थ का द्रव बिन्दु में परिवर्तन हो जाता है।

पृथ्वी-पृष्ठ के नीचे प्रत्येक बिन्दु पर दाब तथा ताप की मात्रा समान नहीं पायी जाती है, इसीलिए मैग्मा का कुछ मात्रा तो द्रव में पायी जाती है तथा कुछ ठोस में। इसीलिए पृथ्वी-पृष्ठ पर ठोस तथा द्रव तथा विभिन्न संरचना का मैग्मा पाया जाता है। चित्र सं० 1 में मैग्मा के भंडार तथा उद्गार के विभिन्न रूपों को दिखाया गया है।

हवाई क्षेत्र में ज्वालामुखी के विभिन्न क्षेत्रों में मैग्मा के गहराई के लिए निम्न समीकरण से गणना की जाती है। इसमें मैग्मा भण्डार की गहराई H तथा घनत्व d' माना जाता है तथा पृथ्वी सतह पर मैग्मा की मोटाई h तथा घनत्व d मान लिया जाय तो $dh = d'H$
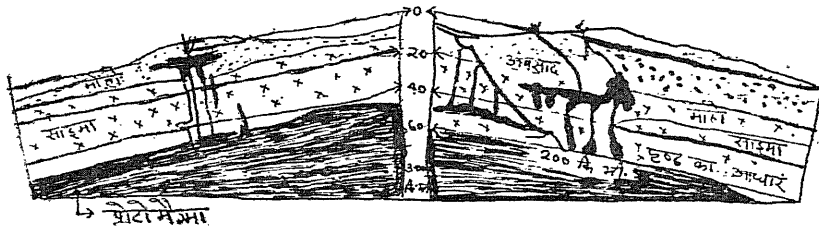
चित्र संख्या 1; पृथ्वी पृष्ठ तथा महाद्वीप क्षेत्र में मैग्मीय प्रक्रिया।
पृथ्वी पृष्ठ (बायें) तथा महाद्वीपीय क्षेत्र (दायें) सभी बसाल्ट प्रोटोमैग्मा क्षेत्र से उत्पन्न होता है।

सारणी

प्रयोगशाला में ज्ञात श्यानता

	श्यानता (ग्राम/सेकेण्ड/सेमी)	ताप (°सें०)
जल	1×10^{-2}	20
पायरोक्जीन	5×10	1450
ग्लिसरीन	1×10^{1}	20
बसाल्ट	2×10^{2}	1400
ओलीविन बसाल्ट	3×10^{3}	1200
एल्वाइट	4×10^{4}	1400
एल्वाइट	$n \times 10^{8}$	1150
SiO_2 (ग्लास)	1×10^{10}	1440
SiO_2 (ग्लास)	1×10^{12}	1300
ग्रावसीडियन	1×10^{12}	800

हवाई क्षेत्र में (H—h) 10 कि०मी० माना जाय, और $d=3·3$, $d'=2·8$ तब h का मान 56 कि० मी० पाया जाता है। भूकम्प से भी यह ज्ञात होता है कि मैग्मा भण्डार की गहराई 40-60 कि० मी० तक होगी।

प्राकृतिक मैग्मा तथा सिलकेट द्रव की श्यानता ताप, दाब तथा रासायनिक संरचना पर निर्भर होता है। क्षारीय मैग्मा तथा अधिक वाष्पशील पदार्थ वाले मैग्मा की श्यानता कम पायी जाती है तथा अम्लीय मैग्मा की श्यानता अधिक पायी जाती है। विभिन्न शिला द्रवों की श्यानता सारणी में दी गई है।

विभेदीकरण तथा घनीकरण श्यानता पर निर्भर करता है। अधिक श्यानता होने से लावा ग्लास के रूप में घनीकृत होती है। आबसीडियन (obsidean) तथा पिचस्टोन (Pitchstone) इस प्रकार से घनीकृत होने वाले प्रधान उदाहरण हैं। इस प्रकार की शिलाओं में अनेक प्रकार के बंध पाये जाते हैं। इसीलिए फेल्डस्पार में तथा प्लेगियोम्लेज बंध प्रधान पाये जाते हैं।

मैग्मा के घनीभूत अवस्था में प्रथम भारी कण तथा अधिक घनत्व वाले कणों का मणिभीकरण हो जाता है। भारी कण जैसे ओलीवीन (olivine) नीचे जम जाते हैं। श्यानता दाब से बढ़ती है तथा ताप से घटती है परन्तु यदि ताप तथा दाब साथ-साथ बढ़ाया जाय परन्तु आयतन समान रखा जाय तो श्यानता कम हो जायगी। लगभग 60 कि० मी० गहराई पर 1,2,00° सें० ताप 17,000 बार दाब पर मैग्मीय श्यानता लगभग 10^{13} पायस (poises) पायी जाती है।

प्लूटानिक तथा ज्वालामुखी अवस्था मैग्मा का ताप अधिक नहीं पाया जाता है। लावा में वाष्प-शील पदार्थ अधिक पाया जाता है तथा इसका ताप 100°—300°सें० तक पहुँच पाता है। लावा का ताप भण्डार से कुछ दूरी तक भी समान पाया जाता है।

मैग्मा के घनीकरण में समय बहुत लगता है। मणिभीय घनीकरण टेक्टानिक प्रक्रिया के बाद ग्रेनाइट मैग्मा का भण्डार 2,000 से 3,000 मीटर तक पाया जाता हैं तथा इसमें लगभग 50,000 वर्ष लगता है

सिलिकेट द्रव में प्रधानतया ठोस सिलिकेट के समान आयनिक संरचना पायी जाती है इनमें पाये जाने वाले प्रधान धनायनों में से Na^{+}, K^{+}, Ca^{2+}, Mg^{2+}, F_c^{2+} प्रमुख हैं जो कि द्रव में किसी निश्चित स्थान पर नहीं पाये जाते परन्तु गतिशील पाये जाते हैं। ॠणयन में ऑक्सीजन तथा सिलिकन का टेट्राहेड्रा पाया जाता है। परन्तु सिलिकेट मैग्मा में इस प्रकार के इकाई की संरचना बढ़ती जाता है। जितनी ही अधिक इस प्रकार के इकाइयों की की संख्या होगी उतना ही अधिक श्यानता पायी जायेगी। Al_2O_3 की मात्रा मिलने से भी विसरसिटी बढ़ जाती है।

टेट्राहेड्रा की संख्या विद्यमान धयायन पर भी निर्भर करती है। साधारण सिलिकेट द्रव में निम्न रूप से बढ़ती हैं—Fe—Mg—Ca—Sr—Li—Na—K। अर्थात् धनायन की जितनी कम शक्ति होगी उतनी अधिक Si—O का क्रम बढ़ेगा। H_2O मिलने से श्यानता कम हो जाती है। दाब कम होने से सिलकेट द्रव से जल की मात्रा निकल आती है। अतः जब गहराई से मैग्मा ऊपर आता है तथा इसमें जल की मात्रा विद्यमान होती है तो जल तप्त होकर ऊपर आ जाता है तथा श्यान लावा का निर्माण होता है।

पृथ्वी पृष्ठ पर मैग्मा तथा लावा आग्नेय शिलाओं के रूप में पाया जाता है। पृथ्वी पृष्ठ पर आग्नेय शिलाओं तथा ज्वालामुखी शिलाओं के रूप, संरचना तथा अन्य शिलाओं के साथ संबंध के अध्ययन से तत्सम्बन्धी मैग्मा तथा लावा के रूप, संरचना ताप तथा दाब आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

घनीकरण के पहले सभी प्रकार के मैग्मा में कुछ ठोस विजातीय कण पाये जाते हैं। ये कण साथ वाली शिलाओं के ठोस कण होते हैं या तो मैग्मा बनने से पहले ही के ठोस कण होते हैं, जो द्रव मैग्मा में भी पाये जाते

हैं। इसके अतिरिक्त कभी कभी मैग्मा भी विषम संरचना का पाया जाता है जिसमें कुछ में गैस की मात्रा अधिक होती है तथा कुछ में ठोस कण अधिक पाया जाता है या तो इनमें भी विजातीय पदार्थों के मिलने से नवीन मिश्रित पदार्थ बन जाता है। कभी दो विभिन्न रंग के लावा भी पास पास पाये जाते हैं जिनके मिश्रण से भी नवीन पदार्थ बन जाता है।

लावा के घनीकरण से लावा बहाव की दिशा में समांतर निशान पड़ जाते हैं या कभी सतह पर लावा बहाव से समांतर चौरस स्थान निर्मित हो जाता है। इस अवस्था में प्रिज्म रूप वाले खनिज (हार्नब्लेण्ड, आजाइट तथा फेल्डस्पार भी) एक ही दिशा में अनुरेखित हो जाते हैं। चित्र संख्या 2 में यह रूप प्रदर्शित किया गया है।
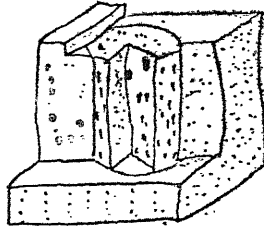
चित्र संख्या 2 : शिलाओं में उर्ध्व दिशा खनिजों का रेखीकरण।

इस प्रकार खनिजों के एक ही दिशा में पाये जाने का गुण पत्राभायन (Foliation) शिलाओं में उत्पन्न हो जाता है। चित्र संख्या 3 में यह रूप दिखाया गया है।

प्राय: अनुरेखण तथा पत्राभायन साथ साथ पाया जाता है। बहाव दिशा प्राय: पत्राभायन की दिशा में पाया जाता है। गोल खनिज कण बहाव की दिशा में खिंचकर अनुरेखित हो जाता है। इस प्रकार से खनिज कणों में विरूपण भी पाया जाता है।

यह भी पाया जाता है कि विशाल शिला खण्डों में बहाव की दिशा तथा अनुरेखण समान हो। अनेक प्रकार के उत्कोची शिलाओं में पत्राभायन तथा नाइस विन्यास का किनारा पाया जाता है। प्राय: यह भी देखा गया है कि उत्कोची शिला तथा मातृशिलाओं के विन्यास तथा अनुरेखण, पत्राभायन आदि परस्पर भिन्न होते हैं। इस प्रकार की भिन्नता के लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त प्रतिप्रादित किये जाते हैं। शिलाओं में पाये जाने वाले संधियों में भी उत्कोची शिलाओं का प्रवेश होने पर समान्तर तथा लम्ववत् दिशा का ज्ञान होता है शिलाओं में
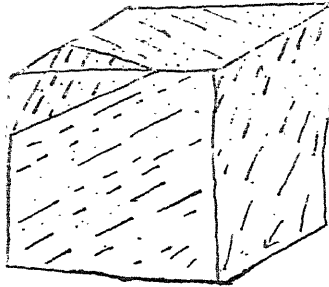
चित्र संख्या 3 : लावा बहाव की दिशा में अनुरेखण
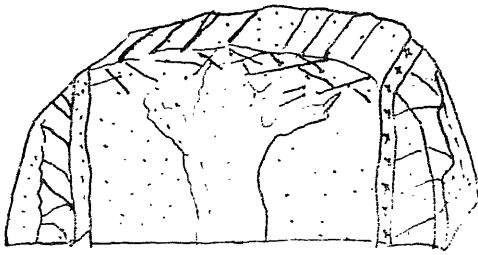
चित्र संख्या 4 : ग्रेनाइट शिला खण्ड में क्षैतिज अंश एवं संधि।
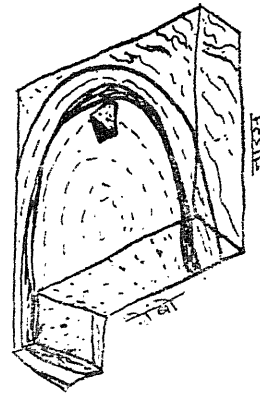
चित्र संख्या 5 : ग्रैबो शिला खण्ड में रचनात्मक रूप।

नाइस विन्यास आन्तरिक प्रक्रियाओं से भी उत्पन्न पाया जाता है।

अम्लीय तथा क्षारीय मैग्मा के उत्कोची रचना में अन्तर शिलाओं में व्याप्त श्यानता पर भी निर्भर पाया जाता है। ग्रेनाइट मैग्मा प्रायः उत्कोची पायी जाती है तथा कम श्यान मैग्मा, जैसे ग्रेबो, आदि शिलाओं की मैग्मा पृष्ठ पर वहाव भी पाया जाता है। कभी भी दरार, छिद्रता अंश में प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार की मैग्मा में कीप का आकार भी पाया जाता है। चित्र 4 तथा 5 में इस प्रकार के मैग्मीय रचनाओं को प्रदर्शित किया गया है।

ओंजोन का बचाव

नाइट्रोजन युक्त उक्त उर्वरक तथा एअरोसॉल के छिड़काव के कारण वायुमण्डल की ओजोन परत पर प्रभाव पड़ रहा है। ३१ देसों के विशेषज्ञों की वाशिंगटन में एक बैठक हुई जिसमें ओजोन के वचाव पर वल देने का निर्णय लिया गया। यह बैठक राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम के तत्वावधान में बुलाई गई थी।

सूक्ष्म चिकित्सा प्रणाली-होमियपैथी

(होमियो-चिकित्सक डा० जगेश्वरनाथ से की गयी वार्ता पर आधारित)

नलिनी बंसल

होमियो चिकित्सा पद्धति का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है, इस पद्धति का उद्‌भव लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। लम्बी अवधि से प्रचलित आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक चिकित्सा पद्धतियों के साथ-साथ होमियो चिकित्सा भी सफल चिकित्सा पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हुयी है।

होमियोपैथी का इतिहास

होमियो चिकित्सा पद्धति के जनक डॉ० सैमुएल हैनिमैन जर्मनी के एक कीर्तिप्राप्त एलोपैथिक डॉक्टर थे। उनका जन्म 10 अप्रैल, 1755 को जर्मन साम्राज्य के सेक्सनी प्रदेश के माइसेन नामक एक छोटे से गाँव में हुआ। डॉ० हैनिमैन एलोपैथिक चिकित्सा विधान में प्रयुक्त होने वाले तरीकों के प्रति अति जागरुक थे। चिकित्सा शास्त्र में होने वाले सभी प्रयोगों का उन्होंने काफी अध्ययन किया था। चिकित्सा क्षेत्र में रहते हुये उन्होंने अनुभव किया कि केवल अनुमान से ही किसी रोग का निदान करना तथा अनुमान के आधार पर ही औषधि निर्देश से रोगियों को बहुत हानि होती है। एलोपैथिक पद्धति की यह निदान प्रणाली रोगियों को असमय ही मृत्यु के करीब ले जाती है। शनैः शनैः डॉ० हैनिमैन का इस चिकित्सा पद्धति से विश्वास उठता गया और एक दिन उन्होंने इस पद्धति का परित्याग कर दिया। जीवन निर्वाह के लिये चिकित्सा कार्य को छोड़ कर वह पुस्तकों के अनुवाद का कार्य करने लगे। उनका कहना था कि रोग मुक्त करने के लिये पूर्व लिखित सिद्धान्तों तथा नियमों पर टिक कर कार्य करना अत्यन्त कष्टप्रद है। ये सभी सिद्धान्त स्वेच्छा तथा कल्पना से बनाये गये थे। एलोपैथिक में स्वतन्त्र चिंतन को तिलां- जलि दे, अनिश्चित तथा अनिर्दिष्ट ज्ञान पर संतोषकर चिकित्सा करनी पड़ती थी तथा औषधियों की क्रिया और उनके गुणों के सम्बन्ध में उचित ज्ञान पाने का कोई उपाय न था।

सन् 1780 में कॉलेन द्वारा लिखित मेटीरिया मेडिका का अनुवाद करते हुये चिकित्सा पद्धति के बारे में कुछ ऐसे तथ्य उनकी दृष्टि में आये जिन्होंने उनके विचारों को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने देखा कि सिन्कोना की छाल (कुनीन) का सेवन करने से स्वस्थ व्यक्ति कम्पज्वर से पीड़ित हो जाता है प्रयोग के लिये उन्होंने स्वयं कुनीन का सेवन किया और उत्पन्न लक्षणों को तदनुरूप पाया। कुनीन ही कम्पज़्वर की प्रमुख दवा होती है। इस प्रयोग से डॉ० हैनिमैन को रोग निबारण के क्षेत्र में नई दिशा मिली। वह इस नई पद्धति के विकास के लिये अनुसंधान कार्यों में जुट गये। प्राप्त सूत्र के आधार पर उन्होंने अन्य भूषज द्रव्यों का स्वयं सेवन किया और उत्पन्न लक्षणों की परीक्षा की। रोगी के शरीर में यदि वे ही सब लक्षण दिखायी दें जो स्वस्थ मनुष्य में किसी भेषज के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं तो वे उसी भेषज द्रव्य को रोगी को देकर उसे रोग मुक्त करने लगे।

अब तक डा० हैनिमेन एलोपैथिक पद्धति के अनुसार दवा का स्थूल मात्रा में ही प्रयोग करते थे। उन्हें यह

सिद्धान्त हानिकर लगा। उन्होंने अनुभव किया कि एलोपैथिक दवाओं के सेवन से नीरोग होने पर कुछ दिन बाद रोगी में नये रोगों के लक्षण पैदा होने लगते हैं। जैसे, कुनीन द्वारा ज्वर मुक्त होने पर शरीर में रक्त-हीनता, यकृत तथा प्लीहा शोथ, मन्द ज्वर इत्यादि अन्य रोग उत्पन्न हो जाते और रोगी जर्जर हो जाता। अतः उन्होंने दवा की मात्रा घटानी शुरु कर दी। उन्होंने पाया कि अल्प मात्रा देने पर भी दवा की अरोग्यदायिनी शक्ति ज्यों की त्यों रहती है तथा रोगी औषधि जन्य दुष्परिणामों से भी बच जाता है। इन सफल प्रयोगों ने उन्हें शक्ति और प्रेरणा दी। दवाओं का परिमाण उन्होंने सूक्ष्म मात्रा तक घटा दिया और दवा को दुग्धशर्करा, स्पिरिट और परिष्कृत जल इत्यादि गुणविहीन चीजों के साथ मिलाकर प्रयोग करने लगे। यहीं से उन्होंने नवीन समदृश्य चिकित्सा पद्धति 'समचिकित्सा' अथवा 'होमियोपैथी' की नींव रखी तथा समस्त चिकित्सक वर्ग को एक नई दिशा दी।

होमियो चिकित्सा अनुसार रोग के प्रकार

मानव शरीर की समस्त बीमारियों को होमियो चिकित्सक दो वर्गों में विभाजित करते हैं :

(1) नवीन अथवा अचिर (उग्र) रोग,

(2) पुरातन अथवा चिर रोग।

जीवन शक्ति पर अचानक प्रहार करके यदि कोई रोग भीषण आक्रमण करता है और कुछ दिन या महीनों तक ही बना रहता है, तो वह नवीन अथवा उग्र रोग के वर्ग में आता है। यह रोग कभी-कभी बिना दवा के ही समाप्त हो जाते हैं। आक्रमण यदि बहुत प्रबल होता है तो जीवन शक्ति अति क्षीण हो जाती है। कोई भी दवा प्रभावी नहीं होती और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

पुराना या चिर रोग अधिकतः बहुत व्यस्त होता है और अनजाने ही जीवन शक्ति का ह्रास करता रहता है। होमियो चिकित्सक इस चिर रोग के तीन कारण मानते हैं :

(1) सोरा,

(2) सिफिलिस तथा,

(3) साइकोसिस।

सोरा का अर्थ है, तर और सूखी खुजली, खसराइत्यादि सिफिलिस अर्थात् उपदंश, गर्मी साइकोसिस अर्थात् मसा या मस्सों की तरह के उद्भेद और प्रमेह की बीमारी। अतएव ऐसे रोगों में इनकी प्रतिविष दवा की आवश्यकता होती है, जैसे एंटीसोरिक, एण्टी सिफिलिरिक तथा एण्टी साइकोटिक।

डॉ० हैनिमैन के अनुसार 80 प्रतिशत पुरानी बीमारियाँ 'सोरा' के कारण तथा अन्य बीस प्रतिशत 'सिफिलिस' और 'साइकोसिस' से उत्पन्न होती हैं। इन तीन कारणों में से यदि एक भी शरीर में अधिकार जमा ले तो शरीर लगातार विभिन्न व्याधियों से त्रस्त रहने लगता है। यह तीनों विष कभी एक, दो या तीनों ही साथ साथ मिल कर शरीर में रोग की जड़ मजबूत कर देते हैं। ऐसे रोग बिना दवा के नष्ट नहीं होते और होमियोपैथी ही इन पुराने रोगों की सफलतम चिकित्सा पद्धति है।

होमियो चिकित्सा की कार्य पद्धति

होमियोपैथी द्वारा चिकित्सा करते समय रोगी के धातुगत लक्षण, मानसिक लक्षण तथा रोग के लक्षणों को ध्यान में रखकर दवा प्रयोग की जाती है।

दवा की न्यूनतम मात्रा का प्रयोग किया जाता है जिसका प्रभाव अधिक स्थायी और तीव्र होता है।

बहुत बार ऐसा होता है कि दवा खाने के बाद रोग बढ़ता दिखायी देता है। होमियो चिकित्सक इससे घबराता नहीं और न ही दवा का चुनाव गलत समझ कर दवा बदल देता है। साधारणतः यह रोग वृद्धि 3-4 दिन में

स्वयं घट जाती है तथा बीमारी भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है।

किसी दवा के सेवन के तुरन्त बाद ही यदि बीमारी के सब उपसर्ग गायब हो जाते हैं, तो दवा का चुनाव गलत होता है। ऐसी स्थिति में वह दवा उस बीमारी की नहीं होती। ऐसे लाभ क्षण-स्थायी या केवल प्रशामक होते हैं।

लगातार क्रम से दो तीन दवाओं का सेवन होमियो चिकित्सा के विरुद्ध है। होमियोपैथिक नीती अनुसार एक दवा दूसरी दवा की क्रिया में बाधा पहुँचाती है।

होमियो चिकित्सा में दवा की प्रक्रिया को विभिन्न शक्तियों में विभाजित किया गया है। रोग के लक्षण, (चिर तथा अचिर) को दृष्टिगत रखते हुये ही दवा की शक्ति का प्रयोग करना चाहिये, शक्ति ज्ञान के लिये कोई कोई नियमबद्ध प्रणाली नहीं है तथा चिकित्सकों को स्थिति तथा वातावरण के अनुकूल अनुभव द्वारा स्वयं इसका ज्ञान होता है क्योंकि रोगी के रोग की न्यूनाधिकता तथा औषधारण क्षमता का अनुभव स्पष्ट होना दुस्साध्य है। होमियोपैथिक दवा की शक्ति निम्नतम 6 से लेकर, 200, 1,000, 10,000, 1,00,000 तथा उच्चतम 10,00,000 तक होती है।

औषध शक्ति का निर्माण

होमियोपैथिक औषध शक्ति के निर्माण में गतिशीलन प्रबलीकरण, सूक्ष्मीकरण, तनूकरण तथा सान्द्रता इत्यादि प्रक्रमों का बहुत महत्व है। सम्पूर्ण प्रक्रिया को शक्तिकरण कहते हैं। औषध को उसकी क्रियात्मक गणना के आधार पर विभिन्न शक्तियों में विभाजित किया जाता है।

मूल औषध के एक भाग को 99 भाग एल्कोहल के साथ मिलाकर पहली शक्ति का निर्माण किया जाता है। इस मिश्रण के एक अंश को फिर 99 अंश एल्कोहल के साथ मिलाने से दूसरी शक्ति का तथा पुनः इसी प्रक्रिया को दोहराने से उच्चतर शक्तियों का निर्माण होता है। अतः जितनी अधिक ऊंची शक्ति होती है, औषध उतनी ही कम तथा सूक्ष्म आणविक मात्रा में होती है और इसकी अदृश्य शक्ति की क्रिया अत्यधिक तीव्र तथा अधिक दिनों तक स्थायी रहने वाली होती है। विचूर्ण रूप बनाने में इसी प्रकार। भाग मूल औषध के साथ 9 भाग दुग्ध शर्करा को मिलाने से $1x$ तथा इस मिश्रित $1x$ के भाग में 9 भाग दुग्ध शर्करा मिलाने से $2x$ तथा पुनः इस प्रक्रिया को दोहराने से क्रमशः $3x$, $6x$, $30x$, $200x$, की औषधशक्ति का निमार्ण किया जाता है।

होमियोपैथिक दवा के सेवन के समय पान के साथ चूने का प्रयोग तथा सोडा, लेमोनेड तथा सिरके का व्यवहार नहीं करना चाहिये, सुगन्धित तथा तेज गन्ध वाली वस्तुयें, गरम मसाले, प्याज, लहसुन, कपूर, शराब, पदार्थ धूम्रपान तथा चाय, काफी इत्यादि उत्तेजक पदार्थों का सेवन होमियोपैथिक प्रणाली में पूर्णतया वर्जित है। होमियोपैथिक विधान में दवा को हाथ से छूना भी सर्वथा निषिद्ध है।

होमियोपैथी प्राणाली और व्यवस्था एलोपैथी के साथ कहीं साम्य नहीं रखती। इस शास्त्र के अनुसार प्रत्येक रोग अपनी अलग प्रबलता के रूप में कारण बनकर जीवनी शक्ति पर आघात करता है। होमियो चिकित्सा इस बात का निश्चित ज्ञान रखती है कि किस चुनी गयी औषधि से जीवनीशक्ति पर कैसी प्रतिक्रिया पैदा की जा सकती है। इस प्रतिक्रिया द्वारा ही रोग का शीघ्र और निश्चयात्मक ढंग से दूर होना निर्भर करता है। अतः होमियो चिकित्सा पद्धति से आरोग्य प्राप्त रोगी की जीवनशक्ति पर कभी दुर्बलता नहीं आती।

एलोपैथिक डाक्टरों के मतानुसार किसी रोग के उत्पन्न होने का मुख्य कारण रक्त की बहुलता होना अथवा दूषित होना है। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक लक्षण के विनाश के लिये एक निश्चित दवा की आवश्यकता होती है। अतः एक ही समय में कई दवाओं के प्रयोग की इस पद्धति में परम्परा है। इसके विपरीत होमियो चिकित्सा इस मान्यता पर आधारित है कि शरीर

में उत्पन्न सभी लक्षणों के विनाश के लिये केवल एक दवा का होना जरूरी है, क्योंकि सभी लक्षण एक दूसरे से जुड़कर रोग के आधार का निर्माण करते हैं।

एलोपैथिक चिकित्सा में रोगी की सन्तुष्टि मात्र के लिये ऐसी विपरीत क्रियाशील औषधियों का व्यवहार किया जाता है जिनसे रोग दब जाने के बाद अन्य लक्षणों का शरीर में प्रादुर्भाव हो जाता है। चर्मरोग के लिये इस पद्धति में मलहम इत्यादि बाहरी दवाओं का प्रयोग किया जाता है जिससे भौतिक रूप में रोग दब तो जाता है किन्तु भीतर ही भीतर रोग पनपता रहता है और रोग का समूल विनाश नहीं हो पाता। रोग के पुनः होने पर पुनः मलहम का प्रयोग किया जाता है, किन्तु होमियो चिकित्सा चर्म रोग के कारणों का पता लगा कर उन कारणों को नष्ट करती है जिनसे चर्म रोग उत्पन्न हुआ है।

दवा की सूक्ष्म शक्ति क्रिया के सहारे ही होमियोपैथिक चिकित्सा कार्य करती है। सूक्ष्म की क्रिया वैद्युतिक होती है और यही शक्ति शरीर की सूक्ष्म जीवनी शक्ति के साथ मिलकर रोग को स्थायी रूप से आरोग्य कर शरीर की कार्यावली ठीक कर पाने में समर्थ है। एलोपैथिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा में स्थूल पदार्थ तथा उसकी स्थूल मात्रा द्वारा उत्पन्न वैधानिक क्रिया से रोग वर्तमान में घट जाता है, किन्तु गौण क्रिया के द्वारा उपसर्ग प्रकट हो जाते हैं। स्थूल शक्ति की वैधानिक क्रिया में समस्त औषध लक्षणों तथा रोग के लक्षणों में साम्य नहीं होता। अतः बीमारी स्थायी रूप से कभी दूर नहीं होती।

दवा का सूक्ष्म मात्रा में प्रयोग करना होमियो-चिकित्सा की अन्य विशेषता है। यह प्रणाली होमियो-पैथिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित अणु सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार अणु शक्ति के द्वारा विशाल विस्फोटक शक्ति का आविष्कार सम्भव हो सका उसी प्रकार होमियोपैथिक द्वारा भी दवा के अणुओं की सूक्ष्म विलक्षण शक्ति से मानव शरीर के रोगों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न की गयी है।

होमियोपैथिक चिकित्सा प्रणाली की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है—केवल दवाओं के प्रयोग के द्वारा ही उन रोगों का निदान कर देना जो एलोपैथिक पद्धति के अनुसार केवल शल्य चिकित्सा द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं। एलोपैथिक पद्धति में शल्य चिकित्सा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है, किन्तु होमियोपैथिक पद्धति में शल्य चिकित्सा के लिये कोई स्थान नहीं। इसका कारण है कि होमियोपैथी किसी उत्पन्न रोग के आन्तरिक लक्षण एवं कारण ढूँढने का प्रयास करती है। एलोपैथी में ऊतकों की अभिवृद्धि से उत्पन्न हुये अर्बुद (ट्यूमर) को शल्य चिकित्सा द्वारा काटकर अलग कर दिया जाता है। अर्बुद वृद्धि का कारण दूर न होने से पुनः वही व्याधि उत्पन्न हो जाती है और परिणामतः बार-बार शल्य-चिकित्सा की प्रक्रिया को दोहराना पड़ता है। होमियोपैथी के सम-चिकित्सा विधान के अन्तर्गत उस अर्बुद के बनने के कारणों की जांच कर उस अनावश्यक तथा दूषित शक्ति का समूल विनाश किया जाता है जो ऊतकों की अभिवृद्धि के लिये उत्तरदायी है, जिससे पुनः ट्यूमर न बन सके। इसी प्रकार हृदय, यकृत, आमाशय तथा वृक्क इत्यादि शारीरिक प्रत्यांगों के अनेक आन्तरिक रोग जो एलोपैथिक प्रणाली के अनुसार असाध्य समझे जाते हैं, होमियोपैथिक चिकित्सा द्वारा दूर किये जा सके हैं। यहाँ तक कि पथरी को भी शल्य चिकित्सा के प्रयोग के बिना, होमियोपैथी दवाओं के सहारे नष्ट कर देने का सफल प्रयोग सम्भव हो सका है। छाजन (एक्जिमा) जैसे असाध्य रोग भी होमियो चिकित्सा द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट हो गये हैं।

होमियोपैथिक विधान में रोगी को अत्यधिक धैर्य रखने की आवश्यकता होती है। इस पद्धति में इलाज में समय लगता है, अतः शीघ्र रोग-मुक्ति के अभिलाषी रोगी होमियोपैथी में टिक नहीं पाते और एलोपैथिक पद्धति की ओर भागते हैं, किन्तु शीघ्र ही एक रोग के पूर्ण रूप से

दूर होने से पहले ही दूसरे रोग की जकड़ में आकर पुनः होमियोपैथी की शरण लेते देखे गये हैं।

पोलियो बच्चों में पाया जाने वाला ऐसा रोग है जो बच्चे को जीवन भर के लिए अपाहिज और आश्रित बना देता है। लेकिन आज अपने सफल प्रयोगों के द्वारा होमियो-चिकित्सा ने पोलियो जैसी बीमारी से मुक्त करने की क्षमता भी पायी है। वे बच्चे जो पोलियो के कारण हाथ या पाँव उठाने में असमर्थ रहते हैं, आज होमियो-पैथिक इलाज के कारण स्वयं अपने पैरों पर चल सकने में समर्थ हो सके हैं। होमियोपैथिक दवाओं ने इस प्राकृतिक अभिशाप से नन्हें बच्चों को मुक्ति दिलायी है। डॉ० जगेश्वर नाथ ने पोलियो का 80% प्रभाव होमियो-पैथी चिकित्सा से दूर करने में सफलता पायी है। मैनिन्जाइटिस (सरसाम) बच्चों में अधिकतर पाया जाने वाला भयंकर रोग है। इस रोग से ग्रस्त अधिकतर बाल रोगियों का अन्त मृत्यु ही माना जाता है। आज होमियो-पैथी इस रोग की सफल चिकित्सा का दावा कर सकती है। एलोपैथिक पद्धति से मैनिन्जाइटिस के 80 प्रतिशत रोगी असमय ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं, किन्तु डॉ० जगेश्वरनाथ का अनुभव है कि होमियोपैथिक पद्धति के सम्पर्क में आये 99 प्रतिशत रोगी पूर्ण स्वस्थ हुये हैं और अपनी पूरी आयु जी रहे हैं।

कुल मिलाकर होमियो-चिकित्सा पूर्ण चिकित्सा प्रणाली है। होमियोपैथी के द्वारा अनेक जटिल रोग दूर किये जा सके हैं। आज का जन-मानस इस पद्धति से चिकित्सा कराने के प्रति अत्यन्त जागरूक है और आज के चिकित्सक नये अनुसंधानों तथा प्रयोगों द्वारा इस चिकित्सा को और अधिक परिष्कृत करने में जुटे हैं।

(नलिनी बंसल, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली)।

तुर्की के नगर इस्तंबुल में वायु प्रदूषण इस सीमा तक बढ़ गया है कि इसके परिणाम-स्वरूप बहुत सारे लोगों की मृत्यु का खतरा पैदा हो गया है। तुर्की के डाक्टरों तथा रसायनज्ञों ने एक चेतावनी में कहा है कि यदि शीघ्र ही प्रदूषण रोकने के उपाय न किये गये तो परिणाम भीषण होंगे।

विज्ञान की भाषा--2

डा० शिवगोपाल मिश्र

पहले भारत में विज्ञान की भाषा 'देवभाषा' या संस्कृत थी। कणाद, कपिल, चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, व्याडि, पाराशर आदि ऋषि-मुनि महान विचारक थे। प्रायः सोलहवीं शती तक किसी न किसी रूप में इनकी रचनाओं एवं विचारधाराओं से भारतीय जनमानस उद्वेलित होता रहा। उनकी शब्दावाली अतीत के पर्दे पर प्रतिध्वनित होती रही। चाहे वह कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" के रूप में अथवा पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' हो—पारिभाषिक शब्दों से ओत प्रोत हैं।

भारतीय जनता इन ग्रंथों से पारिभाषिक शब्दावली ग्रहण करके उसे अपनी रुचि के अनुकूल ढालती रही। धीरे-धीरे विज्ञान की भाषा हिन्दी हो गई। संस्कृत से हिन्दी में पदार्पण एक छलांग में नहीं हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश बीच में कड़ी स्वरूप हैं जिनके विपुल साहित्य की जाँच पड़ताल अब भी शेष है।

तात्पर्य यह कि जनता में सोचने समझने की शक्ति एक सर्वथा नवीन भाषा के माध्यम से प्राप्त हो चुकी थी जिसे आज आप खड़ी बोली कहते हैं, उसके अभ्युदय के साथ तो विविध विषयों की व्याख्या में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। किन्तु भारत की दासता ने मानो भाषा को पंगु बना रखा था वेदों तथा पुराणों के अथाह ज्ञान की विवेचना अंग्रेजों ने अपने ढंग से अंग्रेजी में शुरू की। यह सच है कि मैक्समूलर, वेबर, याकोबी आदि ने भारतीयों के समक्ष उस अक्षय भंडार को खोल कर रखा, जिससे वे आँखे मूंदे थे क्योंकि उन पर अंग्रेजी-सभ्यता हावी होने लागी थी। मैं अंग्रेजों की परम ऋणी हूँ कि उन्होंने भारत को विज्ञान की भाषा ढूंढ निकालने में योग दिया।

पहले यहाँ के विज्ञान संस्कृत की शब्दावली पर बल देते रहे, उसके अर्थ बताते रहे, प्राचीन भारत की वैज्ञानिक सम्पत्ति का लेखा जोखा प्रस्तुत करते रहे किन्तु यह अनन्त काल तक नहीं चलने वाला था। विज्ञान में इतनी जल्दी जल्दी सिद्धान्त निकलते और बदलते रहते हैं कि उसे वैसी ही शक्तिशाली भाषा की आवश्यकता होती है—ऐसी भाषा जो उसे निरंतर नये नये शब्द देती चले। उसे तो शास्त्रियों की निरन्तर आवश्यकता होती है विदेशों में यह कार्य वैज्ञानिक स्वयं करता है वह ब्रह्मा विष्णु महेश साथ-साथ होता है। उत्पत्ति, विकास एवं विनाश उसकी लीला होती है।

भारत में खड़ी बोली के उन्नयन के साथ ही कुछ आत्म अभिमान जागा। मुझे भी अवसर मिला कि मैं अपना स्वरूप बदल अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढू। १९ वीं शती के अन्तिम चरण में भारत में कुछ विचारक एवं वैज्ञानिक हुये। आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं जिन्होंने भारतीय वैज्ञानिक परम्परा का इतिहास प्रस्तुत किया। विदशों से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर देश में अपने ढंग से सोचने-विचारने की पद्धति का सूत्रपात हुआ। जिस समय देश में अंग्रेजी साम्राज्य के विरोध उथल पुथल चल रही थी, जिसे गदर की संज्ञा दी जाती है, उस समय यहाँ वैज्ञानिक समितियाँ बन चुकी थीं। अलीगढ़, मुरादाबाद, गाजीपुर में ऐसी समितियाँ थीं। वे देश में वैज्ञानिक विचारों का प्रसार करना चाहती थीं-

किन्तु उसकी भाषा क्या हो, यह तय नहीं हो पा रहा था क्योंकि अंग्रेजियत का बोलबाला था।

इस देश में इसी क्रान्ति की संधि अवस्था में वैज्ञानिक विषयों का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। पहले कलकत्ता, फिर पंजाब, मद्रास और अन्त में उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में विज्ञान का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। प्रयाग में 1894 ई० में विज्ञान की पढ़ाई बी-एस सी० स्तर पर शुरु हुई।

मेरे लिये यह अग्नि परीक्षा की वेला थी। अन्त प्रान्त अंग्रेजी में विज्ञान का अध्ययन कर लेने को भले ही कृतसंकल्प रहे हों किन्तु उत्तर प्रदेश हिन्दी भाषी प्रान्त था अतः यहाँ के विद्यार्थी अपनी भाषा में विज्ञान सीखने के लिये लालयित थे।

मैं "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" इस मूल-मन्त्र की पोषक रही हूँ। मेरे साथ भी यही हुआ। विज्ञान की पढ़ाई भले ही वर्षों तक अंग्रेजी में होती रही हो किन्तु विज्ञान को समझने का कार्य तो हिन्दी के माध्यम से चलता रहा। अध्यापक तथा छात्र समान रूप से अंग्रेजी भावो को अपने मस्तिष्क में हिन्दी में अनूदित करते और संचित करते थे आवश्यकता पड़ने पर पुनः अंग्रेजी में व्यक्त करते थे। अंग्रेजी से हिन्दी तथा हिन्दी से अंग्रेजी की इस अनुवाद क्रिया के कारण मस्तिष्क में जोर पड़ना स्वाभाविक है शिक्षाशास्त्री यह लगातार अनुभव करते रहे कि यदि हिन्दी माध्यम में विज्ञान का शिक्षण किया जाय तो प्रतिभा का प्रयोग हो सकता है। किन्तु यह सब हो कैसे किसी प्रकार हिन्दी में विज्ञान उतारा जाय ?

पाठ्य पुस्तकों की माँग बढ़ती रही। विदेशी लेखकों की पुस्तकें विद्यार्थियों पर लादी जाती रहीं किन्तु उनके मूल्य, उपलब्धि में कठिनाई एवं उन्हें समझने में पग पग पर कठिनाई के कारण विज्ञान के प्रति वितृष्ण उत्पन्न होने लगी। देश के राष्ट्र प्रेमी विद्वानों के लिये यह अभूत पूर्व संयोग था। डा० रघुवीर, महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वानों ने अवसर पाकर पारिभाषिक शब्दों के निर्माण पर बल दिवा। डा० रघुवीर ने संस्कृत शब्दावली की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने हिन्दी भाषा जनता को आश्वस्त किया कि विविध वैज्ञानिक विषयों के लिये संस्कृत से पारिभाषिक शब्दों का निर्माण सम्भव है।

किन्तु जब तक शब्द न बन पावें क्या तब तक के लिये सारा कार्य ठप्प रखा जावे ? नहीं। मध्यम मार्ग था कि अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को उसी रूप में अपनी भाषा में प्रयुक्त करके काम चलाया जावे। यही हुआ भी। काफी समय तक यह खिचड़ी चलती रही। मेरे लिये यह दुखद स्थिति थी। कोई भी भाषा इतने शब्द नहीं पचा सकती। उसे अपनी प्रकृति बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वह या तो अपने अनुरूप शब्दावली विकसित करे या फिर इतने ही शब्द बाहर से ले जिनके बिना काम न चल सकता हो। यहाँ तो क्रिया शब्दों के अतिरिक्त सभी शब्द अंग्रेजी ज्यों के त्यों लिये जा रहे थे। कुछ लोग तो एकवचन बहुबचन का भी ध्यान न रखते। अंग्रेजी का सम्मोहन कुछ लोगों पर हावी रहा। वे हिन्दी को ही बदल देने का आग्रह करने लगे।

डा० रघुवीर के दृष्टिकोण के समान्तर एकमत यह भी था कि सरल शब्दावली का व्यवहार किया जावे। इस 'सरलीकरण' की आड में उर्दू शब्दावली का प्रवेश किया जाने लगा और इस देश में 'हिन्दुस्तानी' का वितण्डावाद ला खड़ा किया गया। वस्तुतः मैंने अनुभव किया कि राजनीति यहाँ भी हावी होने लगी है। मैं इस अंग्रेजी तथा हिन्दी / उर्दू दुहरी भाषा के साथ ताल मेल नहीं पा रही थी।

इस काल में अनेक लेखकों ने हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन पर प्रयोग किये। उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद किया, कुछ नई पुस्तकें लिखीं किन्तु उनकी विषय वस्तु स्वल्प एवं उनका स्तर निम्न रहा। यदि उन्हें मैं कोई सम्मान दे सकती हूँ तो इतना ही कि वे एक वैज्ञानिक भाषा की आवश्यता एवं स्वरूप निर्धारण

के लिये प्रारम्भिक कार्य कर रहे थे। इन पुस्तकों के प्रकाशक कंजूस थे, वे चित्रों को छापने या अच्छी छपाई के प्रति उदासीन थे। शायद वे अपनी पूंजी का दुरूपयोग नहीं करना चाहते थे। जहाँ ऐसी कुत्सित भावना कार्य करती हो वहाँ भला कोई भाषा या साहित्य कैसे फले फूले।

इस देश में अनेक गुरूकुल है जिनमें भारतीय पद्धति से शिक्षा प्रदान की जाती रही है। इनमें जब विज्ञान की शिक्षा दिये जाने का का प्रश्न उपस्थित हुआ तो यह निश्चय किय गया कि हिन्दी ही माध्यम रखा जावे। फल यह हुआ कि जल्दी जल्दी में उच्च शिक्षा के हेतु विज्ञान की पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई। इन पाठय पुस्तकों में पारिभाषिक शब्दावली के व्यवहार की समस्या उठी तो डा० रघुवीर के कोश की ओर ध्यान गया। फल यह हुआ कि संस्कृतनिष्ठ शब्दावली को प्रश्रय मिला। किन्तु विश्वविद्यालयों के शिक्षाशास्त्री इससे संतुष्ट नहीं हुये।

कुछ सार्वजनिक संस्थायें इस संकट काल में मेरी सहायता के लिये आगे आईं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने पारिभाषिक कोश के प्रकाशन की व्यवस्था की, विज्ञान परिषद तथा भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग ने विविध वैज्ञानिक विषयों की शब्दावलियों के हिन्दी समानार्थी शब्दों का संकलन किया। अवश्य ही यह कार्य कुछ खुले दिमाग से हो रहा था। ये संस्थायें संस्कृत की गरिमा को आत्मसात करते हुये कुछ शब्दों की अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति जागरूप रहीं। वे भूत से अधिक वर्तमान और इससे भी अधिक भविष्य के लिये चिन्तित थीं। वे अतिवादी दृष्टिकोण की पोषक नहीं बनना चाहती थीं।

इसका परिणाम अच्छा रहा। कुछ पुस्तकें इस दृष्टि से लिखी गईं कि शिक्षण की तात्कालिक आवश्यकतायें पूरी हों किन्तु भविष्य में वे ही पुस्तकें संशोधित की जा सकें। भाषा के प्रयोग में भी परीक्षण होते रहे। रसायन विज्ञान में सूत्रों की बहुलता रहती है। कुछके सिरफिरों ने उनके लिये हिन्दीकृत रूप भी प्रस्तुत कर दिया।

यह अतिवादी दृष्टिकोण था। इसका विरोध व्यापक रूप से हुआ। शिक्षा के संसार में एक प्रकार की खलबली मची रही जो अंग्रेजी के माध्यम से अध्ययन अध्यापन करने में अपना गौरव समझते थे, वे तो उपर्युक्त मत के घोर विरोधी थे ही, किन्तु वे लोग भी चौकन्ने होने लगे, जो अंग्रेजी माध्यम से अपनी सन्ततियों को शिक्षित बराबर उच्च नौकरियों पर जाने के सपने देख रहे थे। यह बारम्बार आवाज उठाई जाती रही कि अंग्रेजी विश्व की श्रेष्ठ भाषा है जिसमें अधुनातन ज्ञान का भंडार है, उससे सम्पर्क तोड़ने का अर्थ होगा ज्ञान से मुख मोड़ना। किन्तु ऐसी दलीलें अधिक काल तक टिकने वाली नहीं थीं।

देश स्वाधीन हुआ। स्वाधीन भारत में नई उमंग थी हिन्दी राष्ट्र भाषा घोषित हुई फलतः देश के कर्णधारों के मन में भारत के गौरव को बढ़ाने के लिये राष्ट्र भाषा में ही उच्च शिक्षा प्रदान किये जाने पर बल दिया गया।

विज्ञान के शिक्षण का माध्यम क्या हो, इस पर गोष्ठियों की धूम मच गई। अन्त में पारिभाषिक शब्दावली की कमेटी (सन् 1951) बना दी गई जिसमें विविध वैज्ञानिक विषयों के विशेषज्ञों के अतिरिक्त अनेक भाषा वैज्ञानिक भी सम्मिलित थे। इस कमेटी के सदस्य दिल्ली में बैठकर विविध शब्दावलियों के निर्माण में हाथ बटाते रहे। इसको फल अच्छा हुआ। इस प्रकार के विचार विमर्श से जो शब्दावली बनी, उसका भाषा सम्बन्धी आधार सुदृढ़ था। एक मूल से कैसे अन्य शब्द व्युत्पन्न किये जायं, शब्दों का लिंग, वचन, सभी कुछ निर्धारित किया गया। शब्दावलियाँ प्रकाशित होकर देश भर के विद्यालयों एवं विशेषज्ञों के पास सम्मति एवं समीक्षा हेतु भेजी गईं।

लेकिन जैसा कि हर शुभकार्य में होता है, विलम्ब हुआ। शब्दावली को अन्तिम रूप देते देते एक दशक से भी अधिक समय लग गया। सारा देश एक रूपा शब्दावली के अभाव में मनमाने ढंग से शब्दों का व्यवहार

(शेष पृष्ठ 20 पर)

कुरी का जैविक नियन्त्रण

शुकदेव प्रसाद

खेतों में फसलों के साथ आमतौर पर कुछ खरपतवार उग ही आते हैं जिन्हें निराई करके दूर किया जाता है। ये खरपतवार अधिक हानिकारक नहीं होते हैं। लेकिन कुछ ऐसी वनस्पतियाँ जिन्हें हम खरपतवारों की ही श्रेणी में रखते हैं, इतनी तीव्र गति से बढ़ती है कि तमाम उर्वरा जमीन बंजर बन जाती हैं। ऐसे नाशक खरपतवारों से हमें बहुत अधिक आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, जिनका नियन्त्रण कृषि वैज्ञानिकों के लिये एक समस्या है।

इन नाशक वनस्पतियों में कुछ तो बाहर से सजावटी पौधे के रूप में आयीं, लेकिन बाद में ऐसी छायीं कि किसानों के लिये परेशानी की जड़ बन गयीं। ऐसी ही कुछ वनस्पतियों के प्रसार एवं उनके नियन्त्रण की चर्चा यहाँ की जायेगी।

नागफनी जो बनी गले की फाँसी

आस्ट्रेलिया में अमेरिकावासी नागफनी (ओपन्शिया इनरमिस) का प्रवेश 1840 में एक डॉक्टर के हाथों हुआ। उस डॉक्टर ने इसे सजावटी पौधे के रूप में लाकर गमलों में बाँध दिया। थोड़े ही दिनों में गमलों में नागफनी उगाने का फैशन चल पड़ा। फिर जब यह पौधा वहाँ बहुतायत से मिलने लगा तो लोग इसे मेड़ों पर उगाने लगे। वहाँ की जलवायु इसके लिये खाद का काम करने लगी और यह इतनी तेजी से बढ़ने लगा कि 1910 तक यह पौधा करीब 10 लाख एकड़ फार्म एवं चारागाहों को जंगल के रूप में परिवर्तित कर चुका था और प्रतिवर्ष लगभग 1 लाख एकड़ उपजाऊ खेतों पर अपना आधिपत्य जमाता चला गया। कहने का मतलब यह कि देखते ही देखते न मालूम कितनी उपजाऊ जमीन ऊसर और बंजर बनती चली गयी। जहाँ देखिये वहीं ही नागफनी के जंगल। किसे मालूम था कि जो नागफनी सजावट और खेतों की मेड़ों पर बाड़ बनाने के लिये लगाई जा रही है वही एक दिन समस्या बन जायेगी।

चित्र कुरी (लेन्टाना) पहाड़ी इलाकों में बहुत होता है मोड़ूबेट्टा Modubetta तामिलनाडु की 'फ्राग हिले' पहाड़ी पर कुरी की झाड़ियों का निरीक्षण करते हुए लेखक

इसे नष्ट करने हेतु बड़े पैमानों पर कई नुस्खे आजमाये गये जैसे जहरीली गैसों, दवाओं का छिड़काव, नागफनी का कटाव आदि। लेकिन कोई लाभ न हुआ। अन्त में संसार के विभिन्न राष्ट्रों से ऐसे कीड़े मँगाये गये जो केवल नागफनी को ही खाते हों। कीड़े तो बहुत से मँगाये गये लेकिन मुख्य रूप से एक कीड़ा—**कैक्टोब्लासटिक क्वार्टोरम** उपयोगी सिद्ध हुआ। इस कीड़े की इल्लियों (कैटरपिलर्स) हजारों की संख्या में नागफनी के जंगलों में छोड़ी गईं जो कि नागफनी के पौधे के अधिकांश भाग को कुतर कर उसमें प्रवेश कर जाती थीं और धीरे-धीरे नागफनी का पौधा केवल सूखे रेशों के ढाँचे के रूप में परिवर्तित हो जाता था। इसी कीड़े की मदद से पुनः तमाम जंगल खेती करने योग्य बनाये जा सके हैं। इस प्रकार का नियन्त्रण, जो कि उस पौधे के आश्रित जीवों से किया जाय 'जैविक नियन्त्रण' कहलाता है।

लेन्टाना यानी कुरी की झाड़ी : एक समस्या

नागफनी की भाँति कुरी यानी लेन्टाना अंग्रेजों के हाथ भारत आयी सजावटी पौधे के रूप में, लेकिन आज बेतरह इसकी झाड़ियाँ फैली हुई हैं। नीलगिरि और पालिनी पर्वत क्षेत्रों से लेकर उत्तर प्रदेश के तराई भावर क्षेत्र, देहरादून, असम, बिहार आदि राज्यों में कुरी छा गई है। और यह इस कदर छायी है कि खत्म होने का नाम ही नहीं लेती और नाम ले ही क्यों, जब इस पर सूखा, वर्षा, एवं उपजाऊ या बंजर जमीन का कोई असर ही नहीं? हर मौसम और हर जमीन पर यह फलती-फूलती रहती है। इसकी झाड़ियाँ साल भर देखने मिलेंगी। को

कुरी की हरी-भरी झाड़ियों को देखकर पशु इसे खाते भी हैं लेकिन पशुओं के लिये कुरी बहुत घातक है। बड़ी जहरीली वनस्पति है कुरी। इसे खाने के बाद पशुओं को धूप में चमड़ी उतरने का रोग हो जाता है यानी पशुओं की खाल गिरने लगती है। कुरी खाने के बाद मवेशियों को कब्ज हो जाता है और उन्हें सुस्ती मालूम होने लगती है। वे अपने पैरों पर खड़े नहीं हो पाते हैं। इसका इलाज पौष्टिक चारे का सेवन तथा कुरी का न खाना ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुरी दो रूपों में हमें हानि पहुँचाती है। एक तो उपजाऊ जमीन नष्ट करके तथा दूसरे, हमारे मवेशियों में तमाम घातक बीमारियाँ करके।

कुरी के घातक प्रभावों को ध्यान में रखकर इसके नियन्त्रण हेतु वैज्ञानिकों ने बड़ा प्रयास किया। खरपतवार नाशक दवाइयाँ छोड़ी गईं, झाड़ियों को कई बार काटा भी गया, लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। झाड़ियाँ फिर उग आती रहीं।

कुरी नाशक कीड़े की खोज

तमाम रासायनिक पदार्थों के प्रयोग आदि से जब रहत न मिली तब जीव वैज्ञानिक रूप से ही इस पर नियन्त्रण सम्भव हुआ। जो काम प्रयोगशाला की तमाम सुविधाओं के होते हुए वैज्ञानिक न कर सके, वह काम किया एक अवैज्ञानिक ने, सीधे-सादे छोटे तबके के आदमी और अपर प्राइमरी के रिटायर्ड अध्यापक श्री चन्द्रशेखर लेहुमी ने जिनका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। एक अ-वैज्ञानिक ने वैज्ञानिकों को एक सबक सिखाया।

अल्मोड़ा जिले के सतराली पंथ गाँव निवासी श्री लोहुमी जी ने कुरी नाशक कीड़े को खोज निकाला और उसका नाम उन्होंने कुरी का खटमल यानी 'लेन्टाना-बग' रखा। आखिर उन्हें यह बात कैसे समझ में आयी और वे अपनी छोटी सी पूँजी में कैसे इतना सारा कार्य करते रहे? तो उत्तर सुनिये उन्हीं के शब्दों में "सोचता था—जिस तरह आस्ट्रेलिया में नागफनी को नष्ट करने के लिये कीड़ा खोजा गया, उसी तरह यदि कोई कीड़ा कुरी को भी खाकर नष्ट कर देता तो कितना अच्छा रहता।'

लेन्टाना-बग की खोज कथा

और वास्तव में लोहुमी जी ने ठीक वैसे ही कीड़े की खोज की। एक अ-वैज्ञानिक की वैज्ञानिक खोज।

इसकी खोज भी बड़े विचित्र ढंग से हुई। 1966 में उनकी बदली नौकुचियाताल की पाठशाला में हुई जहाँ बहुत पहले वे अध्यापक थे। पहले यहाँ पर लेन्टाना न थी लेकिन इस वार वहाँ पर कुरी जम कर छा गयी थी। किसी आदमी ने उन्हें बताया कि वहाँ से थोड़ी ही दूर भीमताल की चक्की के पास की कुछ भाड़ी सूख गयी है। वहाँ जाकर लोहुमी जी ने कीड़ों को ढूँढने की बड़ी कोशिश की लेकिन कोई कीड़ा हाथ न आया।

अन्त में एक दिन खीझकर उन्होंने डण्डे से भाड़ी को पीटना शुरू किया और भाड़ी पीटते ही मानो चमत्कार हो गया। थोड़ी ही देर में कुछ कीड़े जमीन पर नजर आए। उन्हें वे घर ले आये और पालना शुरू किया। कीड़े जब अधिक हो गए तब उन्होंने कीड़ों को कुरी की भाड़ियों पर छोड़कर परीक्षण करना आरम्भ किया। परीक्षणों से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यही कीड़ा कुरी को समूल नष्ट कर सकता है।

कुरी के अलावा अन्य वनस्पतियों पर भी लोहुमी जी ने लेन्टाना-बग का प्रयोग किया। जब वे 45 वनस्पतियों पर परीक्षण कर चुके तो उन्होंने एक संक्षिप्त टिप्पणी के साथ देहरादून वन अनुसंधान संस्थान को उन कीड़ों को भेज दिया लेकिन वहाँ के वैज्ञानिकों ने उन्हें इस उत्तर के साथ, कि यह कीड़ा कुरी के अतिरिक्त सागवान (टीक) को भी खाता है, निराश किया। लेकिन लोहुमी जी निराश नहीं हुए और उन्होंने अपना परीक्षण जारी रखा।

लोहुमी जी ने कई बार सागवन पर परीक्षण किये और पाया कि यह कीड़ा सागवन को नहीं खाता है। यहाँ तक कि उन्होंने उन कीड़ों को भूखा रखकर परीक्षण किया और हर बार वही परिणाम। लोहुमी जी अपने प्रयोगों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लेन्टाना-बग जिस पौधे पर छोड़ा जाता है। उस पर फूल नहीं आते तथा इन कीड़ों द्वारा छोड़े गये जहरीले विष से पौधा सूख जाता है और अंत में भाड़ी सूख जाती। विशेष बात तो यह है कि यह कीड़ा केवल कुरी को ही खाता है, अन्य वनस्पतियों को छूता भी नहीं। लोहुमी जी ने 267 प्रकार की वनस्पतियों पर इन कीड़ों को छोड़ कर देखा है कि वे किसी वनस्पति को नहीं खाते हैं।

परीक्षण हेतु 1941 मे भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान देहरादून ने आस्ट्रेलिया से इसी कीड़े को मँगाया था, लेकिन यह मानकर कि यह कीड़ा कुरी के साथ ही सागवान को भी खाता है, नष्ट कर दिया गया था। अतः इसी गलतफहमी के शिकार वैज्ञानिकों ने इस बार भी लोहुमी जी को निराश किया था। लेकिन बाद में लोहुमी जी द्वारा कुरी-पालित क्षेत्र का अन्य वनस्पतिविदों ने निरीक्षण किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तव में लोहुमी जी के प्रयोग सही हैं यानी कुरी के अलावा सागवान या किसी और भी वनस्पति को यह कीड़ा नहीं खाता है।

इसकी पुष्टि हेतु भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान दिल्ली ने तीन वैज्ञानिकों का एक निरीक्षण दल गठित किया था और उक्त दल के वैज्ञानिकों (दल के नेता डॉ० एन० सी० पंत, खरपतवार विशेषज्ञ डॉ० बी० एस० मणि, तथा कीट विशेषज्ञ डॉ० (कु० स्वराज्य घई) ने लोहुमी जी के गाँव जाकर कीड़ों का निरीक्षण किया और अंत में लोहुमी जी के प्रयोगों की सत्यता की पुष्टि हुई। और वे देखते ही देखते मशहूर हो गये। अब तो लोग उन्हें 'जीव विज्ञान का रामानुजम्' भी कहने लग गये हैं।

आपकी उपलब्धियों से प्रभावित होकर कृषि विश्व-विद्यालय पंतनगर ने 1,500 तथा श्रीमती गाँधी ने 5,000 रुपये का पुरस्कार आपको प्रदान किया है। वैज्ञानिक सोध परम्परा को बढ़ाने हेतु भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने गत अप्रैल 76 में राजधानी में एक विशेष समारोह आयोजित कर आपको 15,000 रुपये के पुरस्कार (जो संस्थान द्वारा प्रदत्त अब तक का सबसे बड़ा पुरस्कार है) से सम्मानित किया।

जो कार्य बड़े-बड़े वैज्ञानिक न कर पाये वही कार्य श्री लोहुमी जी ने सीमित साधनों एवं अपर्याप्त सुविधाओं के बावजूद भी कर दिखाया धन्य हैं श्री लोहुमी जी और धन्य है उनकी विज्ञाननिष्ठा। उनकी मूक वैज्ञानिक सेवा के नाते हम उनके कृतज्ञ हैं।

चीनी चिकित्सा पद्धति

एक्यूपंक्चर या सुइयों का चमत्कार

देवेन्द्र चन्द्र

क्या आप विश्वास करेंगे कि हाथ की पहली तथा दूसरी उँगलियों के बीच सुई चुभाने से मुँह का दर्द समाप्त हो जाता है अथवा पांव की पहली तथा दूसरी उंगलियों के बीच सुई चुभाने से यकृत की गड़बड़ियाँ दूर हो जाती हैं ? जी हां यह सच है। सुइयां चुभा कर रोगी की चिकित्सा करने की पद्धति या एक्यूपंक्चर चीनी चिकित्सा पद्धति है जिसका उपयोग अब चीन के अतिरिक्त फ्रांस, जापान, अमेरिका, रूस, यूरोप के कुछ देश तथा अब भारत में भी किया जाने लगा है।

एक्यूपंक्चर से चिकित्सा करने वाले चिकित्सक का पहला कार्य होता है कि रोग किस अंग में हुई गड़बड़ी के कारण है। इसके बाद वह रोगी के शरीर की सतह पर उपयुक्त लाइनों तथा उन पर बिन्दुओं का चुनाव करता है जो उस अंग पर प्रभाव डालते हैं। इन चुने हुए बिन्दुओं पर सुइयां चुभाई जाती हैं। ये सुइयां विभिन्न आकारों की तथा विभिन्न धातुओं से बनी होती हैं। ये विभिन्न गहराई तक चुभाई जाती है। चुभाने के बाद या तो तुरंत निकाल ली जाती हैं अन्यथा थोड़े अथवा लम्बे समय के लिये लगी रहने दी जाती हैं। इन्हें हिलाया, घुमाया, ऐंठा या कम्पित किया जा सकता है। चुभाने का ढंग भी रोग पर निर्भर करता है।

चीनी चिकित्सा पद्धति के अनुसार शरीर दो विपरीत ऊर्जाओं—यिन तथा यांग और पांच तत्वों—आग, हवा, पानी, पृथ्वी तथा लकड़ी से बना होता है। यिन पुरुष प्रकृति का तथा यांग नारी प्रकृति का प्रतीक है। एक स्वस्थ शरीर में ये दोनों ऊर्जाएं संतुलित अवस्था में होती हैं। यदि इनमें असंतुलन हो जाये तो रोग उत्पन्न हो जाता है। इनमें असंतुलन बाहरी तथा भीतरी बलों से होता है। बाहरी बल हैं—हवा, ठंड, गर्मी, शुष्कता तथा आर्द्रता और भीतरी बल है—डर, खुशी, गुस्सा, दुःख तथा आश्चर्य। ये बल यिन तथा यांग का संतुलन समाप्त कर रोग उत्पन्न करते हैं।

चीनी चिकित्सक शरीर के अंगों को दो भागों में बांटते हैं—सांग यानी ठोस अंग तथा फू यानी खोखले अंग। ठोस अंग है—हृदय, यकृत, तिल्ली, फेफड़े तथा गुर्दे और खोखले अंग है—आमाशय, छोटी आंत, बड़ी आंत, पित्ताशय तथा मूत्राशय। ठोस अंग यिन के तथा खोखले अंग यांग के प्रतीक हैं। ये अंग युग्मों में या जोड़ों में होते हैं। एक जोड़े में एक अंग यिन होता है तथा दूसरा अंग यांग जैसे गुर्दे तथा मूत्राशय, यकृत तथा पित्ताशय, हृदय तथा छोटी आंत फेफड़े तथा बड़ी आंत आदि।

एक्यूपंक्चर यिन तथा यांग के असंतुलन को दूर करता है। सभी रोग भीतरी वक्षीय तथा उदरीय अंगों से सम्बन्धित होते हैं। ये भीतरी अंग शरीर की सतह पर स्थित कुछ निश्चित रेखाओं तथा उन पर स्थित बिन्दुओं से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी रेखाओं की संख्या 12 तथा बिन्दुओं की संख्या 700 (कुछ के अनुसार 900) है। किसी एक बिन्दु पर सुई चुभोने पर एक से अधिक रोग ठीक हो सकते हैं तथा एक रोग दूर करने के लिये कई

विन्दुओं पर सुई चुभोई जा सकती है। आधुनिक एक्यूपंक्चर प्रणाली में सुई चुभाने के बाद विद्युत धारा भी सुई में प्रवाहित की जाती है।

अब एक्यूपंक्चर का उपयोग आधुनिक चिकित्सा पद्धति में भी किया जाने लगा है। एक्यूपंक्चर एनास्थीसिया शल्यचिकित्सा में बहुत उपयोगी है। शल्य चिकित्सा में इसका प्रयोग सरल, सस्ता तथा अधिक प्रायोगिक है। रोगी बेहोश नहीं होता है तथा शल्य चिकित्सक के साथ सहयोग कर सकता है! मैस्टोइडैक्टोमी (कान के पास की एक अस्थि को निकाल देना) या थायराएडैक्टोमी (थायराएड ग्रंथि को निकाल देना) में शल्य चिकित्सक रोगी के होश में रहने के कारण अनेक जटिलताओं से बच सकता है। थायराएडैक्टोमी में रोगी की आवाज सुनकर वह यह जांचकर सकता है कि रिकरेंट लेरिन्जीयल नर्व (Recurrent laryngeal nerve) को कोई क्षति तो नहीं पहुँची है।

भारत में आल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफमैडीकल सांइसेज में चिकित्सा विज्ञान की इस नई विधा पर अनुसंधान किये जा रहे हैं।

देवेन्द्र चन्द्र
माता मंदिर रोड
काशीपुर—244713
(उ० प्र०)

(पृष्ठ 15 का शेष)

करता रहा। जब शब्दावलियाँ आई तो प्रामाणिक लेखन के लिये अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु क्या यह शब्दावली का कार्य सर्वथा पूर्ण था, नहीं। दुर्भाग्यवश कुछ विषयों की शब्दावलियाँ आज भी अधूरी हैं।

मेरी कहानी तब तब तक अधूरी रहेगी जब तक मेरी सर्वांगीण श्रृंगार नही हो लेता। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब विज्ञान की सभी शाखाओं के छात्र, अध्यापक एवं शोधकर्ता अपने मनोनूकल शब्दावली का व्यवहार करेंगे और उन्हें अपने देश में ही नहीं अन्यत्र भी अपनी भाषा का प्रयोग करते हुये लज्जा नहीं वरन् गर्व का अनुभव होगा।

(क्रमश:)

⊙◎बाल-विज्ञान ◎⊙

गैंडे की कहानी उसी की जुबानी

नरेश चन्द्र 'पुष्प'

बच्चों, तुमने चिड़िया घर में मुझे देखा ही होगा और मेरी नाक पर सींग देख कर तुम खुब हँसे भी होंगे। मेरा नाम गैंडा है।

आज की बात नहीं है। हजारों सालों से ही मैं बड़ा मजेदार जानवर रहा हूँ और लोग मेरी ओर आकर्षित रहे हैं। उस समय मेरी संख्या बहुत बड़ी थी लेकिन अब तो लगातार मेरी संख्या कम होती जा रही है। पहले भारत के प्रायः द्वीप में मेरी संख्या बहुत थी लेकिन अब मैं केवल आसाम में ही रहता हूँ। इस समय आसाम के कँजीरंग के पवित्र और शांत वातारण में हम रहते हैं और हमारी संख्या लगभग 300 है।

मेरा वैज्ञानिक नाम रिनोसेरस यूनीकार्निस है। रीनोसेरस ग्रीक भाषा का शब्द है। यह दो शब्दों से मिल कर बना है। रिनोस का अर्थ नाक और केरॉस का अर्थ सींग होता है। आकार की दृष्टि से मैं संसार का चौथा सबसे बड़ा स्तनधारी प्राणी हूँ अन्य पहले तीन जानवरों में भारतीय और अफ्रीकी हाथी और अफ्रीका का सफेद गैंडा आता है। मैं एक बहुत बड़े आकार का भारी भरकम जानवर हूँ। मेरा शरीर एक दम कवच की तरह होता है। मेरी ऊँचाई साढ़े सांत फुट तक और भार दो टन के लगभग होता है। मेरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मेरे सिर पर नाक के ऊपर एक बड़ी सी सींग। कभी-कभी मेरी सींग बढ़ कर एक फुट के बराबर हो जाती है। वैज्ञानिक लोग मुझे खुब मानते हैं और चीन के लोग तो मेरी सींग का व्यापार करते हैं और मेरी सींग से दवा भी बनाते हैं।

अब मैं तुम्हें जाति-विरादरी की थोड़ी-सी बातें बताता हूँ। इस समय मेरी रीनोशोहाइडी प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इस प्रजाति में भारत और अफ्रीका के रहने वाले मेरे भाई बंधु हैं। पूर्वी देशों में मेरी तीन प्रजातियाँ पाई जाती हैं। (1) रीनोसेरस यूनीकार्निस जाति के भाई-बंधु आसाम में रहते हैं। भारत भर के सभी गैंडे इसी जाति से सम्बन्धित है। मेरी इस जाति के भाइयों के सींग सबसे बड़ी होती है। मेरी दूसरी प्रजाति (2) रीनोसेरस सनडाइकस (जावा जाति) के भाई-बंधु बंगाल, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा और वर्नी के पर्वती क्षेत्रों में रहते हैं। मेरी तीसरी प्रजाति (3) रीनोसेरस सुमार ट्रीनसिस से भाई-बंधु थाइलैण्ड और वर्नी में रहते हैं। इनके पास दो सींगें होती हैं। मेरे एक भाई जो अफ्रीका में रहते हैं उनके दो चचेरे भाई हैं। एक नाम रीनोसेरस साइयस है जो सफेद हैं। दूसरे का नाम रीनोसेरस बाइकार्निस हैं। ये रंग से काले और दो सींगों वाले हैं।

मेरा भारी भरकम शरीर चार छोटी-छोटी टांगों पर टिका रहता है। मेरी खाल आमतौर से नग्न होती है या फिर मेरी खाल पर बहुत छोटे-छोटे पतले-पतले रोयें होते हैं। कभी-कभी मेरे बाल गिर भी जाते हैं। मेरी खाल बड़ी मोटी और गाठ नुमा होती है। मेरी खाल सूख कर इतनी कड़ी और मजबूत हो जाती है कि यदि कोई आदमी मुझे बन्दूक से मारे तो गोली का कोई असर ही नहीं होता। मेरी आंखे काफी छोटी-छोटी होती हैं। कान गोल और मध्यम आकार के होते हैं। मेरे सिर के ऊपर नाक पर एक या दो सीगें होती हैं।

मेरी आयु लगभग सौ वर्ष है। हम लोग अधिकांश 'नाक्टाइल' है यानी राम के समय ही इधर-उधर आते-जाते हैं और दिन मेंएक ही जगह पर बैठे रहते हैं या सोते रहते हैं। हम साकाहारी हैं और घास, पत्तियां, तरकारी, फल और रोटी आदि खाते हैं। हम अपनी सींगों से पेड़ों की पत्तियां तोड़ कर खाते हैं। वास्तव में हम काफी भोले भाले हैं ओर आदमियों से भी दोस्ती करते हैं। हम अपनी ओर से कभी किसी का नुकसान नहीं करते लेकिन जब कोई हमें परेशान करता है या मारता है तब तो हमें गुस्सा आ ही जाता है। तब हम 25-30 मील प्रति घण्टे की रफ्तार से अपने दुश्मन को दौड़ा लेते हैं और कभी-कभी सींग से ठोकर मार-मार कर दुश्मन को मार भी डालते हैं। वैसे हम गायों, बछड़ों, भैंसों और बैलों के साथ दोस्तों की तरह घूमा करते हैं।

आदमी लोग हमें पकड़ने के लिये बड़ा मजेदार खेल खेलते हैं। सच पूछो तो आदमी हमें धोखे से पकड़ता है। आदमी जमीन पर बड़े-बड़े गड्ढे खोद कर उसमें पेड़ों की टहनियां भर देता है। लेकिन हमें वास्तविकता पता नहीं होती और हम पत्तियां खाने के लालच में आगे बढ़ते जाते हैं और गड्डों में गिर कर टहनियों में उलझ जाते हैं। फिर आदमी जाल डालकर हमें पकड़ लेता है।

हमारी सींग को लेकर लोगों में बड़ी गलत धारणायें हैं। अठारहवीं शताब्दी तक लोगों को विश्वास था कि मेरी सींग में विष से भरा प्याला रखा हुआ है। बहुत से लोग यह विश्वास करते थे कि मेरी सींग को कुएं में डालने से पानी मीठा हो जाता है। पुराने जमाने के भारतीय लोग विश्वास करते थे कि मेरी सींग को घर में रखने से भूत-प्रेत घर में नहीं रहते। इन्हीं अन्धविश्वासों के कारण लोग मुझे मारते रहे। मेरा शिकार करते रहे। इसी तरह हमारी संख्या लगातार कम होती गयी और अब तो हमारी संख्या बहुत ही कम है। अगर यही हाल रहा तो निकट भविष्य में हम सब समाप्त हो जायेंगे। अतः आदमियों को मेरी सुरक्षा के लिये प्रबन्ध करना चाहिये।

नरेश चन्द्र 'पुष्प'
न्यू हैदराबाद
केदार नाथ मार्ग
लखनऊ—7

विज्ञान-वार्ता

पृथ्वी को गर्म रखने में बृहस्पतिग्रह का योगदान

अमेरिकी और ब्रिटिश भूगर्भ-शास्त्रियों के अनुसार बृहस्पति ग्रह पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध को, जो विगत 10 लाख वर्षों में कम से कम 8 बार हिमयुग से गुजर चुका है, बीच-बीच में गर्म करने में बहुत सहायक रहा है।

इन वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि बृहस्पति ग्रह का यह प्रभाव पृथ्वी के वायुमण्डल पर न पड़ता तो पृथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध सम्भवत: सदैव के लिए हिमयुग की अवस्था में रहता।

लेमोण्ट डोहर्टी बेधशाला के वैज्ञानिक डा० जेम्स मेज का कहना है कि बृहस्पतिग्रह की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी को अपनी ओर खींचती है जिसके कारण पृथ्वी की कक्षा कुछ समय के लिए गोलाकार न रह कर अण्डाकार हो जाती है तथा कुछ समय बाद यह कक्षा पुन: पूर्ववत हो जाती है। जिस अवधि से पृथ्वी की कक्षा अण्डाकार रहती है, पृथ्वी सूर्य के अधिक निकट रहती है तथा उसे सूर्य का अपेक्षाकृत अधिक ताप सुलभ रहता है। इसके अलावा, विशालकाय बृहस्पतिग्रह के गुरुत्वाकर्षण प्रभाव के कारण ही पृथ्वी के ध्रुव कुछ हद तक सूर्य की ओर झुके रहते हैं। जब यह ध्रुव सूर्य की ओर झुके न रह कर ऊर्ध्वाकार स्थिति में होते हैं, उस समय उत्तरी ध्रुव को सूर्य का कम प्रकाश प्राप्त होता है तथा वहाँ हिम एकत्र होने लगता है।

यद्यपि पृथ्वी तथा सौरमण्डल के अन्य ग्रहों का गुरुत्वाकर्षण एक दूसरे को प्रभावित करता है, परन्तु अन्य ग्रहों की तुलना में बृहस्पतिग्रह का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी को सबसे अधिक प्रभावित करता है। थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से सौरमण्डल के प्रत्येक ग्रह की कक्षा में बार-बार अस्थायी परिवर्तन होता रहता है और इस प्रकार सौरमण्डल के सभी ग्रहों की स्थिति एक दूसरे के सन्दर्भ में थोड़ी-बहुत बदलती रहती है।

इन वैज्ञानिकों ने हिन्द महासागर के तल में दो स्थानों पर दो पोली छड़ें प्रविष्ट कर वहाँ की भीतरी तलछट बाहर निकाली और उसकी जाँच की। समुद्र तल के अन्दर से निकाली गई इस सामग्री से वह पृथ्वी का पिछले 4,50,000 साल तक के मौसम का इतिहास जानने में समर्थ हो गये हैं। इस सामग्री के अध्ययन से वह पृथ्वी की कक्षा में होने वाले परिवर्तनों और हिमयुगों के अवतरण के मध्य ताल-मेल स्थापित करने समर्थ हो गये हैं।

पृथ्वी की कक्षा में तीन बार महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। एक परिवर्तन हर 1,00,000 वर्ष बाद, दूसरा परिवर्तन, हर 41,000 वर्ष बाद तथा तीसरा परिवर्तन हर 23,000 वर्ष बाद होता है। पृथ्वी पर जो भी बड़े हिमयुग अवतरित हुये हैं वह लगभग 1,00,000 वर्ष के अन्तर से हुए हैं। इस बीच छोटे-छोटे हिमयुग या गर्म मौसम भी आते रहे हैं।

सौरमण्डल में, सूर्य की गोलाकार परिक्रमा-पथ से हट कर अण्डाकार परिक्रमा-पथ पर आने और पुनः अपनी पूर्व कक्षा को प्राप्त करने में पृथ्वी को लगभग 1,00,000 वर्ष का ही समय लगता है। जब पृथ्वी की कक्षा अधिक अण्डाकार हो जाती है तो उसकी कक्षा सूर्य के अधिक निकट से गुजरने लगती है। इस स्थिति में पृथ्वी के वाह्य वायुमण्डल को सूर्य-प्रकाश अधिक परिमाण में प्राप्त होता है और वायुमण्डलीय प्रक्रिया के फलस्वरूप पृथ्वी का मौसम अपेक्षाकृत अधिक गर्म हो जाता है।

दूसरे चक्र में, पृथ्वी की धुरी के झुकाव में परिवर्तन आता है। पृथ्वी अपनी धुरी की एक प्रक्रिया 24 घण्टों में पूरी करती है। लेकिन, उत्तरी ध्रुव की स्थिति सूर्य के दिशा के सन्दर्भ में 90 अंश की नहीं रहती। पृथ्वी पर बृहस्पतिग्रह के प्रभाव के कारण, ध्रुव कई वार सूर्य की ओर अधिक झुके रहते हैं।

तीसरे चक्र में, जो 23,000 वर्ष का होता है, सबसे महत्वपूर्ण बात यह होती है कि वर्ष के अमुक माह में सूर्य के सन्दर्भ में पृथ्वी की स्थिति क्या रहती है? उदाहरणार्थ, जनवरी में पृथ्वी सूर्य से निकटतम है जिसका फल यह होगा कि उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकाल अपेक्षाकृत कम ठण्डा रहेगा। लेकिन, अब से 11,000 वर्ष बाद पृथ्वी जुलाई माह में सूर्य से निकटतम रहेगा। तब, उत्तरी गोलार्द्ध में गर्मी का मौसम बहुत गर्म रहेगा तथा शीत काल में भयंकर सर्दी पड़ेगी।

उत्तरी गोलार्द्ध इस समय अन्तरहिमनद युग में गुजर रहा है। दूसरे शब्दों में, मौसम अपेक्षाकृत गर्म है। सबसे अन्तिम हिमनदों ने 14,000 वर्ष पूर्व पिघलना शुरू कर दिया था। 7 लाख वर्षों की अवधि में कम से कम 8 बड़े तथा कई छोटे हिमयुग आ चुके हैं।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 9
सं० 2034 विक्र०
सितम्बर 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

सम्पादकीय

केन्द्रीय सरकार ने वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद (सी.एस.आई.आर.) को पुर्नगठित करने का निर्णय लिया है। योजना के अनुसार कुछ राष्ट्रीय अनुसन्धानशालाओं को उन मंत्रालयों के अधीन कर दिया जायेगा जिनसे उनका सीधा सम्बन्ध है। मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की घोषणा के अनुसार ऐसा इस दृष्टि से किया जा रहा है ताकि उपलब्ध साधनों का सम्प्रयुक्त अनुसन्धान के लिये समुचित तथा अधिक प्रभावी उपयोग किया जा सके तथा अनुसंधानशालाओं में किये जा रहे कार्यों को राष्ट्र के विकास की आवश्यकताओं के संदर्भ में लगाया जा सके। अभी तो यह नहीं बताया गया है कि कितनी और कौन कौन सी अनुसन्धानशालायें सी. एस. आई. आर. से पृथक की जायेंगी पर यह समझा जाता है कि लगभग 28 अनुसन्धानशालायें व संग्रहालय विचाराधीन हैं। पुनर्गठन को कार्यान्वित करने के पूर्व सी. एस. आई. आर. की शासकीय समिति द्वारा इस आशय का प्रस्ताव पारित किया जायगा जिसमें अनुसंधानशालायें मंत्रालयों तथा स्वायत्त संस्थायें जैसे आइ.सी.एम.आर. अथवा आइ.सी.ए. आर. को सौंप दी जायेंगी। इस अधिघोषणा की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई है। वरिष्ट वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह पग प्रभावी शोधकार्य के लिये आवश्यक स्वायत्तता को समाप्त कर देगा। उनका कहना है कि मंत्रालयों से सम्बद्ध हो जाने पर स्वायत्तता रह ही नहीं सकती। उनका यह विचार काफी हद तक सही भी है। अधिकाधिक शासकीय नियंत्रण से स्वतंत्र शोध कार्य में बाधा आ सकती है। सी. एस. आई. आर. की शासकीय समिति को अपना विचार व्यक्त करने का अवसर मिलना चाहिये और देश के वरिष्ट तथा उच्चकोटि के वैज्ञानिकों की सम्मति ली जानी चाहिये कि ऐसा करना क्या शोधकार्य की प्रगति एवं हित में होगा।

इस प्रकार के पुनर्गठन की परिकल्पना 1970 में शासकीय सुधार आयोग के सम्मुख आया था परन्तु इस पर कोई निर्णय न लेकर उसे अनिश्चित काल तक के लिये स्थगित कर दिया गया था। पुनर्गठन के पश्चात् राष्ट्रीय अनुसन्धानशालाओं तथा अन्य संस्थाओं के मध्य तालमेल किस प्रकार का होगा यह नहीं ज्ञात है। ऐसी स्थिति में पुनर्गठन के पूर्व इन्डियन नेशनल सांइस एकेडमी, सी. एस. आई. आर, आई. सी. एम. आर. आई. तथा नेशनल एकेडमी आफ साइंसेस आदि संस्थाओं तथा वैज्ञानिकों की राय ले लेना चाहिये ताकि बाद में होने वाली कठिनाइयों का पूर्वमूल्यांकन किया जा सके।

सर जेम्स जीनस्

डा० सुरेश गर्ग

विज्ञान के गूढ़ एवं जटिल सिद्धान्तों को जन-साधारण तक सरल भाषा में पहुंचाने के लिये व उनकी विज्ञान में रुचि जागृत करने के लिये जैम्स जीनस् का नाम सदैव आदरपूर्वक लिया जाता है। शिक्षा से गणितज्ञ होते हुए सर जेम्स का भौतिकी एवं खगोल विज्ञान में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अब से सौ वर्ष पूर्व 11 सितम्बर 1877 को जेम्स होपवुड जीनस् का जन्म लंदन के एक शिक्षित परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री विलियम टुलोक जीनस् संसदीय पत्रकार थे और उन्होंने वैज्ञानिकों की जीवनियों पर दो पुस्तकें भी लिखी थीं। बालक जेम्स शैशवकाल से ही बड़े तेज थे। 3 वर्ष की आयु में ही वह घड़ी में समय देखकर बता देते थे। लंदन के प्रसिद्ध टाइम्स अखबार के गूढ़ लेखों को वे बचपन में ही पढ़ लेते थे। अच्छे छात्र होने के कारण उन्हे ट्रिनिटी कालेज के कैम्ब्रिज में प्रवेश मिल गया जहां से उन्होंने 1898 में गणित में स्नातक उपाधि प्राप्त की। इसके उपरान्त 1 वर्ष तक उन्होंने कैवेंडिश प्रयोगशाला में भौतिकी का अध्ययन किया। सन् 1900 में गणित में ट्राइपोस के द्वितीय भाग में प्रथम श्रेणी प्राप्त की। इसी के साथ उन्हें खगोल व प्रकाशिकी में आइज़क न्यूटन छात्रवृत्ति मिली व 1901 में गणित में शोध कार्य के लिये स्मिथ पुरस्कार प्राप्त हुआ इसके बाद क्षय रोग से ग्रस्त हो जाने पर उनके गणित के अध्ययन में व्यवधान पड़ा किन्तु 2 वर्ष में सेनेटोरियम के इलाज से पूर्व स्वस्थ हो गये एवं 1904 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित के व्याख्याता नियुक्त हुए। इसी वर्ष उन्होंने सैद्धान्तिक विज्ञान में अपना प्रथम प्रमुख योगदान "गैसों का गतिकीय सिद्धान्त" प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने अणुओं की गति से संबंधित मैक्सवेल के नियम को गणित द्वारा प्रतिपादित किया था।

1905 से 1909 तक जेम्स जीनस् अमेरिका के प्रिंसटन विश्वविद्यालय में व्यवहारिक प्राध्यापक रहे। इस बीच उन्होंने 'विद्युत एवं चुम्बकत्व के गणितीय सिद्धान्त' का प्रकाशन किया। 1910 से 1912 तक वे कैम्ब्रिज में गणित के स्टोक्स् व्याख्याता रहे। इस कार्य-काल में उनका ध्यान विकिरण की ओर भी गया और उन्होंने अणुशक्ति के विषय में सामान्य जन-भाषा में लिखा उन्होंने विकिरण के अन्य पहलुओं यथा विकिरण एवं मुक्त इलेक्ट्रॉन के बीच पारस्परिक क्रिया पर भी सुगम्य भाषा में लिखा और इन्हीं पर आधारित उनकी पुस्तक 'विकिरण एवं क्वांटम सिद्धान्त' 1914 में प्रकाशित हुई। 1914 से 1928 के बीच जेम्स जीनस् ने अपने गणितीय ज्ञान का उपयोग खगोल विज्ञान के अध्ययन में लगाया एवं महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किये। उन्होंने तीव्रगति से-प्रचक्रणी पिंडों का, विशेषत: अपकेन्द्रबल के प्रभाव से उनके खण्डन की विधियों का अध्ययन किया। सौर परिवार के उत्पत्ति के लिये उन्होंने ज्वारीय (टाइडल) सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिससे सौ वर्ष पूर्व प्रतिपादित फ्रांसीसी खगोलज्ञ लाप्लास की संकुचन नीहारिका परिकल्पना गलत सिद्ध हुई। जेम्स जीनस् के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य के पास से निकलते हुए तारे के

गुरुत्वीय- कर्षण (ग्रेविटेशनल पुल) के द्वारा सूर्य से खिंचे गर्म सौर द्रव्य से हुई है। इसी प्रकार उन्होंने यह सुझाव दिया कि युग्म तथा वहुक तारे एक ही द्रव्य के विखण्डन से उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने तारों की गति पर गुरुत्वीय बल के प्रभाव एवं युग्म तारों, सर्पिल निहारिकाओं, वृहत् एवं वामन तारों की उत्पत्ति एवं प्रकृति के सिद्धान्त प्रतिपादित किये। उन्होंने यह सिद्ध किया कि सभी तारों की गतिज उर्जा समान होती है। छोटे तारे तेजी से घूमते हैं जबकि बड़े तारे धीरे घूमते हैं। 1819 में उन्होंने ब्रह्मांडोत्पत्ति एवं तारकीय गतिकी की रचना की। 1924 से 1946 तक वे 'रायल इंस्टीट्यूशन' में खगोल विज्ञान के प्राध्यापक रहे और 1923 से 1944 तक कैलीफोर्निया की माउंट विलसन वेधशाला में शोध सहयोगी रहे। सन् 1928 में उन्होंने यह धारणा व्यक्त की कि द्रव्य अत्यन्त मंद गति से निरंतर निर्मित होता रहता है। इस धारणा को अब टामस गोल्ड एवं फ्रेड हायल जैसे खगोलज्ञों ने अपने योगदान से दृढ़ सिद्धान्त का रूप दिया है।

अपनी मौलिक शोध के अतिरिक्त भौतिकी, आपेक्षिकी, क्वांटम तथा तरंग यांत्रिकी व ब्रह्मांडोत्पत्ति के अनेक पहलुओं एवं उनके दार्शनिक प्रभाव के प्रसार में भी सर जेम्स ने अपनी योग्यता का परिचय दिया। 1929 में प्रकाशित उनकी पुस्तक "यूनिवर्स एराउंड अस' अपनी बोधगम्यता एवं विषय के सरल प्रतिपादन के कारण सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों में आ गई। इसी प्रकार उनकी मिस्टीरियस यूनीवर्स (अद्भुत ब्रह्मांड) (1930) 'विज्ञान की नई पृष्ठभूमि' (1933) तथा 'समय एवं अंतरिक्ष के बीच (1934) (थ्रू स्पेस एण्ड टाइम) भी अत्यधिक प्रसिद्ध हुई।

सर जेम्स ने बड़ी सरल भाषा और उपमाओं में अपनी बात समझाई है। पृथवी की आयु और मनुष्य के पृथ्वी पर जीवन काल के विषय में उन्होंने लिखा है कि एक डाक टिकिट लीजिये और इसे एक पेनी के सिक्के पर चिपकाइये। फिर क्लेयोपेट्रा की सुई (मिश्र का एक पुराना स्तम्भ चिन्ह जो 69½ फुट ऊंचा है और अब लंदन में टेम्स के किनारे स्थित है) पर चढ़कर पेनी को उस पर इस तरह रख दीजिये जिससे डाक टिकिट वाली सतह ऊपर रहे। अब यदि पूरी संरचना की ऊंचाई को पृथ्वी के आरम्भ से अब तक का समय माना जाये तो पेनी एवं डाक टिकिट की मोटाई मिलकर उतना समय है जब से मनुष्य पृथ्वी पर रह रहा है और डाक टिकिट की मोटाई वह काल है जब से मनुष्य ने सभ्यता सीखी है। अपने दार्शनिक विचारों में उन्होंने एक सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार किया है जिसे उन्होंने 'ब्रह्मांड के महान वास्तुविद' की संज्ञा दी है।

विज्ञान के बाद संगीत में जेम्स की प्रगाढ़ रुचि थी। उन्हें आरगन बजाने का बड़ा शौक था। वह अकेले में अक्सर तीन से चार घन्टे तक भी आरगन बजाते थे। 1937 में वे 'रायल अकादमी आफ म्युजिक' के एक निदेशक बने और उसी वर्ष उन्होंने 'विज्ञान व संगीत' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें संगीत के वैज्ञानिक पहलुओं का विषद विवरण था। उनका विवाह 1907 में शारलोट मिचेल से हुआ था, किन्तु 1934 में शारलोट का देहांत हो गया। 1935 में उन्हों ने अपना दूसरा विवाह सूसी हाक से किया जो संगीत में दक्ष थीं।

सर जेम्स उन मेधावी व सौभाग्यशाली वैज्ञानिकों में से थे जिनकी प्रतिभा को आरम्भ से ही मान्यता मिली थी। सन् 1906 में 28 वर्ष की अल्प आयु में ही वे रॉयल सोसायटी के फैलो चुन लिये गये थे। 1909 में वह रॉयल एस्ट्रॉनोमिकल सोसायटी के फैलो व 1925-27 में इसके अध्यक्ष चुने गये। सन् 1928 में उन्हें सर की उपाधि से अलंकृत किया गया। वे 'ब्रिटिश एसोसियेशन फॉर एडवांसमेंट ऑफ साइन्स' के अध्यक्ष 1934 में व 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के जुबली वर्ष (1937-38) में अध्यक्ष चुने गये। सन् 1939 में वे आर्डर ऑफ मेरिट के लिये चुने गये। अमेरिका की 'नेशनल अकादमी ऑफ साइंसेज' के वे विदेशी सदस्य थे। उन्हें रॉयल सोसायटी के रॉयल पदक (1919), रॉयल

(शेष पृष्ठ 24 पर)

श्रव्य-प्रदूषण

गणेश दत्त पाण्डेय

मनुष्य के पिछले हजारों वर्षों के पृथ्वी पर निवास करने के कारण वातावरण में अनेकों ऐसे परिवर्तन हुए हैं जो उसकी गतिविधियों द्वारा जनित हुए हैं, परन्तु इधर कुछ एक वर्षों में विशेषकर जब से 'औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ है, मानविक गतिविधियों ने वातावरण को अत्यधिक प्रभावित किया है। औद्योगिक प्रदूषण ने मानव के निवास योग्य भूमंडल को प्रभावित किया है, और अब 'शोर' भी प्रदूषकों की कतार में शामिल हो गया है।

शोर क्या है ?

प्रचलित परिभाषा के अनुसार—'शोर एक अनचाही ध्वनि है।'

कोई भी ध्वनि जब वह मानविक क्रियाओं में विघ्न उत्पन्न करती है शोर के अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुतः शोर और ध्वनि में मुख्य अन्तर केवल तीव्रता का होता है।

शोर भी अमेरिका की रा० वि० अकादमी द्वारा-प्रदूषकों को दी गई निम्न परिभाषा के अन्तर्गत आता है—"कोई भी अवांछित (अनचाहा) परिवर्तन जो वायु की भौतिक, रासायनिक या जैविक विशेषताओं में घटित हो और जिसका प्रभाव मानव पर पड़े।"

शोरमापन—डेसिबल

ध्वनि की तीव्रता तथा ऊर्जा में परस्पर सम्बन्ध है, और तीव्रता का परास अत्यधिक है। उदाहरण मानव आवाज की तीव्रता केवल 10^{-9} वाट होती है जबकि एक रॉकेट इन्जिन की तीव्रता 10^{7} वाट साइरन होती है। अतः ध्वनि तीव्रता या शोर मापन में अत्यधिक छोटी व बड़ी राशियों के प्रयोग से होने वाली असुविधा, के निवारण हेतु एक लघुगणक मापन का सहारा लिया गया है। शोर के मात्रक डेसिबल को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है—

तीव्रता (डेसिबल में) = 10 × लघु 10
(दी हुई ध्वनि की शक्ति/मुश्किल से सुनी जा सकने वाली ध्वनि की शक्ति)

इस पैमाने के अनुसार मधुरतम सुनी जा सकने वाली ध्वनि की तीव्रता 0 (शून्य) निर्धारित की गई है। सारणी (1) में विभिन्न ध्वनि स्रोतों की तीव्रता डेसिबल में प्रदर्शित की गई है।

सारणी—1

विभिन्न स्रोतों से उत्पन्न ध्वनियों की तीव्रता

स्रोत	ध्वनि तीव्रता (डेसिबल)	साधारण मनुष्य द्वारा अनुभव किया जाने वाला ध्वनि स्तर
फुसफुसाहट	15-20	शान्त
धीमा रेडियो	35-40	सामान्य तेज
बातचीत	60-	सामान्य तेज
मोटर साइकिल (25 फीट दूर)	70-90	तेज
जेट इंजन	150	दर्दीला
रॉकेट	180	दर्दीला घातक

शोर के विभिन्न स्रोत

वर्तमान सभ्यता में शोर के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

1—उद्योग धंधे व मशीनें

2—परिवहन (स्थल व वायु)

3—मनोरंजन के साधन व सामाजिक क्रिया कलाप।

औद्योगिक शोर मुख्यतयः स्थानीय होता है और इससे कारखानों के मजदूर विशेषकर प्रभावित होते हैं। इसके प्रभाव सर्वाधिक गंभीर होते हैं। सारिणी (2) में एक कारखाने में अहानिकर सहनशील शोर स्तर प्रदर्शित किया गया है—

सारणी—2

उम्र (वर्षों में)	सर्वाधिक अहानि कारक शोर स्तर (डेसीवल)
30 से कम	96
30-45	88
45-50	84
50-60	80

परिवहन शोर का विस्तार अधिक होता है और मुख्यतयः बड़े शहरों के लाखों निवासी प्रभावित होते हैं। यह शोर का सर्वाधिक स्थाई रूप है और 10 डे० प्रति दशक के हिसाब से इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। परिवहन शोर की गंभीरता निम्न सर्वेक्षण रिपोर्ट से स्पष्ट है—

लंदन में कुछ समय पूर्व किए गए सर्वेक्षण में लोगों ने जिस एक कारक को हटाने की सर्वाधिक सिफारिश की वह है—'शोर' एक दूसरे सर्वेक्षण से पता चला है कि लंदन के ही 'हीथ्रो' हवाई अड्डे के करीब रहने वाले व्यक्तियों में मानसिक रोगों की बहुलता है।

तीसरी श्रेणी के शोर के विषय में अत्यधिक-विविधता है। एक ध्वनि जो एक मनुष्य के लिए आनन्द दायक है दूसरे के लिए 'शोर' सिद्ध हो सकती है। ऐसा मानव स्वभाव की विविधता के कारण है।

शोर के दुष्प्रभाव

शोर मानवी क्रिया कलापों में 3 प्रकार से बाधक है :—

1—ध्वनि श्रवण स्तर पर—यह ध्वनि के सामान्य श्रवण की प्रक्रिया में बाधक है।

2—प्राणि वैज्ञानिक स्तर पर—यह शरीर की सामान्य कार्यिकी में अवरोधक है।

3—मानव आचरण के स्तर पर—यह मनुष्य के सामान्य सामाजिक आचरण व क्रिया को प्रभावित करता है।

तीव्र शोर में अधिक समय तक रहने पर कानों की श्रवण क्षमता की आंशिक या पूर्ण हानि संभव है। 'मारबर्ग यूनिवर्सिटी हॉस्पिटल ऑफ न्यूक्लियर मेडिसिन' के प्रो० ग्रल के अनुसार 150 डेसिवल तीव्रता की ध्वनि से मनुष्य एक ही बार में बहरा हो सकता है। तथा 155 डे० की ध्वनि त्वचा को जला सकती है।

निरन्तर शोर में रहने से श्रवण क्षमता ह्रास के साथ ही मानसिक तनाव में वृद्धि होती है। शोर रक्त में हॉरमोनों की मात्रा को प्रभावित करता है, जो आगे चल कर बढ़ी हुई हृदय गति, रक्तवाहिनी संकुचन, आहार नाल की गड़बड़ियाँ तथा पुतलियों के प्रसार को जन्म देते हैं। शोर से हृदय, मस्तिष्क व यकृत प्रभावित होते हैं और कुल मिलाकर शारीरिक कार्य क्षमता का स्तर नीचे गिर जाता है।

एक प्रयोग में कुछ खरगोशों को निरन्तर शोर में रखने पर उनके रक्त में कोलेस्टरॉल की मात्रा में वृद्धि पाई गई है।

शोर का मनुष्य के आचरण पर प्रभाव बहुमुखी है तथा इसका निश्चय करना भी एक कठिन कार्य है। शोर के कारण मनुष्यों में तनाव, कुण्ठा, मानसिक रोगों में वृद्धि आदि जन्म लेते हैं तथा भावनात्मक आचरण में मनुष्य हिचकिचाहट अनुभव करता है।

शोर का नियंत्रण

शोर नियंत्रण एक जटिल समस्या है क्योंकि इसके निवारण के लिए मनुष्यों को तमाम आधुनिक सुविधाओं का परित्याग करना पड़ सकता है या उनकी संख्या में कमी करनी पड़ सकती है।

सामान्यत: शोर के 3 कारक होते हैं—1—ध्वनि स्रोत 2—ध्वनि पथ 3—ध्वनि ग्राहक अंग। अतः इन सभी का नियंत्रण करके शोर को घटाया जा सकता है। यद्यपि ध्वनि स्रोतों की संख्या घटाना व्यावहारिक नहीं है फिर भी कानून से अत्यधिक शोर करने वाले स्रोतों जैसे अतिस्वन विमान आदि का प्रचार-प्रसार रोक देना चाहिए। इसके अतिरिक्त कारखानों की प्रौद्योगिकी को विकसित करके, उपयुक्त मशीनों के सही रखरखाव से भी शोर कम किया जा सकता है। कारखानों आदि में ध्वनि शोषक पदार्थों जैसे, लकड़ी, ऊन आदि के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिए। तकनीकी दृष्टि से भी ध्वनि को विपरीत दिशा में मोड़ा जा सकता है जैसे जेट इंजन के निष्कासन पाइप को ऊपर मोड़कर (आकाश की ओर)।

मानव कर्णों को शोर से बचाने के लिए भी कान के प्लगों, मफलरों आदि का प्रयोग करना चाहिए, तथा अत्यधिक शोर में काम करने वाले श्रमिकों के लिए 'पाली' व्यवस्था होनी चाहिए।

राष्ट्रीय स्तर के प्रयास की आवश्यकता

सरकार को भी शोर प्रदूषण की समस्या पर गंभीरता से विचार करना चाहिए और औद्योगिक मजदूरों की इस खतरे से बचाने के लिए उपयुक्त प्रयास करने चाहिए। इस काम में मजदूर, मालिक तथा सरकार तीनों का सहयोग अपेक्षित है। क्योंकि श्रवण क्षमता ह्रास से न केवल मजदूर का अहित होता है अपितु यह आगे चलकर कारखाने में घटी कार्य क्षमता तथा दुर्घटना तक का कारण बन सकता है।

सूचना

गत वर्षों की भांति हमने विज्ञान का एक विशेषांक निकालने की योजना बनाई है। इस बार का विशेषांक **'कृषि एवं उद्योग विशेषांक'** होगा। हमारे पिछले विशेषांकों को पाठकों ने काफी सराहा है जैसा कि आये हुये पत्रों तथा विशेषांकों की बिक्री से स्पष्ट था। हम चाहते हैं कि हमारा यह विशेषांक भी पाठकों को पसन्द आये। हम पाठकों व लेखकों से अनुरोध करते हैं कि वह अपनी रचनायें हमारे कार्यालय में भेजने का कष्ट करें। रचना के साथ काली स्याही से बना चित्र होगा तो हम उन चित्रों को भी प्रकाशित करेंगे। यह विशेषांक जनवरी में निकलेगा। आपकी रचना यदि 31 अक्तूबर तक हमारे पास पहुंच जाती है तो हमें अपनी योजना को आकार देने में सफलता मिलेगी।

सम्पादक

प्रकाश नहीं होता है। लेसर युक्तियों से निकलने वाला प्रकाश **अवरक्त** या **अदृश्य प्रकाश** होता है। अब तो ऐसी युक्तियों का विकास भी किया जा रहा है जिनसे लेसर प्रकाश की तरह ही **पराबैंगनी या तथा-कथित काला** प्रकाश, **एक्स किरणें, गामा किरणें** भी निकलने लगेंगी।

लेसर का सिद्धांत :

हम सभी इस तथ्य से भली भांति परिचित हैं कि पदार्थ परमाणुओं से बना होता है। परमाणु के केन्द्र पर उसका लगभग समस्त द्रव्यमान केन्द्रित होता है जिसे परमाणु का **नाभिक** कहते हैं। इस नाभिक के चारों ओर विभिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते रहते हैं। प्रत्येक कक्षा में घूमने वाले इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा निश्चित होती है। जब एक इलेक्ट्रॉन बाहर से ऊर्जा प्राप्त करता है तो वह उत्तेजित हो कर उच्च ऊर्जा वाली कक्षा में पहुंच जाता है। इस प्रकार की क्रिया में इलेक्ट्रॉन ऊर्जा का अवशोषण करता है और इलेक्ट्रॉन को **उत्तेजित अवस्था का इलेक्ट्रॉन** कहते हैं। उत्तेजित अवस्था में इलेक्ट्रॉन अधिक समय तक नहीं ठहर सकता है अत: वह अपनी सामान्य या मूल अवस्था में लौटने का प्रयास करता है। जब वह अपनी मूल अवस्था में लौटता है तो अवशोषित ऊर्जा का उत्सर्जन कर देता है। उत्सर्जित ऊर्जा का मान उत्तेजित अवस्था एवं मूल अवस्था की ऊर्जाओं के अन्तर के तुल्य होता है। यहाँ यह निश्चित नहीं है कि उत्तेजित अवस्था में इलेक्ट्रॉन ऊर्जा का उत्सर्जन कब करेगा? उत्तेजित इलेक्ट्रॉन तत्काल ही ऊर्जा का उत्सर्जन कर सकता है, या कुछ देर उत्तेजित अवस्था में ठहर कर ऊर्जा का उत्सर्जन कर सकता है या बहुत लम्बे समय के पश्चात् वह ऊर्जा का उत्सर्जन कर मूल अवस्था में लौटे। लेकिन यदि हम किसी प्रकार से पदार्थ के बहुत से परमाणुओं को उत्तेजित अवस्था में पहुंचा दें (विद्युत् क्षेत्र में रख कर या पदार्थ पर तीव्र फ्लेश लाइट गिरा कर इत्यादि) एवं उत्तेजित अवस्था में ही इन इलेक्ट्रॉनों को इतनी ऊर्जा और प्रदान करावें, जितनी कि उन्होंनें मूल अवस्था से उत्तेजित अवस्था में आने में अवशोषित की है तो उत्तेजित अवस्था में लगभग सभी परमाणु उनके द्वारा अवशोषित की गई ऊर्जा और उनको अतिरिक्त प्रदान की जा रही ऊर्जा को एक साथ उत्सर्जित कर मूल अवस्था में लौटने के लिए बाध्य हो जायेंगे। इस प्रकार की क्रिया को **संप्रेरित उत्सर्जन क्रिया** कहते हैं। इस क्रिया में सभी उत्तेजित इलेक्ट्रॉन या तो एक साथ ऊर्जा का उत्सर्जन (तरंगों के रूप में) करेंगें या निश्चित समय अंतराल के उपरांत। संप्रेरित उत्सर्जन की क्रिया को हम विशेष युक्ति का निर्माण कर निरन्तर बनाये रख सकते हैं।

संप्रेरित उत्सर्जन क्रिया ही लेसर प्रकाश का सिद्धन्त है।

लेसर युक्ति :

संप्रेरित उत्सर्जन क्रिया को प्राप्त करने के लिए सन् 1958 में सर्वप्रथम शैलो एवं टॉउन्स ने एक लेसर युक्ति की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। इस युक्ति में एक लम्बी नली के दोनों सिरों पर एक दूसरे की ओर मुंह किये हुये दर्पण लगे रहते हैं। इनमें से एक दर्पण आंशिक पारदर्शक होता है। नली में **सक्रिय माध्यम** के रूप में वह पदार्थ भरा रहता है जिसमें अधिक से अधिक परमाणु उत्तेजित अवस्था में विद्यमान रह सके। सक्रिय माध्यम के लिए सामान्यतया दो पदार्थों का एक विशेष अनुपात में मिश्रण लिया जाता है। एक समुचित आवृत्ति या तरंग दैर्घ्य की प्रकाश तरंग जो उत्तेजित परमाणुओं के क्षेत्र में कहीं से भी प्रारंभ होकर अन्य परमाणुओं को उत्सर्जन के लिए संप्रेरित करती है, प्रवर्धित हो सकती है। लेकिन युक्ति के भीतर वह तरंग ही अधिक देर तक विद्यमान रह कर प्रवर्धित हो सकती है जो युक्ति की अक्ष के लगभग समांतर गति करती है। अन्य दिशाओं में गति करने वाली तरंगें किनारों पर शीघ्र ही नष्ट हो जाती है और लेसर क्रिया में सहयोग नहीं कर पाती है। अक्ष के समांतर गति करने वाली तरंगें दोनों ही दर्पणों के बीच आगे और पीछे परावर्तित हो सकती हैं जिसके

लेसर किरणें

श्याम लाल काकानी

'लेसर किरणों का आविष्कार ट्रांजिस्टर के आविष्कार के पश्चात् इस शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार है जिसने जन सामान्य को अत्यधिक प्रभावित किया है।

टॉर्च जलाने पर कुछ दूरी तक प्रकाश हो जाता है। इस प्रकाश की तीव्रता बहुत कम होती है एवं साथ ही टॉर्च से निकलने वाला प्रकाश पुंज फैलता जाता है। यही स्थिति बिजली के बल्ब, मोमबत्ती इत्यादि प्रकाश स्त्रोतों की है। अतः हम यह कह सकते हैं कि सामान्य प्रकाश स्त्रोतों से निकलने वाले प्रकाश की तीव्रता बहुत ही क्षीण होती है एवं स्त्रोत से निकलने के पश्चात् प्रकाश पुन्ज फैल जाता है। निसंदेह यहां आपके मस्तिष्क में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या ऐसा भी कोई प्रकाश स्त्रोत संभव हो सकता है जिससे अति तीव्र प्रकाश पुन्ज निकले और जो कई हजारों लाखों मील तक गति करने पर भी फैले नहीं। आपके प्रश्न का उत्तर है, हां ऐसा प्रकाश स्त्रोत उपलब्ध है जिससे अति तीव्र प्रकाश पुन्ज निकलता है और जो कई हजारों मील तक की दूरी पर जाने पर भी नहीं फैलता है। इस प्रकार के प्रकाश को ही वैज्ञानिकों ने लेसर प्रकाश कहा है। इस प्रकार के प्रकाश की सैद्धांतिक आधार पर कल्पना सर्वप्रथम इस शताब्दी के महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ने की थी। लेसर प्रकाश को उत्पन्न करने वाली 1958 में अमेरिका के दो वैज्ञानिकों शैलो एवं टॉउन्स ने प्रस्तुत की थी जिसे वास्तविक रूप प्रदान किया टॉउन्स, बसॉव एवं प्रोखोरॉव नामक वैज्ञानिकों ने। इस महत्वपूर्ण आविष्कार के लिए इन तीनों वैज्ञानिकों को सन् 1964 में सम्मिलित रूप से सर्वाधिक सम्मान का भौतिकी का नोवल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया था। लेसर प्रकाश के आविष्कार के पश्चात् अल्प समय में ही इसका उपयोग विज्ञान, चिकित्सा, उद्योगों, राष्ट्रीय रक्षा, अंतरिक्ष अनुसंधान जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में व्यापक रूप से होने लग गया। आज लेसर किरणों का उपयोग दूर संचार हल्के तत्वों के नाभिकों में परस्पर संलयन करा कर ऊर्जा उत्पन्न करने, होलोग्राफी इत्यादि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भी होने लग गया हैं। वह दिन दूर नहीं है जब लेसर किरणों से दूर संचार प्रणाली एवं लेसर-संलयन रिएक्टर एक वास्तविकता होगी। इससे पूर्व कि हम आपको लेसर किरणों के व्यापक उपयोगों से अवगत करायें, यह जानना उपयोगी होगा कि कि **लेसर प्रकाश क्या है एवं कैसे उत्पन्न होता है ?**

लेसर प्रकाश क्या होता है ?

लेसर शब्द कई अन्य शब्दों के प्रथम अक्षरों से बना है। लेसर का पूरा नाम है : Light Amplification by Stimulated Emission of Radiation (लाइट एमप्लिफिकेशन बाई स्टिमुलेटेड एमिशन आफ रेडिएशन—**विकिरण के संप्रेरित उत्सर्जन द्वारा प्रकाश का प्रवर्धन**)। इस नाम में आने वाले प्रमुख शब्दों के प्रथम रोमन अक्षरों Laser (**लेसर**) से इसकी रचना होती है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है लेसर प्रकाश बहुत ही तीव्र होता है। लेसर प्रकाश की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह प्रकाश **कला असंबद्ध** होता है जबकि सामान्य प्रकाश स्रोतों से निकलने वाला प्रकाश **कला असंबद्ध** होता है। आइये हम यह समझने का प्रयास करें कि

कला सम्बन्ध एवं कला असम्बन्ध गुण से हमारा क्या तात्पर्य है। आप कभी बाजार में चलती हुई भीड़ को ध्यान से देखें। आप पायेंगें कि इस भीड़ में कोई नियमितता नहीं होती है। सभी के कपड़े भिन्न होते हैं। सभी के चलने के तरीके एवं दिशाएं अलग-अलग होती हैं। यही नहीं सभी में उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार की भीड़ को हम **असम्बद्ध भीड़** कहते हैं। अब आप कभी किसी सड़क पर मार्च करती हुई सैनिकों की एक टुकडी का निरीक्षण कीजिये। आप देखेगें कि सभी सैनिक एक लाइन में या समांतर लाइनों में बहुत नियंत्रण के साथ चलते हैं। सबके दांये पैर एक साथ उठते हैं और सबके दायें हाथ एक साथ आगे बढ़ाते हैं। यहां तक कि उनके पैरों से उत्पन्न ध्वनि भी एक साथ उत्पन्न होती है। सभी का उद्देश्य एक होता है। यह सब एक नियमित ढंग से होता है। बिजली के बल्ब, टॉर्च, मोमबत्ती इत्यादि प्रकाश स्त्रोतों से असंख्य प्रकाश तरंगें भिन्न-भिन्न रूपों में
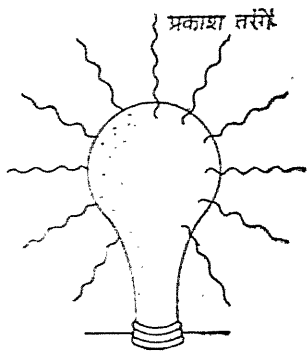
चित्र 1 बिजली के बल्ब से उत्पन्न होने वाली तरंगें भिन्न रंगों एवं भिन्न तरंग दैर्ध्यों की होती हैं।

प्रसारित होती हैं और भिन्न दिशाओं में गति करती है। इन तरंगों के व्यवहार में किसी भी प्रकार की एकरूपता या समानता नहीं होती है। इन तरंगों का व्यवहार ठीक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का व्यवहार बाजार में चलती हुई भीड़ का। इस प्रकार के प्रकाश को हम **कला असंबद्ध प्रकाश** कहते हैं। लेकिन इसके विपरीत लेसर युक्ति से निकलने वाली सभी तरंगें एक ही रूप में निकलती हैं। सभी तरंगों के प्रसारित होने का ढंग एक समान होता है। स्पष्ट है कि लेसर युक्ति से निकलने वाली प्रकाश तरंगों का व्यवहार पूर्णतया एक मार्च करती हुई सैनिक टुकड़ी के अनुरुप है। इस प्रकार के प्रकाश को हम **कला सम्बद्ध** प्रकाश कहते हैं। लेसर प्रकाश का यह गुण अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

लेसर प्रकाश का दूसरा महत्वपूर्ण गुण है कि यह प्रकाश **एकवर्णी** होता है। यदि आप प्रकाश का स्पेक्ट्रम देखेंगें तो पायेंगे कि प्रकाश कई रंगों से मिल कर बना होता है अर्थात् सामान्य प्रकाश स्त्रोतो से निकलने वाला केवल एक ही रंग की प्रकाश की तरंगें प्रसारित नहीं करता है अर्थात् इनसे निकलने वाली प्रकाश तरंगें कई रंगों की होती हैं। इसके विपरीत लेसर युक्ति से निकलने वाली प्रकाश तरंगें एक ही रंग की होती हैं, अर्थात् लेसर प्रकाश **एकवर्णी** होता है।

लेसर प्रकाश का तीसरा प्रमुख गुण है कि यह बहुत ही तीव्र होता है। कई हजार मीलों तक जाने पर भी इसकी तीव्रता में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं होता है। इसके विपरीत सामान्य प्रकाश स्रोतों से उत्सर्जित होने वाले प्रकाश की तीव्रता बहुत ही कम होती है और दूरी बढ़ने के साथ यह तीव्रता बहुत तेजी से कम होने लगती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि लेसर प्रकाश में सभी तरंगें एक दूसरे के समान्तर होती है जबकि सामान्य प्रकाश में ऐसा नहीं होता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि लेसर प्रकाश **कला सम्बद्ध, एक वर्णी** एवं **अत्यधिक तीव्र** होता है।

वैसे देखा जाये तो सही अर्थ में लेसर शब्द पूर्ण रूप से उपयुक्त शब्द नहीं है क्योंकि वास्तव में लेसर युक्ति में प्रकाश का प्रवर्धन नहीं होता है, परन्तु लेसर युक्ति से ऐसा प्रकाश निकलता है जो कला सम्बद्ध, एकवर्णी एवं अत्यधिक तीव्र होता है। इसके भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेसर युक्ति से निकलने वाला प्रकाश **दृश्य**

परिणाम स्वरूप तरंगों में परस्पर अध्यारोपण से एक बृहद आयाम वाली तरंग का निर्माण होता हैं, जो आंशिक दर्पण से लेसर पुंज के रूप में बाहर आ जाती है। कुछ लेसर युक्तियों से लेसर किरण लगातार प्राप्त होती रहती है तो कुछ से रुक-रुक कर। ऐसी लेसर युक्तियों से जिनमें से अनवरत (लगातार) लेसर किरण प्राप्त होती रहती है उन्हें **अनवरत लेसर** कहते हैं जबकि रुक रुक लेसर प्रकाश प्राप्त होने वाले लेसरों को स्पन्द लेसर कहते हैं। स्पन्द लेसर, अनवरत लेसरों की तुलना में अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं।
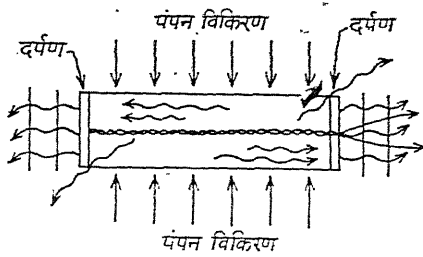
चित्र 2 लेसर युक्ति का आरेख।

विभिन्न प्रकार के लेसर

सक्रिय माध्यम की अवस्था के अनुरूप लेसरों का विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया गया हैं, ये हैं (1) ठोस अवस्था लेसर (ii) गैस लेसर (iii) द्रव लेसर (iv) अर्धचालक लेसर (v) कार्बनिक लेसर। यहां इन सभी का वर्णन करना संभव नहीं है अतः हम ठोस अवस्था लेसरों में से रूबी लेसर के संक्षिप्त वर्णन तक ही सीमित रहेंगे।

रूबी लेसर

लेसर प्रकाश को उत्पन्न करने वाली सर्वप्रथम युक्ति थी रूबी लेसर। रूबी, एलूमिनियम का ऑक्साइड (Al_2O_3) होता है जिसमें लगभग 0.05 प्रतिशत क्रोमियम (C_r) मिला देते हैं। इसी क्रोमियम पर लेसर की क्रिया निर्भर करती है। क्रोमियम मिलाने से इसका रंग गुलाबी हो जाता है। इसको कृत्रिम लाल भी कहते हैं। गुलाबी रंग के कारण लालमणिभ में क्रोमियम के परमाणु हरे एवं पीले रंगों के साथ पराबैंगनी रंगों की व्यापक
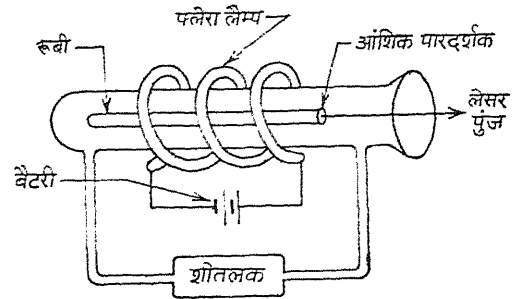
चित्र 3 रूबी लेसर।

पट्टिका का अवशोषण कर केवल लाल एवं नीले रंगों को प्रकाश किरणों को ही पार जाने देता है। प्रकाश विकिरणों के अवशोषण से क्रोमियम के परमाणु उत्तेजित अवस्था में पहुंच जाते हैं। प्रथम कदम में ये उत्तेजित क्रोमियम के परमाणु कुछ ऊर्जा का उत्सर्जन कर दीर्घ स्थायी अवस्था में आ जाते हैं। इस अवस्था में कुछ देर ठहरकर लाल रंग का प्रकाश जिसकी तरंग दैर्घ्य 6943 $\times 10^{-8}$ सेमी० या 6943 ऐंग्स्ट्रॉम होती है, उत्सर्जित कर मूल अवस्था में लौट आते हैं। यही लाल रंग का प्रकाश लेसर प्रकाश के रूप में प्राप्त होता है।

रूबी की छड़ 4 सेमी. लम्बाई एवं आधा सेमी. त्रिज्या की लेते हैं जो गोल होती है। इस छड़ के दोनों किनारों को समतल तथा एक दूसरे के **समांतर** बनाया जाता है। दोनों सतहों पर चाँदी का मुलम्मा चढ़ाया या आंशिक लेपन किया जाता है। ऐसा करने से इनमें प्रकाश को परावर्तित करने की क्षमता आ जाती है। एक सतह प्रकाश को पूर्ण रूप से तथा दूसरी सतह आंशिक रूप से परावर्तित करती है। इस छड़ के चारों ओर एक बहुत ही तीव्र प्रकाश देने वाली इलेक्ट्रॉनिक फ्लेश नलिका लिपटी रहती है। जब फ्लेश नलिका को चलाया जाता है कुछ समय पश्चात् ही एक गहरे लाल रंग का प्रकाश निकलता है जो लेसर प्रकाश होता है। इससे लेसर किया रुक-

रुक कर ही प्राप्त होनी है। अब तो कई शक्तिशाली लेसरों का आविष्कार हो चुका है एवं इस दिशा में और भी प्रयास हो रहे हैं। अब तक विकसित स्पंद लेसरों की शक्ति 10^9 वाट से भी कई गुना अधिक होती है। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि लेसर कितने शक्तिशाली होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि स्पंद लेसर से क्रिया लगभग 10^{-11} सेकंड से भी अति कम समय के लिए प्राप्त होती है। अब हम लेसरों के अति उल्लेखनीय उपयोगों का वर्णन करेंगे।

लेसरों के उपयोग

(i) **चिकित्सा शास्त्र में :** लेसर प्रकाश स्थानीय ताप एवं विद्युतीय प्रभाव उत्पन्न करता है। इस कारण से लेसर प्रकाश का उपयोग शल्य चिकित्सा में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जब मानव नेत्र का रेटिना या दृष्टिपटल क्षतिग्रस्त या अलग हो जाता है तो उसे लेसर प्रकाश से पुनः जोड़ा जा सकता है। लेसर प्रकाश की अत्यधिक तीव्रता के कारण 10^{-5} सेकंड से भी कम समय में ही रेटिना को पुनः जोड़ने का कार्य सम्पन्न हो जाता है। इससे रेटिना खराब होने से बच जाता है। सामान्य प्रकाश की सहायता से क्षतिग्रस्त रेटिना को पुनः जोड़ने में लगभग $\frac{1}{2}$ सेकंड का समय लग जाता है। इतने समय में रेटिना के हिलने का खतरा बना रहता है। लेसर शल्य क्रिया की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं :

(अ) लेसर शल्य क्रिया के समय नेत्र को गतिहीन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि इसमें 10^{-5} सेकंड से भी कम समय लगता है। इतने कम समय में रेटिना का रूग्ण भाग किसी दूसरे स्थान तक हिलने से पूर्व ही जुड़ जाता है।

(ब) ताप पूरे नेत्र में नहीं फैलता है। लेसर प्रकाश का अत्यधिक तीक्ष्ण फोकस संभव है। इससे नेत्र नष्ट होने से बच जाता है।

निम्न ऊर्जा लेसर पुंज की सहायता से शरीर में कुछ प्रकार के कैन्सर की वृद्धि को दूर किया जा सकता है। आजकल ऐसे लेसर चाकू तैयार करने के लिए प्रयास हो रहे हैं जिसकी सहायता से शरीर के अवयवों को शल्य क्रिया के लिए **रक्तहीन विधि** से हटाया जा सके एवं हृदय की शल्यक्रिया भी सरलता से की जा सके। आजकल शल्य चिकित्सक लेसर का उपयोग ऊतक को बहुत कम **रक्त अस्त्रवण** के साथ और बिना दाब डाले जीवाणु हीन एवं प्रवाहन करने के प्रयोग में लाते हैं। शल्य चिकित्सकों ने लेसर पुंज का उपयोग चूहों के मस्तिष्क अर्बुदों को प्रेरित करने में भी सफलतापूर्वक किया है।

(ii) **लेसर पुंज की सहायता से धातुओं को काटना एवं जोड़ना :** जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है लेसर प्रकाश के समांतर गुण के कारण इसका तीक्ष्ण फोकस संभव है। एक विन्दु पर तीक्ष्ण फोकस के कारण लेसर प्रकाश की ऊर्जा एक छोटे से घेरे में ही प्रसारित होती है। लेसर प्रकाश के एक बड़े स्पन्द के एक वर्ग सेमी० क्षेत्र में लगभग 50 करोड़ वाट की शक्ति छिपी रहती है। यदि इस सारी शक्ति को लेन्स की सहायता से एक मिमी० क्षेत्र में घनीभूत किया जाये तो लेसर पुंज की तीव्रता लगभग 10-15 वाट प्रति वर्ग सेमी० हो सकती है। यह सारी शक्ति बहुत अल्प समय (10^{-5} से०) के लिए स्पंद के रूप में प्रयुक्त होती है। अतः जिस धातु पर इसको गिराया जाता है, उसमें यह प्रसारित नहीं होने पाती है। लेसर प्रकाश के इस गुण का उपयोग धातुओं को काटने, जोड़ने और उनमें सूक्ष्म छिद्र करने में किया जाता है।

स्पंद लेसर से निर्गत पुंज को धातु के अत्यधिक सूक्ष्म क्षेत्र (लगभग 10^{-3} मिमी० के व्यास के वृत्त में) पर केन्द्रित किया जा सकता है। इस तीव्र ऊर्जा का उपयोग धातु को प्रदीप्त करने, पिघलाने, जोड़ने, छेद करने एवं ज्वलित करने के लिए किया जा सकता है। फोकस बिन्दु पर लेसर से अब तक 10000 डिग्री केल्विन से 16000 डिग्री केल्विन तक ताप प्राप्त किया जा सका है। इतना उच्च ताप किसी भी ज्ञात पदार्थ को पिघलाने एवं वाष्पण करने के लिए पर्याप्त है। लेसर पुंज के इस गुण का

का उपयोग धातुओं में छेद करने में भी किया जा सकता है।

(iii) **होलोग्राफी :** होलोग्राफी, लेसर प्रकाश से फोटोग्राफी की एक नई विधि है, जिसे लेन्स रहित फोटोग्राफी की विधि कहते हैं। होलोग्राफी के आविष्कार का श्रेय प्रो० डेनिस गेबोर को मिलता है जिन्होंने 1947 में इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोपी के साथ प्रयोग करते समय अनुभव किया कि तरंगाग्र या वेवफ्रंट पुनर्निर्माण द्वारा भी फोटोग्राफी संभव है। इस महत्वपूर्ण खोज के लिए डा० गेबोर को सन् 1971 में भौतिकी के नोवल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। होलोग्राफी विधि में वस्तु का प्रतिबिम्ब अंकित नहीं होता है परन्तु वस्तु से परावर्तित तरंगें स्वयं ही अंकित या फ्रिज हो जाती है। इसी के फोटोग्राफिक अभिलेखन को होलोग्राम कहते हैं। यद्यपि होलोग्राम एवं वस्तु में किसी प्रकार की साम्यता नहीं होती है लेकिन इसमें वस्तु की कुछ ऐसी अतिरिक्त सूचनाएं भी अंकित हो जाती है जिनका अंकन सामान्य फोटोग्राफ में संभव नहीं है।

होलोग्राम से बोधगम्य प्रतिबिम्ब को उत्पन्न करने को पुनर्निर्माण प्रक्रिया कहते हैं। इस अवस्था में प्रग्रहण की हुई तरंगें होलोग्राम अभिलेख से प्रभावी रूप में निर्मुक्त होती हैं, जहां से वे अपने बीते हुए समय को अविस्मरणीय कर आगे बढ़ती है। पुनर्निर्मित तरंगें, मूल तरंगों से अप्रभेद्य होती हैं और ये मूल तरंगों द्वारा अभिलक्षित सभी घटनाओं को प्रदर्शित करने में समर्थ होती है। उदाहरण के लिए लेन्स द्वारा इनको फोकस कर मूल वस्तु का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, जब कि मूल वस्तु में ही हटा ली गई है। यदि पुनर्निर्मित तरंगें किसी दर्शक की आंख के रेटिना से टकराती है तो वहां वह वही प्रभाव उत्पन्न करती है जो मूल तरंगों से उत्पन्न होता है अर्थात् दर्शक मूल वस्तु को उसके त्रि-विमीय स्वरूप में पूर्णता के साथ देखता है और विस्थापनाभास का अनुभव भी करता है। यद्यपि होलोग्राफी का ज्ञान 1947 में ही हो गया था लेकिन इसे व्यावहारिक रूप लेसर किरणों के आविष्कार के पश्चात् ही प्राप्त हो सका।

सिद्धांत रूप में होलोग्राफी अत्यन्त सरल एवं कैमरा फोटोग्राफी की तुलना में अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उतनी ही कठिन है। होलोग्राम अभिलेखन सिद्धान्त में दर्पण, लेसर स्रोत से लेसर पुंज को दो भागों में विभाजित करता है। एक भाग सीधा पारदर्शक फोटो-

चित्र 4
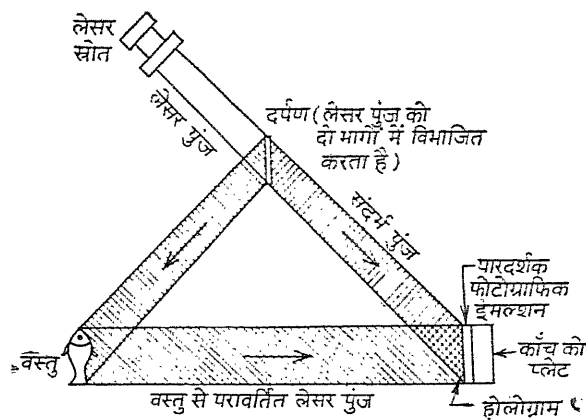
ग्राफिक इमल्शन पर गिरता है, इसे संदर्भ पुंज कहते हैं। दूसरा भाग वस्तु पर गिरता है, जो वस्तु के प्रत्येक भाग से परावर्तित होकर फोटोग्राफिक प्लेट पर पहुंचता है। इस परावर्तित पुंज एवं संदर्भ पुंज में व्यतिकरण होता है जिससे फोटोग्राफिक प्लेट पर एक व्यतिकरण पैटर्न उत्पन्न होता है। इसी को होलोग्राम कहते हैं। इस विधि में होलोग्राम पर लेसर किरणें उसी कोण से गिरायी जाती है, जिस कोण से प्रतिबिम्ब अंकित करते समय संदर्भ पुंज को होलोग्राम पर गिराया गया था। आंख को वस्तु जैसा ही त्रिविमीय चित्र दिखायी देता है।

होलोग्राफी के क्षेत्र में अनुसंधान के साथ-साथ होलोग्राम रेकार्ड करने की तकनीकी में भी बहुत सुधार हो रहे हैं एवं होलोग्रामों की उपयोगिता का क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत होता जा रहा है।

(iv) **प्रकाशिक संचार या लेसर से संचार** : संचार का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। जब हमें किसी दूसरे शहर में टेलीफोन पर किसी से बात करनी होती है एवं टेलीफोन मिलने में अधिक समय लगता है तो अटपटा सा लगता है। यद्यपि अब डायल प्रणाली से सुविधा हो गई है लेकिन लम्बी दूरी पर बात करते समय आपने देखा होगा कि एक लाइन पर संदेश को दूसरी लाइन पर संदेश में व्यवधान उत्पन्न होने लगता है। वर्तमान में लम्बी दूरी पर कई संदेशों को एक साथ पारेषण के लिए चार प्रणालियां (a) समाक्ष केबल, (b) सूक्ष्म तरंग रेडियो रिले (c) तरंग पथ निर्धारित्र एवं (d) कृत्रिम उपग्रह प्रचलित हैं। इन सब प्रणालियों का मुख्य उद्देश्य एवं सिद्धान्त एक साथ कई संवेगों का पारेषण एक ही पथ से करना होता है। प्रचलित प्रणालियों की तुलना में लेसर पुंज का संचार के लिए उपयोग अधिक लाभप्रद हो सकता है क्योंकि :

(a) लेसर पुंज की चौड़ाई अत्यधिक संकीर्ण होने से एक स्थान से दूसरे स्थान तक संचार में **पारेषण क्षति** उपेक्षणीय ही होगी। प्रचलित प्रणालियों की तुलना में लेसर पुंज संचार प्रणाली बिना प्रवर्धक की सहायता के अधिक दूरी तय कर सकती है।

(b) रेडियो रिले या माइक्रो वेव रिले की तुलना में लेसर संचार निकाय की वाहक आवृत्ति बहुत अधिक होने के कारण एक दिए हुए आवृत्ति बैंड में सरणियों की अत्यधिक संख्या पर्याप्त बैंड की चौड़ाई के साथ समापन की जा सकती है। एक अकेली लेसर वाहक तरंग से 10^7 टेलीविजन सरणियों का प्रेषण संभव है। लेसर पुंज का उपयोग 3-विमीय टेलीविजन (TV) प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने में भी किया जा सकता है।

(c) लेसर पुंज की चौड़ाई लगभग 2 इंच एवं पुंज की तरंग दैर्ध्य 6300 ऐंग्स्ट्राम होने पर अधिकतम दूरी पर पारेषण पुंज में बिना फैलाव के संभव है।

लेकिन लेसर से संचार में वायुमंडलीय विघ्न जैसे बादल, कोहरा इत्यादि क्षीणन उत्पन्न कर देते हैं, इसलिये ऐसी कोई युक्ति की खोज करना आवश्यक है जिससे क्षीणन प्रभाव को उपेक्षणीय बनाया जा सके। विश्व की प्रसिद्ध उपयोगशालाओं जैसे बैल प्रयोगशालायें इत्यादि में लेसर से दूर संचार की दिशा में अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। इस क्षेत्र में कार्यरत वैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि इस दशाब्दी के अन्त तक लेसर संचार एक वास्तविकता होगी एवं कम से कम 10000 से भी अधिक संदेशों का पारेषण एक ही आवृत्ति बैंड में एक ही समय पर किया जा सकेगा।

(v) **लेसर से न्यूक्लीय संलयन** : संभवतया उच्च शक्ति स्पंद लेसरों के आविष्कार ने अनुसंधान के किसी भी क्षेत्र को उतना अधिक प्रभावित नहीं किया है जितना कि न्यूक्लीय संलयन से लाभदायक ऊर्जा प्राप्ति के क्षेत्र को। स्वपोषी न्यूक्लीय संलयन अभिक्रियायें इस दशाब्दी की

ही नहीं परन्तु अब तक की सबसे कठिन एवं जटिल वैज्ञानिक एवं तकनीकी समस्या है। यदि स्वपोषी न्यूक्लीय संलयन अभिक्रियायें एक वास्तविकता में परिणित हो सकी तो विश्व को सदैव के लिए ऊर्जा संकट से मुक्ति मिल जायेगी एवं मानव एक असीम एवं अनन्त शक्ति स्रोत का स्वामी बन जायेगा। शक्तिशाली स्पंद लेसरों के आविष्कार ने इस क्षेत्र में अनुसंधान को एक नया आयाम प्रदान किया है। लेसर संलयन रिएक्टर का एक प्रस्तावित संकल्पना आरेख चित्र 6 में प्रदर्शित किया गया है।

स्पंद एवं शक्तिशाली लेसर पुंज को लेन्स के द्वारा फोकस कर ठोस भारी हाइड्रोजन भारी मीथेन के पॉलीमरों

चित्र 6 लेसर संलयन रिएक्टर का संकल्पना आरेख।

पर संघनित किया जाता है। इससे ठोस अत्यन्त उच्च ताप के कारण उच्च तापीय प्लाज्मा में परिवर्तित हो जाता है जिससे प्लाज्मा में एक प्रकार से न्यूक्लीय संलयन की स्थिति आ जाती है। स्पंद लेसर में नियोडियम विरल मृदु धातु का उपयोग किया जाता है। इस क्षेत्र में कार्यरत वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि सन् 1995 तक लेसर संलयन रिएक्टर वास्तविकता होगी। यद्यपि समय के संदर्भ में यह भविष्यवाणी संदिग्ध हो सकती है लेकिन अविश्वसनीय कदापि नहीं।

उपसंहार : लेसरों के इतने अधिक उपयोग हो रहे हैं कि इस छोटे से लेख में उन सभी का वर्णन करना नितान्त असंभव है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि लेसरों का आविष्कार इस शताब्दी का अत्यधिक महत्वपूर्ण आविष्कार है जिसने ट्रांजिस्टर की ही तरह जनसामान्य के जीवन एवं रहन-सहन को अत्यधिक प्रभावित किया है एवं कर रहा है। दिन प्रतिदिन लेसरों के नये-नये उपयोग सामने आते जा रहे हैं। विस्तृत अध्ययन हेतु देखिये लेखक की पुस्तक 'लेसर और उनके उपयोग' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-4]

प्राध्यापक भौतिकी
राजकीय महाविद्यालय
शाहपुरा जिला भीलवाड़ा
(राज०)

शुभ समाचार

डॉ० शिव प्रकाश को उनकी पुस्तक 'अणु स्पेक्ट्रमिकी' पर हिन्दी संस्थान, लखनऊ की ओर से एक सहस्त्र रुपये का पुरस्कार तथा प्रशस्त्रि पत्र प्रदान किया गया है।

विज्ञान की भाषा--3

डा० शिवगोपाल मिश्र

मैं अपने साज सँवार अथवा शृंगार का श्रेय किस एक वर्ग को दूँ ? मेरे प्रेमी कई प्रकार के हैं—छात्र, अध्यापक, शोधकर्ता तथा जिज्ञासु। इनमें से शायद ही कोई शब्दों की वर्तनी, उच्चारण या उनके व्याकरण पर अथवा वाक्य योजना पर ध्यान देता हो। दो-एक को छोड़ दीजिये। कुछ मेरे लिये अंग्रेजीमय तानाबाना के पक्षपाती हैं तो कुछ मुझे नितान्त भारतीय रूप में अलंकृत बहू की तरह देखना चाहते हैं। किसे गले लगाऊँ और किसे दुतकारूँ ? वास्तव में मेरी स्थिति नई बहू जैसी ही है—अभी मेरी गति खुली नहीं—इसलिये नहीं कि आभूषणों से बोझिल हूँ वरन् इसलिये कि साहित्यिक भाषा की सी रवानगी अभी नहीं आ पाई। आवे भी कैसे ? कोई प्रणयी अंग्रेजी में, कोई हिन्दुस्तानी में, तो कोई हिन्दी या परिनिष्ठित हिन्दी में मुझसे प्रेमालाप करना चाहता है। मुझे कुछ समझ में ही नहीं आता कि भारत देश में मेरे लिये कौन सी भाषा चुननी होगी जबकि मैं अन्तर से दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ कि मेरी भाषा वही होनी चाहिये जो भारतीय वातावरण में मुझे खुलकर हँसने-बोलने दे।

छात्रों से मुझे बहुत कम उम्मीद है कि वे मेरे स्वरूप को ठीक से समझ सकेंगे। वे तो समझने में कम, रटने में ज्यादा तल्लीन रहते हैं। वे मेरे बाह्य रूप पर कभी मुग्ध होते हैं तो कभी रुष्ट। जब उन्हें कोई शब्द याद नहीं आता तो वे अंग्रेजी में तुतलाने लगते हैं और मेरी ओर करुणा भरी दृष्टि से देखते हैं। वे क्षण भर भी नहीं सोचते कि उनकी माताओं की रगों में जो भाषा प्रवहमान रही है वही उनकी भी भाषा होनी चाहिए। अपने को सभ्य एवं सुसंस्कृत तो वे बना लेते हैं, अपनी माँ से हटकर, किन्तु भाषा की वास्तविक पूँजी के बिना वे दयनीय बन जाते हैं—विशेष रूप से मेरे समक्ष आकर। न उनके पल्ले कोई विदेशी भाषा की लेई-पूँजी रहती है, न अपनी मातृभाषा की गरिमा। शायद विज्ञान के अध्ययन से वे विदेशी कल्पनाओं में डूबते उतराते हैं—इधर मैं हूँ कि टस से मस नहीं होती। कैसी विडम्बना है। केवल कुछ ही छात्र मुझमें रम कर नपी तुली सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करके अपने लिये उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त कर लेते हैं। वे कामी नहीं प्रणयी हैं। मुझे ऐसे छात्रों से प्रेम है, उन पर गर्व भी होता है कि शायद वे मेरे प्रेमी बने रहें।

मेरे प्रेमियों का एक समुदाय अनुवादकों का है। यह मेरी रूप-सज्जा का उतना कायल नहीं है जितना अपने अर्थागम का। ऐसे लोगों पर मैं क्या गर्व करूँ ! आज वे जिस घुटी-घुटाई शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं, उसे वे आजीवन प्रयुक्त करना चाहेंगे। वे कभी कभी तो इतने आश्वस्त रहते हैं कि पारिभाषिक शब्दावली के शब्दों का पूर्वस्मृति के बल पर प्रयोग करके भयंकर त्रुटि कर देते हैं। उधर नौसिखिये अनुवादक हैं, जो सड़ी गली हिन्दी को अनुवाद के नाम पर चालू करना चाहते हैं। प्रायः ही सरकारी संस्थानों तथा दिल्ली की अनेक पत्रिकाओं में लिखने वाले ऐसे अनुवाद करते हैं—जिन्हें न तो

पाठक समझ सकते हैं, न वे स्वयं ही। अपने अधकचरे ज्ञान के बल पर वे जीविकोपार्जन कर रहे हैं। ये वही लोग हैं जो lemon and lime में lime का अनुवाद **चूना** तथा pestle and mortar में mortar का अनुवाद **गारा** करते चूकते नहीं। प्रसंग आने पर अपने लेखों की प्रशंसा स्वयं करते हैं और प्रकाशकों को चकमा देकर एकाध पुस्तकें भी छपवा लेते हैं। ऐसे लोगों ने हिन्दी का शास्त्रीय अध्ययन नहीं किया होता—उनके लिये हिन्दी भी अभारतीय भाषा बनी रहती है। अंग्रेजी की वाक्य योजना का हूबहू स्वरूप उनके हिन्दी अनुवाद में मिलता है। उनकी शैली एवं भाषा समान रूप से शुष्क रहती है भला मैं ऐसे प्रेमियों से अपने श्रृंगार की कैसे उम्मीद करूँ!! ये अपना पेट भरेंगे कि मेरा अलंकरण करेंगे। राष्ट्र भाषा एवं राष्ट्र को इनसे बहुत बड़ी उम्मीद नहीं है। लेकिन मैं इन्हें भी अपनी ओर आकृष्ट रखना चाहती हूँ—आखिर ये कुछ न कुछ कार्य करते तो हैं। पश्चिमी ज्ञान राशि को भारतवासियों के लिये उपलब्ध तो बनाते हैं। इन्हें बस मैं इतनी ही नसीहत (कान में) दूंगी कि ये मुझे भूलें नहीं, अपनी शैली सुधारें। आगे ये ही मेरे प्रिय पात्र हो सकते हैं।

मैं उन तृतीय श्रेणी के अपने प्रेमियों की क्या कहूँ जो कैंची तथा गोंद के बल पर पोथे-दर-पोथे निकालने का दम भरते हैं। पाठ्य पुस्तकों के लिये सामग्री जुटाने में ये पटु हैं। अल्पावधि में कार्य करना इन्हें भाता है—मानो ये मेरे आकस्मिक प्रेमी हैं। इन्हें जहाँ भी जो अच्छा मिलता है उसका मधुसंचय करते हैं। ये मुझे इसलिये प्रिय हैं क्योंकि मेरे प्रेमी छात्रों के ये पोषक हैं, उनके ज्ञानदाता हैं। भले ही ये क्लास में भाषण न दे पावें, भले ही इनकी भाषा सुगढ़ न हो, पर ये करते हैं कमाल। बड़ी सुन्दर पुस्तकें तैयार कर देते हैं। बदले में ये पुरस्कृत भी अच्छी तरह होते हैं।

अन्त में मैं अपने उन पुजारियों का उल्लेख करूँगी, जो संसार की नजरें बचाकर मेरी साधना करते हैं—वे शब्दों का निर्माण करते हैं, उनकी उपयुक्तता की परख करते हैं, प्राचीन शब्दों की जाँच पड़ताल करते हैं, शक्तिशाली वाक्य विन्यास का सृजन करते हैं और भावप्रवण शैली को जन्म देते हैं। यह सब उनका आन्तरिक उद्रेक होता है। वे बड़ी बड़ी प्रयोगशालाओं में शोध करते हैं, क्लास में विद्यार्थियों का मनोरंजन करते हैं और अतिरिक्त समय में मेरी आराधना करते हैं। मैं इन पर बलि बलि जाती हूं। ये ही स्रष्टा हैं, सर्जक हैं, मेरे श्रृंगारकर्ता हैं। इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी होता है। वे शतत उन्नतिगामी होते हैं। ये अपने भावों को विश्व की किसी भी परिषद के समक्ष प्रस्तुत करने में नहीं हिचकिचाते। ये अपने भावों और भाषा के बीच कोई दीवाल नहीं देखते।

ऐसे प्रेमीजन शब्दों में जीते और मरते हैं। ये पुराने शब्दों को तिलांजलि देने को उद्यत हैं—तभी तो **तापक्रम** का **ताप** और **रवा** का **मणिभ** और उससे **क्रिस्टल** जैसे शब्दों का उदय-अस्त होता रहता है। यह शब्दों की लुकाछुपी मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं उनके साथ खेलने को उद्यत हूँ। लेकिन जो लोग अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर मेरे गले में मखमली फाँसी लगाकर मुझे अलंकृत करने का स्वांग भरते हैं, वे मेरे प्रणयी नहीं हैं—वे तो क्रूर हिंसक हैं। मैं नहीं चाहती कि वे मुझे छलावा दें। वे हिन्दी न सीखने की आड़ में अन्तर्राष्ट्रीयता का लिबास पहनकर मुझे दिखाना चाहते हैं। वे विज्ञान को जनता के निकट तक नहीं पहुँचने देना चाहते। वे विज्ञान के द्वार विदेशी भाषा के कपाट से बन्द करना चाहते हैं।

यदि भारत में मेरे प्रणयी प्रणय की भाषा नहीं समझ सकते, यदि वे मेरे रोम की पुलक से परिचित नहीं होना चाहते तो भला वे और क्या समझेंगे! "समझ लो कि तुमसे पहिले भी लोग हुये हैं, उन्होंने मेरे लिये कठिन व्रत साधा है। जरा उसका परिचय तो प्राप्त कर लो। विज्ञान का विकास कोरी पाटी पर नहीं होता, उसकी एक प्रवहमान परम्परा है, उसके भागी बनना पड़ेगा। मेरे योग्य बनने के पूर्व कुछ परिश्रम करनी पड़ेगी, परम्परा का निर्वाह करना होगा।" तभी मैं सबका अनुरंजन
(शेष पृष्ठ 22 पर)

कलँगी वाला पक्षी

नरेश चन्द्र 'पुष्प'

मोर को हमारे देश में राष्ट्रीय सम्मान तथा संरक्षण प्राप्त है और अपने अद्वितीय अनुपम सौन्दर्य तथा उन्माद पूर्ण मादक नृत्य से सदियों से मानस को आकृष्ट करता रहा है। आज भी बड़े-बूढे बच्चे और स्त्री-पुरुष बड़ी जिज्ञासा तथा कौतूहल से मोर नृत्य देखते हैं।

इसमें दो विचार नहीं कि मोर भारत का सर्वाधिक सुन्दर राष्ट्रीय पक्षी है और इसका सौंदर्य अतुलनीय तथा अद्वितीय है। संभवत: इसी से प्रेरित होकर प्रकृति ने मोर को पक्षी सम्राट घोषित करने के लिए उसके सिर पर मुकुट रूपी 'कलँगी' सुशोभित कर दी है। श्वेत-चोंच और नीली-हरी गर्दन उठाये अभिमान से इठलाते हुए चलना, सुरमई लम्बे-लम्बे पंखों को क्षत्रक की भाँति फैला कर मस्ती से झूमना और बरखा की झीनी-झीनी फुहारों में उन्माद में डूबकर नाचना किस हृदय को नहीं भाता! यही कारण है कि प्रत्येक सौन्दर्य और प्रणय साहित्य में मोर का स्थान है। यों दूसरे देशों में मोर से कहीं अधिक सुन्दर भड़कीले और चटक रंगों वाले पक्षी पाये जाते हैं लेकिन भारत में सर्वाधिक सौंदर्यमयी मोर ही है। मोर मात्र तन से ही नहीं, मन से भी सुन्दर पक्षी है। इसमें मनुष्य के प्रति मैत्री भाव है। यही कारण है कि यह मानव की बस्तियों के निकट वास करते हैं और उनका स्नेह प्राप्त होने पर उनके मित्र हो जाते हैं। मोर उत्तर भारत के वनों में तथा बस्तियों के समीप पाये जाते हैं और अन्य पक्षियों की भाँति पालतू बनाये जा सकते हैं।

मोर विकसित तथा लम्बे पंखों वाला पक्षी है किन्तु इसमें उड़ने की क्षमता नहीं होती। यह अधिक से अधिक वृक्षों की ऊँचाई तक उड़ सकते हैं और शाखों पर बैठे हुए देखे जा सकते हैं। इनकी आवाज अति तीव्र तथा बिल्लियों जैसी होती है। मोर अपने शिशुओं के लिए घोंसलों या गृह का निर्माण नहीं करते। मोरनी किसी सघन झाड़ी में दो बादामी मटमैले अण्डों का त्याग करती है और सम्मिलित रूप से सुरक्षात्मक दृष्टि रखती है। मोरों का प्रजनन-काल जून-अगस्त है। मोर शाकाहारी-मांसाहारी पक्षी है और छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों से लेकर मेढक तथा छिपकली तक इसका आहार है। मोर में एक आश्चर्य जनक विलक्षण क्षमता पायी जाती है। इसका रक्त इतना उष्ण होता है कि नाग तथा विषैले सर्पों को भी हज़म कर जाता है और विष से अप्रभावित रहता है जबकि नाग का डसा व्यक्ति कुछ क्षण ही जीवित रह सकता है। मोर खेतों में पड़े हुए दानों को भी चुगता रहता है।

विशेष रूप से मोर अपने दो पक्षों से मानव को आकर्षित करता है। प्रथम, अनुपम सौंदर्य जिसे मनुष्य प्रत्यक्ष देखता है। द्वितीय, अनुपम मनोहारी नृत्य जो मानव हृदय में जिज्ञासायें और कौतूहल उत्पन्न करता है। कभी-कभी यह कौतूहल इतना तीव्र हो जाता है कि वह मोर नृत्य के प्रति असंगत धारणायें तथा अतिशयोक्ति पूर्ण बातें स्वीकार कर लेता है। अत: हम यहाँ पर मोर के नृत्य का विज्ञान प्रस्तुत करेंगे।

सामान्यरूप से विचार किया जाता है कि नर मोर, मोरनी से प्रणयाग्रह हेतु ही नृत्य करता है। वास्तविकता यह है कि मोर प्रणयाचना हेतु नृत्य तो करता ही है किन्तु वह अपने आनन्द और उन्माद तथा क्रोध की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भी नृत्य का प्रदर्शन करता है। अपने हृदय का विषाद-दुख, सहानुभूति और गर्व भी वह अपने नृत्य द्वारा ही व्यक्त करता है। अतः मोर के नृत्य में विविधता पायी जाती है।

प्रणय नृत्य

मोर का यौन सक्रियता काल फरवरी से अगस्त तक है। इस मध्य वह अपने समक्ष खड़ी प्रेयसी को प्रणय हेतु आकर्षित करने के लिए नृत्य का प्रदर्शन करता है। इस विशेष प्रणय-नृत्य में वह अपनी पूंछ के पंखों का एक गोल घेरे में 'छत्रक' की भाँति फैला कर अपने अनुपम सौंदर्य का प्रदर्शन करता है। वह अपने मनोहारी सुरमई क्षत्रक को झकझोर कर ध्वनि उत्पन्न करता है और इस ध्वनि से मयूरी को आकर्षित करता है जैसे कोई प्रियतम अपनी प्रियतमा को पुकार रहा हो। मोर अपने नृत्य-उपक्रम में इधर-उधर घूमता-फिरता है और कभी-कभी मयूरी को रंगीन क्षत्रक का लोभ देने के लिए मयूरी की ओर पीठ करके खड़ा हो जाता है। इस प्रकार वह विविध ढंगों से मोरनी को लुभाने की चेष्टायें करता है। नृत्य करता हुआ मोर अपने छत्रक से मोरनी को स्पर्श कर उसे पैनी दृष्टि से उत्तेजित करने की चेष्टा करता है। वस्तुतः मोर का यह नृत्य मोरनी के समक्ष प्रणय निवेदन का नृत्य है।

कभी-कभी मोरनी प्रणय निवेदन स्वीकार नहीं करती। उस स्थिति में मोर रुष्ट हो जाता है और कुछ आशायें संजोये अंतिम प्रयास करता है। वह अपनी नृत्य पद्धति रूपांतरित कर देता है। कभी-कभी निराशा से ग्रस्त होने पर आक्रामक मुद्रायें अपना लेता है और मोरनी को चोंच से आघात पहुँचाने की चेष्टा करता है। यदि अब भी मयूरी प्रणयाग्रह स्वीकार नहीं करती तब मोर निराशा से कें-कें-कें कर जोरों से चिल्लाने लगता है और नृत्य स्थगित कर देता है।

नर मोर उस अवस्था में भी नृत्य करता है जब कोई अन्य मोर उसकी निर्धारित सीमा में प्रवेश करता है। वस्तुतः यह नृत्य मोर अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए करता है। निश्चय ही इस 'आक्रोश-नृत्य' में कला का अभाव होता है।

जुलाई-अगस्त-सितम्बर के मध्य मोर का प्रणयाग्रह अपनी चरम सीमा तक बढ़ जाता है। क्योंकि इस समय उसमें यौनभावना उग्र रूप धारण कर लेती है। अतः प्रणय का उन्माद भरते ही वह समय-कुसमय नृत्य आरम्भ कर देता है। मोरनी उपस्थित हो अथवा नहीं, मोर चिंता नहीं करता। निश्चय ही इस समय मोर का हृदय आनन्द और हर्ष से भरा रहता है और अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए वह नृत्य में डूब जाता है। अत्यन्त धीमी गति से चलने वाला यह 'आनन्द-नृत्य' दीर्घकालीन होता है क्योंकि जब तक उसका उन्माद मौन नहीं होता, नृत्य करता रहता है। यह नृत्य आधे घण्टे से भी अधिक देर तक चलता रहता है।

विविध नृत्य

मोर के नृत्य में विविधता पाई जाती है। नृत्य में यह विविधता मोर में उत्पन्न विभिन्न भावों के कारण होती है।

प्रणय उन्माद में डूबा हुआ एक मोर प्रणय नृत्य करता है। उस मोर के नृत्य को देखा-देखी आस-पास विचरण करने वाले मोर भी नृत्य करने लगते हैं जो वास्तव में एक मोर की नकल होती है। अन्य मोरों द्वारा किया गया नृत्य एक दृष्टि से कलाहीन तथा अल्पकालीन होता है क्योंकि वह आंतरिक भावों के अभाव में किया जाता है। ऐसे नृत्यों में अन्तर प्रेरणा, उद्वेक और उत्तेजना का समावेश नहीं होता वस्तुतः यह नृत्य नकल-नृत्य ही होता है। मनुष्य की भाँति मोरों (तथा अन्य जन्तुओं) में भी नकल की अन्तर भावना होती है।

नकल-नृत्य के अतिरिक्त मोर अवसर वादी-नृत्य भी करता है। एक मोर जब अपने शत्रु-मोरों द्वारा कहीं घेर लिया जाता है और निकल भागने की संभावना कम होती है, ऐसी अवस्था में वह शत्रु मोरों को भयभीत करने के लिए अपना छत्रक फैला कर नृत्य करने लगता है या शत्रुओं का ध्यान बँटाने के लिए नृत्य करने लगता है और अवसर देखते ही भाग खड़ा होता है। मादा अपने शिशुओं की रक्षा करने या झाड़ी में सुरक्षित अण्डों की अन्य जन्तुओं द्वारा आक्रमण से सुरक्षा करने के लिए भी नृत्य करती है।

नृत्य-काल तथा स्थान

सूर्योदय के पूर्व से लेकर एक घण्टे पश्चात् तक मोरों के नृत्य का सर्वाधिक उपयुक्त समय होता है। मोर सूर्योदय से पूर्व तथा सांझ को भी नृत्य करना पसंद करता है। प्रातः काल सूर्योदय के कुछ समय पश्चात् मोर मोरनी भोजन हेतु एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इन मिलन स्थलों पर भी कभी-कभी मोर 'अवसर वश' नृत्य करने लगता है।

आम तौर से शीत ऋतु के अतिरिक्त मोर वर्ष भर नृत्य करता है। यह देखा गया है कि मोर मकर संक्रांति से नृत्य आरम्भ करता है और शीत ऋतु के आरम्भ से भाद्र मास तक नृत्य करता रहता है किन्तु श्रावण तथा भाद्र माह में मोर का भी तन्मय होकर व अपेक्षाकृत दीर्घकालीन नृत्य करता है। यहाँ यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि उर्वरक क्षेत्रों में मोर जल्दी नृत्य आरम्भ कर देते हैं। इसके विपरीत भोजन का कमी वाले क्षेत्रों में यह देर से नृत्य आरम्भ करता है। कहीं-कहीं मोर संपूर्ण वर्ष भर नृत्य करता रहता है। लेकिन मोर किसी भी क्षेत्र में रहने वाला क्यों न हो वह श्रावण-भादों में ही उत्तेजना पूर्ण तन्मय होकर नृत्य करता है और उस समय ही उसका नृत्य अपनी चरम-सीमा पर होता है।

नृत्य काल में किसी भी स्थल पर मयूरी को सन्निकट पाकर मोर नृत्य आरम्भ कर देता है फिर भी उसे एकांत, शीतल तथा छायादार स्थल ही विशेष रूप से पसंद हैं। नृत्य का सर्वश्रेष्ठ स्थल दाना चुगने का क्षेत्र होता है किन्तु यौन सक्रियता काल में यह वृक्षों की शाखाओं, छतों तथा चट्टानों पर भी नृत्य करते देखा जा सकता है।

एक मोर का नृत्य कितनी देर तक चलेगा यह वाह्य पर्यावरण पर निर्भर करता है। अनुकूल वातावरण में यह 15 से 35 मिनट तक निरन्तर नृत्य करता रहता है। यदि कसी तरह का व्यवधान उत्पन्न न हो तो नृत्य सुचारु रूप से चलता रहता है और यदि यह नृत्य आन्तरिक उन्माद हर्ष तथा उत्तेजना के कारण हुआ तब यह दीर्घकालीन अर्थात् 30-35 मिनट तक चलता रहता है। यदि किसी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न हो गया, जैसे, मनुष्य का हस्तक्षेप करना, किसी अपरिचित मोर का पास आना, मोरनी का प्रस्थान कर जाना, वायु-मंडल अति उष्ण तथा तीव्र वायु का चलना, ऐसी दशा में मोर अपना उद्रेक पूर्ण नृत्य स्थगित कर देता है और अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए आक्रोश नृत्य करता है जो साधारण रूप से 3-5 मिनट तक ही चलता है। कृत्रिम व्यवधानों के अतिरिक्त प्राकृतिक व्यवधान भी होते हैं जो नृत्य स्थगित करने में सहयोग प्रदान करते हैं जैसे अत्यधिक निम्न या उच्च ताप, निम्न आर्द्रता, तीव्र वायु और तेज प्रकाश। लोगों में यह आम धारणा है कि मोर वर्षा ऋतु में काली घटायें देख कर हर्षित हो उठता है और नृत्य करने लगता है। लेकिन इसका वैज्ञानिक कारण है कि इस समय मोर के अनुकूल मौसम (या वातावरण) तैयार हो जाता है। वर्षा ऋतु में काली घटायें घिरने से वातावरण का बढ़ा हुआ ऊँचा ताप घट जाता है, आर्द्रता बढ़ जाती है, प्रकाश मद्धिम हो जाता है। अतः काले मेघों से घिरा वातावरण मोर के अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देता है। इसी कारण ऐसे समय प्रणय अथवा मनतरंग आनन्द नृत्य अधिक संख्या में होते हैं।

वयस्क मोर उचित अवसर पर ही नृत्य करते हैं लेकिन अल्प वयस्क मोर थोड़ी ही उत्तेजना पर तुरन्त आनन्द या आक्रोश नृत्य करने लग जाते हैं। बूढ़े मोर अधिक उत्तेजक वातावरण होने पर भी नृत्य नहीं करते। मोरनी साधारणतया नृत्य नहीं करती लेकिन कभी-कभी उससे अपने शिशुओं की सुरक्षा हेतु प्रतिरक्षा नृत्य करना पड़ जाता है।

रासायनिक और कीटाणु युद्ध

लेखक इन्दु प्रकाश,

प्रकाशकः राष्ट्रप्रहरी प्रकाशन, गाजियाबाद, 1977, पृष्ठ संख्या 144, मूल्य 16 रुपये

जिस वैज्ञानिक युग में हम जी रहे हैं उसमें परमाणु बम जैसे विनाशक अस्त्र का प्रयोग हो चुका है। वियतनाम युद्ध में न जाने कितने प्रकार के विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ है। यदि कहीं जंगल नष्ट किये गये हैं, तो कहीं जल संभरण को दूषित कर दिया गया है। फसलों को भी नष्ट करने के प्रयास हुये हैं। मनुष्य स्वार्थ एवं कुण्ठावश अपने ही भाइयों का किस प्रकार हनन कर सकता है इसका जीता जागता उदाहरण वियतनाम है। अमरीकियों ने इस देश के वासियों को विनष्ट करने के लिये अधुनातम युद्ध सामग्री का उपयोग किया है। यदि यह कहा जाय कि अनेक रासायनिक पदार्थों एवं कीटाणुओं का प्रयोग पहली बार व्यापक पैमाने पर मनुष्य संहार के लिये हुआ तो अतिशयोक्ति न होगी।

मनुष्य प्रारम्भ से ही युद्धप्रिय रहा है। भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं जब मनुष्य ने मनुष्य को मारने के लिये तरह तरह के पदार्थों का प्रयोग किया है।

विदेशी भाषाओं में रासायनिक युद्ध अथवा कीटाणु युद्ध सम्बन्धी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में इस विषय पर सूचनायें छपी हैं किन्तु वे पुस्तकाकार नहीं थीं। श्री इन्द्र प्रकाश ने पहलीबार इस विषय पर पुस्तक लिखी है। उनका सम्बन्ध आयुध निदेशालय से है अतः उन्होंने तद्विषयक विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक में 15 अध्याय हैं जिनमें विविध प्रकार के रसायनों के प्रयोग, उनसे बचाव के उपायों आदि का विवरण तो है ही किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय अन्तिम अध्याय है जिसमें प्राचीन ग्रंथों में रासयनिक और कीट युद्ध सम्बन्धी जानकारी अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप में दी गई है। यों तो प्रथम अध्याय ही विषय को पूर्णतया स्पष्ट करने में सक्षम है किन्तु अध्याय 11 में वियतनाम युद्ध के प्रसंग में किस प्रकार शाकनाशक रसायनों का प्रयोग हुआ, यह हृदय द्रावक है।

पुस्तक में सर्वत्र ही पाठक को नई जानकारी प्राप्त होगी, ऐसा विश्वास है। पुस्तक की छपाई, साजसज्जा भी सन्तोषजनक कही जावेगी किन्तु मूल्य अवश्य ही अधिक है।

कुछ बातें समझ में नहीं आतीं— लेखक भारत के आयुध निदेशालय से सम्बद्ध रहने पर जब इस विषय में पुस्तक लिख रहा है तो वह मात्र वैज्ञानिक तथ्यों को, प्राप्त सामग्री के आधार पर देना चाहता है अथवा ऐसे युद्धकी विभीषिकाओं से परिचित करा कर उससे विमुख होने के लिये प्रेरित करता है? ऐसा लगता है कि भारतीय सन्दर्भ में जो कुछ प्रगति हुई है या जिस प्रकार से विविध रसायनों का प्रयोग होता है, लेखक को जानकारी नहीं है या उसे देना नहीं चाहता। फलतः यह

पुस्तक रक्षा विज्ञान के विद्यार्थियों का मनोरंजन एवं ज्ञान-वर्धन तो कर सकती है किन्तु उन्हें कोई दिशा नहीं प्रदान कर सकती। सम्भवतः युद्ध सम्बन्धी विस्तृत जानकारी जनता को हितों का ध्यान में रखते हुये इस प्रकार से प्रकाशित भी नहीं हो सकती।

पुस्तक में एकाध दोष रह गये हैं। पारिभाषिक शब्दों को प्रयोग करते हुये लेखक अधिक सावधान नहीं रहता। वह हिन्दी, अंग्रेजी दोनों ही प्रकार के शब्दों को धडल्ले से प्रयोग में लाता है। एजेण्ट, एम्यूनीशन, नर्वगैस के साथ साथ एयरोसाल (अन्यत्र एयरो विलय) के प्रयोग दृष्टव्य हैं। मिथाइल, इथाइल, फिनाइल आदि के उच्चारण अब अशुद्ध माने जाते हैं। पृष्ठ 1 में छापे की एक महत्वपूर्ण भूल है—'बुझे' के स्थान पर 'मुजे' इस प्रकार पृष्ठ 10 पर भूगोल के स्थान पर 'मूगोल' है। आशा है अगले संस्करण में इनका सुधार कर लिया जावेगा।

हिन्दी पाठकों के समक्ष सर्वथा नवीन विषय पर पुस्तक प्रस्तुत करने के लिये लेखक बधाई का पात्र है।

शिवगोपाल मिश्र

(शेष पृष्ठ 17 का)

कर सकूँगी। विज्ञान की भाषा बड़ी नीरस होती है, उसको कोमल बनाना प्रेमियों का कर्तव्य है, विशेषतया तब जब उनकी प्रणयिनी ऐसा चाहती हो। लोग भ्रम में न रहें कि भारत में ही विज्ञान नहीं सिखाया जाता अतः वे हिन्दी सीख कर क्या करेंगे? मैं तो भारत में अपनी कहानी कह रही हूँ।

मैंने अपने विकास की पूरी कहानी कह दी है—मैं अब मुग्धा से प्रौढ़ा हो चुकी हूँ। यदि कुछ ठनगन करूँ, मान करूँ तो मान-मनावना आप सबका कर्तव्य हो जाता है। मैं अज्ञात कुल-शीला होकर भी इस भूमि में जैसा विकास कर पाई हूँ, उसका मुझे मान है। मेरा भविष्य ऐसे कर्मठ वैज्ञानिकों पर निर्भर है जो न केवल अगली पंक्ति में (पंक्ति पावन) हैं वरन् उन पर भी जो शब्द साधना में लवलीन (हरिजन) हैं।

राजनीतिज्ञ तथा साहित्य जन यह कहना छोड़ दें कि विज्ञान की भाषा सरल हो। यदि बारम्बार ऐसी ही माँगें दुहराई जाती रहेंगी तो शायद मेरा जन्मदाता जिसकी मैं मानस पुत्री हूँ, मेरी उत्पत्ति को निरर्थक समझ कर कहीं शाप न दे बैठे कि, 'जाओ मैं तुम्हें पुनः आत्मसात कर रहा हूँ' तुम मेरे मानस में विराजो। अभी जन कल्याण का समय नहीं आया। जब फिर इस भारत भूमि पर तेरी आवश्यकता होगी तो तुझे जन्म दूँगा। लेकिन शायद यह स्थिति उत्पन्न न हो। मैंने इतने ढेर सारे प्रेमी-प्रणयी जो पाल रखे हैं, उन्हें मेरे बिना चैन कहाँ! वे ही मेरे रक्षक बनेंगे। इसी विश्वास पर इतनी लम्बी यात्रा की है और इसी का सम्बल लेकर आगे बढ़ूँगी।'

एक बार अपने इष्ट जनों से बोलने को कहूँगी—"जय हिन्दी, जय नागरी।"

(समाप्त)

भूकंप अवरोधी मकान

भूकंपों से होने वाली विनाश लीला से मनुष्य सदियों से परिचित है। हमारे देश का पचपन प्रतिशत भाग भूकंप क्षेत्र में आता है। इस क्षेत्र में पूरी हिमालय पर्वत श्रेणी और उसके दक्षिण में लगता हुआ गंगा-सिंधु के मैदान का काफी बड़ा भाग सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वी और पश्चिमी तटों का कुछ भाग भी भूचाल क्षेत्र में पड़ता है। 1897 में आसाम में आया भूकंप संसार में अब तक के भयंकरतम भूकंपों में से एक था। कांगड़ा, बिहार, क्वेटा, आसाम और कोयना में आए भूकंप भी काफी शक्तिशाली थे जिनसे काफी विनाश हुआ था।

भूकंपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक खोज पिछले लगभग सौ सालों से ही आरंभ हुई है पर इनके विनाश से बचने के लिए बहुत से तरीके मनुष्य ने पहले से ही ढूंढ निकाले थे। भारत में काश्मीर में प्रयोग की जाने वाली 'घज्जी दिवारी' और आसाम की 'इकरा भवन' निर्माण पद्धति भी भूकंप से होने वाले विनाश को कम करने के लिए प्रयोग की जाती रही है। फिर भी इस प्राकृतिक विपदा के आगे मनुष्य असहाय रहा है। पिछले पचास वर्षों से वैज्ञानिकों का यही प्रयत्न रहा है कि किस प्रकार भूकंप से होने वाली जनसम्पत्ति की हानि को कम किया जाये।

हमारे देश में चिनाई के मकान बनते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो ऐसे मकान सस्ते बन जाते हैं, दूसरे ये ताप और मौसम के परिवर्तन को भी भली प्रकार सह सकते हैं। ऐसे मकानों में धूप से सुखाई गई ईंटों से बने मकान और पत्थर के बने मकान भी सम्मिलित हैं। भूचाल आने पर ऐसे मकान ही ज्यादा ढहते हैं क्योंकि इनकी चिनाई दोषपूर्ण होती हैं। ऐसे मकानों को भूकंपों से कैसे बचाया जाए इस विषय पर भूकंप इंजिनियरी अनुसंधान और प्रशिक्षण केन्द्र रुड़की के शोधकार्य से पता चला कि चिनी हुई इमारतों को भूकंप के झटकों को सहने के योग्य बनाने के लिए अच्छे जोड़ने वाले पदार्थ जैसे सीमेंट आदि और अच्छी पकी ईंटों का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार अगर चिनाई में पत्थरों का इस्तेमाल करना हो तो ऊबड़-खाबड़ पत्थरों की बजाए चौकोर पत्थरों का उपयोग करना अधिक सुरक्षित है। इसी तरह ईंटों की जगह यदि अन्दर खोखले कंक्रीट-ब्लाकों का इस्तेमाल किया जाए तो भवन ज्यादा मजबूत और झटके सहने योग्य बन जाते हैं। अनुसंधान से यह भी पता चला है कि मकानों को भूकंप-अवरोधी बनाने के लिए चिनी गई उन दीवारों की ऊँचाई जिन पर भार पड़ता हो, पन्द्रह मीटर से ज्यादा नहीं होनी चाहिये। ऐसी दीवारों में खिड़की और दरवाजों की संख्या भी कम हो और ये दीवार के कोने से सटाकर न बनाये जाएं। यदि दीवारों के कोनों और जोड़ों में रेनफोरसिंग छड़ों का प्रयोग किया गया हो तो भूकंप का प्रभाव कम पड़ता है और झटकों से इनमें बड़ी दरारें नहीं पड़ती हैं। जो स्थान भूकंप क्षेत्र में आते हैं वहाँ मकानों में छज्जे, बाल-

कनी वगैरह यदि न बनाये जाएं तो यह सुरक्षा की दृष्टि से ज्यादा अच्छा रहता है। केवल रेनफोरस किए गए और इमारत के मुख्य ढांचे से जुड़े हुए भाग ही झटकों में सुरक्षित रह सकते हैं। इस प्रकार बनाए गए मकानों में तेज झटकों से दरार पड़ सकती है पर वे पूरी तरह से ढह नहीं जाते।

वैसे तो आधुनिक तरीकों से ऐसे मकान बनाए जा सकते हैं जो भूकंपों के झटकों को पूरी तरह सह सके और उनमें दरार तक न पड़े पर इन पर लागत ज्यादा आती है जो कि एक आम व्यक्ति के बूते के बाहर की बात है। वैसे प्रत्येक मकान भूकंप-प्रूफ बनाया जाय इसकी इतनी आवश्यकता भी नहीं होती है क्योंकि तेज भूकंप कभी-कभी ही आते हैं। इसलिए कुछ भवनों को ही, जैसे हस्पताल, फैक्ट्रियां, बड़ी-बड़ी इमारतें और परमाणु-भट्टियों को ही भूकंप-प्रूफ बनाया जाता है।

हमारे गाँवों के मकान ज्यादातर कच्चे होते हैं। उनकी दीवारें मिट्टी और गोबर से बनाई जाती हैं। ऐसे मकान भूचाल के हल्के झटकों में भी गिर सकते हैं। यदि ऐसे मकानों की दीवारों को बनाते समय उनमें तारकोल से सनी बांस की खप्पचियों की बनी जाफरी या जाली डाल दी जाए तो ऐसी दीवारें झटकों को ज्यादा अच्छी तरह सह सकती हैं। इस प्रकार का भवन-निर्माण उन विकासशील देशों के लिए, जो भूकंप क्षेत्र में पड़ते हैं, बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

रवीन्द्र कुमार भटनागर,
विज्ञान अधिकारी,
आल इंडिया रेडियो,
क० नं० 81 सी, ब्राडकास्टिंग हाउस,
पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली

(शेष पृष्ठ 4 का)

एस्ट्रॉनोमिकल सोसायटी के स्वर्ण पदक (1922), फ्रेंकलिन इंस्टीटयूट के फ्रेंकलिन पदक (1931,) 'इंडियन एसोसियेशन फॉर कल्टीवेशन ऑफ साइंस' के जयकृष्ण मुकर्जी पदक (1937) तथा रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल के कलकत्ता पदक' (1938) से सम्मानित किया गया था।

17 सितम्बर, सन् 1946 को हृद् घनास्रता (कोरोनरी) थ्रोम्बोसिस) के आघात से सर जेम्स का निधन हुआ। अपने जीवनकाल में अपने शोध कार्य के अतिरिक्त विज्ञान के सिद्धान्तों को अपनी पुस्तकों में सरल भाषा में प्रस्तुत कर उन्होंने लाखों सामान्य पाठकों के लिये विज्ञान के गूढ़ प्रकोष्ठों के द्वार खोलकर जो महत्व कार्य किया वह अत्यन्त सराहनीय है।

भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 10
सं० 2034 विक्र०
अक्तूबर 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

किसी राष्ट्र की उन्नति वहां के निवासियों की समृद्धि व उनके स्वास्थ से आंकी जाती है। यदि जनता अस्वस्थ होगी तो खेतों, खलियानों, फैक्टरियों तथा अन्य आद्योगिक संस्थानों में कार्य में शिथिलता आयेगी और विकास कार्यों में बाधा पड़ेगी। स्वास्थ की ओर सभी सरकारों का ध्यान बराबर बना रहना ही चाहिये। हमारे गांवों की स्थिति अब भी काफी शोचनीय है। अशिक्षा तथा उपचार का अभाव नीरोग समाज बनाने में बाधक है। कहीं अस्पताल नहीं तो कहीं डॉक्टर नहीं। इसे ध्यान में रख कर सरकार ने 2 अक्तूबर, महात्मा गांधी के जन्म दिवस, से 'ग्राम स्वास्थ सेवा' आरम्भ किया है जिसके अन्तर्गत ग्राम निवासियों को रोगी होने पर उनके समुचित उपचार करने की सुविधायें उपलब्ध कराई जायेंगी। यह कार्य भिन्न प्रावस्थाओं में पूरा किया जायगा। 1000 की आबादी के लिए एक ग्राम स्वास्थ कार्यकर्ता होगा और इन क्षेत्रों के लिए 5000 कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया जायगा। विचार है कि औषधि की किसी भी प्रणाली में जिस व्यक्ति को कुछ अनुभव हो उसे प्रशिक्षित किया जाय। इस स्कीम पर आरम्भ में केवल उत्तर प्रदेश में 3 करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है और 1982 तक सम्पूर्ण राज्य में इसे लागू कर दिया जायगा।

यह विचारधारा कुछ समय पूर्व प्रतिपादित की गई थी कि चीन की ही तरह हमारे देश में भी 'नंगे पांव डाक्टर' की प्रथा चलाई जाय जिसमें थोड़ा अनुभव रखने वाले लोगों को सर्टिफिकेट दे दी जाय कि वह इलाज कर सकते हैं। गांवों में अभी भी ये 'नीम हकीम' चोरी छिपे उपचार करते ही हैं। कहा जाता है कि उन्हें प्रायः सफलता भी मिल जाती है पर शिक्षित तथा प्रशिक्षित डॉक्टरों का कहना है कि इन नीम हकीमों की फौज खड़ी कराने से लाभ होने के बजाय हानि होने का अधिक भय है। उनका कहना है कि इस कदम के उठाने के बजाय सरकार को चाहिये कि गांवों में अच्छे अस्पतालों का निर्माण करे, औषधि का समुचित प्रबन्ध करे तथा डॉक्टरों को वहां रह सकने योग्य परिस्थिति पैदा की जाय। केवल कक्षा 6 पास लोगों को प्रशिक्षित कर के डाक्टर बनाने की बजाय वैद्यों व हकीमों को गांवों में सुविधा देकर भेजा जाय। आज की परिस्थिति में गांवों में वह सुविधायें तो मिल ही नहीं सकती जो शहरों में मिलती हैं क्योंकि हमारे देश मे अभी इतना विकास तो हुआ ही नहीं परन्तु ग्रामीणों की स्वास्थ समस्या का समाधान तो निकलना ही है अतः सरकार तथा चिकित्सा के ज्ञानियों को मिल बैठकर इसका हल ढूंढना ही चाहिए।

इलेक्ट्रॉनिकी का सूक्ष्मीकरण

डा० सदगुरु प्रकाश

आदि काल से ही, जब से मानव ने सभ्यता के युग में चरण रखे, वह प्राकृतिक साधनों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करने में प्रयत्नशील रहा। धारा विद्युत के आविष्कार से इस कार्य में महान सफलता मिली और विद्युत के माध्यम से अनेक उपयोगी वस्तुयें सामने आयीं परन्तु 1904 में तो तापायनिक वाल्व की खोज ने तो एक क्रान्ति ही ला दी।

अन्य वैज्ञानिक उपलब्धियों के अतिरिक्त बेतार के तार और रेडियो संचारण हम लोगों के बीच आये। टेलीविज़न एवं राडार के आविष्कार से इलेक्ट्रॉनिकी अपने पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

ठोस भौतिकी के उद्भव ने पुनः एक मार्ग दर्शन किया। 1956 ई० में शाकले एवं बारडीन द्वारा ट्रान्जिस्टर की खोज वैज्ञानिकों एवं तकनीशियनों के लिए एक बरदान प्रतीत हुयी। अल्पकाल से ही ठोस-विधि ने लोकप्रियता प्राप्त कर ली और ट्रान्जिस्टर का प्रयोग लोगों को अधिक रुचिकर एवं सुविधाजनक लगा। ट्रान्जिस्टर एक तो छोटा था दूसरे इसमें निर्वात अथवा तन्तु की समस्या न थी। औषधि की गोलियों की तरह ट्रान्जिस्टर आकार में छोटे परन्तु कार्य में कुशल प्रमाणित हुये। इनके उपयोग से विद्युत के व्यय में भारी कमी आयी तथा उपकरणों को एक सुदृढ़ आकार प्राप्त हुआ इसके उपयोग में वाहनीय (पोर्टेबुल) विद्युत यन्त्र बने, जो जनता एवं गुप्तचर विभाग के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हुये। आज भी इनकी उपयोगिता कम नहीं हुयी है।

अन्तरिक्ष युग के आगमन से ट्रान्जिस्टर की उपयोगिता और बढ़ गयी, परन्तु प्रथम उपग्रह के छोड़े जाने के साथ ही, अति सूक्ष्म अवयवों की आवश्यकता महसूस हुयी और इस कार्य के लिए ट्रान्जिस्टर को अपूर्ण पाया गया। उपग्रह की अधिक उपयोगिता एवं उसके लम्बे जीवन काल के लिए वैज्ञानिकों ने सैकड़ों हज़ारों विद्युत परिपथों को एक साथ एवं कम से कम स्थान में संलग्न करना प्रारम्भ किया, जिससे 'सूक्ष्म-इलेक्ट्रॉनिकी' का युग प्रारम्भ हुआ। प्रिन्टेड सर्किट भी इसी की देन है। प्रिन्टेड सर्किट से तार के जाल समाप्त हो गये और इससे सामूहिक उत्पादन में बहुत सहायता मिली। आगे चलकर इसी ने एक नया रूप लिया और विद्युत अवयवों को एक समतल पर प्रदर्शित करने की विधि सामने आयी। एक ही धरातल पर, विद्युत तत्वों के संयोजन से विद्युत अवयवों का निर्माण किया गया। समतलों के त्रिदिशीय योग से एक छोटे से स्थान में ही अनेक विद्युत अवयवों का रखना सम्भव हो सका और इस प्रकार की व्यवस्था को 'इन्टिगरेटेड-सर्किट' (आई० सी०) कहा गया।

आई०सी० के उपयोग से स्थान एवं व्यय में आश्चर्यजनक कमी हुई। विद्युत वाल्व की अपेक्षा यह कमी लगभग एक हजारवाँ भाग थी। आई० सी० के उपयोग से विद्युत यन्त्रों में अधिक स्थिरता, सुगमता, एवं सुदृढ़ता सुलभ हो सकी। आज अधिकतर इलेक्ट्रॉनिक उपकरण आई० सी० का प्रयोग किसी न किसी रूप में अवश्य करते हैं। वास्तव में इलेक्ट्रॉनिक परिपथ जितना ही जटिल होता जाता है, आई०सी० की उपयोगिता उतनी ही बढ़ती जाती है।

आई सी साधारणतया एक आयोजित सिलिकन का क्रिस्टल होता है जिसको 'सिलिकान-चिप' कहते हैं। इसमें सावधानी पूर्वक बनाये गये पी० एन० युग्म (p-n जंकशन) का एक जाल होता है जो एक दूसरे से क्रमबद्ध रहते हैं। एक बार में कितने ही 'चिप' बनाये जा सकते हैं और इससे उत्पादन की लागत पर कोई असर नहीं पड़ता है। इस प्रकार एक 'चिप' का मूल्य कितना भी कम हो सकता है। सभी प्रकार के इलेक्ट्रॉनिक अवयव जैसे कि प्रतिरोध संधनित्र, डायोड आदि पी० एन० युग्म के माध्यम से ही बनाये जाते हैं। युग्म का निर्माण उच्च ताप पर विशुद्ध सिलिकन में अशुद्धियों के नियन्त्रित विकरण द्वारा किया जाता है। तत्पश्चात पूर्णता के लिए, 'इपीटैक्सियल ग्रोथ', फोटो-इचिंग', एवं 'मेटलाइजेशन' आदि विधियों का उपयोग किया जाता है। एम० ओ० एम० (मेटल आक-साइड सिलिकान) एवं एल० एस० आई० (लार्ज स्केल इन्टिगरेशन) द्वारा निर्माण कार्य और सुगम हो जाता है।

आधुनिक हस्त गणना यन्त्र, डिसप्ले घड़ियाँ, अति सूक्ष्म ट्रान्समीटर, सिगरेट के डिब्बे जैसे कम्पयूटर एवं वाहनीय टेलीविजन आदि इसकी देन हैं। आई०सी० अभी तो अपने शैशव काल में है। इसका भविष्य तो असीमित है। यों तो आई० सी० का औद्योगीकरण अभी अमरीका में ही सम्भव हो सका है, परन्तु अपने देश में भी 'भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड' और 'हिन्दुस्तान सेमीकन्डक्टर्स' आदि उद्योग स्थलों में भी सिलिकान चिप को निर्यात कर, आई० सी० को अन्तिम रूप रेखा दी जाती है।

जे० के० इन्सटीट्यूट
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

(पृष्ठ 14 का शेष)

हैं। तब इस सिद्धांत के आधार पर कहा जा सकता है कि सूर्य हमेशा ऊर्जा बना कर अपने पदार्थ को खत्म कर रहा है। अर्थात् ऊर्जा उत्पादन के कारण सूर्य का पिण्ड धीरे-धीरे घटता जा रहा है। वैज्ञानिक कहते हैं कि हर एक सेकेण्ड में सूर्य का वजन 40 लाख टन के हिसाब से घटता जा रहा है।

ज्योतिर्मय सूर्य : सूर्य के निरंतर चमकीला बने रहने का कारण उसकी हाइड्रोजन गैस है। काफी ताप मिलने पर हाइड्रोजन के परमाणुओं के टक्कर के कारण तीव्र चमक एवं ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसके अलावा सूर्य के नाभिक में वर्तमान भारी तत्व अपने-आप विखंडित होकर ऊर्जा एवं चमक का निर्माण करते हैं। सूर्य तब तक इसी तरह ज्वलंत पिंड बना रहेगा, जब तक सूर्य से हाइड्रोजन गैस समाप्त न हो जाय या उसके नाभिक के भारी तत्व विच्छेदित होकर हल्के तत्व में बदल न जायें।

सूर्य का भविष्य : सूर्य का हाइड्रोजन धीरे-धीरे हीलियम में बदल रहा है। उम्मीद की जाती है कि सम्पूर्ण हाइड्रोजन करोड़ वर्ष में हीलियम में बदल जायगी। उस समय सूर्य लाल तारा के रूप में नजर आएगा। हजारों वर्ष बाद सूर्य का रंग कुछ और होगा तो लाखों वर्ष बाद कुछ और।

न्यू एरिया
डालमिया नगर—
821305

पृथ्वी की संरचना

विजय कान्त श्रीवास्तव

पृथ्वी की संरचना में अनेक तत्व पाये जाते हैं। संरचना कई पर्तों में पाया जाता है। इन पर्तों में निम्न पर्तें प्रधान हैं— (1) वायुमंडल तथा जलमंडल (2) पृथ्वी पृष्ठ (3) चाल्कोस्फेयर तथा (4) सिप्रोस्फेयर इस पर्तों की संरचना में विभिन्न तत्व पाये जाते हैं। गोल्डश्मिस्ट तत्वों की उत्पत्ति के आधार पर वर्गीकृत किया है। इन तत्वों को निम्न सारणी में दिखाया गया है।

सारणी 1

तत्वों का भूरासायनिक वर्गीकरण

लौह	सल्फाइड	सिलिकेट	गैस	जीव
सिडेरोफाइल	चाल्कोफाइल	लिथोफाइल	एटमोफाइल	बायोफाइल
Fe. Ni. Co	O, S. Se, Te	O. S. P. H.	H. N. C.	C. H. O.
P (As). C.	Fe, Cr. Ni. Co	Si, Ti, Zr, Hf	O	N. P.
Ru. Rh, Pd,	Cu. Sn. Cd. Pb	Tu, Li, Na, K.	Cl Br I	S. Cl.
OS. Ir. Pt. Au.	Sn. Gc. Mo	Rb. Cs, F,	Hc, Ne, Ar	I. B.
Ge . Sn, MO. W	As. Sb. Bi	Cl, Br. I.	Kr. Xe	Ca. Mg.
(Nb) Ta,	Ag. Au. Hg	B. Al. Ga Sc		K. Na
(Se) (Tc)	Pd. Ru Pt Ga. In Tl. Cr	Rare earth Bc. Mg. Gr. Sr. Ba Fc, V. Cr, Mn Nb, Ta, W. U		V. Mn Fe. Cu.

पृथ्वी के आंन्त्रिरक आन्तरक के रासायनिक तत्वों का निर्धारण कठिन है। पृथ्वी पृष्ठ का निर्माण निम्न पर्तों से हुआ है।

1. अवसाद—यह अवसाद पर्त सियाल पर्त तक पाया जाता है।
2. सियाल—यह पर्त 30 कि० मी० गहराई तक पायी जाती है। इस पर्त के ऊपरी भाग में ग्रेनाइट शिला पायी जाती है तथा नीचे साइमा पर्त पायी जाती है।
2. साइमा—यह पर्त 30 कि० मी० से 60 कि० मी तक पायी जाती है इस पर्त में बसाल्ट तथा इक्लोगाइट शिला पायी जाती है।
4. पेरीडोटाइट पर्त—इस पर्त के नीचे भारी सिलिकेट पाये जाते हैं। इसमें डनाइट या पेरिडोटाइट शिला पायी जाती है, इसमें ओलीवीन खनिज प्रधान होता है।
5. आत्तर आत्तरक—आत्तर आत्तरक में निकेल तथा आयरन का ठोस तथा द्रव रूप पाया जाता है।

भूकम्पीय तरंगो, उल्कापातों तथा तीव्र दबाव के अध्ययन के आधार पर पृथ्वी आन्तरिक रचना का रूप चित्र संख्या 1 में दिखाया गया है।

मोहोरोविसिक विसंगति के 200-400 कि० मी० नीचे तक डनाइट पेरिडोटाइट शिला गारनेट पेरीडोटाइट शिला में बदलने लगती है।

इससे नीचे 400 से 900 कि० मी० तक शिलाओं का मिला जुला रूप पाया जाता है! ओलीविन स्पिनेल में बदल जाता है। पायरोम्जीन स्पिनेल तथा कोयेसाइट में बदल जाता है।

900-2900 कि० मी० गहराई पर सभी तत्व द्रव रूप में पाये जाते हैं।

सारणी 2 में पृथ्वी पृष्ठ में पाये जाने वाले तत्वों को भार प्रतिशत इकाई में दिखाया गया है। क्लार्क तथा वाशिंगटन ने अवसादीय तथा आग्नेय शिलाओं के विश्लेषण के औसत के आधार पर भार प्रतिशत की गणना की है। सेडेरहोम ने शिलाओं की प्रधानता पर भी महत्व दिया है, गोल्डस्मिट ने हिम मृदा से औसत भार प्रतिशत की गणना की है। नीचे सारणी में तीनों का भार प्रतिशत दिया है।
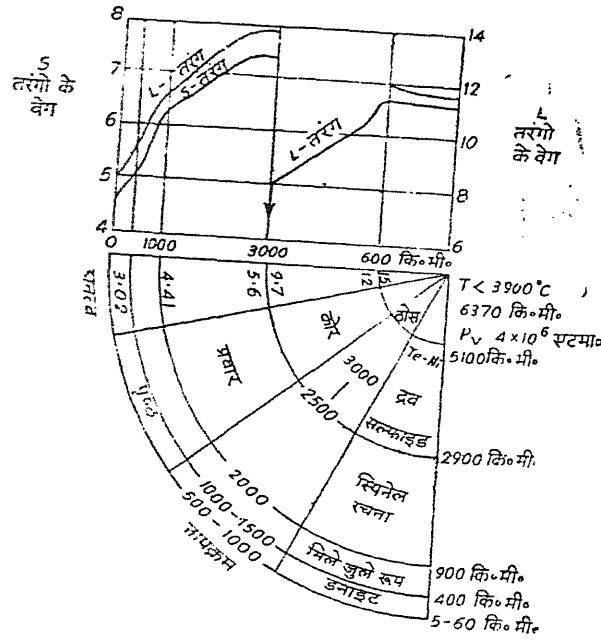
चित्र संख्या 1=पृथ्वी की आंत्तरिक संरचना

सारणी 2

पृथ्वी पृष्ठ की रासायनिक संरचना

भार प्रतिशत

	क्लार्क तथा वाशिंगटन	सेडेरहोम	गोल्डस्मिट
SiO_2	59·07	67·45	59·19
TiO_2	1·03	0·41	0·79
Al_2O_3	15·22	14·63	15·82
Fe_2O_3	3·10	1·27	3·41
FeO	0·71	3·28	3·58
MnO	0·11	0·04	0·11
MgO	3·45	1·69	3·30
CaO	5·10	3·40	3·07
Na_2O	3·71	3·06	2·05
K_2O	3·11	3·55	3·93
H_2O	1·30	0·79	3·02
P_2O_5	0·30	0·11	0·22
CO_2	0·35	0·12	0·54

निम्न सारणी में तत्वों का भार प्रतिशत एटम प्रतिशत, आयतन प्रतिशत तथा अणु व्यास भी दिया गया है। इनकी गणना क्लार्क तथा वाशिंगटन के आँकड़ों से किया गया है। इसमें आक्सीजन की प्रचुरता का पता चलता है। इसीलिए गोल्डस्मिट इस क्षेत्र को आक्सीजन मंडल कहता था!

सारणी 3

पृथ्वी पृष्ठ की तात्विक संरचना

	भार %	एटम %	आयतन %	अणु अर्द्धव्यास A°
O	46·71	60·5	94·24	1·40
Si	27·69	20·5	0·51	0·39
Ti	0·62	0·3	0·03	0·68
Al	8·07	6·2	0·44	0·50
Fe	5·05	1·9	0·37	0·70
Mg	2·08	1·8	0·28	0·65
Ca	3·65	1·9	1·04	0·99
Na	2·75	2·5	1·21	0·95
K	2·58	1·4	1·88	1·33
H	0·14	3·0	—	—

निम्न सारिणी में पृथ्वी पृष्ठ में पाये जाने वाले लेश तत्वों (Trace element) की मात्रा दर्शायी गयी है।

सारणी 4

पृथ्वी पृष्ठ में लेश तत्व

(अंश दस लाख में)

Ti=4400	Ce=46	B=2	Hg=0·5
H=1300	Cu=45	Sn=3	I=0·3
P=1180	y=40	Yb=3	Bi=0·2
Mn=1000	Li=30	Er=3	Sb=0·2
F=800	Nd=24	Br=3	Tm=0·2
S=520	Ne=24	Gc=3	Cd=0·2
Sr=450	Co=23	Be=2	Ag=0·1
Ba=400	La=18	As=2	In=0·1
C=320	Pb=15	U=2	Se=0·09
Cl=200	Ga=15	Ta=2	A=0·04
Cr=200	Th=10	Te=1	Pd=0·90
Zr=160	Sm=7	W=1	Pt=0·005
Re=120	Gd=6	Mo=1	He=0·003
V=110	Pr=6	Eu=1	Te=0·0018
Ni=80	Sc=6	Ho=1	Rh=0·001
Zn=65	Hf=5	Cs=1	Ir=0·001
N=46	Dy=5	Tb=0·9	Os=·001
		Li=0·7	Ru=·001
			Ra=$1·3 \times 10^{-6}$
			Pa=5×10^{-7}
			Po=3×10^{-10}
			Ac=3×10^{-10}
			Ne=$7·0 \times 10^{-10}$
			Kr=$1·6 \times 10^{-11}$
			Xe=20×10^{-12}

उपर्युक्त सारणियों में पृथ्वी पृष्ठ के 0·4% भाग की संरचना दी गई है।

भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण
भारत सरकार
लखनऊ

पहला जीव कैसे बना ?

डॉ० चन्द्रविजय चतुर्वेदी

अहा हा! कितना विचित्र है यह संसार। जीवधारियों की यह दुनिया। एक ओर तो अनेक प्रकार के पौधों का वनस्पति जगत है। दूसरी ओर तमाम अद्भुत जन्तुओं का प्राणि जगत। वनस्पतियों की दुनिया में कहीं बड़े-बड़े पेड़ हैं तो कहीं छोटी छोटी झाड़ियाँ। कुछ पेड़ मीठे फल दे रहे हैं तो कुछ झाड़ियाँ सुगन्ध भरे फूल। प्राणियों की दुनिया भी कितनी अद्भुत है। कुछ प्राणियों के दो पैर हैं, तो कुछ के चार। एक को अपनी पूँछ पर नाज है तो दूसरे को अपने पंख पर। मस्ती से मछलियाँ पानी में तैर रही हैं तो मेढ़क कुदक रहे हैं। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। फूलों पर भौंरे गुनगुना रहे हैं। घने पेड़ों के जंगल में शेर, बाघ, तेंदुये चिग्घाड़ रहे हैं। खूबसूरत खरगोश के बच्चे कहीं झाड़ियों में दुबके हैं, तो हिरन कुलाचें मार रहा है। यह जीव जगत एक अजायबघर है न। इस जगत में एक और प्राणी है— मनुष्य जिसकी स्थिति एक सम्राट जैसी है। मनुष्य भी इसी जीव जगत का एक प्राणी है जैसे अन्य जीवधारी-हाथी गाय आदि हैं अथवा जैसे केंचुआ, चींटी, तितली आदि प्राणी हैं।

आज सारी दुनिया में अलग अलग तरह के दस लाख से अधिक किस्म के जीवित प्राणी और पेड़ हैं। ये कुल पेड़ और जानवर मनुष्य से कितने अलग दिखते हैं ? पर असलियत यह है कि ये पेड़ और ये जानवर मनुष्य के रिश्तेदार हैं। सारा जीव जगत एक ही परिवार है। सब एक पिता के सन्तान हैं। कौन है यह एक पिता ?

वनस्पति जगत के पेड़ पौधे एक छोटे से बीज से पैदा होते हैं। प्राणि जगत के जानवर अपने माँ बाप से बच्चे के रूप में पैदा होते हैं। जीवधारियों का यह अद्भुत गुण है, कि यह अपने जैसा ही इसका जीव पैदा करता है। गाय, गाय के बच्चे को जन्म देती है। कुतिया, कुत्ते के बच्चे को जन्म देती है। किसी पेड़ के बीज को भूमि में रखने पर पुनः पहले जैसा पेड़ तैयार हो जाता। पर चक्कर में डाल देने वाला सवाल यह है कि सबसे पहले वाले जीव कैसे पैदा हुये ? यह पहले वाला जीव ही जीव जगत के परिवार का पुरखा है।

छोटा पुरखा

यह पुरखा है कोशिका या सेल। यह कोई भारी भरकम वस्तु नहीं है। बड़ी छोटी सी चीज है। इसे आँखो से नहीं देख सकते। इसे देखने के लिए खुर्दबीन (माइक्रोस्कोप) का प्रयोग करना पड़ेगा। यदि किसी तरह छः हजार सेलों को एक के ऊपर एक रख सकें तो उन सब की ऊँचाई केवल एक इंच होगी। यह छोटा पुरखा इस धरती पर कैसे बना ? इसी की कहानी पहले जीव की कहानी है।

कहानी कैसे शुरु हो ?

यदि एक ऐसा सिनेमा बनाया जाय जो दुनिया और जीव के जन्म की कहानी को तसवीरों में बताये तो पूरी तसवीर देखने में तीन घण्टे तीस मिनट लगेंगे। सिनेमा के एक मिनट में एक करोड़ वर्ष की बात कही जायेगी।

सिनेमा की शुरुआत होगी, इस दुनिया के बनने से। आखिर यह पुरखा किस घर में जन्मा, इसकी जानकारी तो होनी चाहिये। यह हमारी पृथ्वी इस पुरखा का घर है। सिनेमा शुरु हुआ। परदे पर अँधेरा है। तुरन्त ही एक तेज चमकता गोला परदे पर दीखता है जो अपनी जगह ही बड़ी तेजी से नाच रहा है। यह सूरज है। थोड़ी देर में ही एक दूसरा बड़ा गोला सूरज के पास से होकर बड़ी तेजी से गुजरता है। अरे यह क्या ? पलक झपकाते ही सूरज में से एक हिस्सा छिटक गया। यह हिस्सा तेज भागते गोले के पीछे भागता है। पर यह गोला बड़ी तेजी से दूर चला जाता है और परदे पर नहीं दिखता। अफसोस। छिटका हुआ भाग उस गोले को नहीं पकड़ पाया। दुबारा सूरज से मिल भी न पाया। अब यह सूरज का टुकड़ा सूरज के चारों ओर चक्कर काटने लगता है।

तेज चमकने वाला यह सूरज हवा का एक गोला है। इसकी गरमाहट उबलते हुये पानी से 600 गुना ज्यादा होगी। इसका बड़ा गोला जो सूरज के पास से गुजरा है, यह एक तारा है। इस तारे में बहुत ताकत थी। इसी ताकत से सूरज का कुछ भाग छिटक गया। अब परदे पर सूरज के चारों ओर चक्कर काटने वाला टुकड़ा नौ भागों में छिटक जाते हैं। कोई सूरज के पास है, कोई दूर है। हमारी पृथ्वी भी इसी नौ में से एक है। ये नौ सूरज के ग्रह हैं जिनके नाम हैं : मंगल, बुध, पृथ्वी, वृहस्पति शुक्र शनि, यूरेनस, नैपचून और प्लेटो।

अब परदे पर केवल तेजी से घूमता एक गोला दिखलाई पड़ रहा है। यह अपनी पृथ्वी है जो सूरज की भाँति ही एक गैस का गोला है। हमारा सूरज लगभग 5 अरब वर्ष पुराना है और पृथ्वी को बने लगभग साढ़े चार अरब वर्ष हुए। यह पृथ्वी जब सूरज से अलग हुई उस समय उसका ताप सूरज जितना ही था। लगभग पाँच करोड़ साल तक सूरज के चक्कर काटते रहने के बाद कहीं पृथ्वी में अन्तर आया। इन ठण्डी गैसों ने द्रव बनाया। धीरे-धीरे यह द्रव जो पहले खूब गरम था, ठण्डा होने लगा। ठण्डा होने के दौरान गोले के ऊपर एक पपड़ी जम गई यह पपड़ी ही पृथ्वी की ऊपरी सतह है। पृथ्वी के ठण्डी होने पर हवा गाढ़ी होकर नई नई चीजें बनाती है जिसमें धातुओं के आक्साइड हैं जो धरती के पेट में बीच का हिस्सा बनाते हैं। पृथ्वी पर सबसे महत्वपूर्ण वस्तु पानी भी गैसों में भाप के रूप में थी। पृथ्वी के ठण्डा होने पर यह धरती पर बरसता था। धरती गरम थी बरसे पानी को फिर भाप बना देती थी। पानी बरसता रहा। गरम धरती भाप बनाती रही। परदे पर दिखलाई पड़ता है कि आकाश बादलों से घिरा है। मूसलाधार वर्षा हो रही हैं। यह क्रिया परदे पर दस मिनट तक होती रहती है। अर्थात दस करोड़ वर्ष तक पानी बरसने और भाप बनने की क्रिया के होने के बाद पृथ्वी की सतह ठण्डी होती है। मूसलाधार वर्षा अब बन्द हो जाती है।

दस करोड़ वर्ष तक की इस लगातार बरसात से गरम धरती की सतह जगह जगह से चिटक गई। कहीं ऊँची उठ गई, कहीं कहीं दरारें पड़ गईं। दरारों में बरसात का पानी इकट्ठा होता गया जिससे समुद्र बन गया। ऊँची उठी धरती पहाड़ बने। इस समुद्र में बहुत से पदार्थ घुले हैं जिनसे नये नये पदार्थ बनने लगते हैं। इस नये पदार्थ में से एक है ऐमीनो अम्ल। यह पदार्थ अन्य पदार्थों की सहायता से कुछ ऐसे पदार्थ बना देता है जिससे सेल या कोशिका की रचना होती है। ये पदार्थ हैं प्रोटीन और न्यूक्लीइक अम्ल।

यहाँ तक सिनेमा की आधी तस्वीर समाप्त होती है। इसके बाद इण्टरवेल हो जाता है। अब परदे पर दिखलाया जायेगा कि इस छोटे से जीव, सेल या कोशिका से कैसे तरह तरह के पौधे और जानवर बने ? सिनेमा की आखिरी कहानी होगी कि आदमी की सूरत शक्ल कैसे बनी ? फिर आजकल के आदमी की शक्ल कैसे बनी ? इसका शरीर कैसे बना ?

इण्टरवेल के पहले की यही कहानी ही पहले जीव की कहानी है। हमारी पृथ्वी पर पहले के जीवों के

अवशेष मिलते हैं। इन्हे फॉसिल या जीवाश्म कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने सबसे पुराने जीवाश्मों की छानबीन करके यह मालूम किया है कि पृथ्वी पर एक कोशिका वाले छोटे जीव लगभग 3 अरब वर्ष पूर्व प्रकट हुए।

संसार का एक नियम - विकास

एक चीज में से दूसरी चीज का आहिस्ता आहिस्ता निकलना और दूसरी चीज और पहली चीज में भेद हो जाना विकास कहा जाता है। यह संसार का एक नियम है। डार्विन नामक एक वैज्ञानिक, जीव विज्ञान के बड़े पंडित हुए हैं। इन्होंने विकास का यह सिद्धान्त दिया। डार्विन ने अनेक प्रकार के पेड़ पौधों, जीवों का अध्ययन करके यह बताया कि संसार के बड़े जीव छोटे जीवों से विकसित हुए हैं।

डार्विन अपने बचपन में ही अपना समय पौधों को जमा करने और जानवरों को देखने में बिताता था। डार्विन के पिता उसे डाक्टरी पढ़ाना चाहते थे पर उसकी रुचि तो शिकार खेलने, कुत्ते पालने और चूहे पकड़ने में थी। किसी प्रकार बी० ए० पास करने के बाद डार्विन एक समुद्री जहाज में नौकरी करने लगा। जहाज पर दुनिया की सैर करते हुए डार्विन पहाड़ों, पेड़ों और जानवरों के बारे में जाँच करता रहा। एक बार वह एक टापू में पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि टापुओं में पाये जाने वाले

जानवरों और पेड़ों की जाति, और महाद्वीप में पाये जाने वाले पेड़ों और जानवरों की जाति में बहुत अन्तर है। डार्विन ने बताया कि इन सब जाति के जानवरों और पेड़ों के मूल में एक ही जाति के पुरखा रहे होंगे। महाद्वीप से ये अलग अलग टापुओं में फैल गये होंगे और आहिस्ता आहिस्ता भिन्न भिन्न परिस्थितियों में बदलने से इतना अन्तर पैदा हो गया होगा।

जीवों में अपनी बाहरी परिस्थितियों से लड़ने का एक गुण होता है। परिस्थितियों में फेर बदल होने पर जीव उनके साथ समायोजन का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में उसके शरीर के आकार उसकी भीतरी बनावट तथा आन्तरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार जीव परिस्थिति के साथ संघर्ष करते हुये एक कोशिका वाले छोटे जीव से बड़े जीव मे विकसित होते रहे। डार्विन के सिद्धान्त से यह ज्ञात न हो सका कि कैसे निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ बना? कैसे सजीव पदार्थ मे कोशिका या सेल बने।

जीव के बारे में पहले के विचार

आज के अधिकांश वैज्ञानिकों का यह मत है कि पहला जीव पानी में प्रकट हुआ। पानी में ही जीव की रचना विभिन्न पदार्थों की क्रिया प्रतिक्रिया के कारण हुई। उस पूरी विधि के वर्णन करने के पूर्व यह जानकारी आवश्यक है कि आज के वैज्ञानिक युग के पहले विद्वानों और ग्रंथों में जीव के बारे में क्या कहा गया है?

सबसे पुराने भारतीय ग्रंथ वेद में जीव की उत्पत्ति का जिक्र मिलता है। वेदों के अनुसार जीव की उत्पत्ति पंच तत्वों—क्षिति (पृथ्वी) जल, पावक (अग्नि) गगन और समीर (वायु) की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया से होती है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अरिस्टोटिल ने कहा कि पानी, खनिज प्रकाश, हवा और गरमी के मिलने से अचानक ही जीव प्रकट हो जाते हैं। आर्हीनियस ने तो एक दूसरे प्रकार का विचार दिया कि पृथ्वी पर जीव दूसरे ग्रह से आया। इस विचार का समर्थन भी कुछ वैज्ञानिकों ने किया। इनके अनुसार छोटे छोटे जीवांश हवा के सहारे आकाश में एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कार्य नहीं करती। इस स्थान पर ये जीवांश

सूर्य की किरणों से ऊर्जा ग्रहण करते हैं और ग्रहों के बीच के खाली स्थान में चलते चलते दूसरे ग्रह तक पहुँच जाते हैं।

प्रिअर नामक एक वैज्ञानिक का कहना है कि पृथ्वी जब आग के गोले के रूप में थी तब भी उसमें जीव थे। पेरी ने जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक मनोरंजक बात कही। हमारी पृथ्वी पर वर्तमान जीवों से अलग एक अन्य प्रकार के जीव पहले रहे होंगे। इनमें आपस में संघर्ष होता रहा होगा। संघर्ष के बाद जो जीव बच गये वे ही आज के जीव हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लुईपाश्चूर नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया कि जीव की उत्पत्ति जीव से ही हुई है। ये अकस्मात नहीं प्रकट हुए हैं। जीव रहित पदार्थ को चाहे जितने समय तक रक्खा जाय उसमें से जीव प्रकट नहीं हो सकेंगे। इन सभी विद्वानों के विचारों और खोजों से यह ज्ञात नहीं हो सका कि इस पृथ्वी पर किस विधि से पहला जीव पैदा हुआ।

लुई पाश्चर

रसायन का विकास

निर्जीव पदार्थ से "चेतन" जीव पैदा हुआ। इस विधि का ज्ञान तभी सम्भव हो सका जब कि विज्ञान की शाखा, रसायन शास्त्र, के ज्ञान में खूब वृद्धि हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जीव की क्रिया से सम्बन्धित आवश्यक रासायनिक ज्ञान की जानकारी वैज्ञानिकों को नहीं थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जीव की क्रिया से सम्बन्धित इस ज्ञान में वृद्धि हुई। ज्ञान के इस विषय को जैव-रसायन (बायोकेमेस्ट्री) कहा जाता है। यह रसायन की ही एक शाखा है।

सोवियत यूनियन के जैवरसायनज्ञ (बायोकेमिस्ट) ए० आई० ओपरिन ने 1924 में तथा इंग्लैड के, जे०बी० एस० हाल्डेन, जिन्होंने बाद में भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त कर ली थी, ने 1929 में जीव की उत्पत्ति के बारे में काफी जानकारी दी।

पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति की पूरी विधि को तीन भागों में बाँटा जा सकता है— (क) परमाणु से अणु-पृथ्वी जब सूरज से अलग हुई तो यह हवा का एक गोला था। इस हवा में बहुत से तत्वों के परमाणु रहे होंगे। धीरे धीरे इन परमाणुओं से कुछ यौगिकों के अणु बने। इन यौगिकों में से मुख्य हैं जल, मीथेन, अमोनिया, कार्बन डाई आक्साइड। इसी भाग में छोटे अणु वाले ये यौगिक आपस में क्रिया करके बड़े अणु वाले यौगिक ऐमीनो एसिड बनाते हैं।

(ख) दूसरे भाग में बड़े अणु वाले यौगिकों के कई अणु आपस में जुड़ते हैं तथा एक ऐसा यौगिक बनाते हैं जिसे बहुलक कहते हैं। बहुलक (पॉलीमर) का एक उदाहरण है प्रोटीन।

(ग) छोटे अणु वाले यौगिक जहाँ निर्जीव जगत बनाते हैं वहीं बड़े अणुवाले बहुलक चेतन जीव का निर्माण करते हैं।

(क्रमशः)

सूर्य की बातें

कृष्ण किसलय

बहुत बड़ी गेंद के आकार की उस चीज 'सूर्य' को आदिकाल से ही लोग पूजते आए हैं। सूर्य को यूनान में 'अपोलो' अर्थात् प्रकाश का देवता कहा जाता था। ईसा से 434 वर्ष पहले एक यूनानी विचारक ऐनट सा-गोरस ने पहली बार कहा था कि सूर्य (अपोलो) नहीं है, बल्कि एक जलती हुई विशाल गोल चट्टान है। इसके बाद बहुत से विचारकों ने इस विषय पर अपने मत दिए। परन्तु वास्तव में सही-सही मत 7 जनवरी 1610 ई० के ऐतिहासिक दिन से ही मिलने लगे। इस दिन गैलीलियो गैलीलियाई ने अपनी दूरबीन से आकाश का परीक्षण किया और सूर्य के विषय में जानकारी दी।

सूर्य हमारी धरती से 14, 88, 00, 000 किलोमीटर दूर है और पृथ्वी से तेरह गुना बड़ा है। सूर्य का द्रव्यमान 2×10^{30} किलो है। सूर्य का गोलीय आयतन 14×10^{33} घन से० मी० है। इसका औसत घनत्व 14 ग्राम प्रति घन से० मी० है।

जिस प्रकार सूर्य की परिक्रमा ग्रह करते हैं, उसी प्रकार सूर्य भी अपने आकाश-गंगा की परिक्रमा 160 मील प्रति सेकेण्ड की दर से करता है। अंधेरी रात में खुले आकाश की ओर बड़ी सावधानी और ध्यान से देखने पर एक घना और विशाल तारागों का समूह का दिखाई पड़ता है। इसे ही पौराणिक भाषा में आकाश-गंगा कहते है। इस आकाश-गंगा का चक्कर लगभग डेढ़ अरब सूर्य लगाते हैं, जो हमारे सूर्य नहीं हैं। हमारा सूर्य तो आकाश-गंगा का नन्हा-सा सदस्य है, जो 25 दिनों में आकाश-गंगा की परिक्रमा पूरा कर लेता है।

सूर्य की रचना : सूर्य की रचना के बारे में अधिकांशतः जानकारी 'फ्रॉन हाफर-रेखाएं' द्वारा मिलती है। ये रेखाएं सूर्य की किरणों से प्राप्त वर्णक्रम की काली रेखाएं हैं, जिन्हें फ्रॉन हाफर की काली रेखाएं कहते हैं, जिन्हें फ्रान हाफर महोदय ने खोजा था। इसके अलावे भी तारों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ और भी भौतिकी के सिद्धांत हैं। इस प्रकार सूर्य को तीन प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है—प्रकाश मंडल, प्रभा मंडल और मुकुट।

प्रकाश मंडल (फोटोस्फियर) सूर्य का बीच वाला भाग है। इसका तापमान 2 करोड़ डिग्री सेंटीग्रेड के लगभग है। प्रकाश मंडल से ही सूर्य की किरणें निकलती हैं। इस भाग में भारी तत्व वर्तमान हैं। प्रभा मंडल (क्रोमोस्फियर) सूर्य के केन्द्रीय भाग को घेरे रहता है। इसका तापमान 6 हजार डिग्री सेंटीग्रेड के करीब है। इसी भाग में हीलियम, ऑक्सीजन, लोहा, सोडियम, कैल्सियम आदि तत्व वर्तमान हैं। मुकुट (कोरोना) सूर्य का सबसे बाहरी हिस्सा है, जो गैसों से बना है और जिसमें प्रमुखतः हाइड्रोजन ही वर्तमान है। इस भाग से गैसों की लपटें निकलकर अंतरिक्ष में हजारों मील तक चली जाती है।

सूर्य की किरणें : सूर्य की किरणों में प्रमुख रूप से सात रंग पाए जाते हैं, जिन्हें वर्ण पट्टिका पर देखा जाता है। वास्तव में ये रंग सात भिन्न किरणों के रंग हैं जो आपस में मिश्रित होकर उजला रंग देती हैं। सूर्य की किरणें तरंग के रूप में गमन करती हैं। भिन्न-भिन्न रंगों

के तरंगन्दैर्घ्य भिन्न-भिन्न होते हैं जिससे उनका वेग भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। सूर्य की प्रकाश-तरंगें (किरणें) विद्युतीय एवं चुम्बकीय तरंग हैं। ये काफी शक्ति-शाली विद्युतीय या चुम्बकीय क्षेत्र में आने पर विचलित हो जाती हैं।

सूर्य के धब्बे : चन्द्रमा की तरह सूर्य में भी धब्बे हैं—हजारों हजार मील लम्बे चौड़े धब्बे। ये सूर्य की चमक के कारण आंखों से दिखाई नहीं पड़ते हैं। हर ग्यारह वर्ष पर धब्बे बड़े और अधिक हो जाते हैं। उस वर्ष पृथ्वी पर बड़े जोरों से विद्युतीय एवं चुम्बकीय तूफान उत्पन्न होते हैं। जिसके असर से रेडियो की आवाज साफ-साफ सुनाई नहीं पड़ती है। यहां तक कि कुतुबनुमा की सूई ठीक से काम नहीं करती है।

धब्बे स्थिर नहीं रहते, अपनी आकृति और स्थान बदलते रहते हैं। ये सूर्य के उत्तर-दक्षिण से उत्पन्न हो कर सूर्य के केन्द्र में खो जाते हैं। धब्बे हमेशा वहीं बनते हैं, जहाँ पहले धब्बे उत्पन्न हुए थे। धब्बों के उत्पन्न और नष्ट होने की क्रिया हर रोज जारी रहती है। कुछ धब्बे एक सप्ताह तक नष्ट नहीं होते हैं। सूर्य में पृथ्वी से भी काफी बड़ा एक धब्बा 7 फरवरी, 1956 ई० में देखा गया था। इन धब्बों का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। रूस के वैज्ञानिक स्कोतोविच का कथन है कि जब ये धब्बे दिखाई पड़ते हैं या काफी बढ़ जाते हैं, तब पृथ्वी के कई भागों में सूखा पड़ता है या बीमारी फैलती है।

सूर्य से ऊर्जा : सूर्य प्रति मिनट इतनी ऊर्जा अंतरिक्ष में फेंकता है, जिसे पाने के लिए हमें करोड़ों टन कोयला जलाना पड़ेगा। पृथ्वी को तो सूर्य की कुछ ही ऊर्जा मिल पाती है। बाकी अंतरिक्ष में बिखर जाती है। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि पृथ्वी के एक वर्गमीटर क्षेत्र को एक मिनट में 190 किलो कैलोरी ऊर्जा सूर्य से मिलती रहती है। सूर्य हमारी धरती को लगभग इतनी ही मात्रा में ऊर्जा। अरब 55 करोड़ वर्ष (जब से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई) देता आ रहा है।

ऊर्जा संकट में सूर्य : लगभग सौ वर्ष बाद संसार से तेल और कोयला खत्म हो जाएगा। सर जार्ज पोटर का कहना है कि उस दिन सूर्य की ऊर्जा ही एक मात्र मदद कर सकती है। क्योंकि इक्कीसवीं शताब्दी में संसार में जितने बिजली घर आज हैं, उनसे दस हजार गुना बिजली घरों की आवश्यकता पड़ेगी। उस समय सूर्य ही हमारी मदद कर सकता है। सूर्य की ऊर्जा से टरबाईन चलाकर बिजली बनायी जा सकती है। अगर कोई उपग्रह आवश्यक यंत्रों से लैस पृथ्वी से काफी दूर छोड़ा जाय, तो उस उपग्रह द्वारा भी सूर्य की किरणों को विद्युत् धारा इलेक्ट्रिक वेव में बदल कर पृथ्वी पर भेजा जा सकता है। सूर्य की किरणों को विशेष प्रकार के शीशे द्वारा भी एकत्र किया जा रहा है, जिससे दस किलोवाट तक की क्षमता वाली बिजली प्राप्त हो रही है। इस प्रकार के विशेष शीशे का आविष्कार एक अमरीकी वैज्ञानिक ने कर लिया है। जनरल सोलर कार्पोरेशन (अमेरिका) ने 'सोलर मास्टर' नामक फिल्म का निर्माण किया है, जो सूर्य की किरणों को एकत्र करता है।

सूर्य की ओर : आज मनुष्य की कल्पना साकार हो हो गई। वह सूर्य तक पहुँचने में कामयाब हो चुका है। 'हेलिआस—1' नामक राकेट सूर्य के नजदीक पहुँच चुका है। वह सूर्य से इतनी दूर पर है, जहां वह जल न सके। वह सूर्य की एक परिक्रमा लगा चुका है। और, प्रत्येक छः माह पर सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करेगा। इस प्रकार दो और चक्कर लगाकर वह आगे की ओर निकल जाएगा। हेलिओस—2 भी सूर्य की यात्रा पर जा चुका है। ये रॉकेट ऐसे तत्व के बने हैं, जो काफी ऊंचे ताप का सहन कर सकें। इन रॉकेटों का निर्माण जर्मनी एवं अमेरिका के वैज्ञानिकों ने किया है।

सापेक्षवाद और सूर्य : महान् गणितज्ञ और भौतिकविद् आइंसटीन का एक सिद्धांत है—'सापेक्ष सिद्धांत।' इस सिद्धांत के अनुसार पदार्थ और ऊर्जा एक ही अस्तित्व के दो रूप हैं। और, ये एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते

(शेष पृष्ठ ४ पर देखें)

जन्तु, पौधा या निर्जीव--वाइरस

आलोक मिश्र

विषाणु या वाइरस जीवों में सबसे सूक्ष्म एवं साधारण संरचना वाला जीव है। यह केवल प्रोटीन और न्यूक्लीक एसिड का बना होता है। यह जीवाणु से भी सूक्ष्म होते है। और इन्हें साधारण सूक्ष्मदर्शी द्वारा नहीं देखा जा सकता है। यह केवल इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखे जा सकते हैं। यह पॉसिलेन फिल्टर से भी छन जाते है जिससे जीवाणु नहीं छन पाते। वाइरस की खोज सर्वप्रथम इवानोविस्की ने 1890 में की थी। इन्होंने तम्बाकू की चित्तीदार रोगी पत्तियों के रस को जीवाणु अलग करने वाले पॉसिलेन फिल्टर से छाना और इस छने हुए रस को स्वच्छ पौधे की पत्तियों में पहुँचाया कुछ! दिनों बाद स्वस्थ पत्तियों में भी चित्तीदार रोग हो गया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यह रोग जीवाणु विहीन एक रस से होता है और इस रस का नाम 'वाइरस' रख दिया। वाइरस का अर्थ होता है 'विषैला-रस'। बाद में स्टैनले और वेस्ट ने तम्बाकू की रोगी पत्तियों से इन वाइरस को क्रिस्टलीय प्रोटीन के रूप में प्राप्त किया। वाइरस इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन्हें बाहर से नहीं पहचाना जा सकता। इनकी पहचान इनके द्वारा उत्पन्न हुए रोगों के लक्षणों से की जाती है।

वाइरस में जीव और निर्जीव दोनों के लक्षण पाए जाते हैं। यह जीवों (पोषक) की कोशिकाओं में मिलते हैं और इस अवस्था में यह तीव्र गहित से जनन करते हैं। जो उनके जीवों की भाँति क्रियाशील होने का प्रथम एवं प्रमुख लक्षण है। इनमें आनुवंशिक लक्षणों में भी परिवर्तन होता है जो सजीवों का दूसरा लक्षण हैं। अतः इन दो लक्षणों के आधार से हम वाइरस को सजीव मानते हैं। परन्तु वाइरस में श्वसन क्रिया नहीं पायी जाती है। यह पोषक के एन्जाइम पर निर्भर रहते हैं। यदि वाइरस को इनके पोषक से अलग कर दिया जाए तो यह बिलकुल निष्क्रिय हो जाते हैं। इनकी संरचना रासायनिक क्रिस्टल
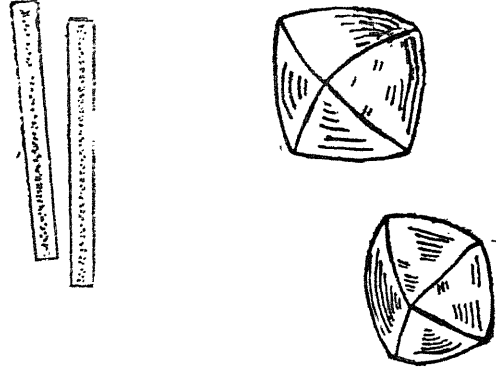
वाइरस कण-नेड़ तथा षठभुजी

के रूप में होती है। इनमें सजीव के एक भी लक्षण नहीं मिलते। इस प्रकार वाइरस की क्रिस्टलीय अवस्था को बोतलों में, अन्य रसायनिकों की भाँति, कई वर्षो तक रखा जा सकता है। वाइरस अपने पोषक के अतिरिक्त किसी भी माध्यम में क्रियाशील नहीं होते। ये ऑबलीगेट पैरासाइट होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि वाइरस पोषक की कोशिकाओं में रहते हैं तो यह सजीव होते हैं और यदि यह कोषिका के बाहर निकाल लिए जाते हैं तो यह एक साधारण रासायनिक क्रिस्टल की तरह के निर्जीव हो जाते हैं। कुछ वैज्ञानिको के अनुसार यह एक निर्जीव विषैला पदार्थ है जो पोषक की कोशिकाओं में रहता है और उसमें रोग उत्पन्न कर हानि पहुँचाता हैं। इस प्रकार यह जीव और निर्जीव दोनों अवस्था में पाए जाते हैं।
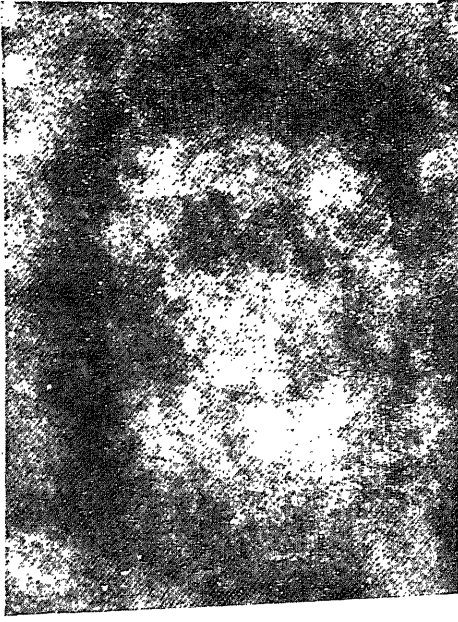
वाइरस कण

संरचना में वाइरस सूक्ष्म जैविक कण होते हैं । इनका आकार छड़, गोल, षठभुजी, टैडपोल तथा अन्य रूप का होता है । क्रिस्टल में यह कण अलग-अलग नहीं होते वरन कई कण आपस में मिलकर विभिन्न संरचना के क्रिस्टल बनाते हैं । यह क्रिस्टल नमक, शोरा आदि रसायनिक क्रिस्टल की भाँति होते हैं । वाइरस कण दो प्रमुख भागों का बना होता है । पहला न्यूक्लीक एसिड दूसरा प्रोटीन । न्यूक्लीक ऐसिड कोशिका का मध्य भाग होता है । यह या तो डी आक्सीराइबोन्यूक्लीक एसिड होती है या राइबोन्यूक्लीक एसिड । कोशिका में इन दोनों में से सिर्फ एक ही न्यूक्लीक एसिड पाई जाती है । दोनों एक साथ नहीं पाई जाती हैं । पौधे-वाइरस में आर० एन० ए०, बैक्टीरियोफाज में डी० एन० ए० तथा जन्तु वाइरस में कुछ में आर० एन० ए० तथा कुछ जन्तुओं के वाइरस में डी० एन० ए० मिलता है । न्यूक्लीक एसिड को चारों ओर घेरे हुए प्रोटीन का चोल या आवरण होता है ।

वाइरस अपने पोषक की कोशिकाओं में ही प्रजनन करता है । जैसे ही यह पोषक की कोशिका के सम्पर्क में आता है, इसका प्रोटीन चोल बाहर ही रह जाता है और न्यूक्लीक एसिड कोशिका में प्रवेश कर जाता है । यहाँ यह विभाजित होकर अनेक वाइरस-कण बनाती है ।
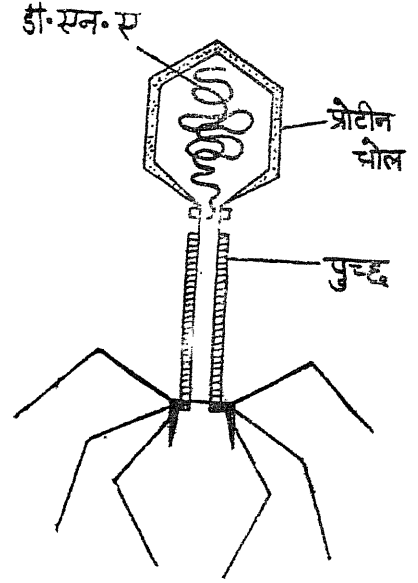
'बैक्टीरियोफाज' टी$_2$

वाइरस कण इतने छोटे होते हुए भी पौधों जन्तुओं तथा मनुष्य में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं । पौधों में जैसे-तम्बाकू, टमाटर, पपीता आलू आदि में चित्तीदार रोग (mosaic disease) । कुछ पौधों की पत्तियाँ सिकुड़ जाती है या मुड़ जाती हैं । जन्तुओं में जैसे-कुत्ते का पागल पन तथा उसके काटने से मनुष्य का पागल हो जाना । चारपावों के पैर व मुहँ के अनेक रोग इन्हीं के द्वारा फैलते हैं । मनुष्य में चेचक, ज्वार या नजला खसरा, पोलियो आदि रोग उत्पन्न होते हैं । यह आकार में जितने ही छोटे हैं उतने ही भयानक रोग उत्पन्न करते हैं ।

अतः हम देखते हैं कि वाइरस एक तरफ सजीव होकर सजीव के लक्षण प्रस्तुत करता है तो दूसरी तरफ निर्जीव होकर निर्जीव के लक्षण प्रस्तुत करता है। इसमें सजीव और निर्जीव दोनों के प्रमुख लक्षण पाए जाते हैं। वाइरस को सजीव या निर्जीव कोई एक कहना पूर्णरूप से सत्य नहीं हैं। अतः वाइरस को हम सजीव और निर्जीव को जोड़ने वाली 'कड़ी' कह सकते हैं। वाइरस जन्तु है या पौधा? यह भी एक प्रश्न बना हुआ है। वाइरस का आवरण प्रोटीन का बना होता हैं। यह दोनों में सामान्य होता है। यदि अन्तर है तो सिर्फ न्यूक्लीक एसिड का। मुख्यतः पौधों के वाइरस में आर० एन०, ए०, बैक्टीरियफाज में डी० एन० ए० तथा कुछ जन्तु वाइरस में आर० एन ए० तथा कुछ में डी० एन० ए० पाया जाता है। अतः इनका नामकरण इनके पोषक के आधार पर रखा गया है। वह वाइरस जो किसी पौधे में रोग फैलाता है उसे पौधा-वाइरस तथा जो जन्तुओं में रोग फैलाता है उसे जन्तु-वाइरस कहते हैं। इसी प्रकार एक वाइरस जो जीवाणु पर आक्रमण करता है और उसी को अपना पोषक बनाता है। इसे बैक्टीरियोफाज या बैक्टीरियल वाइरस कहते हैं। अतः यह वाइरस जीव विज्ञान के लिए अदभुद हैं क्यों कि इन्हें कोई एक संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह जीव हैं या निर्जीव? यदि-यह जीव हैं तो जन्तु हैं या पौधे?

वार्डेव-निवास
श्री जय नारायण डिग्री कालेज
लखनऊ 226001

प्रदूषण की करामात

टोक्यो संसार का अत्यन्त विकसित परन्तु सबसे प्रदूषित नगर है। कल कारखानों, मोटर गाड़ियों आदि से प्रतिमास 34 टन प्रति वर्ग कि० मी० कालिख गिरती है जब कि न्युयार्क में 17 टन प्रति वर्ग कि० मी०। वहां की वायु इतनी प्रदूषित है कि ट्रैफिक के सिपाही थोड़ी-थोड़ी अवधि के उपरान्त नियमित रूप से आक्सीजन सूंघने मुख्यालय में जाते हैं। वहां सड़कों पर ऐसी मशीनें लगी हुई हैं जिनमें सिक्का डालने पर सूंघने के लिये आक्सीजन मिलती है।

वहां वायु में धूमधुंध की मात्रा बहुत अधिक हो जाती हैं। ऐसे दिनों में वहां के स्कूली बच्चे मुंह पर महीन जाली के मुखौटे पहनते हैं। किन्तु ऐसी सावधानियां बरतने के बावजूद भी 20% शिशु आंख, नाक, और गले के कष्ट से पीड़ित हो जाते है। छः अति धूमधुंध वाले दिनों वर वहां मरने वालों की संख्या 197 हो गई जबकि औसतन वहां 159 रहती है। दूसरी ओर नव वर्ष दिवस पर जब कि कारखाने बन्द रहते हैं मरने वालों की संख्या घट कर 119 हो जाती है।

यही हाल श्रव्य प्रदूषण का भी है। उन्नत देशों में लोग इससे भी पीड़ित हैं। लन्दन नगर के जिन बस्तियों के ऊपर होकर जेट विमान उड़ते हैं उनमें रहने के लिये जल्दी लोग तैयार नहीं होते हैं और इसीलिये उन बस्तियों के मकानों का किराया कम लगता है उन बस्तियों के मकानों की अपेक्षा जिधर से हो कर जेट विमान नहीं उड़ते हैं।

नन्हें मुन्नों का दुश्मन : पाइका

श्याम सुन्दर पुरोहित

कई बार माँ की थोड़ी सी लापरवाही से बच्चे का भविष्य अंधकार में फंस जाता है। ऑफिस में कार्यरत गृहणियां या अधिक परिवार वाली माताएँ काम में इस तरह व्यस्त हो जाती हैं कि उन्हें नन्हें मुन्ने लाड़लों का ध्यान ही नहीं आता और यदि आता भी है तो उस समय जब रोना आरंभ करें। संयुक्त परिवार में बच्चों की देख-भाल एकल परिवारों की तुलना में कम होती है। एक तो घर छोटा फिर उसमें 4-5 परिवार, ऐसे में सफाई के नाम का तो अस्तित्व ही नहीं रह पाता। कागज के टुकड़े, कपड़े, मूत, छोटे झाड़ू से निकले हुए तिनके, पुराने टूटे हुए खिलौने, सिगरेट के अधबुझे टुकड़े, माचिस की जली हुई तिलीयाँ आदि कई ऐसी वस्तुएँ इधर उधर बिखरी पड़ी रहती है कि आंगन में खेलता हुआ अकेला बच्चा उन्हें मुँह में डाले बिना रहता। छोटे बच्चों की यह आम आदत होती है। उन्हें क्या पता कि ऐसी वस्तुओं को मुंह पर लगाने से भयंकर रोग हो सकता है जिसे डाक्टर पाइका कहते हैं।

पाइका एक भयंकर रोग है जिसका असर जहर के समान होता है। बच्चे के स्नायु स्मरण शक्ति क्षीण होने लगती है। कभी कभी वह पागलों सा व्यवहार करने लगता है। वैसे पाइका के लक्षण विशेष नहीं होते।

कई बार गृहिणियां छोटे बच्चों को उनके दांत आने पर छोटी लकड़ी की रंगीन गोल चूसनी चूसने के लिए दे देती है। उनकी यह धारणा होती है कि लकड़ी की चूसनी से बच्चे के दांतों का विन्यास व मजबूती अच्छी रहेगी। बच्चे तो अपने मसूड़ों में चलने वाली सरसराहट के कारण चूसते हैं। मैं ऐसे कई घरों को जानता हूं जिसके यहाँ चूसनी बच्चों को दी जाती है और वे अक्सर बीमार रहते हैं। उनसे पूछने पर उत्तर मिलता है कि दाँत निकल रहे हैं इसलिए बीमार है। लेकिन आपको विश्वास करना पड़ेगा कि करीब 75 प्रतिशत घरों के बच्चों को चूसनी बन्द करने पर वे स्वतः ही ठीक हो गये।

मिट्टी से बच्चों को विशेष लगाव होता है। मिट्टी में कई कांच के टुकड़े, लोहे के तार या टुकड़े आदि पड़े रहते हैं। बच्चे उन्हें भी मुंह में डालने से नहीं चूकते। वैसे भी स्वास्थ्य की दृष्टि से बच्चों की यह आदत खराब है।

पाइका रोग मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न होता है :—

(1) घरेलू गंदगी का वातावरण व स्थिति ठीक न होने से बच्चों को उपयुक्त, मनपसन्द, हाइजिनिक व साफ खिलौनों के न मिलने से वे अन्य वस्तुएँ मुँह में डालते हैं।

(2) माँ का बच्चे की तरफ से लापरवाह होना।

गरीबी का पहलू तो परिस्थितियों पर निर्भर है। बच्चे का रोना सुन वह उसे प्रलोभन के रूप में रबर या लकड़ी की चूसनी मुंह में दे कर काम में इतनी व्यस्त हो जाती हैं कि बच्चे के दुबारा रोने पर ही उसकी ओर देखती हैं। यदि उसने फिर भी रोना बन्द न किया तो खाने की कोई वस्तु उसे दे कर काम में लग जाती है। बच्चा उसे खाता रहता है, कभी जमीन पर भी गिराता हैं और उसी

नए वर्ष के पदाधिकारियों एवं अंतरंग सभा के सदस्यों के निर्वाचन की घोषणा

नए वर्ष १९७७-७८ के पदाधिकारियों एवं अंतरंग सभा के सदस्यों का निर्वाचन हुआ जो निम्नलिखित रूप में है :—

१—प्रो० कृष्णजी	सभापति
२—डा० बाबू राम सक्सेना	पदेन उपसभापति
३—डा० नीलरत्न धर	,,
४—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा	,,
५—श्री केशवदेव मालवीय	,,
६—स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती	,,
७—डा० रामधर मिश्र	,,
८—श्री राम सहाय	,,
९—डा० संत प्रसाद टंडन	उपसभापति
१०—डा० देवेन्द्र शर्मा	,,
११—डा० शिवगोपाल मिश्र	प्रधान मंत्री
१२—डा० उमाशंकर श्रीवातव	मंत्री (भवन-फण्ड)
१३—डा० ओमप्रकाश	संयुक्त मंत्री
१४—डा० ज्ञानेन्द्र नाथ	,,
१५—डा० शिव प्रकाश	सम्पादक-विज्ञान
१६—डा० पूरनचन्द्र गुप्ता	कोषाध्यक्ष
१७—श्री अशोक कुमार	पुस्तकालयाध्यक्ष
१८—श्री सत्यदेव प्रसाद	आय-व्यय निरीक्षक
१९—श्रीकृष्ण श्रीवातव	स्थानीय अंतरंगी
२०—डा० रामदास तिवारी	,,

२१—श्री हरि कृष्ण माहेश्वरी	स्थानीय अंतरंगी
२२—श्री लोकमणि लाल	”
२३—डा० ब्रजमोहन, वाराणसी	बाह्य अंतरंगी
२४—प्रो० रामचरण मेहरोत्रा, दिल्ली	”
२५—डा० रमेश चन्द्र कपूर, जोधपुर	”
२६—डा० नित्यानन्द, लखनऊ	”
२७—डा० अजित राम वर्मा, दिल्ली	”
२८—डा० सद्गुरु शरण निगम, सागर	”
२९—डा० हीरा लाल निगम, इन्दौर	”
३०—प्रो० आर० सी० पाल, चण्डीगढ़	”
३१—डा० सत्येन्द्र सिंघल, नागपुर	”
३२—डा० चन्द्रिका प्रसाद, रुड़की	”
३३—डा० गोविन्द राम तोशनीवाल, अजमेर	”
३४—डा० एम० एल० वर, वाराणसी	”

• •

वर्ष 1977 का भौतिकी का नोबुल पुरस्कार डॉ० फिलिप एण्डरसन, नेविलिस मॉट तथा जॉन फान फ्लेक को चुम्बकीय तथा अव्यवस्थित निकायों की इलेक्ट्रॉनी संरचना सम्बन्धी खोज के लिए प्रदान किया गया है।

मुकुट असली या नकली

शुकदेव प्रसाद

एक बार सिराक्यूज (सिसली) के राजा हीरो ने किसी सुनार को सोने का मुकुट बनाने को कहा। जब सुनार मुकुट लेकर दरबार में पहुंचा तो राजा को लगा कि शायद मुकुट में चाँदी मिली हुई है। वजन में मुकुट दिए गए सोने के बराबर था। इस नाते यह पता लगाना बड़ा जटिल था कि इसमें चाँदी मिली है और बग़ैर किसी प्रमाण के राजा सुनार को कुछ कह भी नहीं पा रहे थे।

इस काम को उन्होंने आर्कीमिडीज नामक एक आदमी को सौंपा। आर्कीमिडीज ने कई बार इस समस्या पर विचार किया लेकिन उन्हें कोई हल न मिला। उन्होंने सोचा यदि मुकुट के आयतन के बराबर शुद्ध सोना लिया जाय और मुकुट तथा सोने को अलग-अलग तौला जाये और यदि दोनों का भार बराबर है तो मुकुट में मिलावट नहीं होगी। भार बराबर न होने पर मिलावट की बात प्रमाणित हो सकती है। लेकिन इतना कीमती मुकुट पिघला कर नष्ट भी तो नहीं किया जा सकता था।

इसी सोच में वह दिनों रात लगे थे कि एक दिन उनकी समस्या हल हो गयी। हुआ यह कि वह ज्यों ही नहाने के लिए पानी से लबालब भरे हौज में घुसे त्यों ही कुछ पानी हौज से बाहर निकल आया। उन्हें लगा कि उनके शरीर के आयतन के बराबर पानी बाहर निकल आया था और वे प्रसन्नता से पागल हो उठे। इस बात से वे इतना खुश हुए कि नंगे बदन बग़ैर कपड़ा बदले ही 'यूरेका'-'यूरेका' (मुझे मिल गया, मुझे मिल गया) चिल्लाते हुए सड़क पर दौड़ने लगे। लोगों ने समझा कि आर्कीमिडीज पागल हो गया है। लेकिन उन्होंने घर ही जाकर दम लिया। उन्होंने तुरन्त मुकुट को पानी से भरे बरतन में डाल कर तथा उसी के भार के बराबर सोने एवं उतने ही चाँदी के टुकडों को पानी में डुबोकर नीचे गिरे हुए पानी के आयतनों को मापा यही प्रयोग उन्होंने कई बार किया और तीनों के द्वारा निकले पानी के आयतनों की तुलना करने पर पाया कि शुद्ध चाँदी से सबसे अधिक पानी नीचे गिरता है, शुद्ध सोने से सबसे कम और मुकुट के द्वारा चांदी की अपेक्षा कम तथा सोने की अपेक्षा अधिक पानी गिरता है। इस प्रकार आर्कीमिडीज ने प्रमाणित कर दिया कि मुकुट असली सोने का नहीं बना हुआ है। उन्होंने यह भी ज्ञात कर लिया कि मुकुट में कितनी चांदी मिली है। बाद में राजा ने उस सुनार को दंडित किया।

आर्कीमिडीज के साथ घटी इस घटना से एक नए सिद्धान्त का जन्म हुआ जो उन्हीं के नाम पर 'आर्कीमिडीज के तैरने का सिद्धांत' नाम से विख्यात है। सिद्धांत इस प्रकार है,

'जब कोई वस्तु पानी या किसी द्रव में पूर्ण या आंशिक रूप में डुबोई जाती है तो उसके भार में कुछ कमी आ जाती है और यह कमी उस वस्तु के द्वारा हटाए गए द्रव के भार के बराबर होती है।' आर्कीमिडीज का सिद्धांत बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। आज भी द्रवों का आपेक्षिक घनत्व निकालने में इस सिद्धांत का उपयोग होता है।

पुस्तक-अणु स्पेक्ट्रमिकी
लेखक-डॉ० शिव प्रकाश
प्रकाशक-हिन्दीग्रन्थ अकादमी, लखनऊ
पृष्ठ 269 मूल्य रु.17.00 मात्र

स्पेक्ट्रमिकी ऐसा विषय है जिसे भौतिकी तथा रसायन शास्त्र दोनों में अपने-अपने दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। अणु संरचना सम्बन्धी हमारे ज्ञान में स्पेक्ट्रमिकी का महत्वपूर्ण योग रहा है। अंग्रेजी में भारतीय लेखक द्वारा अथवा भारतीय भाषाओं में लिखित पुस्तक का सर्वथा अभाव है। अतः हिन्दी में इस विषय पर पुस्तक लिखा जाना आवश्यक था। लेखक ने अपने प्रयास में पूर्ण सफलता पाई है। 7 अध्यायों की इस पुस्तक में घूर्णन कम्पन-घूर्णन, इलेक्ट्रॉनी रॉमन, अनुनाद तथा द्रव्यमान स्पेक्ट्रमिकी का प्रचुर वर्णन है। मोनोग्राफ होते हुये भी इस पुस्तक में वह सभी सामग्री उपलब्ध है जो स्नात्कोत्तार कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये आवश्यक है। स्पेक्ट्रमिकी पुस्तकों में या तो सैद्धान्तिक पक्ष पर बल रहता है या उसके व्यावहारिक पक्ष पर। प्रस्तुत पुस्तक का सैद्धान्तिक पक्ष तो मजबूत है ही समुचित उदाहरणों की सहायता से उसका व्यावहारिक पक्ष भी निखर आया है। गणित पर अधिक बल न देकर उन्हीं सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है जिनसे विषय को सरल ढंग से समझा सकने में पुस्तक समर्थ हो सके। प्रयोगात्मक अंश भी केवल आवश्यकता भर का है। पुस्तक की भाषा सरल, और ग्राह्य है। विद्यार्थियों को विषय को समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी। स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के लिये पुस्तक काफ़ी लाभदायक सिद्ध होगी।

पुस्तक के अन्त में अंग्रेजी शब्दों की सूची दी गई है। अच्छा होता यदि यह शब्द उसी पृष्ठ पर दिये जाते जहां हिन्दी शब्द प्रयुक्त हुआ है ताकि बार बार पुस्तक के अन्त में अंग्रेजी शद्वावली पढ़ने व शब्द ढूंढने की झंझट समाप्त हो जाती। कहीं पर प्रूफ पढ़ने में गलती रह गई। है जैसे पृष्ठ 27 पर 'प्रतिस्थापित' के स्थान पर 'प्रतिस्थापत' पृष्ट 68 पर घूर्णन स्वतंत्रता की कोटि की संख्या '3' के स्थान पर '2' आदि से पता चलता है। फिर भी त्रुटियां बहुत कम हैं और छपाई उत्तम है। लेखाचित्रों को कम रखने में शायद लेखक ने पृष्ठ संख्या अधिक न बढ़ने देने की बात को ध्यान में रखा है। सामग्री जुटाने में लेखक ने काफ़ी परिश्रम किया है और अन्त में पुस्तकों के निर्देश से विषय को अधिक विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

रा० न० अ०

नेत्रों के लिए नये आरामदेह काण्टेक्ट लेंस

अब, काण्टेक्ट लेंसों का प्रयोग करने वाले काफी देर तक और सुविधापूर्वक प्रयोग कर सकेंगे। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के दृष्टिमिति (आप्टिमिट्री) विभाग के प्रोफेसर डा० मार्टिन सावेर के अनुसार इसका कारण लेंसों के निर्माण में काम आने वाली सामग्री में महत्वपूर्ण सुधार होता है।

ये लेंस उन अनेक लोगों के लिए अधिक सहायक हो सकेंगे, जो किन्हीं कारणों से इनका नियमित प्रयोग नहीं कर पाते हैं अथवा जो कठोर लेंस धारण नहीं कर पाते हैं। ये उन लोगों के लिए भी उपयुक्त हैं जो दृष्टि-वैषम्य जैसे रोगों के कारण कोमल लेंस धारण करने में भी समर्थ नहीं हैं।

अनेक परीक्षणों के उपरान्त ये नये लेंस तीन प्रकार के पदार्थों से निर्मित किये गये हैं। डा० सावेर जिन लेंसों के बारे में अनुसंधान कर रहे हैं, उनमें एक लेंन प्लेक्सग्लास नामक पदार्थ तथा साधारण लेंसों में काम आने वाले सिलिकोन के संयोग से बनाया गया है। इनमें लेंस के बीच से आक्सीजन गुजरती रहती है।

डा० सवेर के अनुसार, "कनीनका की सबसे विलक्षण विशेषता यह है कि यह वायु से आक्सीजन ग्रहण करती हैं, जबकि शरीर के अन्य अंग रक्त से आक्सीजन प्राप्त करते हैं।"

काण्टेक्ट लेंस प्रयोग करने वाले अनेक लोगों के सामने तब परेशानी आती है जब उनकी कनीनका को यथेष्ठ आक्सीजन प्राप्त नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में, उनकी आंखों में सूजन आ जाती है नेत्रों के आकार में परिवर्तन हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप पीड़ा, लाली और कोष-क्षय जैसे उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं।

सुधरे हुए प्लेक्सीग्लास से निर्मित कठोर काण्टेक्ट लेंस नेत्र और वायु के बीच एक प्रकार के अवरोध का निर्माण करते हैं, जिससे कनीना को आक्सीजन की प्राप्ति नेत्र झपकने पर उत्पन्न होने वाले आंसुओं से होती है।

10 से 25 प्रतिशत काण्टेक्ट लेंस धारकों को यह शिकायत रहती है कि उनको पर्याप्त आक्सीजन नहीं मिल पाती। डा० सावेर के अनुसार, ऐसी अवस्था में वे या तो लेंस धारण ही नहीं कर पाते हैं अथवा केवल दो से छः घण्टे तक ही इनका प्रयोग कर पाते हैं।

सूजन आदि के कारण नियमित तौर पर कठोर काण्टेक्ट लेंसों को धारण न कर सकने वाले 46 व्यक्तियों पर नये प्रकार के 'पोलिकोन' लेंसों का परीक्षण किया गया। आवश्यक आक्सीजन का 50 प्रतिशत इन लेंसों से गुजर कर नेत्रों को प्राप्त हो जाती है और बाकी आक्सीजन आंसुओं से मिल जाती है।

'पोलिकोन' लेंसों द्वारा सूजन की समस्या दूर करने में 01 प्रतिशत सफलता मिली है।

सतकर्तापूर्ण जांच के बाद पाया गया है कि लगभग दो-तिहाई लोग इन नये लेंसों को धारण कर सकते हैं। इन लेंसों की विशेषता है कि जागते समय इन्हें धारण करने वाले को पूर्ण आराम महसूस होता है, इनमें किसी प्रकार का धब्बा नहीं होता है, इनसे बहुत साफ दिखाई पड़ता है और कनीनका को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती है।

1941 में, जबसे काण्टेक्ट लेंस बाजार में आये है, अनुसन्धानकर्ता बराबर कनीनका को अधिक से अधिक आक्सीजन सुलभ कराने के बारे में प्रयास करते रहे हैं। उन्होंने इसके लिए लेंस के मध्य में सूराख बनाने, उनको छोटा और पतला बनाने और उनमें झिरी रखने आदि के प्रयोग किये हैं।

यद्यपि वे आक्सीजन की सुलभता को सुधार सके हैं, परन्तु इससे कुछ रोगियों को कोई भी लाभ नहीं पहुंच सका है।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के दृष्टि-वैज्ञानिकों के अनुसार, ये नये लेंस इन समस्यायों को अधिकांश रूप से हल करने में समर्थ हैं।

डा० सार्वर का कहना है कि 'पोलिकोन' लेंसों में एक ही दोष है कि कुछ रोगी शुष्कता और खुजलाहट की शिकायत करते हैं। उनका विश्वास है कि यह समस्या भी निर्माण के स्तर में सुधार द्वारा शीघ्र ही हल की जा सकेगी।

(पृष्ठ 18 का शेष)

को खाने लगता है। मिट्टी से सने बिस्कुट या अन्य वस्तु उसे पाइका रोग कर देगी इसकी परवाह माँ को नहीं रहती। बच्चे के प्रति इस लापरवाही व अधिक खिला देने से भी यह रोग हो जाता है। कभी-कभी बच्चा कोने में पड़ी मिट्टी को बड़े चाव से खाता है। इस मिट्टी से भी पाइका रोग हो जाता है। ऑयल पेन्ट, सफेदा आदि के खाने से भी यह रोग उत्पन्न होता है।

अतः यदि बच्चे को कोई भी चीज चबाने की आदत हो तो उसे टाल मत दीजिए और यह न समझिये कि बड़ा होने पर स्वयं छोड़ देगा। यदि इस आदत से वह बड़ा ही न हो पाया अर्थात् किसी बीमारी से ग्रसित हो गया तब क्या होगा। पाइका भयंकर रोग है और आप अपने बच्चों के इस दुश्मन को स्वयं भगा सकती हैं।

अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग,
राज० महाविद्यालय,
डूंगरपुर (राज०)

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 11
सं० 2034 विक्र०
नवम्बर 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

प्रत्येक सत्र में विश्वविद्यालयों में विभिन्न कक्षाओं में प्रवेश के लिए जो समस्यायें उठती हैं उसका कोई समाधान न मिलकर विद्यार्थियों के तोड़ फोड़ के कारण अनिश्चित काल के लिए विश्व-विद्यालय बन्द करना ही एक रास्ता रह जाता है। यह कोई नई समस्या नहीं पिछले कई वर्षों से यह देखा जा रहा है कि प्रत्येक कक्षा में जितनी सीटें होती हैं उनसे कहीं अधिक प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या होती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि रोजगार के साधनों में कमी होने के कारण युवा वर्ग कहीं खप नहीं पाता और निरूद्देश्य एक कक्षा के बाद दूसरे में प्रवेश लेता है और सोचता है कि शायद इंटर के बाद बी० ए०, बी० ए० के बाद एम० ए० कर लेने के बाद अच्छी नौकरी मिल जाय। अच्छी तो क्या कोई नौकरी मिल पाना आज कल इतना कठिन हो गया है कि युवा वर्ग का सबसे बड़ा असंतोष का कारण बन गया है। अभिभावक भी परेशान हैं तथा अपने लड़के को पढ़ा न सकने की स्थिति में होते हुए भी वह सोचते हैं चलो इसका नाम ही लिखा दें घर में खाली तो नहीं बैठा रहेगा। उच्च शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानोपार्जन के बजाय डिग्री बढ़ाना रह गया है। विदेश के विश्वविद्यालयों में इतना भीड़ नहीं पाई जाती। इसका कारण यह है कि जो विद्यार्थी अपने को उच्च शिक्षा के योग्य समझता है वही विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है नहीं तो अपनी रुचि व क्षमता के अनुसार वह नौकरी कर लेता है। बेरोजगारी वहाँ भी है पर इतनी व्यापक समस्या नहीं है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का कहना है कि विश्वविद्यालयों में स्नात्कोत्तर कक्षायें हों तथा शोध कार्य किया जाय जबकि स्नातक कक्षायें सभी डिग्री कालेजों में खोली जायँ। यह भी कोई ऐसा विकल्प नहीं जिससे समस्या हल हो जाय। अधिकाधिक विद्यार्थियों को कक्षा में बिठा कर पढ़ाना फिर उनकी परीक्षा लेना कोई सरल काम नहीं। यदि रोजगार के नये दरवाजे खोले जांय ताकि कालेज शिक्षा पाकर युवक काम में लग जांय तो उच्च शिक्षा पर दवाव कम हो जायगा। आर्थिक दृष्टि से भी उच्च शिक्षा नियंत्रण के वाहर हो रही है। इस ओर भी सब का ध्यान जाना आवश्यक है।

'लेसर'--नवीन घाव पूरक क्षमताए

गणेश दत्त पाण्डे

सन 1958 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के. सी. टाउन तथा 'शालोव-लेबदेव संस्थान, मास्को के बासोव और प्रोकोरोव के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप 'लेसर' की खोज हुई। लेसर वास्तव में 'लाइट एम्पली फ़िकेशन बाई स्टीम्युलेटेड एमशिन ग्रॉफ रेडिएशन' का ही सारांशित नाम है। लेसर द्वारा उत्सर्जित प्रकाश की निम्न विशेषताएं होती हैं— अत्यधिक कला सम्बद्धता, एकाक्षता, एकवर्णीयता तथा उच्च तीव्रता।

उद्दीपित-उत्सर्जन-: इसके लिये हमें एक ऐसे बक्से की परिकल्पना (स्टीम्युलेटेड एमीशन) करनी होगी, जिसकी दीवारें पूर्ण परावर्त्ती हों, तथा जिसमें गैस के परमाणु और 'फोटॉन' भरे हों। ताप-ऊर्जा के कारण यह परमाणु आपस में तथा दीवारों से टकराते हैं और उनमें ऊर्जा का आदान-प्रदान होता है। इस प्रक्रिया के दौरान कुछ परमाणुओं की ऊर्जा, उनकी आधारभूत उर्जा से अधिक हो जाती हैं। आइन्सटीन की प्ररिकल्पना के अनुसार, इस 'विकिरण क्षेत्र, में एक फोटॉन, एक परमाणु से क्रिया करके निम्न विभिन्न घटनाओं को जन्म दे सकता हैं·

1) **फोटॉन अवशोषण-:** एक अनुत्तेजित परमाणु एक फोटॉन से टकरा कर इसे अवशोषित कर सकता है।

2) **तत्क्षण उत्सर्जन-:** एक उत्तेजित परमाणु अपनी ऊर्जा के तत्क्षण ह्रास से पुनः सामान्य अवस्था में आ जाता है।

3) **उद्दीपित उत्सर्जन-:** यदि एक फोटॉन एक ऐसे परमाणु से टकराता है जिसमें एक फोटॉन अवशोषित है, तो यह प्रक्रिया उस परमाणु को अपने अन्दर अवशोषित फोटॉन को उत्सर्जित करने के लिए प्रेरित करेगी, यदि अवशोषित तथा टकराने वाले फोटॉनों की ऊर्जा बराबर है। इस उत्सर्जनको ही उद्दीपित उत्सर्जन कहते हैं
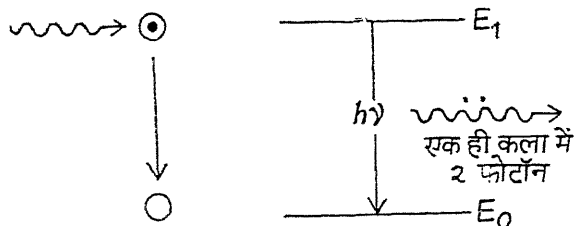
(चित्र-1),
(उद्दीपित उत्सर्जन)

नवीन घाव पूरक क्षमताएं-: लेसर की आधारभूत विशेषताओं, एकाक्षता, एक वर्णीयता, उच्च तीव्रता, तथा अत्यंत कला सम्बद्धता के कारण लेसर का उपयोग, अनेक असाध्य रोगों के निदान में ख्याति प्राप्त कर रहा है।

नेत्र चिकित्सा : मधुमेह के रोगियों को एक अत्यन्त दुखद समस्या का सामना करना पड़ता है, यह है मधुमेह रेटिनोपैथी के कारण दृष्टि क्षमता का सम्पूर्ण ह्रास (अंधापन)। यह रोग मधुमेह के 10 वर्षों से अधिक समय तक पीड़ित रहने वाले व्यक्तियों में होता है।

मधुमेह रेटिनोपैथी में आंख की रक्त केशिकाओं में वरुपण हो जाता है, उनमें छेद हो जाते हैं, तत्पश्चात दृष्टि पटल (रेटिना) पर कुछ नई रक्त केशिकाएं बढ़ती हैं और नेत्र के काचर द्रव में रक्त स्त्राव करती हैं, जिसके कारण, यह साफ द्रव धुंधला हो जाता है इस रोग की अत्यंत विकसित अवस्था में नेत्र का दृष्टि पटल, नेत्र की पिछली दीवार से अलग भी हो सकता है।

लेसर की एक महीन, केन्द्रीकृत किरण के द्वारा, इन कमजोर रक्त केशिकाओं को प्रकाशित करके, काचर द्रव में होने वाले रक्त स्राव को बन्द किया जा सकता है। यह क्रिया सूर्य की किरणों को एक लेन्स द्वारा किसी कागज पर केन्द्रित करके उसे जला देने के ही समान है। अमेरिका के 'राष्ट्रीय नेत्र संस्थान' में किये गए प्रयोगों में इस प्रकार के अंधेपन को दूर करने में 60% तक सफलता मिली है।

एक लेसर किरण पुंज को इतना महीन किया जा सकता है कि वह एक कोशिका के अन्दर किसी एक विशेष रचना पर ही पड़े, जिसकी माप एक इंच का 10,000 वां भाग हो सकती है। लेसर के इसी गुण के कारण इसका उपयोग नेत्र चिकित्सा में प्रचुरता से किया जा रहा है।

कुछ वाट शक्ति का लेसर 'दृष्टि पटल अलगाव' (रेटिनलडिटैच मेंट) को ठीक करने में उपयुक्त सिद्ध हुआ है, यह अवस्था इलाज न करने पर स्थाई अंधेपन में बदल सकती है।

'सिकिल सेल' रोग में नेत्र पटल की रक्त केशिकाओं की गिल्टियां, रक्तस्राव करके अंधापन पैदा कर सकती हैं, परन्तु लेसर से इन गिल्टियों को थक्का बनाकर रक्तस्राव को रोकने में सफलता मिली है।

आहार नाल चिकित्सा-: लेसर के आधुनिकतम उपयोगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आहार नलिका के रक्तस्राव को रोकना है।

'बेथ इज़राइल मेडिकल सेंटर', न्यूयार्क (सं०रा०अ०) के डा० एलबर्ट, एम० वेटमैन ने 58 वर्ष के एक व्यक्ति के आमाशय के घाव को ठीक करने में लेसर का सफलता पूर्वक प्रयोग किया। उपचार के उपरांत उस व्यक्ति को पुनः रक्त चढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ी, जैसा साधारण शल्य चिकित्सा में संभव नहीं है।

लेसर ले जाने वाले एक तंतुपुंज को, एक प्रकाश तंतु अन्तर्दर्शी के साथ जोड़कर रोगी के मुख से आमाशय में डाला गया तथा अन्तर्दर्शी से देखकर घावपर लेसर को डाला गया। इस सम्पूर्ण क्रिया में कुल 10 मिनट का समय लगा।

ऐसे ही दो प्रयोगों में, एक, कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में प्र० रिचर्ड ड्वायर तथा दूसरा, एरलेंजन-न्यूरेम बर्ग वि०वि, पश्चिम जर्मनी में डा० पीटर फ्रूह मोरगन, ने लेसर द्वारा 'ग्रहणी' तथा आमाशय के 'अल्सर' को ठीक करने में सफलता प्राप्त की है।

स्त्रीरोग चिकित्सा-: अनेक स्त्री रोगों की चिकित्सा में भी लेसर के प्रयोग से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं। 'लूसियाना स्टेट यूनिवर्सिटी मेडिकल सेंटर', न्यूऑरलियन्स के डा० जे०एच० बेलीना ने लेसर चिकित्सा को 250 महिलाओं पर आजमाया जो योनिरोगों तथा कैन्सर से पीड़ित थीं; तथा 21 दिनों के अन्दर बिना किसी दर्द व रक्तस्राव के घावों को भरने में सफलता प्राप्त की।

स्तन, गले व जीभ की शल्य क्रिया-: इन शल्य क्रियाओं में भी लेसर का प्रयोग प्रचुरता से हो रहा है क्योंकि लेसर शल्य क्रिया में, साधारण स्तर की शल्य क्रिया की अपेक्षा 90% कम रक्त स्राव होता है।

कैन्सर तथा मस्तिष्क ट्यूमर चिकित्सा-: 'सेन्ट बरनवास मेडिकल सेंटर' लिविंगसटन, 'न्यूजर्सी' के डा० स्टैनले स्टीलर ने लेसर का उपयोग मस्तिष्क के दुःसाध्य ट्यूमरों को ठीक करने में किया है।

यूनिवर्सिटी ऑफ सिनसिनाती मेडिकल सेंटर के डा० लिओन गोल्डबर्ग लेसर से त्वचीय कैंसर के निदान में अग्रणी हैं। इसके अतिरिक्त 'लॉस एलेमॉस साइन्टिफिक लेबोरेटरी' न्यूमैक्सिकों के डा० गैरी सालज़-मैन ने अन्य वैज्ञानिकों के साथ मिलकर एक ऐसा लेसर तंत्र विकसित किया है जिससे कैन्सर का पता, साधारणतय: किए जाने वाले 'पैप टेस्ट' की अपेक्षा अधिक शीघ्रता तथा यथार्थता से लगाया जा सकता है।

विभिन्न प्रकार की कोशाएं प्रकाश को अलग-अलग प्रकार से विकीर्णित करती हैं। इस नए विकसित उपकरण में, जब कोशाओं को एक खारे विलयन में रखकर 60,000 कोशा प्रतिमिनट की दर से प्रवाहित करते हैं तो लेसर से प्रकाशित करने पर प्रत्येक कोशा एक अलग प्रकार का पहचान-संकेत देती है।

त्वचा प्रत्यारोपण-: अत्याधिक जलने से खराब हुई त्वचा के प्रत्यारोपण में भी लेसर का प्रयोग किया जा रहा है। सिनसिनाती के 'श्रीनर बर्न संस्थान' में लेसर से, मृत ऊतकों को हटाकर, त्वचा का प्रत्यारोपण किया जाता है।

दंत चिकित्सा-: लेसर के अत्याधुनिक उपयोगों में दांतों में भरने वाले एक ऐसे पदार्थ की खोज भी शामिल है जिससे दांतों में भराई करने पर दंतछिद्रों (कैविटीज़) के रहने की सम्भावना पूर्णतय: खत्म हो जाती है।

लेसर के बढ़ते प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा हैं; इसकी उच्च कीमत, लगभग 55,000 डालर। परन्तु निरन्तर प्रयोगों तथा नए माडलों के विकास के साथ ही उपकरण की कीमत नीचे आ जाने की पूरी सम्भावना है। ऐसा हो जानेपर लेसर का प्रयोग चिकित्सा विज्ञान में बहुलता से होने के साथ ही ऐसे रोगों में भी होने लगेगा जिनके लिए अभी इसका प्रयोग नहीं किया गया है।

(शेष पृष्ठ 7 का)

गुना कम हो जायगा। अतः जहां यह बम गिरेगा उस स्थान पर थोड़े ही समय के बाद मित्र राष्ट्रों की सेना तथा नागरिक पहुंच सकते हैं और उन पर विकिरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उनका कहना है कि शत्रु के टैंकों पर से शत्रु की लाश को फेंक कर उन्हीं के टैंक को फिर प्रयोग में लाया जा सकेगा।

यह सब कुछ 'नाटो' तथा 'वारसा संधि' देशों के बीच शक्ति संतुलन के लिये हो रहा है। कहा जाता है कि 'वारसा संधि' वालों के पास टैंक, बम वर्षक आदि बहुतायत से हैं और इनके पास प्रक्षेपास्त्र की संख्या मार में अधिक है। यह इनका उपयोग न कर सके इसका भय पैदा करने के लिये ही न्युट्रॉन बम बनाया गया है। कौन क्या निर्णय लेता है यह तो समय एवं परिस्थिति ही बता सकती है। इन आयुधों को प्रयुक्त करके लोगों को तिल तिल कर मारने में मानवीय व्यवहार की पराकाष्टा ही दृष्टिगोचर होती हैं। जर्मनी, जहां इस बम के प्रयुक्त होने की संभावना सर्वाधिक है, भूतपूर्व मंत्री एगन व्हार ने कहा है 'इस बम का निर्माण मस्तिष्क का विकृत होना प्रकट करता है और इससे मानवता के मूल्यों का संतुलन बिगड गया है। पदार्थ का महत्व जीव से अधिक हो गया है वह बात भी इससे सिद्ध होती है।

न्युट्रॉन बम–जीव समाप्त होंगे सम्पत्ति नहीं

आनन्द

मनुष्य रोग, प्रदूषण, कुपोषण तथा प्राकृतिक बाधाओं से सदैव ही त्रस्त रहता है। वह जितना ही इनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है वह उतना ही उलझ जाता है। उसके दुखों की सीमा ही नहीं रह गई। ऊपर से मानव निर्मित शस्त्रों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। इन नये नये अस्त्रों का भय इतना बढ़ता जा रहा है कि मानवता के ही नष्ट होने का खतरा बनता जा रहा है। विज्ञान की खोजें मानवता के सुख में वृद्धि करने में ही लग रही हों ऐसा नहीं है। समृद्ध राष्ट्रों में स्पर्धा इस सीमा तक बढ़ती जा रही है कि कुछ राष्ट्र अपनी शक्ति प्रदर्शन के लिये अपने शस्त्रागार में नये-नये आयुधों के जोड़ते रहने की इच्छा रखने लगे हैं। किन्हीं राजनीतिक कारणों से यदि विश्व युद्ध आरम्भ हो जाये तो परिणाम कितने भयंकर होंगे इसकी कल्पना मात्र से रोमांच हो आता है। परमाणु बम के प्रभाव से नागासाकी तथा हिरोशिमा का क्या हाल हुआ था यह किसी से छिपा नहीं है उसके बाद से अन्य संहारक आयुधों का निर्माण हुआ और हाइड्रोजन बम भी उसमें जुड़ गया। कुछ मास पूर्व एक नवीन बम के निर्माण की सूचना संयुक्त राज्य अमेरिका के ओर से आई है और यह है न्युट्रॉन बम जिसके बारे में यह धारणा है कि यह शत्रु का सम्पूर्ण विनाश कर देगा परन्तु उसकी सम्पत्ति नष्ट नहीं होगी। जब मनुष्य न होगा तो सम्पत्ति का उपभोग कौन करेगा ?

न्युट्रॉन बम को जानने से पूर्व न्युट्रॉन से परिचय पाना आवश्यक है। इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अणुओं से बनी है। और स्वयं अणु परमाणुओं से बनते हैं। अतः किसी भी वस्तु की निर्माण ईंट परमाणु को ही माना जाता है। परमाणु की संरचना कुछ इस प्रकार की है कि इसके केन्द्र में एक नाभिक होता है जिसके चारों ओर ऋण आवेशित इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते रहते हैं। इन इलेक्ट्रॉनों का द्रव्य मान लगभग नहीं के बराबर होता है। स्वयं नाभिक में दो प्रकार के आधार भूत कण पाये जाते हैं एक है प्रोटान जिस पर धन आवेश होता है और जिसका द्रव्यमान एक परमाणु द्रव्यमान इकाई होता है। दूसरा कण है न्युटॉन जिसका द्रव्यमान तो प्रोटॉन के ही द्रव्यमान के लगभग समान होता है परन्तु इस पर कोई आवेश नहीं होता। न्युट्रॉन विद्युत रूप से उदासीन होते हैं। इस कण की खोज ब्रिटानी भौतिक विद चाडविक ने किया था 1932 में। आवेश रहित होने के कारण यह कण काफी दूरी तै कर सकते हैं। वायु में विद्यमान कार्बन या नाइट्रोजन से टक्कर होने पर उन्हें दूसरे परमाणुओं में बदल देते हैं।

परमाणु बम का सिद्धान्त यह है कि यूरेनियम की न्युट्रॉन से बमबारी करने पर दो छोटे नाभिक बनते हैं और साथ में तीन न्युट्रॉन निकलते हैं। यूरेनियम तथा एक न्युट्रॉन का जितना द्रव्यमान होता है नये नाभिकों तथा तीन न्युट्रॉनों के कुल द्रव्य मान से कुछ अधिक होता है। इस द्रव्यमान अन्तर के कारण समतुल्य ऊर्जा निकलती है जिसे नाभिकीय ऊर्जा कहते हैं। तीन नये न्युट्रॉन अलग अलग यूरेनियम के परमाणुओं से टकराकर उन्हें छोटे नाभिकों में बदलते हैं और प्रत्येक दशा में तीन न्युट्रॉन फिर निकलते हैं। यह क्रिया जारी रहती है जब तक कि यूरेनियम का अंतिम परमाणु भी इस प्रकार विखंडित नहीं हो जाता। इसे 'श्रृंखला अभिक्रिया' कहते हैं। यह

शृंखला अभिक्रिया ही परमाणु ऊर्जा या स्रोत है जिसे रचनात्मक अथवा विध्वसांत्मक उद्देश्य से प्रयुक्त किया जा सकता है।

हाइड्रोजन बम का सिद्धान्त बिल्कुल इसके विपरीत है। परमाणु बम विखंडन के सिद्धान्त पर कार्य करता है जब कि हाइड्रोजन बम संलयन के सिद्धान्त पर कार्य करता है। संलयन में छोटे नाभिक मिल कर बड़े नाभिक का निर्माण करते हैं। संलयन के लिये अत्यधिक ताप की आवश्यकता पड़ती है। संलयन द्वारा ही सूर्य के भीतर उष्मा नाभिकीय अभिक्रियायें होती हैं जिससे वह सतत् ऊर्जा प्रदान करता रहता है। उष्मा नाभिकीय क्रिया प्रयोगशाला में करने की दिशा में अमरीका, रूस, जापान, पोलैण्ड आदि देशों में प्रयास जारी है और कुछ सफलता भी मिली है। अत: हाइड्रोजन बम के लिये परमाणु बम 'ट्रिगर' का कार्य करता है। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि विखण्डन की क्रिया के बिना ही संलयन की क्रिया कराई जा सके। इसका कारण यह है कि विखण्डन से निकले हुये कण रेडियो एक्टिव होते हैं और हानि पहुंचाते हैं जब कि संलयन से बने कण रेडियो एक्टिव नहीं होते। इस दृष्टि से ही बम को 'गंदा' या 'स्वच्छ' कहा जाता है। विखण्डन से निकले रेडियो एक्टिव पदार्थ पृथ्वी पर व वायु में उपस्थित सभी वस्तु को नष्ट कर देते हैं इसी लिये ऐसा बम 'गंदा बम' होता है।

जब अमरीका ने न्युट्रॉन बम बनाने की घोषणा की सारे विश्व में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। स्वयं अमरीका में भी इस पर आपत्ति उठाई गई। दावा किया जा रहा है कि न्युट्रॉन बम 'स्वच्छ बम' होगा। परमाणु बम से चार प्रकार से विध्वंस होता है—

(1) विस्फोट तरंगें जिससे इमारतें, फैक्टरी आदि गिर जाती हैं।

(2) ताप तरंगें जिससे आग लग जाती।

(3) गामा किरणें तथा

(4) न्युट्रॉन का विकिरण—इनसे सारा जीवन समाप्त हो जाता है। घोषणा की गई है कि न्युट्रॉन बम से विस्फोट तरंगें व ताप तरंगें बहुत कम निकलेंगी अत: सम्पत्ति की हानि नहीं होगी। परन्तु इससे न्युट्रॉन इतने अधिक निकलेंगे कि सभी जीव जन्तु नष्ट हो जायेंगे। इसके प्रभाव के तीन क्षेत्र होंगे। एक में तो तुरन्त मौत हो जायगी दूसरे में लोग कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिनों के अन्दर मर जायंगे। इस क्षेत्र के लोग पहले बेहोश हो जायंगे और इस तरह कई घण्टे रह कर मर जायंगे। तीसरे क्षेत्र में एक दो वर्ष के भीतर विभिन्न कारणों से 70% जनसंख्या समाप्त हो जायगी, कैंसर जैसा साधारण रोग हो जायगा। बचे हुये लोग असमय बूढ़े हो जायंगे और आनुवंशिक बीमारी भी फैलेगी।

न्युट्रॉन बम के निर्माण की संभावना 1950 से ही व्यक्त की जा रही है। इस दिशा में कई भौतिकविदों-आर्टिसिमोविच, नी-मैन, सैंडिलें को तथा एमेल्या नोव-के कार्य महत्वपूर्ण रहे हैं। एडवर्ड टेलर तथा लारेंस जैसे अमरीकी वैज्ञानिकों ने भी इसके निर्माण की सम्भावनाओं पर अपना अध्ययन करके कुछ घोषणायें की थीं।

न्युट्रॉन बम वास्तव में मीनी हाइड्रोजन बम है जो 8 इंच वाले आर्टिलरी शेल में समा सकता है तथा जिसे सतह से सतह मार करने वाले अमरीकी प्रक्षेपास्त्र 'लांस' में रख कर चलाया जा सकता है। सूचना के अनुसार 1000 टन टी० एन० टी० वाले न्युट्रॉन बम से युक्त प्रक्षेपास्त्र से 8000 रैड विकिरण फैलेगा जिससे शत्रु की सेना के सिपाही 5 मिनट के अन्दर निष्क्रिय हो जायंगे और तत्पश्चात् उनकी मृत्यु हो जायगी। 1 किलोटन न्युट्रॉन बम से जो प्रभाव होगा उतना ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिये सेना के अन्य नाभिकीय अस्त्रों का 10 किलोटन प्रयुक्त करना पड़ेगा और यही वह विशेष बात है जिसको लेकर न्युट्रॉन बम के समर्थक इसे स्वच्छ बम की संज्ञा देते हैं कि इसके प्रयोग से नाभिकीय अस्त्रों का प्रयोग 10

(शेष पृष्ठ 5 पर)

उपगमन

शुभंकर बनर्जी

विभिन्न स्थल रूपों का वर्णन तथा वर्गीकरण करते समय उनकी उत्पत्ति की व्याख्या करने में जिस तरह के परिकल्पनाओं और सिद्धांतों का उपयोग किया जाता है उन्हें उपगमन कहते हैं। वैसे तो स्थल रूपों के निर्माण प्रक्रिया को समझने के लिए जननिक विधि प्रयोग में लाये जा सकते हैं। उपगमन चार प्रकार के होते।

(1) कालानुक्रम उपगमन स्थल रूपों की विकासीय सारणियों का अध्ययन, समय या अवस्था के अनुसार इस विधि के अन्तर्गत किया जाता है। इस उपगमन की विशेषता यह है कि स्पष्ट करती है यह कि स्थल रूप विशेष या समूह का वर्तमान रूप कैसे प्राप्त हुआ है। उसका प्रारंभिक अवस्था और वर्तमान अवस्था को प्राप्त करने में उसे अपने विकास की कितनी सारणियों में से गुजरना पड़ा है उसे यह उपगमन स्पष्ट करती है। इस उपगमन में किसी क्षेत्र विशेष को चुना जाता है तथा उसके कालानुक्रम अनाच्छादन के प्रकृती का अध्ययन किया जाता है। यह उपगमन प्रादेशिक भू-आकारिकी से सम्बन्धित है। इस अध्ययन में प्रारंभिक अवशिष्ट 'अपरदन सतह' प्रमुख आधार है। पहले सम प्राय सतहों की पहचान फिर उनका तिथि निर्धारण तथा अन्त में उसका वर्णन किया जाता है। इसके बाद में प्रवाह प्रणाली के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान-प्रवाह-प्रणाली का रूप कैसे प्राप्त हुआ है। भू-विज्ञान के संरचना तथा अश्म विज्ञान, सागर तल में परिवर्तन, जलवायु संबंधी परिवर्तन, वनस्पति तथा मानव-क्रिया कल्याण का पर्याप्त महत्व, कालानुक्रम उपगमन में प्रमुख उपयोग होता है।

उदाहरण के लिए तटीय भाग में वर्तमान सागर तल के विकास का अध्ययन करना हो तो, उसमें कितने बार परिवर्तन हुए हैं एवं प्रारंभिक सागर-तल की ऊँचाई क्या हो सकती है उसे पहले देख लेंगे। इसके लिए निक पायंट एवं प्रारंभिक नदी वेदिकाओं के अवशेष तथा प्रवणित नदी के विशिष्ट किंतु सुरक्षित भागों की सहायता से नदी की प्रारंभिक साम्यावस्था की परिच्छेदिका तथा प्रवणित वक्र का पता लगाकर प्रारंभिक सागर तल को जाना जा सकता है। इस कार्य हेतु प्रवणित वक्र के अवशेष भागों की गणितीय बहिर्वेशन की विधि द्वारा पुर्नरचना करके प्रारंभिक प्रवणित वक्र का पता लगाया जाता है और निम्न नियम (ग्रीन 1934) के आधार पर वर्तमान सागर-तल तथा प्रारंभिक सागर-तल के बीच की ऊँचाई ज्ञात की जा सकती है :—

$$y = a - K \log (p - x)$$

जहाँ y सागर तल से नदी की ऊँचाई।

$a\ K$=नदी के स्थिरांक

p=नदी की लम्बाई

x=नदी के मुहाने से दूरी

कालानुक्रम-उपगमन में दो कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं—

(i) समप्राय सतह भू-भाग के आंशिक भाग को ही प्रदर्शित करती है, अतः वर्तमान स्थल रूपों में केवल कुछ का ही अध्ययन इस उपगमन से संभव है। (2) यह उपगमन कल्पना पर अधिक आधारित है क्योंकि अपरा-

दनात्मक प्रक्रमों द्वारा ये स्थल रूप इतने परिवर्तित हो चुके हैं कि उनके प्रारंभिक रूप की पुनर्रचना कठिन हो जाती है।

(2) विकास उपगमन स्थल रूप संरचना, प्रक्रम और अवस्था का प्रतिफल होता है। इसे सम्पर्क रूप से सभी वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया। यदि भूपटल और स्थल रूपों के प्रादेशिक वितरण तथा जलवायु प्रकार पर दृष्टि पात किया जाय तो जलवायु प्रकार और स्थल रूपों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध ठहरता है। अतः स्थल रूपों के अध्ययन करते समय उनकी उत्पत्ति में जलवायु के हाथ को भी समझते हैं। सामान्य वर्षा से चूने के पत्थर कार्स्ट स्थलाकृति का जन्म देते हैं। पेडीमेंट के निर्माण में शुष्क और अर्ध शुष्क जलवायु, ढालों के विकास में भी जलवायु (आर्द्र प्रदेशों में उत्तल-अवतल ढाल) का हाथ रहता है। इस तरह के अध्ययन के बाद ही संकल्पना का प्रतिपादन किया जाता है। प्रत्येक जलवायु के प्रकार अपना विशिष्ट धरातल या स्थल रूप का निर्माण करता है। भू-वैज्ञानिक संरचना जैसे उसकी कठोरता, नति (dip) कोण आदि भी विकास उपगमन को प्रभावित करती है। आर्द्र प्रदेशों में मृत्तिका वाले भाग में अवतल ढाल का विकास होता है, जब कि चूने के पत्थर पर उत्तल ढाल का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक शैल अपना विशिष्ट स्थल रूप बनाती है। इसी आधार पर संकल्पना का प्रतिपादन किया गया है—अर्थात स्थल रूपों के निर्माण में भू वैज्ञानिक संरचना सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रक कारक होती है।

(3) प्रक्रम रूप उपगमन :—इस उपगमन के अन्तर्गत स्थल रूप तथा प्रक्रम के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। यह इस बात पर आधारित है कि प्रत्येक प्रक्रम अपना स्वयं स्थल रूप के निर्माण करता है। इस अध्ययन के दो रूप हैं :—

(1) वर्तमान स्थल रूप के निर्माण में किस प्रक्रम का हाथ रहा, उदाहरण के लिए उन क्षेत्रों में जहां इस समय शीतोष्ण जलवायु पाई जाती है, यदि परमाफ्रास्ट से सम्बन्धित स्थलरूप पाये जाते हैं तो यह इस बात का प्रमाण हो जाता है कि वर्तमान जलावायु से सम्बन्धित प्रक्रम, जलीय नहीं है और उनके निर्माण में कोई हाथ नहीं है। ऐसी हालत में परिहिमानी प्रक्रम का प्रभाव अमिट हो जाता है।

(2) यदि किसी क्षेत्र में वर्तमान समय में कोई प्रक्रम कार्यरत है तो उससे निर्मित होने वाले भावी स्थल रूप की रूप रेखा तैयार की जा सकती है।

वास्तव में यह उपगमन वैज्ञानिक एवं गणितीय विधि से भरा हुआ है। सबसे पहले प्रक्रमों का विश्लेषण आवश्यक होता है। प्रक्रम दो तरह के होते है—

(i) अन्तर्जात जिसके द्वारा भू-संचलन होने से विवर्तनिक स्थल रूपों का निर्माण होता है।

(ii) बहिर्जात प्रक्रम जिनके अन्तर्गत नदी, भूमिगत जल, सागरीय तरंग, हिम तथा हिमानी, परि हिमानी, पवन, (अपरदनात्मक प्रक्रम) तथा अपक्षय मृदासर्पण, पंक वाह, वृष्टि घुलन) है। प्रक्रमों की क्रिया विधि प्रचालन का स्वभाव तथा दर का अलग-अलग तथा पारस्परिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। परन्तु यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि विश्लेषण इतना गणितीय न हो जाय कि वह भू-आकृति विज्ञान-वेत्ता की परिधि से बाहर चला जाय। इन प्रक्रमों द्वारा होने वाले अपरदन, परिवहन तथा निक्षेप से सम्बन्धित माडल प्रयोगशाला में तैयार किये जा सकते हैं। उनसे प्राप्त परिणामों का क्षेत्र में वास्तविक वस्तु स्थिति से परीक्षण किया जा सकता है।

इस उपगमन में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है—

(1) सभी प्रक्रमों की क्रिया विधि समान नहीं है। कुछ इतनी मन्द गति (रासायनिक अपक्षय, मृदा सर्पण) से कार्यरत होते हैं कि उनका सूक्ष्म मापन आवश्यक हो जाता है। इनकी क्रिया विधि का सही ज्ञान

प्राप्त करना दुष्कर हो जाता है। परन्तु वर्तमान में कई यंत्र आ गये हैं जिनसे इन प्रक्रमों की क्रिया विधि का मापन आसानी से हो जाता है। करेण्ट मीटर से नदी का वेग ज्ञात किया जा सकता है। नदी वेग (v) एवं क्रास सेक्सनल क्षेत्र A के मापन के आधार पर नदी D विसर्जन मालूम किया जा सकता है :—

विसर्जन $(D)=v\times A$

इसी तरह सागर-तल पर रेत की गति का प्रति दीप्ति ट्रेसर से मापन कर लिया जा सकता है। हिमानी की गति का मापन क्लाइनो-मीटर से किया जाता है।

(ii) कुछ स्थल रूपों में परिवर्तन इतनी मन्द गति से होता है कि एक मानव-जीवन-काल के अन्तर्गत उसका अवलोकन तथा मापन संभव नहीं हो पाता है।

(iii) एक प्रक्रम का स्थल रूपों से सम्बन्ध स्थापित करना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि किसी भी स्थल रुप के निर्माण में कई प्रक्रम मिलकर साथ-साथ काम करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रयोगशाला में माडल के प्रयोग से कुछ सही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

(iv) संयुक्त उपगमन प्रादेशिक भू-आकारिकी के अध्ययन के समय उपर्युक्त उपगमन का सामूहिक रुप वांछित हो जाता है। इतना ही नहीं किसी स्थलरुप विशेष के अध्ययन में भी कई उपगमन का सहारा नितांत आवश्यक होता है। निष्कर्ष :—यदि स्थल रुपों के अध्ययन की विधियों और उपगमनों का विश्लेषण किया जाय तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि प्रत्येक उपगमन स्थल रुपों के निर्माण से सम्बन्धित किसी एक कारक से सम्बन्धित है। विकास उपगमन में संरचना तथा जलवायु कालानुक्रम उपगमन में विकासीय श्रृंखलायें तथा प्रक्रम-रुप उपगमन में प्रक्रम को आधार माना जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि स्थल-रुपों के अध्ययन में गणित का चाहे कितना ही प्रवेश क्यों न हो गया है। विषय कितना ही मात्रात्मक क्यों न हो परन्तु भू-आकृति-वेत्ता डेविस द्वारा प्रतिपादित "स्थल रुप, संरचना, प्रक्रम और अवस्था का प्रतिफल है" इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

बी 21/109 भी, कमक्षा
वाराणसी

पहला जीव कैसे बना ?

डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी

जीव की उत्पत्ति के बारे में सोचने के पहले यह जानना जरुरी हो जाता है कि पृथ्वी पर वे पदार्थ कैसे बने जिनसे जीव की उत्पत्ति हुई है। पूरे ब्रह्माण्ड में केवल दो तत्वों की मात्रा अधिक है। एक है, हाइड्रोजन जो पूरे ब्रह्माण्ड में लगभग 90% है। दूसरा है हीलियम जो लगभग 10% है। बाकी तत्व लगभग ·16% में है। कुल तत्वों की संख्या 105 है। ब्रह्माण्ड में तत्वों की तुलनात्मक स्थिति निम्नलिखित है—

हाइड्रोजन	350, 000, 000
हीलियम	35, 000, 000
आक्सीजन	220, 000
नाइट्रोजन	160, 000
कार्बन	80, 000
सिलिकॉन	10, 000
नीऑन	9, 000
मैग्निशियम	8700
आयरन	6700
सल्फर	1000

यह वितरण पूरे ब्रह्माण्ड का है। सूर्य में तत्वों का वितरण दूसरा है, 85% हाइड्रोजन और 15% हीलियम तथा अन्य तत्व ·1 से ·2% के बीच में हैं। सूर्य से अलग होने पर पृथ्वी पर भी इन तत्वों की प्रतिशतता उतनी ही रही होगी जितनी सूर्य में थीं। समय के साथ यह प्रतिशत बदल जायेगा क्योंकि गैस ग्रह के परिमण्डल से दिग्मण्डल की ओर भागते रहते हैं। पृथ्वी की प्रारम्भिक अवस्था में सभी तत्व गैस के रुप में थे। इन गैसों का पलायन वेग पृथ्वी के आकार तथा गैसों के आकार पर निर्भर करता है। गैसों के परमाणु यदि छोटे हैं अर्थात इसका परमाणु भार कम हैं तो इसका पलायन वेग अधिक होगा। ग्रह यदि छोटा है तो गैसों पर उसकी गुरुत्वाकर्षण पकड़ कम होगी। ग्रह के अधिक ताप होने पर भी पलायन वेग अधिक होगा। इस प्रकार कुछ गैस परिमण्डल से दिगमण्डल की ओर भागते रहे।

जब पृथ्वी की सतह ठण्डी हो गई होगी तो विचार करें कि उसके वायुमण्डल में कौन-कौन सी गैसे रह गई और किन पदार्थों से इसका सतह बना। सामान्य तत्वों के क्वथनांक पर इसके लिए ध्यान देना होगा जो निम्न-लिखित है।

आदिकालिक वायुमण्डल — कार्बनिक यौगिक बने — गुच्छे बने
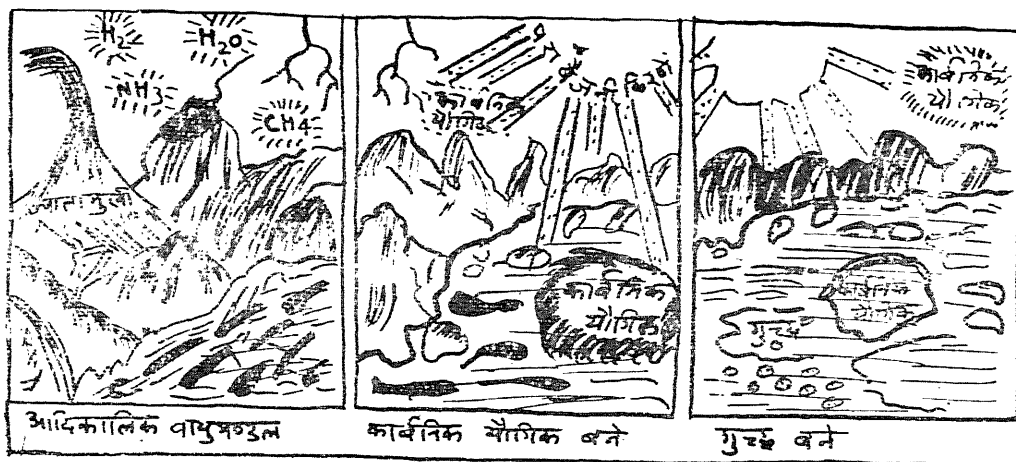
(परम शून्य ताप के ऊपर)

तत्व	क्वथनांक °K
कार्बन	4500
आयरन	3700
सिलिकॉन	2900
मैग्निशियम	1380
सल्फर	718
ग्राक्सीजन	90
नाइट्रोजन	78
नीग्रॉन	27
हाइड्रोजन	20
हीलियम	4

पृथ्वी के तल का अधिकतम और न्यूनतम ताप 310°K तथा 270°K है। इन आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि पृथ्वी के वायुमण्डल में कार्बन, ग्रायरन, सिलिकॉन अथवा मैग्निशियम नहीं हो सकता। पृथ्वी के वायुमण्डल का निर्माण हाइड्रोजन और हीलियम के अतिरिक्त आक्सीजन, नाइट्रोजन, नीग्रॉन की ग्रल्प मात्रा से होती है। पृथ्वी के इस वायुमण्डल में अब गैसों में संयोग होना प्रारम्भ होता है। हाइड्रोजन की ग्रधिक मात्रा यह बाध्य करती है कि आक्सीजन और नाइट्रोजन उससे संयोग करें। ऐसा होता भी है। हाइड्रोजन के दो परमाणु आक्सीजन के एक परमाणु से संयुक्त होकर जल बनाता है। जल बनने की इस क्रिया को आक्सीजन की सक्रियता और बढ़ा देती है। इस प्रकार का बना जल, दस करोड़ वर्ष तक बरसात रहा। नाइट्रोजन के तीन परमाणु से हाइड्रोजन के एक परमाणु संयोग करके अमोनिया बना दिया। ग्रधिक क्वथनांक वाले तत्व भी संयोग की इस क्रिया में शामिल होते हैं। कार्बन तत्व इसमें ग्रागे हैं। यह हाइड्रोजन के साथ मिल कर मेथेन बना देता है तथा ग्राक्सीजन के साथ कार्बन डाई आक्साइड गैस। सल्फर भी पीछे नहीं रहता यह हाइड्रोजन के साथ हाइड्रोजन सल्फाइड गैस तथा आक्सीजन के साथ सल्फर डाई ग्राक्साइड गैस बनाता है। चूंकि ग्राक्सीजन की क्रियाशीलता ग्रधिक होती है ग्रतः सिलिकॉन, मैग्निशियम तथा आयरन जैसे तत्व हाइड्रोजन के बजाय आक्सीजन से संयोग करते हैं। इस संयोग से सिलिकॉन ग्राक्साइड, मैग्निशियम आक्साइड तथा आयरन आक्साइड यौगिक बनते हैं। इस प्रकार के बने यौगिकों से ही पृथ्वी के वायुमण्डल तथा सतह का निर्माण होता है। कौन यौगिक वायु मण्डल में गया और किससे सतह बना इसका पता यौगिकों के क्वथनांक से चलेगा—

यौगिक	क्वथनांक °K
मैग्निशयम ग्राक्साइड	3900
सिलिकॉन ग्राक्साइड	2500
आयरन ग्राक्साइड	1800
जल	3730
सल्फर डाई ग्राक्साइड	2630
अमोनिया	240
हाईड्रोजन सल्फाइड	213
कार्बन डाई आक्साइड	195
मेथेन	110

इस सारिणी से यह ज्ञात होता है कि मैग्निशियम, सिलिकॉन तथा आयरन के आक्साइड पृथ्वी के वायुमण्डल का निर्माण नहीं करते है। ये पृथ्वी के सतह का निर्माण करते हैं। पृथ्वी के वायुमण्डल में हाइड्रोजन और हीलियम के अतिरिक्त जो अन्य गैसें हैं वे हैं—जल, सल्फर डाई आक्साइड, अमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड कार्बन डाई आक्साइड तथा मीथेन। इन गैसों में कम अणु भार की गैसें परिमण्डल से दिग्मण्डल की ओर पलापन करते हैं। इन गैसों का अणुभार निम्नलिखित है।

गैस	अणुभार
हाइड्रोजन	2
हीलियम	4
मेथेन	16
अमोनिया	17
जल	18
नीऑन	20
हाइड्रोजन सल्फाइड	34
कार्बन डाई आक्साइड	44
सल्फर डाई आक्साइड	64

पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति से पहले, सर्वप्रथम जल गैसीय अवस्था से द्रव की अवस्था में आया। जल में एक अद्भुत गुण है—पदार्थों को घोलने का जिसे विलापक कहते हैं। अच्छा विलापक होने के कारण जल ने अमोनिया को अपने में घोल लिया इसलिए यह पृथ्वी से वहने से बच गया। मीथेन पानी में कम घुलनशील हैं इसलिये पृथ्वी ने वायु मण्डल से यह काफी बह गया। हाइड्रोजन सल्फाइड, कार्बनडाई आक्साइड तथा सल्फर डाई आक्साइड गैसों का अणुभार अधिक भी है और ये पर्याप्त मात्रा में पानी में घुलनशील है। यही कारण है कि ये पृथ्वी से बहने से बच गये।

पृथ्वी का जड़ संसार

निर्जीव तत्वों और उसके यौगिकों से इस प्रकार जड़ संसार का निर्माण होता है। इस जड़ संसार में एक ओर वायु से भरा आकाश है। दूसरी ओर सागर है। तीसरी ओर स्थल है। जीव की उत्पत्ति के लिए जड़ संसार के सागर की ओर चलें।

सागर क्या है : सागर मुख्य रूप से जल है। यह केवल जल ही नहीं हैं। इसमें घुले हुये आयन हैं। आयन विद्युत आवेशित परमाणु या परमाणुओं के समूह होते हैं। ये मुख्य आयन हैं—सोडियम आयन तथा क्लोराइड आयन। इसके अतिरिक्त पोटैशियम आयन, कैलशीयम आयन, मैग्निशियम आयन, सल्फेट आयन तथा फास्फेट आयन की भी पर्याप्त मात्रा उस आदिकाल के समुद्र में रहा। वायुमण्डल की कुछ गैसें भी समुद्र में घुली हुई थी। अमोनिया और हाइड्रोजन सल्फाइड इसमें मुख्य है क्योंकि इसकी घुलनशीलता अधिक है। अल्प मात्रा में हाइड्रोजन सल्फाइड, मेथेन और हाइड्रोजन गैस समुद्र में घुले रहे। यह समुद्र का रासायनिक स्वरूप है। समुद्र में घुले तत्व और यौगिक उस निर्जीव संसार के पदार्थ हैं जो चेतन जीव का निर्माण करते हैं।

अब जीव जगत की ओर चलें। देखें चेतन इकाई सेल के निर्माण में कौन से रासायनिक पदार्थ काम में आते है।

प्रत्येक प्राणी कोशिका और उनके समूहों का बना होता है। जिस प्रकार चाहे छोटी इमारत हो या बड़ी इमारत हो इसका निर्माण छोटी छोटी ईंटों से ही होता है उसी प्रकार हर जीव धारी की शरीर रचना कोशिका से हुई है। कुछ जीवधारी एक कोशीय भी होते हैं। इस प्रकार यह कोशिका स्वयम ही एक जीवित प्राणी है। बड़ा ही अद्भुत प्राणी निकाला यह कोशिका। एक अकेला सेल (कोशिका) विभाजन प्रक्रिया के द्वारा एक से अनेक हुआ। यह इसका एक विशेष लक्षण है। पृथ्वी पर जो पहला सेल बना होगा, वह एक जादू की पुड़िया निकला। यह विभाजित होता हुआ अनेक तरह का सेल बना देता है। एक सेल, लाखों, करोड़ों, अरबों, खरबों, सेलों की संगठित मित्र मण्डली बना देता है। सेलों की यह मित्र मण्डली हमारे सामने जीती जागती एक शरीर के रूप में आ जाती है। एक ऐसा जीवित शरीर जो चलता है, उठता है, बैठता है, बातचीत करता है, सांस लेता है, अपनी तरह का ही एक दूसरा शरीर उत्पन्न कर देता है। सेल की तुलना उस एक जादूई ईंट से करिये जो एक ईंट अपने में से ही ईंट पैदा करता जाय और विशाल महलों की कतार खड़ी कर दें। इन महलों के सामने ईंटों की सड़क बना दें। सड़क ही क्यों ईंटों का एक पूरा शहर ही बना दें। सेल के भीतर इस जादुई कला का ज्ञान किसे है। चलें सेल के भीतर उसकी संरचना देखें।

सेल का रासायनिक संगठन

साधारणत: सेल ·1 मिलीमीटर से ·01 मिलीमीटर की लम्बाई का होता है। इसके प्रत्येक भाग को इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है। इसके अन्दर की रचना बहुत ही जटिल होती है। अनेक प्रकार के कार्बनिक और अकार्बनिक यौगिक मिलकर इसकी रचना करते हैं। लगभग बीस हजार किस्म के अणु मिलकर इसकी रचना करते हैं। सेल के मुख्य यौगिकों के नाम हैं, पानी, प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट, वसा इसके अतिरिक्त अकार्बनिक लवण भी हैं। मुख्य रूप से सोडियम, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्निशियम तथा आयरन के फास्फेट क्लोराइड और कार्बोनेट होते हैं। सेल में पाये जाने वाले प्रोटीन कई किस्म के हैं। कुछ साधारण प्रोटीन होते हैं तो कुछ संयुग्मित (कानजुगेटेड) प्रोटीन। इस संयुग्मित प्रोटीन में प्रोटीन के अलावा अन्य प्रकार के रासायनिक द्रव्य भी जुड़े रहते हैं। ये संयुग्मित प्रोटीन भी कई प्रकार के होते हैं इनमें से एक है न्यूक्लियो प्रोटीन। यह प्रोटीन और न्यूक्लीइक अम्ल के मेल जोल से बना होता है।

कोशिका की संरचना : यह 'पहला जीव' कोशिका गोल, अण्डाकार, बहुभुजी आयताकार अथवा लम्बी होती है। कोशिका की रक्षा के लिए एक दीवार होती है जिसे कोशिका भित्ति कहा जाता है। प्राय: यह सेलुलोज का बना होता है। कोशिका के भीतर उपस्थित भाग को जीव द्रव्य कहा जाता है। यह स्वच्छ, दानेदार अर्द्ध द्रव्य जैली के आकार का पारदर्शक पदार्थ होता है। जीव द्रव्य का रासायनिक संगठन ऊपर बतलाया गया है। जीव द्रव्य के दो भाग होते हैं—कोशिका द्रव्य और केन्द्रक।

केन्द्रक : कोशिका में अगर केन्द्रक न होता, तो कोशिका जिन्दा न रहता। यह कोशिका के बीच में एक गोल सी घनी संरचना होती है। केन्द्रक के चारो ओर एक झिल्ली रहती है। केन्द्रक के अन्दर के द्रव को न्यूक्लिइयोप्लाज्म कहा जाता है। केन्द्रक के बीच में केन्द्रिका होता है। केन्द्रिका के भीतर एक घना द्रव होता है जो मुख्य रूप से प्रोटीन का बना होता है। इसमें न्यूक्लीन नामक एक द्रव्य और होता है। केन्द्रक में एक और महत्वपूर्ण चीज होती है जिसे क्रोमेटिन कहा जाता है यह

धूमिल लाल सा होता है। जब कोशिका विभाजन की क्रिया होती है तो यह क्रोमेटिन धागों के एक गुच्छा जैसा हो जाता है। इस गुच्छे को क्रोमोसोम कहते हैं। विभाजन की क्रिया में इस क्रोमोसोम के दो भाग जाते हैं तथा दो नई कोशिकाओं का जन्म होता है। नई कोशिकाओं में क्रोमोसोम की संख्या मातृ कोशिका के बराबर होती है। जब दोनों कोशिकायें बिल्कुल अलग हो जाती हैं तो क्रोमेटिन का धुंधला जाल दिखलाई पड़ने लगता है।

क्रोमोसोम : हर क्रोमोसोम हिस्टोन नामक प्रोटीन तथा न्यूक्लीइक अम्ल होता है। प्रत्येक जीव में क्रोमोसोम की संख्या अलग-अलग होती है जैसे मनुष्य में 46 तथा चूहे में 42। क्रोमोसोम का महत्व पूर्ण अंग जीन होता है। ये जीन माँ बाप के गुण सन्तान में पहुंचाते रहे हैं। अतः इन्हें आनुवांशिकता का वाहन कहते हैं।

कोशिका के इस परिचय से चेतन जगत के पदार्थों का परिचय मालूम होता है। हमने देखा कि जीवित कोशिका तमाम द्रव्यों का जटिल मिश्रण होता है। यदि इसमें से किसी द्रव्य को टेस्ट ट्यूब में अलग किया जाय तो यह जीवित न रह सकेगा। कोशिका के कुछ रसायन जीव के साथ काफी नजदीक से जुड़े प्रतीत होते हैं। कोशिका के कुछ रसायन जीव के साथ काफी नजदीक से कोशिका का केन्द्रक जो एक घना भाग होता है, कोशिका की वृद्धि और प्रजनन के लिए जिम्मेदार होता है। केन्द्रक के भीतर का पदार्थ 'क्रोमेटिन' कोमोसोम से जुड़ा है। यह क्रोमोसोम ही है जो सेल के रासायनिक लक्षण को नियंत्रित करता है। कोशिका के इस क्रोमोसोम से जीव काफी नजदीक से जुड़ा है।

क्रोमोसोम जीन का भी सूत्र होता है। इस जीन में न्यूक्लो प्रोटीन के अणु होते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि 'जीवन' बनाने में या चेतन पदार्थ बनाने में न्यूक्लो प्रोटीन का बड़ा हाथ है। क्या न्यूक्लियो प्रोटीन कोई ऐसा रसायनिक पदार्थ है जो अन्य पदार्थों की अपेक्षा कुछ अलग गुण रखता है? इसमें कौन सी ऐसी विशेषता है जिसके कारण जीव से इसकी मेल जोल है। अन्य पदार्थों की अपेक्षा न्यूक्लियो प्रोटीन में आत्म प्रजनन का गुण होता है। इसमें बढ़ने का भी गुण होता है जिसे संवर्द्धन कहते हैं। न्यूक्लियो प्रोटीन की बढ़ोत्तरी सोडियम क्लोराइड के केलास में होने वाली बढ़ोत्तरी से बहुत अधिक होती है।

इस जानकारी से इस नतीजे पर पहुंचा जा सकता है कि यदि यह ज्ञात हो जाय कि निर्जीव पदार्थों से न्यूक्लियो प्रोटीन का अणु कैसे बना तो जीव की शेष जानकारी मालूम की जा सकती है। अतः हमें यह पता करना है कि पृथ्वी पर न्यूक्लियो प्रोटीन कैसे बना?

जड़ और चेतन जगत

न्यूक्लियो प्रोटीन के बनने की जानकारी हासिल करने से पूर्व एक बार निर्जीव पदार्थों के संसार को तथा जीव जगत के पदार्थ को साथ-साथ देखें। इन्हें रसायन की दृष्टि से देखें। जड़ जगत की ओर काफी मात्रा में जल है। पर्याप्त मात्रा में कार्बन डाई आक्साइड और अमोनिया है। थोड़ा मेथेन और हाइड्रोजन सल्फाइड है। अल्प मात्रा में हाइड्रोजन है। इन पदार्थों (यौगिकों) के अणुओं में जो परमाणु हैं उनमें हाइड्रोजन काफी मात्रा में है। विचारणीय मात्रा में कार्बन और आक्सीजन परमाणु हैं। पर्याप्त मात्रा में नाइट्रोजन तथा अल्प मात्रा में सल्फर के परमाणु हैं। आयनों में फास्फेट आयन है जिसमें फास्फोरस के परमाणु हैं।

चेतन जगत की ओर न्यूक्लियो प्रोटीन है जिसमें काफी मात्रा में हाइड्रोजन परमाणु हैं। विचारणीय मात्रा में कार्बन और आक्सीजन परमाणु हैं। इसमें नाइट्रोजन की भी पर्याप्त प्रतिशतता है। अल्प मात्रा में सल्फर और फास्फोरस परमाणु उपस्थित हैं।

जड़ एवम चेतन जगत में उपस्थित परमाणुओं की ओर देखने से ज्ञात होता है कि यद्यपि दोनों जगत में उपस्थित परमाणु लगभग एक से हैं। दोनों जगत के अणुओं में एक अन्तर है। जड़ जगत के अणु कम परमाणुओं से बने हैं अधिक से अधिक पाँच परमाणु। चेतन जगत के न्यूक्लियो प्रोटीन के अणु में जब कि लाखों परमाणु हैं। (क्रमशः)

हानिकारक कीट

रूपचन्द प्रजापति

"कुछ कीट हमारे लिए हानिकारक हैं। वे हमारी फसलों को हानि पहुंचाते हैं, जिससे उपज कम हो जाती है ! कुछ कीट हमारे जंगलों में उत्पन्न होने वाली इमारती लकड़ी फसलों तथा बगीचे के पौधों को नुकसान पहुंचाते हैं। कुछ कीट रोग फैलाने वाले कीटाणुओं को मनुष्य में फैलाकर बीमारी उत्पन्न करते हैं ! इस प्रकार हानिकारक कीटों को दो बड़े समूहों में रखा जा सकत है :—

(1) रोग के कीटाणु फैलाने वाले कीट !

(2) खेती को हानि पहुंचाने वाले कीट !

1. रोगवाहक कीट

"रोग वाहक कीट जैसे घरेलू मक्खी, मच्छर, पिस्सू जूं (ढील) आदि रोगों के कीटाणुओं को एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाते हैं !

[क] घरेलू मक्खी

"मक्खियां अच्छे एवं बुरे सभी पदार्थों पर बैठती है ! वे मनुष्य के पाखाने पर बैठती है ! वे विभिन्न प्रकार के दूषित पदार्थों पर बैठती हैं। अपने भोजन की खोज में ये कभी-कभी हैजे से पीड़ित मनुष्य के पाखाने पर भी बैठ जाती है ! ऐसी हालत में मक्खियों के पैरों में हैजे के रोगांणु चिपक जाते हैं; जब यही मक्खी हमारे खाद्य पदार्थ पर बैठती है तब वे रोगाणुं भोजन में मिल जाते हैं। इस तरह खाद्य पदार्थ हैजे के रोगाणुंओं से दूषित हो जाता है। जब इसी दूषित भोज्य पदार्थ को कोई स्वस्थ मनुष्य खाता है तो वह भी हैजे की बीमारी से पीड़ित हो जाता है। इसी प्रकार घरेलू मक्खी मक्खियां दूसरी बीमारियां जैसा-अतिसार तथा टाइफाइड को भी फैलाती है ! भोज्य पदार्थों को मक्खियों से दूर रखकर हम बीमारियों को फैलने से रोक सकते हैं ! मक्खियां जहां अण्डे देती है वहां दवाईयां छिड़क कर इनकी संख्या कम करके भी बीमारियों को फैलने से रोक सकते हैं इसके अतिरिक्त अपने वातावरण को स्वच्छ रखकर बीमारियों को फैलने से रोका जा सकता है।

[ख] मच्छर

"यह सर्वविदित है कि मच्छरों के काटने से कई प्रकार की बीमारियां फैलती है ! मच्छर तीन प्रकार के होते हैं ? एनाफिलीज जिसकी मादा के काटने से मलेरिया हो जाता है ! मलेरिया एक परजीवी, जिसे प्लाजमोडियम कहते हैं, के द्वारा फैलता है यह मादाएनाफिलीज के शरीर में होता है जो काटते समय मनुष्य के रुधिर में प्रवेश कर जाता है ! इसके अतिरिक्त मच्छर की दूसरी जातियां है क्रमशः क्यूलेक्स एवं एडिस जिनके काटने से हड्डी तोड़ बुखार, फायलेरिया, डेंगू ज्वर आदि बिमारियां फैलती हैं !

[ग] पिस्सू

"एक सूक्ष्म कीट है। वह कुछ जानवरों जैसे चूहे, बिल्ली आदि के शरीर पर परजीवी के रूप में रहता है ! विशेष प्रकार के जिवाणु चूहे में प्लेग उत्पन्न करते हैं ! प्लेग के रोग से पीड़ित चूहे के रक्त में एक विशेष प्रकार के जीवाणु पाए जाते हैं ! जब पिस्सू प्लेग से पीडित चूहे के रक्त को चूसते हैं तब प्लेग के रोगाणु पिस्सू के शरीर

में प्रवेश कर जाते हैं ! प्लेग से पीड़ित चूहा जल्दी ही मर जाता है ऐसी हालत में पिस्सू चूहे के शरीर को छोड़कर मनुष्यों को काटने लगते हैं ! काटने से जीवाणु मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं ! इस प्रकार मनुष्य प्लेग से पीड़ित हो जाता है ! पिस्सुओं को नष्ट करके प्लेग रोग पर नियन्त्रण पाया जा सकता है !

[घ] जूं (ढील)

जूं दो प्रकार की होती है ! एक प्रकार की जूं मनुष्य के बालों में होती है, जिसे ढील कहते हैं ! दूसरे प्रकार की जूं हमारे शरीर के कपड़ों में चिपकी रहती है जिसे चीलर कहते हैं। दोनों प्रकार की जुंए मनुष्य के रक्त पर अपना निर्वाह करती है। जब सफाई भली प्रकार नहीं हो पाती तब इनकी संख्या तेजी से बढ़ती है ! टाइफ़ाइड तथा मियादी ज्वर से पीड़ित रोगियों के रक्त में बीमारी उत्पन्न करने वाले जीवाणु होते हैं ! ढील या चीलर रक्त के साथ रोगाणुओं को चूसते हैं ! जब मनुष्य ढील को शरीर से अलग कर अपने नाखूनों के बीच में मारता है तब ढील के शरीर से रोगाणु बाहर आ जाते हैं। वे रोगाणु स्वस्थ मनुष्य के शरीर के घाव तथा खरोंच द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं तथा मनुष्य को रोगग्रस्त बना देते हैं !

[2] खेती को हानि पहुंचाने वाले कीट

जब कभी हम भिंडी, बैंगन, सेव, आम आदि काटते हैं तब उनमें हम कृमि या भृंग को देखते हैं ! ये कृमि क्या हैं ? किस प्रकार फलों में चले जाते हैं ? कुछ कीट फलों के बनने से पहले फूलों में अण्डे दे देते हैं ! अंडों में से बाल कीट निकलते हैं जो फलों के बनने के साथ-2 स्वयं भी बढ़ते रहते हैं एवं फलों को खाकर अपना निर्वाह करते हैं ! इस तरह ये हमारे खाद्य पदार्थों को नष्ट कर देते हैं (उन जीवों को जिन्हें हम नहीं चाहते तथा जो हमें हानि पहुंचाते हैं हानिकारक जीव कहते हैं ! सभी हानिकारक कीटों द्वारा न केवल सब्जियों एवं फलों को ही नुकसान पहुंचाया जाता है बल्कि ये हमारे खाद्य पदार्थों जैसे गेहूं, चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा तथा अन्य अनाज को भी हानि पहुंचाते हैं। उनके कारण हमारी उपज मारी जाती है ! विभिन्न प्रकार के हानिकारक कीट हमारी फसलों को भिन्न-भिन्न तरह से हानि पहुंचाते हैं :—

(क) कुछ कीट पौधों के पत्तों एवं डंठलों को खाते हैं। टिड्डी पौधों के तनों तथा पत्तियों को हानि पहुंचाती है ! टिड्डी बड़ी संख्या में एक साथ उड़ती है, जब एक बार किसी के खेतों में आ जाती है तब वे खेतों के बहुत बड़े क्षेत्र को नष्ट कर देती है !

(ख) कुछ कीट पौधों के रसों को चूस लेते हैं ! कीट जब किसी पौधे के रस को चूस लेते हैं तब पौधा मुरझा कर सूख जाता है !

(ग) कभी-कभी पौधों के बाहर तो कीट नजर नहीं आते परन्तु पौधों के तने में बड़ी संख्या में उनके लार्वा पाए जाते हैं ! ऐसे कीट के लार्वा तनों को छेदकर उनके आन्तरिक ऊतकों को नष्ट कर देते हैं, जिससे पौधे मर जाते हैं !

(घ) कुछ कीट पौधों द्वारा उत्पादित पदार्थों को हानि पहुंचाते हैं, जिसके कारण उपज कम होती है !

(ङ) कुछ कीट पौधों की जड़ों को नष्ट कर देते हैं जिससे पौधा नष्ट हो जाता है।

(च) कुछ कीट अनाज के दानों में प्रवेश कर उन्हें खोखले कर देते हैं !

पौधों के कई शत्रु है—कवक, जीवाणु तथा विषाणु (virus) पौधों पर आक्रमण कर उन्हें हानि पहुंचाते हैं ! हम लोग खाद्य उत्पन्न करने वाले पौधों के ही अधिक निकट है क्योंकि इनसे हमें खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

कीटों का नियंन्त्रण

हम जानते हैं कि कीट हमारे लिए हानिकारक हैं ! जब हम सभी कीटों को नष्ट कर देंगे तो खाद्य का उत्पा-

दन अधिक होगा ! कीटों को पूरी तरह नष्ट करना असंभव है ! उन्हें नष्ट करने की कितनी ही कोशिश हम करें फिर भी वे रहेंगे ही; इसलिए हम सोचते हैं कि किस प्रकार इनके प्रसार को विभिन्न तरीकों से रोका जा सकता है ! उनमें से दो तरीके मुख्य हैं :

(अ) रासायनिक नियन्त्रण ।

(ब) जैव नियन्त्रण ।

कीटों को मारने के लिए हम बड़े पैमाने पर रसायनों का उपयोग करते हैं । कोई एक रसायन सभी प्रकार के कीटों के नियन्त्रण में सहायक नहीं होता ! विभिन्न-प्रकार के रसायन इस कार्य हेतु उपयोग में लेते हैं। कीटों को मारने वाले सभी रसायनों को दो बड़े वर्गों में रखा गया है ! प्रथम संस्पर्श विष तथा द्वितीय आमाशय विष !

डी० डी० टी०, मिट्टी का तेल तथा निकोटिन सल्फेट संस्पर्श विष हैं । संस्पर्श विष के सम्पर्क में जैसे ही कीट आते हैं वे मर जाते हैं ! इस प्रकार के संस्पर्श विष हम उस जगहों पर छिड़कते हैं जहाँ ये कीट पाये जाते हैं !

आमाशय विष कीटों को मारने के लिए उनके आमाशय में पहुंचाया जाता है ! चूना, गन्धक तथा संखिया, के यौगिक आदि कुछ आमाशय विष हैं ! आमाशय विष को हानिकारक कीटों के भोजन के साथ मिला कर वहाँ रख देते हैं जहां ये रहते हैं !

(ब) जैव नियन्त्रण—जैविक कीटों से निपटने का नया तरीका है !

कुछ कीट उन हानिकारक कीटों को खाते है जो हमारी फसलों को हानि पहुंचाते हैं ! वैसे कीटों को पालकर हम हानिकारक कीटों को नष्ट कर सकते हैं । मेंढक, छिपकली, टोड तथा बहुत से पक्षी कीटों को खाते हैं ! वैसे कीट भक्षी प्राणियों को खेतों में पाल कर हम हानिकारक कीटों पर नियंत्रण पा सकते हैं ! कुछ कीट तथा दूसरे जीव हानिकारक कीटों के शरीर पर परजीवी के रूप में रहते हैं ! वैसे परजीवियों को हानिकारक कीटों के शरीर पर उत्पन्न कर हम उन्हें नष्ट कर सकते हैं ! कुछ मछलियां जैसे गम्बूसिया मच्छरों के लार्वा को खाती है ! वैसी मछलियों को तालाबों, कुंओं तथा ऐसी जगहों में जहां पानी रुका हुआ हो, पालकर हम मच्छरों को बढ़ने से रोक सकते हैं !

आपका सहयोग ही हमारा सम्बल है ।

गन्ने की कार्यिकी

कन्हैया लाल

किसी भी पौधे की कार्यिकी अध्ययन के पूर्व इस बात का ज्ञान होना अति आवश्यक होता है कि पौधा किस जलवायु से प्रभावित हैं तथा उसके विशिष्ट लक्षण क्या-क्या हैं। कृष्कों के लिये मृदा मात्र चट्टान के टुकड़े ही नहीं हैं बल्कि यह भौतिक-रसायनिक जैविक जटिलतम जीवित अस्तित्वपूर्ण हैं। उत्पादन की दृष्टि में मात्र भौतिक या रसायनिक विश्लेषण ही मृदा को वर्णित नहीं किया जा सकता है।

फसलों के पैदावार में मृदा-जल का सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण कारक है। जब मृदा पानी से संतृप्त होती है तो पौधों की जड़ों द्वारा वायुमण्डलीय वायु के परासरण द्वारा मृदा में पहुँचाती रहती है। जब मृदा की नमी एक न्यूनतम स्तर तक पहुजती हैं तो पौधा नमी के लिये मरने लगता है और स्थायी रूप से म्लान हो जाते हैं। नमी के इस सतह को 'म्लान गुणांक' कहते हैं। मिट्टी में नमी की सतह मृदा क्षमता से म्लान गुणांक तक बदलता है; वैसे प्राय: यह 50% से ऊपर ही बदलता है। गन्ने के लिये pH 5.50 से 8·0 तक होता है। pH 4·50 से कम या 8·50 से ऊपर होने पर गन्ने की वृद्धि कम हो जाती है।

मृदा में अधिक पैदावार के लिये सूक्ष्म जीवाणुओं का होना एक विशेष महत्वपूर्ण कारक है। सूक्ष्म जीवाणुओं सहित मृदा अत्यधिक लाभप्रद होते हैं। खाद्य के लिये प्रयाप्त मात्रा में कार्बन तथा साँस हेतु अधिक हवा की आवश्यकता होती है। अधिकतर वायुजीवाणु लाभप्रद होते हैं, वे मिट्टी में अच्छी तरह बने रहते हैं। लाभप्रद जीवाणुओं में से नाइट्रोजन स्थिरीकरण बैक्टीरिया का बहुत महत्व है। वे वायु से अक्रिय नाइट्रोजन गैस को शोषित करके नाइट्रेट में बदल देते हैं। इन बैक्टीरिया को 'एजोटोबैक्टर' कहते हैं। दालों वाली फसलों की जड़ों में सहजीवी बैक्टीरिया भी होती हैं, जो वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करके पौधों को उपलब्ध कराती हैं। मिट्टी की उत्पादन व उर्वरा शक्ति को बनाये रखने के लिये फसलों का हेर फेर बहुत जरूरी है। फसलों के हेर फेर से एक निश्चित विषैली वस्तुओं का एकत्रित होना रुक जाता है। इस अभ्यास से फसलों के विशिष्ट रोग का भी निराकरण हो जाता है। गन्ना खेत में 12 से 22 महीने तक रहता है। और बरसात में अत्यधिक वृद्धि करता है। गन्ना एक उष्ण-कटिबन्धीय पौधा है जो अपने वृद्धि के लिये गर्म व नमी को पसन्द करता है। यह पर्याप्त मात्रा में 10° उत्तर और भूमध्य रेखा के दक्षिण में उगता है।

शुष्क-स्थित गन्ने की वृद्धि और परिपक्वता को प्रभावित करती है। भारत में गन्ने की खेती प्राचीन काल से की जा रही है, जिसका उदाहरण ॠगुवेद में किया जा चुका है। इसे वनस्पति के दृष्टिकोण में सैक्रम आफिसीनैरम और भारतीय गन्ने की सैक्रम बार बेरी के नाम से जाना जाता है। भारतीय गन्ना सोलहवीं शताब्दी से पूर्व व पश्चिम में फैला हुआ है। नोबुलकेन वर्णसंकरित तथा पालीप्लाएड है। जावा में जब गन्ना 'सेरेह' नामक बीमारी से तथा मद्रास के गोदावरी नामक जिले में 'रेड राट' होग से प्रभावित हुआ तो गन्ने की जंगली किस्म, सैक्रम स्पानटैनियम मातृ के रूप में वर्णसंकार तथा नये

किस्म के चुनार में इस्तेमाल हुआ था वाणिज्य की दृष्टि में ख्यात गन्ने की किस्म को "Co" नम्बर से प्रदर्शित करते हैं। सभी Co- गन्ने में सैक्रम स्पान्टैनियम रोग-प्रतिरोध, शुष्क-प्रतिरोध आदि में अत्यधिक प्रभावी है। पहले के Co-गन्ने में Co .205; Co 213; Co 281; Co 312: Co 313 बहुत प्रचलित है, जो कि सिर्फ इसी देश में नहीं बल्कि विदेश में भी फैले हुये हैं और अधिक पैदावार देते हैं।

सैक्रम किस्म वंशानुगत एक जटिल पूर्ण है। इसमें गुण सूत्रों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है, और अधिकतर पालीप्लाएड्डी, अनिषेक जनन प्रचलित है। गन्ने का गुण जैसे पैदावार और शर्करा की मात्रा बहुत-सी जीन्स और वातावरण के ऊपर निर्भर रहता है। गन्ना स्वय ही एक उच्च पालीप्लाएड हैं। जीन्स के कारण गन्ने की किस्म का विलुप्त होना बहुत ही कम पाया जाता है। इस प्रकार का विलुप्त मात्र पोषक वस्तुओं की कमी तथा पादप रोग से होता है।

गन्ना एक विशाल आकार का पौधा है। जो जमीन पर एक वर्ष या दो वर्ष तक रहता है। गन्ने पौधे के तने के टुकड़े बीज की भाँति इस्तेमाल किया जाता है, जो कि अन्य फसलों के बीजों की तुलना में कई गुना बड़े होते हैं। गन्ने के तने को कई टुकड़ों में काट लेते हैं। प्रत्येक टुकड़ों में तीन में कालिकायें होती हैं जिसे बीज की भाँति लगायी जाती है। परिपक्व आधारीय आधे हिस्से की तुलना में अपरिपक्व ऊपरी आधा हिस्सा अधिक जमता है। गन्ने का चुनाव भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिये भिन्न होता हैं। बीज की दर के लिये 8000 कालिकायें प्रति एकड़ से ज्यादा की जरूरत नहीं पड़ती है। पंक्तियों के बीच में 1 मीटर की जगह अच्छा समझा जाता गन्ने के फैलने एवं वृद्धि के लिये नाइट्रोजन, मृदा की नमी ओर प्रकाश बहुत महत्वपूर्ण कारकों में से हैं। वास्तव में गन्ना एक परिश्रम पूर्ण फसल है।

विभिन्न खादों के अलावा नाइट्रोजन सबसे महत्वपूर्ण है और इसकी उपयोगिता सारभौमिक है। नाइट्रोजन के अभाव में पौधा पीला या हरा पीला होकर मुर्झा जाता है। यह पौधे के वाह्य अंग मुख्यतः पत्री की वृद्धि को बढ़ाने में सक्षम होता है। अधिक कायिक वृद्धि परिपक्वता लाने में विलम्ब कर देती है। इससे गन्ने में शर्करा कम पड़ता है और अवकृत शर्करा की प्रचुरता होने लगती है। जीवद्रव्य और उर्जा के निर्माण में फास्फेटस् का बहुत बड़ा अंग होना है। यह जड़ों के के विकास के लिये भी अधिक महत्वपूर्ण है। पोटैशियम गन्ने को स्वस्थ रखने व उपापचय में सक्रिय भाग लेता है, यह जल-संतुलन में भी कार्यरत होता है। मैग्नीशियम पर्णहरित, जो एक हरेपन का वर्णक है, का निर्माण करता है प्रकाश की उपस्थिति में पर्णहरित कार्बोहाइड्रेटस् के निर्माण हेतु एक फैक्ट्री की तरह कार्य करता है। बोरान तथा आयरन भी गन्ने के लिये नितान्त पोषक तत्वों में से हैं। पोटाश ऊतक की नमी को प्रभावित करता हैं और रोग को दूर करने में सहायक होता है तथा पौधे के कायिकी में जैविक रूप से काम करता है।

गन्ने की रस का संघटन भी एक बहुत महत्वपूर्ण कारक होता है। जो गन्ने की क्वालिटी को प्रदर्शित करता है। नाइट्रोजन युक्त खाद गन्ने की रस को बढ़ाता है और अवकृत शर्करा तथा राख-पदार्थ को कम करता है। जबकि पोटैशियम एवं फास्फेट इसका उल्टा प्रभाव दिखाते हैं। गन्ने का रस भिन्न-भिन्न होता है जो कि मृदा की किस्म, खाद की उपलब्धि और जलवायु पर निर्भर करता है। रोग व हानिकारक कीड़े प्रायः गन्ने के रस की अच्छी किस्म को खराब कर देते हैं।

हरे पौधे प्रकाश संश्लेषण की माध्यम से विकीर्ण उर्जा को रसायनिक उर्जा में रूपान्तरित करते हैं। इस प्रक्रम में कार्बन डाई आक्साइड दूसरे उच्च यौगिकों में प्राय: कार्बोहाइड्रेटस् में बदलती है; लेकिन वर्तमान प्रमाणों ने सिद्ध कर दिया है कि कार्बोहाइड्रेट के अलावा दूसरे यौगिक जैसे अमीनोएसिड, वसा व प्रोटीन बनती

हैं। गन्ने में कार्बोहाइड्रेट के संश्लेषण के लिये चार पथों में से सिर्फ हैच-स्लैक पथ पाया जाता है। सन् 1966 में आस्ट्रेलिया के दो वैज्ञानिक एम० डी० हैच और सी० आर० स्लेक ने अपील किया कि गन्ने के प्रकाश संश्लेषण में प्रथम माध्यमिक वस्तु 3-कार्बन यौगिक न होकर बल्कि 4-कार्बन योगिक (आक्जैलोएसिटिक अम्ल) होता है। बाद में एन्ड्रेवीज और हैच 1969, और हैच एवं स्लेक (1970) ने गन्ना, मक्का व कुछ उष्णकटिबन्धीय घासों में उक्त पदार्थ की खोज किये।

इस सिद्धान्त के अनुसार कार्बन डाई आक्साइड का प्राथमिक ग्राही C_3 अम्ल, फास्फोऐनाल पाइरूविक अम्ल है जो कि क्रेब्स चक्र के केन्द्रीय यौगिक के पाइरूविक अम्ल में भी बदल जाती है। फास्फोऐनाल पाइरूविक अम्ल कार्बन डाई आक्साइड को गरम करके आक्जैलो-एसिटिक अम्ल में बदल देता है। यह आक्जैलोए-सिटिक (4-कार्बन यौगिक) अब रिबूलोज 1, 5-डाईफास्फेट से मिलकर फास्फोग्लिसरिक अम्ल के दो अणु बनाता है। तथा पाईरूविक अम्ल पुन: उत्पन्न होती है। फास्फोग्लिसारिक अम्ल तुरन्त ही विभिन्न कार्बो-हाइड्रेटस् में कैल्विन चक्र की भाँति बदल जाती हैं। आक्जैलोएसिटिक अम्ल पार्श्वीय अभिक्रियाओं द्वारा भी अवकृत निकोटिन-एमाइड-एडीनिन डाइन्यूक्लियोटाइड ($NADH_2$) से मैलिक अम्ल डीहाइड्रोजीनेज इन्जाइम्स की उपस्थिति मे मैलिक अम्ल में या $NADH_2$ और अमोनिया से आक्जैलोएसिटिक-ऐसपारटिक अम्ल में बदल जाती है। आक्जैलोएसिटिक-अम्ल को पाइरूविक अम्ल में बदलने के लिये ट्रान्सकार्बाक्जीलेज इन्जाइम की उपस्थिति आवश्यक है। गन्ने के पत्ती की आन्तरिक रचना 'करैंज' किस्म की होती है। इस प्रकार के किस्म में पर्णहारित दो प्रकार के ऊतकों से बना होता है। हरेक संवहन बंडल बड़े कोशिकाओं से बने हुये एक छल्ले, जिसे 'बंडल शीथ' कहते हैं, से घिरा रहता है। यह बड़े पर्णहरित सहित, स्तर पर्णमध्योतक छोटे आकार के पर्णहरित सहित से चक्र मे पुन: घिरा रहता है। इन कोशिकाओं की पर्णहरित से भिन्न होता है।

(क)

(ख)
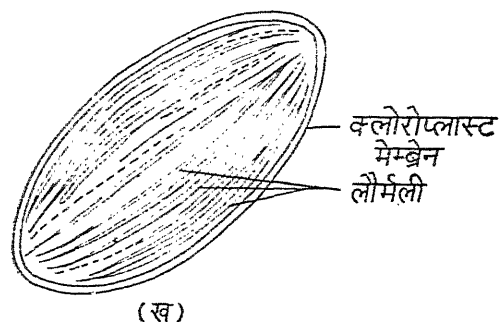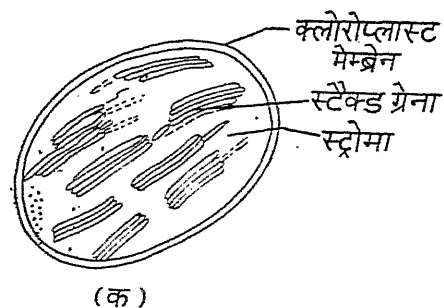
चित्र : दो प्रकार के क्लोरोप्लास्ट (क) मीजोफिल क्लोरोप्लास्ट-स्टैक्ड ग्रेना, (ख) बन्डलसील क्लोरोप्लास्ट-अनस्टैक्ड ग्रेना लैमिली

बंडल-शीथ की क्लोरोप्लास्ट में ग्रेना का अभाव होता है जबकि पर्णमध्योत्तक में भली भाँति होती है।

हैच-स्लैक में 4 ATP की आवश्यकता होती है जबकि C_3 चक्र में सिर्फ 3 ATP अणु होते है। पाइ-रूविक अम्ल के फास्फोरिलेशन में एक अतिरिक्त ATP आवश्यकता होती है। प्रकाशीय अभिक्रिया (फोटो फास्ट फोरिलेशन) दो क्रमों में होता है। एक क्रम फोटोसिस्टम I में और दूसरा क्रम फोटोसिस्टम II में सम्पन्न होता है। फोटोसिस्टस I में उर्जा का सम्बन्ध एक वर्णक से होती है जिसकी अधिकतम अवशोषण 700 $m\mu$ प्रकाश के तरंगदैर्ध्य के बराबर होती है। फोटो सिस्टम II अचक्रीय फोटो फास्फोरिलेशन से सम्बन्धित रहता है जिसके फल-स्वरूप 2 ATP और 1 $NADPH_2$ अणु बनाता हैं। फोटोसिस्टम I, चक्रीय फोटोफास्फोरिशेशन से जुड़ा होता

है, और केवल 4 ATP का निर्माण करता है। ब्लैक और मयनी ने यह बताया है कि गन्ने में फोटोसिस्टम I P 700 से अधिक सक्रिय होती है। अतः यह सम्भव है कि सक्रिय फोटोसिस्टम I चक्रीय फोटोफास्फोरिलेशन के अधिक दर को प्रदर्शित करता है जिससे अतिरिक्त एटीपी प्रदान होता है। इस पथ में ऐमकार्बिक अम्ल जो कि माध्यामिक वस्तु के रूप में होती है, ए टी पी के जैविक संश्लेषण के लिए इलेक्ट्रान के बहने की गति को बढ़ाने में मदद करता है।

गन्ने में प्रकाश श्वसन की स्थिति में उत्पन्न हुई कार्बन डाई आक्साइड 4-कार्बन यौगिक (आक्जैलोएसिटिक अम्ल) में संचित होता है। अतः सभी कार्बन डाई आक्साइड आक्साइड कार्बोहाइड्रेट्स् जैसे स्टार्च के रूप में स्थिर हो जाती है जो पौधे के वृद्धि में उपयोगी होता है। इस लिये इस पथ को "दक्षीय 4- कार्बनिक पथ" और उक्त पथ सहित पौधे को "दक्षिय पौधा" कहते हैं, जिसका विशेष उदाहरण गन्ना है। ⊙

(शेष पृष्ठ 23 का)

विस्थापित किये गये पानी का भार उसके अपने भार के बराबर हो जाता है।

नदी में तैरने की अपेक्षा समुद्र में तैरना आसान होता है:- इसका भी यही कारण है कि समुद्र के पानी का घनत्व नदी के पानी की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए मनुष्य को तैरने के लिए समुद्र में कम पानी को ही हटाना पड़ता है और वह आसानी से तैर सकता है।

गर्मी के मौसम मे साइकिल में कम हवा भरी जाती हैं:- गर्मी के मौसम में ताप में वृद्धि होने से हवा के आयतन में वृद्धि होती है। यदि पहले से ही ट्यूब में टाईट हवा भर ली जाय तो इसके आयतन में वृद्धि होने के बाद ट्यूब के फटने का डर रहता है। इस कारण गर्मी में साइकिल के ट्यूब में कम हवा ही भरी जाती है। इससे वृद्धि होने के बाद भी फूटने का खतरा नहीं रहता है।

प्रेशर कुकर में खाना जल्दी पक जाता है:- प्रेशर कुकर में दाब अधिक होता है तथा रखे द्रव्य का क्वथनांक बढ़ जाता है अर्थात कुकर में रखी गई वस्तु को हम अधिक तापक्रम पर उबाल सकते हैं तथा पकने के लिए अनिवार्य ऊर्जा कम समव में मिल जाती हैं क्योंकि ऊर्जा का भाप के रूप में बाहर निकला नहीं होता है तथा इस प्रकार ऊर्जा कम समय में अधिक मिलती है इसी कारण प्रेशर कुकर में खाना जल्दी पक जाती है।

मेढ़क गन्धज्ञान विकसित नहीं होता है:- मेढ़क में गन्धज्ञान इसलिए विकसित नहीं होता है क्योंकि यह चलते-फिरते कीड़े-मकोड़ों का शिकार करने में आँखों का प्रयोग अधिक करता है।

मेढ़क बार-बार जल में जाता है:- मेढ़क बार-बार जल में अपनी त्वचा को गीली करने जाता है जिससे त्वचीय श्वसन आसानी से हो सके।

जीवद्रव्य को जीवन का भौतिक आधार माना जाता है:- समस्त जीवित वस्तुऐं एक सजीव पदार्थ से निर्मित होती है जिसे जीवद्रव्य कहते हैं। जीवद्रव्य एक अत्यन्त जटिल व परिवर्तनशील पदार्थ है। रासायनिक रूप से इसकी रचना में जल, प्रोटीन वसीय पदार्थ है तथा अन्य कार्बनिक व अकार्बनिक पदार्थ पाये जाते है। अतः जीवद्रव्य को जीवन का भौतिक आधार माना जाता है।

सामान्यतया जड़ें भूमिगत होती है:- सामान्यतया जड़े भूमिगत इसलिए होती है क्योंकि जड़ का प्रधान कार्य स्थिरीकरण अवशोषण व संवहन होता है। यह मूलरोम द्वारा भूमि में मिलने वाली नमी व लवणों का अवशोषण करके अन्य भागों तक संवहन करती है तथा पूरे पादप का ज़मीन में स्थिर कर देती है।

गेहूँ के भण्डार गृह में नमी न पहुचें इसका विशेष प्रबन्ध किया जाता है - गेहूँ के बीजों में प्रस्तुत काल नहीं होता है तथा यह उचित नमी, वायु, ताप मिल जाने पर अंकुरित हो जाता है। यदि भण्डार गृह में नमी पहुँच गई तो गेहूँ अंकुरित हो जायेगा। इस प्रकार अन्न को नष्ट नहीं होने देने के लिए भण्डार गृह में ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि उसमें नमी नहीं पहुँचे।

क्या कारण है कि?

वर्षा ऋतु गर्मी के बाद आती है:- गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सीधी पड़ती है। दिन भी काफी ज्यादा बड़े होते है अतः सूर्य की गर्मी से पृथ्वी भी ज्यादा गर्म होती है और पानी की भाप भी ज्यादा बनती है। पृथ्वी के ऊपर की वायु जब गर्मी पाकर ऊपर उठती है तो उसका स्थान लेने के लिए समुद्र से भाप भरी हवायें कुछ ऊपर उठकर ठंडी हो जाती है और पानी की भाप जमकर बादलों के रूप में दिखाई देती है। ये बादल वायु की सहायता से आगे बढ़ते हैं और जब किसी पहाड़ से टकराते है तो वर्षा होती है।

सर्द ऋतु में लोहा लकड़ी की अपेक्षा अधिक ठण्डा है:- सर्दियों वायुमण्डल का तापक्रम हमारे शरीर से कम रहता है। अतः जब हम लोहे की वस्तु को छूते है तो ताप हमारे शरीर से लोहे की वस्तु में चला जाता है। लोहा ताप का सुचालक होता है। अतः गर्मी लगातार हमारे शरीर से लोहे में जाती हैं। इसलिए लोहा हमें ठण्डा प्रतीत होता है। लकड़ी ताप की कुचालक है उसके जिस भाग को हम छुते है अतः वह कुछ मात्रा में गर्मी लेता हैं, गर्मी का प्रभाव लकड़ी में लगातार नहीं होता है अतः वह हमें लोहे से कम ठण्डी लगती है।

देगची के पेंदे बाहर से काले व अन्दर से चमकदार रखे जाते है:- काली वस्तुऐं ताप को जल्दी सोखती हैं व जल्दी ही ताप को दे देती हैं। देगची के पैंदे काले होने से गर्मी जल्दी सोखती है और सोखने के बाद यह गर्मी भीतरी सतह को मिल जाता है। भीतरी सतह चमकदार होने से यह गर्मी बहार नहीं निकल पाती। इस कारण देगची के पैंदे बाहर से काले व अन्दर से चमकदार रखे जाते हैं।

कमरे में रोशनदान छत के पास बनाये जाते है:- श्वास द्वारा हम जो वायु बाहर निकालते है, वह गर्म तथा गन्दी होती है। गर्म होने के कारण यह साधारण वायु से हल्की होती है। इसलिए ऊपर को उठती है। यदि रोशनदान न हों तो यह वायु कमरे में ही एकत्रित हो जावेगी और स्वास्थ्य को हानि पहुँचा-वेगी।

लोहे का बना हुआ जहाज़ पानी पर तैरता है:- लोहा पानी से भारी होता है और जब हम लोहे की एक ठोस गेंद को पानी में डालते है तो वह डूब जाती है। परन्तु लोहे का बना हुआ जहाज़ पानी में तैरता है। कारण यह है कि जहाज़ को इस प्रकार से बनाते हैं कि जब इसको पानी में उतारते है तो यह बहुत अधिक पानी की मात्रा को विस्थापित कर लेता है। इस प्रकार जहाज का पानी में केवल उतना ही भाग डूबता है, जिसके कारण

प्रायोगिक भौतिकी:- काकानी-सक्सेना-जैन, मूल्य रु.6=50

तृतीय वर्ष के छात्रों के लिये लिखी गई इस प्रायोगिक पुस्तक की विशेषता है मौखिक प्रश्न और उनके उत्तरी का समावेश। अवश्य ही छात्रों को इससे परीक्षा के लिये तैयारी करने में सहायता मिलेगी। किन्तु जिस ओर पाठकों का ध्यानि आकर्षित करना उद्देश्य है वह भौतिकी के प्रयोगात्मक पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिये अनेकानेक प्रयोगों की योजना, उनके चित्र तथा अपेक्षित सावधानियों का उल्लेख है।

पुस्तक की छपाई सन्तोषजनक भाषा प्रवाहमई एवं सामग्री सारगर्भित है। पुस्तक सब प्रकार से छात्रोपयोगी है।

परमाण्वीय एवं न्यूक्लीय भौतिकी:- काकानी-सक्सेना-जैन मूल्य 15=75 रु०। पृष्ठ संख्या 404

प्रस्तुत पुस्तक भौतिकी के अत्यन्त उपयोगी पक्ष पर लेखक-भय द्वारा लिखित है। पुस्तक दो खण्डों में विभक्त हैं जिसमें क्रमशः 4 तथा 9 अध्याय हैं। इन अध्यायों में लेसर अंतरिक्ष किरणें तथा मूलकण नाम अध्याय अत्यन्त सूचना प्रद है। उपयोगी सन्दर्भ देकर लेखकों ने पुस्तक को और भी उपयोगी वना दिया है। आशा है छात्र इससे भरसक लाभ उठायेगें। पुस्तक में यथास्थान चित्रों के कारण विषय की प्रेषणीयता सहज हो सकेगी। किन्तु इन चित्रों में भी केवल अंग्रेजी परिचय है प्रत्येक अध्याय के अन्त में सारांश देने से छात्रों को हृदयंगम करने में आसानी होगी। लेखकत्रय इस उपयोगी कृति के लिये बधाई के पात्र हैं।

हमारा नया विशेषांक 'कृषि एवं उद्योग विशेषांक' होगा। आप अपने लेख हमारे कार्यालय में शीघ्र भेजें।

बीमार पालतुओं से रोग

न्यु जर्सी के डॉक्टर सेमूर जात्कोवित्ज़ ने बहुल स्क्लि-रोसिस के 50 रोगियों की जांच करके यह पाया है कि घर में पालतू जानवर यदि बीमार हों तो उनके सम्पर्क में आने से रोग फैल सकता है। 50 रोगियों में से 46 अर्थात, 92% व्यक्ति बीमारी आरम्भ होने पिछले पांच वर्षों में बीमार पालतुओं के सम्पर्क में रहे। बीमार कुत्तों के सम्पर्क में रहने वालों पर विशेष प्रभाव पाया गया। वालिगों में बहुल स्क्लिरोसिस का रोग पाया जाता है जो तंत्रिका प्रणाली से सम्बन्धिय होता है। कहा जाता है कि जिस प्रकार धूम्रपान व कैन्सर में सम्बन्ध पाया जाया है लगभग उसी प्रकार बहुल स्किलरोसिस और बीमार पाल-तुओं के सम्पर्क में हो सकता है।

दीर्घ जीवन का रहस्य

सोवियत रूस कों किये गये एक अध्ययन के अनुसार 40000 बूढ़े लोगों में से अधिकांश अवस्था के काफी बढ़ जाने तक कार्य करते रहते हैं। इसमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बुढ़ापा शीघ्र न आने देने में सतत् कार्य करते रहना एक यह महत्वपूर्ण युक्ति है। अध्ययन के अनुसार 5000 शतायु वाले व्यक्तियों में से 85% गाँवों में रहते हैं जो समुद्र तल से ऊंचाई पर होते हैं 80 वर्ष से ऊपर वालों में से 99% विवाहित हैं और उनमें से 45% का विवाहित जीवन 50 वर्षों से अधिक का है। सन्तानोत्पत्ति से महि-लायें दीर्घायु होती हैं। अधिकांश सादा भोजन खाते हैं। और ताजा पानी पीते हैं जो कुँओं से प्राप्त किया जाता है!

सौर ऊर्जा से धान सुखाने का संयंत्र

सूर्य की ऊर्जा से चलने वाला धान सुखाने का पहला भारतीय संयंत्र विभिन्न परीक्षाओं में सफल रहा है। उस यंत्र का मूल्य 2·5 लाख रुपया है यह प्रतिदिन 10 टन अनाज सुखा सकता है। राष्ट्रीय आद्योगिक विकास निगम ने विज्ञान और तकनीकी विभाग के लिये इसकी डिजाइन तैयार की है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि बादल छाये रहने पर भी वह काम कर सकता है। यद्यपि इसकी क्षमता कुछ कम हो जाती है।

इसकी सहायता से सुखाने का खर्च 6 रुपये प्रति टन आयेगा जबकि तेल की मदद से चलने वाले ऐसे ही यंत्रों का खर्च 100 रु० प्रति टन है।

चुहियों के स्तन कैंसर का उपचार

शिकागो के लायोला विश्वविद्यालय में जीव विज्ञान के अध्यक्ष प्रोफेसर हेरोल्ड मैनर ने दावा किया है कि पौष्टिक यौगिकों के साथ लेटराइल का प्रयोग करके उन्होंने चुहियों के स्तन कैंसर का उपचार किया है। लेटराइल के उपयोग के विषय में मतभेद है। नेशनल हेल्थ फेडरेशन की बैठक में अपना शोध पत्र प्रस्तुत करते

हुये उन्होंने इस तथ्य के बारे में बताया है। नेशनल कैंसर इन्सटीट्यूट तथा स्लोन-कैथरीन इन्सटीट्यूट में किये गये अध्ययनों में लेटराइल के अनुभवी होने की बात पाई गई है!

ज्वालामुखी की उष्मा से उर्जा

रूस के इन्सटीटयूट आफ काम्प्रेहेंसिव फ्युएल एनर्जी प्राबलम्स के अध्यक्ष डॉ० मांगुशेव के अनुसार कमचरका के अवचा ज्वालामुखी से उत्पन्न उष्मा को प्रयुक्त करके 5000 मेगावाट बिजली 500 वर्षों तक प्राप्त की जा सकेगी। इसकी संभावनाओं का अध्ययन किया जा रहा है। इस ज्वालामुखी की उष्मा सतह से 5 कि० मी० नीचे तक रहती है और यदि सुरक्षा के समुचित प्रबन्ध किये जा सकें तो इस गहराई तक पहुंचा जा सकता है।

तानिका शोथ (मेंनिन्जाइटिन्स) की दवा

कुछ अमरीकी डाक्टरों ने घोषणा की है कि तानिका शोथ रोकने के लिये एक औषधि की खोज की गई है। इससे छोटे बच्चों तथा युवाओं में इस रोग की रोक थाम की जा सकेगी। जीवाणुक तनिका शोथ, मस्तिष्क तथा... को ढकने वाली झिल्ली में ज्वलन होने से तंत्रिका प्रणाली नष्ट हो जाती हैं और परिणाम स्वरूप रोगी की मृत्यु हो जाती है। नेशनल इन्सटीटयूट आफ एलर्जी एण्ड इन्फेक्शस डिसीज के अनुसार फिनलैण्ड में 70,000 बच्चों को यह नया टीका लगाया गया। वहां यह रोग 1973 से फैला हुआ था। इस अध्ययन का परिणाम यह पाया गया कि 3 महीने से 5 वर्ष तक के बच्चे इस रोग से मुक्त रहे। मेनींन्गो कोकी जीवाणु को नष्ट करके यह औषधि अपना प्रभाव दिखाती है।

लेसर सूक्ष्म दर्शी

जापान के टोक्यो विश्वविद्यालय में एक ऐसा लेसर-सूक्ष्म दर्शी विकसित किया गया है जो हालांकि साधारण-तया उपयोग किये जाने वाले सूक्ष्म दर्शियों जैसा है, पर उनसे कहीं गहराई तक देख सकता है। इसकी विभेदन शक्ति भी साधारण सूक्ष्मदर्शियों से अधिक विकसित हैं। जिसके कारण इसकी मदद से किसी ठोस पदार्थ के टुकड़े का भी भीतरी चित्र लेना सम्भव है। इसकी अन्य विशेष-ताएं क्रम वीक्षण की उच्च गति, चित्र में किसी तनाव का न होना और विभेदन अतीक्षण वना रहना आदि है। इसमें, पराध्वनिक तरंग, पराबैंगनी या एक्स किरणों में से किसी को भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

लेसर के नये उपयोग

चीन में आंख की रेटिना में विकास की शल्य क्रिया से लेकर अधिक उत्पादन हेतु चावल व कपास के बीजों को उद्भासित करने में प्रयुक्त किया जाने लगा है। कभी-कभी-चीनी चिकित्सक सूची बेध उपचार करने में वृद्धों, अपंगों तथा बच्चों को सूई लगाने में लेसर-सूई का प्रयोग करते हैं। लेसर-सूई कीटाणु मुक्त तथा पीड़ा रहित होती है तथा तांत्रिक रोगों विशेषकर, लकवा में प्रभावी होती है। शंघाई की घड़ी फैक्टरी में महीन पुरज़ों में छेद करने में लेसर-ड्रिल का उपयोग होने से प्रति पारी 3000 से 30000 घड़ियां बनने लगी हैं।

ऊष्मा नाभिकीय संलयन

पोलैंड के वारसा इन्सटीटयूट आफ प्लास्मा फिनिक्स के वैज्ञानिकों ने साधारण रासायनिक विस्फोटक प्रयुक्त करके भारी हाइड्रोजन के ऊष्मा नाभिकीय संलयन प्राप्त करने की घोषणा की है। 1/100000000 ग्राम ड्युटीरि-यम के पेलेट के आस-पास रासायनिक विस्फोट करके उन्हें यह सफलता मिली है। इस प्रकार से इन वैज्ञानिकों ने 300 लाख न्युट्रॉन के निकलने का दावा किया है जिससे संसार के प्रथम बार ऊष्मा नाभिकीय न्युट्रॉनों का उत्पादन संभव हो सका है जिसमें विस्फोट प्रयुक्त हुआ है। अन्य वैज्ञानिक केन्द्रों पर इलेक्ट्रॉन अथवा लेसर पुंज प्रयुक्त कर के न्युट्रॉनों को उत्पादित किया गया है।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 114 संख्या 12
सं० 2034 विक्र०
दिसम्बर 1977

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची
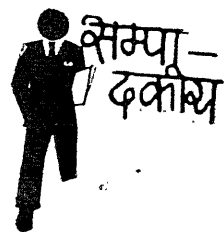
बच्चे परिवार की फुलवारी के सबसे सुन्दर फूल होते हैं। स्वस्थ, नीरोग तथा सुन्दर बच्चों को देख कर सभी का मन प्रसन्नता से भर जाता है। विकसित देशों में जहाँ सभी सुख सुविधा है बच्चे अविकसित देशों के बच्चों की तुलना में फिर भी काफी स्वस्थ होते हैं। हमारे देश में अज्ञानता तथा चिकित्सा के अभाव में असंख्य बच्चे या तो फूल बनने से पहले मुरझा जाते हैं या जीवन भर के लिए रोगी हो जाते हैं। छोटे बच्चों में मृत्यु की दर कम हुई है इस में सन्देह नहीं परन्तु अभी भी स्थिति शोचनीय है। बच्चों के विशेषज्ञ डॉक्टरों का बहुत बड़ा उत्तर दायित्व है कि हमारे समाज के यह फूल सुन्दर व आकर्षित बने रहें। जितनी मृत्युयें हो जाती हैं उनमें से 8-12 प्रतिशत को टीकों द्वारा रोका जा सकता है। 30% बच्चे देश में न्युमोनिया से ही मर जाते हैं जबकि दस्त, पेचिश से मरने वालों का प्रतिशत 20 है। 30-40 प्रतिशत तक मृत्युयें कुपोषण तथा अल्पपोषण से हो जाती हैं। 23 अक्तूबर को देहली में आयोजित 'इंटरनेशनल कांग्रेस आफ पेडियाट्रिक्स' में संसार भर के लगभग 3000 बाल विशेषज्ञ जमा हुए थे और बच्चों के स्वास्थ पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया। उस कांग्रेस का नारा यह था कि यदि बच्चों को प्यार से स्तन पान कराया जाय तो उनका स्वास्थ अच्छा रहता है। नोबेल पुरस्कार विजेता फ्रेड्रिक रोबिन्स समेत अनेक विश्वविख्यात विशेषज्ञों ने इसमें भाग लिया। हमारा समाज आगे चल कर स्वस्थ व नीरोग बच्चों को पाल सके इस दिशा में सरकार तथा व्यक्तिगत संस्थाओं को पूरा-पूरा प्रयास करना चाहिए। विशेषकर गाँव में रहने वाले लोगों को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये कि वह अपने बच्चों को कैसे स्वस्थ रख सकते हैं। कहीं-कहीं तो अंध विश्वास के कारण कुछ लोग अपने बच्चों का डाक्टरी उपचार न करके मान मनौती ही करते रह जाते हैं। इस अंधविश्वास से जनता को बचाना चाहिये तभी स्वस्थ बच्चे कल के योग्य व स्वस्थ नागरिक बन सकेंगे।

हम और पश्चिम ●●

● एच० डी० तिवारी

देखकर
हमारे बढ़ते चरण
हैरान हैं, पश्चिमवासी
कि—
यह गरीब देश !
भारत
छोड़ रहा आज आर्य भट्ट !
कर रहा परमाणु परीक्षण
भूमिगत !
आखिर
यह अचानक
इतना बड़ा परिवर्तन कैसे ?
कल तक जो खाने के लिए,
मंगाता था हमसे गेहूँ
करता था मजबूत
हमारी विदेशी मुद्रा को
आज वह, हमारे पास नहीं आता
अपने हाथों को नहीं फैलाता
जिससे
पड़े हैं खाली हमारे तराजू
जवाब मौजूद है उनके पास
इन सब बातों का
लेकिन फिर भी वह अनजान बन
अपने आप को ही देता है धोखा
करता है विश्वासघात अपने ही साथ
क्योंकि
उसे अच्छी तरह मालुम है कि
सोने की चिड़िया कहलाता था
कभी यही देश !
रमन प्रबसु, टैगोर
लाल थे इसी माटी के
गणित विज्ञान का बीज फूटा था
इसी धरती पर
और आज भी
सतत अग्रसर है,
उन्नति के शिखर की ओर
करते हुए चकित संसारवासियों को
देते हुए प्रमाण आधुनिक युग में
रहने का,
करते हुए विकास चहुं तरफा।
इसीलिए वह चिंतित और भयभीत है,
क्योंकि उसे डर है,
भारत सर्वगुण सम्पन्न है।
इसलिए, यदि हो गया, उसमें मौजूद
सभी गुणों का पूर्ण विकास,
तब वह
आत्मनिर्भर हो
लेगा हमसे टक्कर
करेगा हमारी बराबरी
क्योंकि उसे आज तक याद है
सन् पैंसठ की लड़ाई में
नेट और जेट की टक्कर का परिणाम।
यही कारण है, वह
हमारे रंग से रंग है।
देख हमारी उन्नति शोक से विक्षुब्ध है।

(शेष पृष्ठ 8 पर देखें)

(वैज्ञानिक कहानी)

वसुधैव कुटुम्बकम् ●●

● शुकदेव प्रसाद

आज जब कालेज जाते समय प्रोफेसर ने मुझे शाम की चाय पर आने को कहा तो मुझे कुछ आश्चर्य सा हुआ क्योंकि उन्होंने स्वतः पहली बार मुझे चाय पर बुलाया था !

प्रोफेसर एकाकी प्रकृति के व्यक्ति थे, बाहर कम ही निकलते थे। उनका बंगला मेरे घर के बगल में ही था। कालेज आवर्स के अलावा वह कमरे को बंद किए पड़े रहते थे। उनके साथ कभी कभार कालेज के कुछ अध्यापक ही दिखाई पड़ते थे, आस-पास रहने वाले लोगों से बात चीत करते शायद ही हमने कभी देखा हो। पता नहीं क्यों वह मुझसे प्रभावित थे, शायद मेरा विज्ञान पिपासु मन ही वह मूल कारण हो जिसके नाते वह कभी-कभार मुझसे बोल लेते थे। छठें छमासे उनके पास जाने का सुयोग आ ही जाता ! यदा कदा बहस भी हो जाती वैज्ञानिक चर्चाओं के तहत।

इसी नाते जब उन्होंने मुझे आज बुलाया तो मुझे लगा कि प्रोफेसर अपने किसी अनुसंधान की चर्चा करने वाले हैं, अन्यथा कोई कारण न था। अतः शाम को जरा जल्दी ही पहुँच कर मैंने बरामदे में लगी घंटी बजायी। घंटी बजते ही गाउनधारी प्रोफेसर शीघ्रता से आए और 'आइए !' मैं तो आप के आने की बात भूल ही गया था, कहते हुए मेज पर तितर-बितर पड़ी किताबों कापियों को ठीक किया और तत्काल ही उन्होंने केतली में चाय के लिए पानी चढ़ा दिया।

प्रोफेसर के कमरे में कई लम्बी बेंचें थीं, उन पर तमाम उपकरण और परीक्षण सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ पड़ी थी। तमाम तरह के सूक्ष्मदर्शी जगह-जगह रखे थे। अक्सर प्रोफेसर सारे समय इन्हीं सूक्ष्मदर्शियों में अपनी आँखें गड़ाए रखते थे। कभी-कभार फोटोग्राफ लेते और कुछ आवश्यक चीजें अपनी डायरी में नोट करते।

कभी-कभी प्रयोग करने में सारी रात तक जग जाया करते और सुबह फुर्ती में हल्का नाश्ता करके ही कालेज चले जाया करते। रात जगने के नाते क्लास में झपकी आ जाती और छात्र समुदाय हँस पड़ता फिर तो ठहाकों के बीच वे झेंप भी जाते लेकिन क्या करें अपनी आदत से मजबूर, काम में जुट जाते तो फिर न खाने-पीने की फिक्र और न सोने-जागने की परवाह।

उपकरणों आदि के अलावा कमरे की दीवारों पर चार्ट एवं मानव शरीर क्रिया सम्बन्धी कई चित्र भी टंगे थे। कहने का मतलब यह कि प्रोफेसर का कमरा एक सुसज्जित प्रयोगशाला थी और वे बड़े आनुवांशिक विद। सही माने में विज्ञान सेवा हेतु पूर्णतः समर्पित !

चाय का प्याला देते हुए बगैर मेरे कुछ कहे ही प्रोफेसर कहने लगे, 'शायद आप मुझसे यही पूँछना चाहते हैं न कि मैंने आप को क्यों बुलाया है ? शायद मेरी जिज्ञासा प्रोफ़ेसर ताड़ गए थे और कहने लगे आज मैं आप को अपनी नयी उपलब्धि के बारे में बताऊँगा जो कि समूची मानव जाति के लिए हितकर होगी।

इतना सुनकर मेरी उत्सुकता और बढ़ गई कि प्रोफेसर आज क्या बतावेंगे ? मुझे पिछली मुलाकात की याद आ गयी जिनमें अक्सर औपचारिक वार्तें ही होती और वह अपने प्रयोगों के बारे में बताते । हाँ, मैं उनसे कुछ सवाल यदा-कदा पूछ लिया करता था, अमूमन ऐसे सवालों के पूछने का प्रसंग स्वतः आ जाता जब वह अपने जीव-वैज्ञानिक प्रयोगों की चर्चा करते ।

चाय की चुस्कियाँ लेते हुए मैं प्रोफेसर की बातों को सुनने का उपक्रम करने लगा । 'आपको याद है न ? पिछली बार आपने पूछा था कि हमारी कुछ आदतें क्यों अपने माँ-बाप से मिलती-जुलती है और चेहरे आदि की बनावट भी ।' मेरा ध्यान विषय की ओर केन्द्रित करते हुए प्रोफेसर ने कहा ।

'जी हाँ ! शायद आपने हमारे शरीर की कोशिकाओं में उपस्थित क्रोमोसोमों (धागे सदृश रचनाएँ) और उन पर लगी सूक्ष्म रचनाओं (जीन) को ही माँ-बाप के गुण बच्चों में अर्जित होने के लिए जिम्मेदार बताया था ।'

'बिल्कुल ठीक, लेकिन यदि आप को बोरियत न मालूम हो तो असली मुद्दे पर आने से पूर्व आज मैं आप को क्रोमोसोम और जीन के बारे में और कुछ बताऊँ, क्योंकि तब मेरे प्रयोगों की बारीकियों को समझाने में आसानी होगी ।'

'तब तो जरूर बताइए', मैंने उत्सुकता दिखाई । अपने मेज पर पड़ी फाइल निकालकर उसमें से एक फोटो ग्राफ की ओर संकेत कर कहने लगे—'देखिए, यही धागे की तरह उलझी हुई रचनाएँ क्रोमोसोम हैं । प्रत्येक जीवधारी के शरीर में कोशिकाओं में इनकी संख्या निश्चित होती है जैसे मानव में 46 । इन्हीं क्रोमोसोमों पर जीन पाए जाते हैं जो कि डी० एन० ए० और आर० एन० ए० नामक न्यूक्लिक अम्लों को जटिल अणुओं से बने होते हैं । जीन ही वे रचनाएँ हैं जो निर्धारित करती हैं कि व्यक्ति राजनीतिज्ञ होगा, कवि बनेगा या दार्शनिक या कुन्दजेहन, और उसके चेहरे-मोहरे की बनावट क्या होगी तथा उसका रूप-रंग कैसा होगा । ये जीन जीवधारियों के समस्त गुणों का निर्धारण करते हैं और जीवधारियों में होने वाली सारी जैविक क्रियाओं का नियन्त्रण भी ।'

चाय की चुस्कियाँ लेते हुए प्रोफेसर ने अपनी बात जारी । रखी प्रत्येक जीवधारी का विकास एक कोशिका के रूप में होता है जो कि मादा के डिम्ब और नर के शुक्राणु के मिलने से बनती हैं और वही कोशिका पुनः वियोजन द्वारा पूरे शरीर का निर्माण करती है । कायिक कोशिकाएँ पुनः वियोजन द्वारा पूरे शरीर का निर्माण करती हैं । जनन कोशिकाएँ अर्ध सूत्री विभाजन (मिओसिस) द्वारा विभाजित होतीं हैं तथा इस विभाजन के फलस्वरूप बनने वाली कोशिकाओं (डिम्ब और शुक्राणु) में क्रोमोसोमों की संख्या आधी हो जाती है । पुनः दोनों कोशिकाओं के मिलने से भ्रूण में क्रोमोसोमों की संख्या पूर्ववत हो जाती है जैसे कि मानव की डिम्ब (23) और शुक्राणु (23) कोशिकाओं के आपस में गर्भाधान के समय मिलने से पुनः संख्या पूर्ववत यानी 46 हो जाती है । उन्हीं क्रोमोसोमों पर जीन पाए जाते हैं और चूंकि गर्भाधान द्वारा शिशु में क्रोमोसोम माँ-बाप दोनों से आते हैं अतः बच्चों में माँ-बाप दोनों के गुण पाए जाते हैं । अतः आप यह कह सकते हैं कि क्रोमोसोम हमारे गुण वाहक हैं ।

क्रोमोसोम ही निर्धारित करते हैं कि आगामी शिशु का रंग-रूप क्या होगा, उसके चेहरे की बनावट कैसी होगी और विभाजित होने वाली कोशिका से अन्ततः मानव शिशु बनेगा, अथवा बन्दर, मेंढक या बरगद का पेड़ या अन्य जीवधारी ।

गुण निर्धारण के अतिरिक्त क्रोमोसोम सेक्स (लिंग) का भी निर्धारण करते हैं ।'

'वह कैसे ?' मैंने उत्सुकतावश पूछा । क्योंकि सेक्स निर्धारण के बारे में अटकल बाजियों की तमाम बातें सुनता आया था । आज तो वह वैज्ञानिक सत्य हमारे सामने प्रकट होने जा रहा था तो जिज्ञासा का बलवती होना स्वाभाविक था ।

तब तक चाय खत्म हो चुकी थी और आराम से बैठते हुए प्रोफेसर ने अपनी फाइल का दूसरा पन्ना पलटा और एक फोटो ग्राफ को दिखाते हुए कहने लगे, हम मानव को 23 जोड़े क्रोमोसोमों में से तो 22 जोड़े रचना में समान होते हैं तथा इन्हें आटोसोम कहते हैं। 23 वाँ जोड़ा सेक्स क्रोमोसोम कहलाता है। स्त्रियों में 23 वें जोड़े के दोनों क्रोमोसोम रचना में समान होते हैं जिन्हें $x\ x$ से प्रदर्शित करते हैं इसके विपरीत पुरुषों में दोनों सेक्स क्रोमोसोम एक दूसरे से भिन्न होते हैं जिन्हें xy से प्रदर्शित करते हैं।' उन्होंने क्रोमोसोमों की भिन्नता भी दिखाया, (वास्तव में y क्रोमोसोम आकार में x से कुछ छोटा होता है) और कहने लगे, जनन कोशिकाओं के विभाजन से निर्मित शुक्राणुओं में से आधे में x तथा आधे में y क्रोमोसोम होते हैं तथा डिम्ब कोशिकाओं में सभी में गुण सूत्रों का क्रम x होता है। यदि गर्भाधान के समय x क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु डिम्ब से मिलता है तो आगामी सन्तान मादा (गुण सूत्र क्रम $x\ x$) तथा y गुणसूत्र युक्त शुक्राणु के डिम्ब से मिलने पर लड़का (गुण सूत्र क्रम xy) होगा।

क्या ऐसा हो सकता है कि किसी विधि द्वारा x और y गुण सूत्रों युक्त शुक्राणु अलग कर लिए जाँय और कृत्रिम विधि द्वारा डिम्ब से मिलाकर मनचाही सन्तान की कल्पना को साकार किया जा सके ? मैंने बीच ही में प्रोफेसर को टोक दिया।

मेरा प्रश्न सुनकर प्रोफेसर ने एक जोरदार ठहाका लगाया, उनकी हँसी पूरे कमरे में गूँज गई। और वह मेरी पीठ थपथपाते हुए बताने लगे ठीक यही बात कुछ दिनों पहले मेरे मन में घर कर गई थी और इस प्रश्न के उत्तर हेतु मैं अनवरत रूप से प्रयोग करता रहा और आज तुम्हें यह बताते हुए बड़ी खुशी हो रही है कि मेरी चिर सम्मत कल्पना साकार हो उठी है। मेरा उद्देश्य पूरा हो गया है जो कि मानव के लिए कल्याणकारी होगा।

प्रोफेसर की बात सुनकर मैं खुशी से पागल हो उठा और प्रोफेसर को इस नयी उपलब्धि पर बधाईयाँ देने लगा। इसी बीच मुझे वह पकड़ कर प्रयोगशाला के एक कोने में ले गए और एक बर्तन की ओर संकेत करते हुए कहने लगे कि यह ऐसा रसायन है जिसमें से शुक्राणु गुजारने पर y क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु सारकृत हो जाते हैं तथा x क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु रसायन में ही रह जाते हैं। (चूंकि x क्रोमोसोम पर डी० एन० ए० की प्रतिशत मात्रा अपेक्षाकृत x क्रोमोसोम के कुछ अधिक होती है अतः कम वेग के कारण x क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु घोल में ही रह जाते हैं और y क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु अधिक वेग के कारण सारकृत हो जाते हैं।

'और अब इन y क्रोमोसोम युक्त शुक्राणुओं से कृत्रिम रूप से डिम्ब को सेचित करके केवल लड़के ही पैदा किए जा सकते हैं ? मैंने पुनः बीच में प्रोफेसर को टोकने की धृष्ठता की।

'ठीक, एकदम ठीक ! इस विधि द्वारा अभी तक तो केवल नर संताने ही पैदा की जा सकती हैं (क्योंकि x क्रोमोसोम वाले शुक्राणु घोल में ही रह जाते हैं), मादा संतानें नहीं।'

"लेकिन यह तो सरासर अन्याय है, प्रोफेसर। मानवता के लिए कितना घातक ! सामाजिक व्यवस्था को असंतुलित करने वाला यह प्रयोग कितना अप्राकृतिक है ?"

'आप क्यों नहीं उन दम्पतियों के बारे में सोचते जिनकी पुत्र प्राप्ति की इच्छा मृग तृष्णा बन कर रह जाती है और वो पुत्र रत्न की प्राप्ति के पीछे दर्जनों बच्चियों के माँ-बाप बन जाते हैं जिनका भार वहन करना दुष्कर हो जाता है......, प्रोफेसर ने दलील दी।

'जो भी हो आपके प्रयोग अशांतिजनक है, मैंने अपनी प्रतिक्रिया बिना किसी संकोच के व्यक्त की। 'मेरी पूरी बात बगैर सुने आपने अशांति जनक कैसे कह दिया। भाई, मैं तो ऐसे रसायन के विकास में भी प्रयत्नशील हूँ जिससे मादा सन्तानों को उत्पन्न करने वाले शुक्राणु भी अलग किए जा सकेंगे। इतना ही नहीं, ऐसे ही कुछ अन्य

आनुवंशिक प्रयोगों के आधार पर निश्चित गुणों वाली संतानें भी पैदा की जा सकती हैं। जिनके बारे में मैं आपको फिर बताऊँगा', प्रोफेसर ने अपनी फाइल बन्द करते हुए कहा।

धन्यवाद ज्ञापित कर मैं दरवाजे से बाहर हो गया तभी जाते-जाते उनका स्वर फिर सुनाई पड़ा, 'और यदि मेरे ये प्रयोग सफल हुए तो निश्चित ही आप पहले व्यक्ति होंगे, जो उन उपलब्धियों के बारे में जान सकेगा।'

× × × ×

मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। वह दिन भी शीघ्र आया और प्रोफेसर ने बुलाया भी।

'हाँ, तो आपने ऐसे रसायन का विकास कर लिया जिससे x, y दोनों तरह के क्रोमोसोम युक्त शुक्राणु अलग हो सकते हैं और मनचाही सन्तान की कल्पना को आपने मूर्त रूप दे ही दिया? प्रश्नवाचक मुद्रा में मैंने प्रयोगशाला में प्रवेश करते हुए कहा।

'लगता तो ऐसे ही है, प्रोफ़ेसर ने अपनी प्रशंसा सुन कर नम्र होते हुए कहा, 'इतना ही नहीं मेरे सारे अभियान अपनी सफलता की पराकाष्ठा पर हैं। अब वह दिन दूर नहीं जब मेरे इन रसायनों (मेज पर पड़ी तमाम बोतलों, परखनलियों की ओर इशारा करते हुए) की बदौलत इच्छित गुण वाले बच्चे पैदा किए जा सकेंगे।'

आप जानते हैं यह सब कैसे संभव होगा (8) फिर अपने ही प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले, 'मैं कृत्रिम जीन बनाने में लगभग सफल हो गया हूँ। अब मैं निकट भविष्य में वह तकनीकी विकसित कर लूँगा जिससे इच्छित गुण वाले जीन बनाए जा सकेंगे। तब रोगी और विकृत जीनों को निकाल कर उनके स्थान पर स्वस्थ जीन प्रत्यारोपित कर स्वस्थ एवं निरोगी संतानें जन्म से ही पैदा की जा सकेंगी। इन प्रयोगों से आनुवंशिक रोगों का नियन्त्रण भी संभव हो सकेगा। इतना ही नहीं इच्छित गुण वाले जीनों का प्रत्यारोपण कर इच्छित गुण वाले मानव निर्मित किए जा सकेंगे।'

प्रसन्न होते हुए, मानों अपनी विजय पर गर्व करते हुए, प्रोफेसर ने आगे बात जारी रखी "आप उस क्षण की कल्पना कर सकते हैं जब कोई रोगी नहीं होगा, अच्छी से अच्छी प्रतिभा एवं उच्च चारित्रिक विकास वाले मानवों से युक्त सभ्य, सुघरे समाज का निर्माण होगा। सही माने में तब गाँधी के सपनों का भारत होगा, सम्पूर्ण वसुधा होगी। गाँधी का राम राज्य होगा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं आवहिं व्यापा॥

यानी एक गाँधी से हजारों गांधी बनाये जा सकेंगे, एक आंइस्टीन से हजारों आइंस्टीन बनाए जा सकेंगे...

'लेकिन, प्रोफेसर, मैंने बीच में ही टोका। वरना वह न जाने क्या-क्या कह जाते।

'लेकिन, क्या? प्रोफेसर झल्ला उठे। 'लेकिन यह कि जब एक गाँधी से हजारों गाँधी बनाए जा सकेंगे, तब यह भी उतना ही संभव है कि एक हिटलर से हजारों हिटलर भी बनाए जा सकें, तब मानवता का क्या होगा और प्रोफेसर, तुम्हारी सभ्य, सुघरे समाज की कल्पना का क्या होगा? मैंने भी प्रोफेसर को चैलेंज करते हुए पूछा।

इतना सुनना था कि अब प्रोफेसर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। साँसे जोर-जोर से चलने लगीं। मुट्ठियाँ कसती गयीं, ठीक से शब्द उनके मुँह से नहीं निकल रहा था लेकिन फिर भी जो प्रोफेसर ने कहा, बड़ा ही आश्चर्यजनक था। मैं कत्तई ऐसे उत्तर की आशा उस वैज्ञानिक से न करता था, आप भी बेताब होंगे। तो सुनिए प्रोफेसर की बात उन्हीं के शब्दों में—

'जानते हैं, तब क्या होगा? तब मानवता तांडव करेगी। हम और हमारे भाई-बन्धु काल के गाल में समा जायेंगे,...,

'तो ? मैंने आश्चर्य मिश्रित स्वर में पूछा तो हमें नहीं चाहिए ऐसी उपलब्धि ! प्रोफ़ेसर ने उन तमाम बोतलों, परखनलियों को उठाकर फेंक दिया और उनके अंदर का रसायन, नहीं, नहीं उसके जीव का सारा परिश्रम बह रहा था। लेकिन अब उसे कोई परवाह न थी। प्रोफ़ेसर निश्चल हो गए थे अपनी कुर्सी पर।

उनकी मुट्ठियाँ रह-रह कर अब भी भिंच उठती थीं। और वह कहे जा रहे थे—'अब मैं चिल्लाकर दुनिया वालों से कहता हूँ, बन्द कर दो इन आदमखोर प्रयोगशालाओं और हैवानी प्रयोगों को जिनसे हमारे वंशधर ही हमें भून कर रख दें, हम अपने भाई-बन्धुओं के ही दुश्मन हो जायें। जब हम ही नहीं रहेंगे तब काहे का प्रयोग और किसके लिए सभ्य सुघरे समाज की कल्पना ? जब एक हिटलर से हजारों हिटलर बनेंगे तब हमारे मनीषियों की अमर वाणी 'वसुधैव कुटुम्ब कम' का क्या होगा ?

× × × ×

इसके अलावा और न जाने प्रोफ़ेसर क्या क्या बड़बडाते रहे मेरे चले आने के बाद...मैं लौट रहा था अपने घर की ओर उड़ते कदमों के सहारे। आन्तरिक हर्ष तो इतना था कि जमाने वालों से मुनादी करके कहूँ कि आज मैंने बहुत बड़ा अनर्थ होने से बचा लिया है तुमको, उसको अपने को, सबको, सम्पूर्ण वसुधा को।

मन के अंदर तमाम घंटियां बज रही थीं, ध्वनित करते हुए ... वसुधैव कुटुम्बकम ... वसुधैव कुटुम्बकम... वसुधैव कुटुम्बकम··· हमारे दादा—परदादाओं का अमर संदेश ! विश्वशांति, सहयोग और आपसी सद्भावना का पवित्रतम मंत्र !!

(पृष्ठ 3 का शेष)

और करता है प्रचार हमारे खिलाफ़,
बोता है बीज फूट और ईर्ष्या के
लेकिन शायद उसे यह नहीं मालुम
कि ले रहे हम अमूल्य प्रेरणा,
उसकी इस हरकत से,
साथ ही साथ, वह अपनी ही आँखों से
दे रहा धोखा, अपनी ही आँखों को
वास्तविकता और सच्चाई से परे होकर
और······
और कर रहा गर्व ?
अपनी ही गोरी नस्ल पर !!

लेखमाला—3

पहला जीव कैसे बना ?

● डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी

यौगिकों को दो श्रेणी में विभाजित किया जाता है—अकार्बनिक और कार्बनिक । ऐसे यौगिक जिसमें कार्बन का एक परमाणु हो उसे कार्बनिक पदार्थ कहेंगे जैसे मीथेन । अमोनिया अकार्बनिक यौगिक है । अभी तक ज्ञात तत्वों की संख्या 105 है । अकेला तत्व कार्बन के जितने यौगिक हैं उतने यौगिक बाकी सभी तत्व मिलकर नहीं बना सके । इस प्रकार कार्बन तत्व एक अद्भुत गुण वाला है। इसकी संयोजकता चार होती है । इस तत्व में एक विशेष गुण यह होता है कि अपने परमाणुओं से जुड़ता चला जाता है । इससे लम्बी शृंखला या शाखा शृंखला वाला जटिल से जटिल भारी भरकम पदार्थ बना देता है । लम्बी शृंखला या शाखा शृंखला के कार्बन कंकाल में हाइड्रोजन आक्सीजन और नाइट्रोजन जैसे तत्व सरलता से जुड़ जाते हैं ।

वैज्ञानिकों का पहले यह विश्वास था कि अकार्बनिक पदार्थ खनिज स्रोतों से प्राप्त होता है और अकार्बनिक पदार्थ जीवित स्रोतों से । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अकार्बनिक पदार्थों का स्रोत जड़ जगत है और कार्बनिक पदार्थ का स्रोत जीव जगत है । कार्बनिक पदार्थों को अकार्बनिक स्रोतों से संश्लेषित नहीं किया जा सकता । इस प्रकार कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थों की दुनिया अलग-अलग थीं । व्होलर नामक वैज्ञानिक ने इस भ्रम का निवारण किया । उसने अकार्बनिक स्रोतों से प्रयोगशाला में यूरिया नामक पदार्थ संश्लेषित किया । इस प्रयोग से अकार्बनिक और कार्बनिक जगत के पदार्थ एक दूसरे के नजदीक समझे जाने लगे ।

समुद्र में पहला कार्बनिक पदार्थ कैसे बना—

समुद्र एक अकार्बनिक स्रोत है । इसका रासायनिक संगठन हमें ज्ञात है इसमें अमोनिया, कार्बन डाई आक्साइड, हाइड्रोजन मीथेन, हाइड्रोजन सल्फाइड, सल्फर डाई आक्साइड जैसी गैसें घुली हैं । समुद्र में कुछ आयन भी घुले हैं । इन निर्जीव पदार्थों के क्रिया अभिक्रिया के फलस्वरूप कौन सा पदार्थ संश्लेषित होता है इसकी जानकारी के लिए वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों की ओर ध्यान देना होगा ।

1913 में जर्मन वैज्ञानिक लिओब ने एक प्रयोग किया । उन्होंने पानी, अमोनिया और फार्मेल्डिहाइड के मिश्रण में शान्त विद्युत विसर्जन प्रवाहित किया । उत्पाद (प्रॉडक्ट) के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि इसमें कई ऐमीनो एसिड हैं ।

1953 में अमरीकी वैज्ञानिक मिलर ने मीथेन, हाइड्रोजन कार्बन मोनो आक्साइड, पानी और अमोनिया के मिश्रण में विद्युत चिनगारी उत्पन्न की । विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि उत्पाद में बहुत से प्राकृतिक ऐमीनो एसिड और नाइट्रोजन के अनेक यौगिक हैं ।

वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात किया कि कार्बनिक यौगिक पोटैशियम नाइट्रेट तथा पानी में आयरन क्लोराइड उत्प्रे-

रक को मिलाकर, पूरे मिश्रण को जीव रहित करके प्रकाश में रखा जाय तो अभिक्रिया के फलस्वरूप प्राकृतिक ऐमीनो एसिड प्राप्त होता है।

टेरिनिन नामक वैज्ञानिक ने मीथेन, अमोनिया, कार्बन मोनो आक्साइड और पानी के मिश्रण को हाइड्रोजन लैम्प के प्रकाश में रखकर ऐमीनो एसिड प्राप्त किया। टेरिनिन ने बताया कि उपर्युक्त मिश्रण में यदि किसी ठोस पदार्थ के कण उपस्थित हों तो ऐमीनों एसिड बनने की क्रिया कम ऊर्जा के किरणों से ही पूरी हो जायेगी।

इन प्रयोगों से उस विधि का पता चल जाता है जिससे पहला कार्बनिक पदार्थ ऐमीनो एसिड समुद्र में बना। ऐमीनो एसिड के संश्लेषण के लिए समुद्र में मीथेन, अमोनिया, कार्बन डाई आक्साइड; पानी तथा हाइड्रोजन उपस्थित हैं। उत्प्रेरण के कार्य के लिए घुले हुये आयन मिल जाते हैं। टेरिनिन के प्रयोग में ठोस पदार्थ के कण भी मिले होंगे। आदि कालिक समुद्र में धातु लवण जल विघटित होने पर धातु के हाइड्रॉक्साइड और खनिज अम्ल बनाये होंगे ऐसे अधिकांश हाइड्रॉक्साइड जल में घुलते नहीं बल्कि महीन कण बनाते हैं। इन कणों ने अपने सतह पर, मीथेन अमोनिया, कार्बन डाई आक्साइड तथा हाइड्रोजन के अणु को अधिशोषित किया। ऐमीनो एसिड के संश्लेषण की क्रिया के लिए ऊर्जा की भी तो आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा कहाँ से मिली?

ऊर्जा कैसे मिली : हाल्डेन और ओपरिन का यह विश्वास था कि उपर्युक्त मिश्रण को सूर्य का विकिरण विशेषकर पराबैंगनी विकिरण सक्रियता प्रदान करता है। विउटनर का कहना है कि यह कार्य विद्युत विसर्जन भी कर सकता है।

इसकी पूरी सम्भावना है कि आदि कालिक पृथ्वी पर विद्युतीय आँधियाँ आती रही हैं। आकाश में बिजली चमकाती रही है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उस समय वायुमण्डल में विद्युत चालक यौगिक रहे हैं और बिजली लगातार चमकती रही है।

सूर्य से पराबैंगनी विकिरण आदि कालिक पृथ्वी को लगातार मिलता रहा। उस समय लघु तरंग दैर्घ्य वाले तथा दीर्घ तरंग दैर्घ्य वाले दोनों विकिरण पृथ्वी को मिल जाते थे। क्योंकि आदि कालिक पृथ्वी पर आक्सीजन या तो रही ही नहीं और यदि रही भी हो तो बहुत अल्प मात्रा में। अतः वायु मण्डल की रक्षा के लिए ओजोन परत नहीं था। यह परत तो आक्सीजन पर पराबैंगनी किरणों के आयनन प्रभाव से बना है। यह ओजोन परत सूर्य से निकलने वाले लघु पराबैंगनी विकिरणों को छान देता है।

मुक्त ऊर्जा के रूप में कुछ अन्य स्रोत भी आदिकालिक पृथ्वी को प्राप्त थे। थर्मल ऊर्जा के रूप में ज्वालामुखी। थर्मल और पराश्रव्य (सुपर सॉनिक) ऊर्जा के रूप में उल्कापात। रेडियोधर्मी आइसोटोपों से एल्फा और बीटा कण तथा गामा विकिरण भी मुक्त ऊर्जा के स्रोत के रूप में उस समय मिला होगा।

रासायनिक अभिक्रियाओं को चलाने के लिए सभी प्रकार के ऊर्जा के स्रोत लाभकारी नहीं है। यदि ऊर्जा का स्रोत तीव्र हो गया तो अभिक्रिया में जो अणु बनेगा वह शीघ्रता से टूटने भी लगेगा। अतः यह जानना जरूरी हो जाता है कि ऊर्जा का कौन सा स्रोत ऐसा रहा जिससे पर्याप्त ऊर्जा मिलती रही। यह ऊर्जा विध्वंसकारी भी न रही हो। हर तरह से सूर्य का प्रकाश इस प्रकार का स्रोत है। इससे प्राप्त ऊर्जा से बने हुए यौगिकों के नष्ट भ्रष्ट होने का डर नहीं है। सूर्य की किरणें उस काल में पृथ्वी की सतह पर हर जगह समान रूप से उपलब्ध थीं। ऊर्जा के अन्य स्रोत जैसे पराबैंगनी विकिरण, बिजली की चिनगारी तथा ताप हर समय और हर जगह पृथ्वी को उपलब्ध हुये हों यह जरूरी नहीं है।

समुद्र में ऐमीनो एसिड के संश्लेषण के लिए ऊर्जा का स्रोत भी मिल गया। इस प्रकार प्रकृति में ऐमीनो एसिड बना।

ऐमीनो एसिड : वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के ऐमीनो एसिड बनाये हैं परन्तु प्रकृति में कुछ प्रकार के ही ऐमीनो

एसिड मिलते हैं। इनकी संख्या बीस हैं, इसे प्राकृतिक ऐमीनो एसिड कहा जाता है। ऐमीनो एसिड में एक ऐमीन समूह (—NH_2) और एक कार्बाक्सिल समूह (—COOH), CH के साथ जुड़ा रहता है। इसका सामान्य सूत्र R—CH (NH_2)—COOH से दिखलाया जा सकता है। यहाँ R, विभिन्न समूह H, CH_3, C_2H_5 आदि के लिए है जिसे एल्किल समूह कहा जाता है। अगर किसी प्रोटीन को अम्ल या क्षार के साथ पानी में खौलाया जाय तो ऐमीनो एसिड मिलता है। अतः ऐमीनो एसिड से ही प्रोटीन बनता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय कि प्रोटीन की इकाई ऐमीनो एसिड है। प्रोटीन कई प्रकार के होते हैं। हर प्रोटीन में कुल प्राकृतिक ऐमीनो एसिड हों यह जरूरी नहीं है। प्रयोगशाला में बनाये गये ऐमीनो एसिड प्रोटीन में नहीं होते।

दो ऐमीनो एसिड जब संयोग करते हैं तो दूसरा कार्बनिक यौगिक पेप्टाइड बनता है। ऐमीनो अम्ल के बहुत से अणु यदि आपस में संयोग करें तो जो कार्बनिक यौगिक बनता है उसे भी पेप्टाइड कहते हैं। एक ऐमीनो एसिड का ऐमीनो समूह दूसरे ऐमीनो एसिड के कार्बाक्सिल समूह से क्रिया करता है। इस क्रिया में पानी का एक अणु निकाल कर दोनों ऐमीनो एसिड आपस में जुड़ जाते हैं। इस यौगिक को डाई पेप्टाइड कहते हैं। डाई पेप्टाइड में फिर एक ऐमीनो समूह और कार्बाक्सिल समूह रहता है! यह अब तीसरे ऐमीनो एसिड से इसी प्रकार से संयोग कर सकता है। अब ट्राई पेप्टाइड मिल गया। इस प्रकार ऐमीनो एसिड जुड़ते जाते हैं। खूब ढेर से ऐमीनो एसिड के जुड़ जाने पर जो पेप्पटाइड मिलता है उसे पॉली-पेप्टाइड कहते हैं। इसी पॉली पेप्टाइड को बहुलक (पॉलीमर) कहा जाता है। यह प्रक्रिया बहुलीकरण (पॉलीमराइजेशन) कही जाती है। पेप्टाइड में जितने ही अधिक ऐमीनो एसिड के टुकड़े होंगे उनका अणु उतना ही लम्बा होगा।

प्रकृति में बहुलक बना : सभी कार्बनिक यौगिक बहुलक नहीं बनाते। ऐमीनो एसिड ऐसा यौगिक है जो बहुलक बनाता है। बहुलक का बनना निर्जीव पदार्थों से जीव के बनने की क्रिया आगे बढ़ती है। प्रकृति में ऐमीनो एसिड से पेप्टाइड कैसे बने? इस क्रिया को जानने के लिये वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों की जानकारी करनी होगी।

फाक्स नामक वैज्ञानिक ने ऐमीनों एसिड के मिश्रण को 160° से० के ताप पर कुछ घण्टों तक गरम किया। अभिक्रिया के बाद उत्पाद (प्रॉडक्ट) में पेप्टाइड बना। दो ऐमीनो एसिड के अणुओं के संयोग करने पर पेप्टाइड बनने की अभिक्रिया में पानी का एक अणु निकलता है और ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस बात को ध्यान में रख कर फाक्स ने बतलाया कि पेप्टाइड बनने की यह क्रिया प्रकृति में जल में न हुई होगी। फाक्स ने अपने प्रयोग के आधार पर बताया कि ऐमीनो एसिड से पेप्टाइड बनने की अभिक्रिया ज्वालामुखी पहाड़ों के आसपास उस जगह हुई होगी जहाँ का ताप 160° से० रहा होगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायनज्ञ डॉ० कृष्ण बहादुर ने 1968 में पेप्टाइड बनाने का एक प्रयोग किया। इस प्रयोग में खनिजों की उपस्थिति में ऐमीनो एसिड और पानी के मिश्रण में प्रकाश द्वारा पेप्टाइड बनता है। इस प्रयोग से तो यह ज्ञात होता है कि आदि कालिक पृथ्वी पर पेप्टाइड बहुलक का संश्लेषण प्रकाश की सहायता से पानी में हुआ।

नोबुल पुरस्कार विजेता कैल्विन ने बतलाया कि प्रकाश की उपस्थिति में पानी में घुले हुये ऐमीनो एसिड, पेप्टाइड बना देते हैं। इस पेप्टाइड से जीव का बहुत ही महत्वपूर्ण पदार्थ प्रोटीन बनता है।

प्रोटीन : हमारी पृथ्वी के वर्तमान जीव प्रोटीन के बने हैं। जीव, चाहे पेड़ पौधे हों या जानवर सबका शरीर प्रोटीन का बना होता है। जीव में प्रोटीन का स्थान आगे है इसका मुकाबिला केवल न्यूक्लीइक अम्ल ही कर सकता है। प्रोटीन बहुत ही जटिल यौगिक होता है। यह ऐमीनो

एसिड का ही बहुलक होता है जो पेप्टाइड बन्धनों से जुड़ा रहता है। पेप्टाइड बनाते समय जब एक ऐमीनो एसिड का ऐमीनो समूह, दूसरे ऐमीनो एसिड के कार्बाक्सिल समूह से संयोग करके पानी का एक अणु निकाल देता है तो एमाइड समूह (—CONH—) बनता है। एमाइड समूह के परमाणु एक ही धरातल में रहते हैं। प्रोटीन के एक अणु में ही तीन प्रकार का संगठन रहता है। इसके बुनियाद में बहुलक की ओर ऐमीनो एसिड का क्रम होता है। माध्यमिक संरचना बनती है बहुलक के पेप्टाइड बन्धन के ऐंठन से। यह ऐंठन ही प्रोटीन का रीढ़ होता है। इसकी मजबूती होती है। तृतीयक संरचना प्राप्त होती है ऐमीनो एसिड के फोल्डिंग और वेल्डिंग से। इससे प्रोटीन का ठोस अणु मिलता है।

प्रकृति में जो बीस ऐमीनो एसिड मिलते हैं उनसे अनेक प्रकार के असंख्य प्रोटीन बनते हैं। जैसे वर्णमाला के गिनती अक्षरों से ढेर से शब्द बनते हैं। इन शब्दों से असंख्य वाक्य बनते हैं। इन्हीं वाक्यों से असंख्य पुस्तकें लिखी गई हैं। इसी प्रकार कुछ ऐमीनो एसिड वर्णमाला के अक्षर हैं। ये प्रोटीन पुस्तकें हैं।

आज जीवित प्रणाली में पेप्टाइड और प्रोटीन के संश्लेषण को न्यूक्लीइक एसिड नियमित करता है। 1963 में फाक्स ने एक प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया है कि बिना न्यूक्लीइक एसिड के भी पाली पेप्टाइड प्राप्त किया जा सकता है।

जीव की कहानी आगे बढ़ती है

जीव की कहानी आगे बढ़ती है प्रकृति की गोदी में सागर में, प्रोटीन, पॉली पेप्टाइड, कार्बोहाइड्रेट तथा लिपिड पदार्थ एक जगह इकट्ठा होते हैं। यह लिपिड क्या है? लिपिड ऐसे अणुओं को कहा जाता है जो कि पानी में अघुलनशील होते हैं। ये वसा विलायकों में घुल जाते हैं। इस समूह के महत्वपूर्ण सदस्य हैं—वसा अम्ल और इनके ग्लीसरॉल एस्टर जैसे ग्लीसराइड। आदि कालिक सागर के कुछ भाग में लिपिड की एक परत जमती है जो कि प्रोटीन सोख लेती है। इस प्रकार प्रोटीन के अवशोषण से लिपो प्रोटीन की एक परत बन जाती है। यह परत हवा के प्रभाव से छोटे-छोटे बिन्दुओं के अधर में बिखर जाती है। इस बूंद के भीतर प्रोटीन रहता है जिसे लिपिड घेरे रहता है।

न्यूक्लीइक अम्ल का प्रकृति में बनना

अधिकांश वैज्ञानिकों का मत है कि जीव की कोशिका में प्रोटीन अणु, न्यूक्लीइक अम्ल की ही सहायता से बनते हैं। ओरो नामक वैज्ञानिक ने हाइड्रोजन साइनाइड तथा जल की अभिक्रिया से कुछ न्यूक्लीइक अम्ल बनाये। सम्भव है कि ओरो के प्रयोगशाला में प्रयोग के अनुसार ही आदिकालिक पृथ्वी पर न्यूक्लीइक अम्ल बना हो।

न्यूक्लीइक अम्ल, न्यूक्लियोटाइड बहुलक होता है। यह पृथ्वी के समस्त जीवों के लिए एक महत्वपूर्ण पदार्थ होता है। न्यूक्लीइक अम्ल के अणु सेल के केन्द्रक में होते हैं। न्यूक्लीइक अम्ल को बनाने वाला यह न्यूक्लियोटाइड क्या होता है? न्यूक्लियोटाइड एक ऐसा अणु होता है जिसमें एक नाइट्रोजन क्षारक, एक पेन्टोज शर्करा तथा फास्फेट होता है। अकेले क्षारक और शर्करा ही न्यूक्लियोटाइड बना देते हैं। न्यूक्लीइक अम्ल के बनाने में नाइट्रोजन क्षारक का विशेष हाथ होता है। यह नाइट्रोजन युक्त एरोमेटिक यौगिक होता है जो क्षारीय गुणों से युक्त होता है अर्थात इसमें हाइड्रोजन परमाणु को ग्रहण करने की क्षमता होती है। नाइट्रोजन क्षारक की दो श्रेणी होती है—प्युरीन्स और पिरामिडिन्स। प्युरीन्स में दो कार्बन नाइट्रोजन के रिंग होते हैं। इस श्रेणी के यौगिक हैं एडिनीन और गुआनीन। पिरामिडिन्स में एक ही रिंग होता है। इस श्रेणी के यौगिक हैं थाइमीन, युरासिल और साइटोसिन।

न्यूक्लीइक अम्ल प्रोटीन नहीं होते पर प्रकृति में ये जहाँ भी पाये जाते हैं किसी न किसी प्रोटीन के साथ जुड़े रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह न्यूक्लियो प्रोटीन के रूप में ही मिलते हैं। न्यूक्लीइक अम्ल और प्रोटीन में यह

समानता होती है कि दोनों में एक लम्बी शृंखला होती है। प्रोटीन की रीढ़ पॉली एमाइड शृंखला है जब कि न्यूक्लीइक एसिड की रीढ़ पॉली एस्टर शृंखला है।

न्यूक्लीइक अम्ल ऐसा रासायनिक द्रव्य है जो काफी जटिल होता है। फास्फोरिक एसिड, कार्बोज, पिरामिडिन तथा प्युरीन श्रेणी के कार्बनिक क्षारक पदार्थों से बना होता है। इसके संरचना का आधार न्यूक्लियोटाइड होता है। ये आदिकालिक समुद्र में ऐमीनो एसिड के साथ ही साथ ये पदार्थ भी बनते हैं जिनसे यह न्यूक्लीइक अम्ल बना है। न्यूक्लीइक अम्ल दो प्रकार के होते हैं—

(1) डीआक्सीरिबोन्यूक्लीइक एसिड (डी० एन० ए०)

(2) रिबोन्यूक्लीइक एसिड (आर० एन० ए०)।

न्यूक्लीइक अम्ल का महत्व : न्यूक्लीइक अम्ल की अपनी विशेषतायें हैं। अनुकूल स्थिति में न्यूक्लीइक अम्ल का एक अणु अपनी तरह ही दूसरा अणु बना देता है। इस क्रिया को एन्जाइम सहायता पहुंचाते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण काम न्यूक्लीइक अम्ल प्रोटीन के बनने में करता है। प्रोटीन अणु, प्राकृतिक ऐमीनो एसिड के अणुओं के संयोग से बनता है। प्रोटीन की संरचना से यह मालूम है कि इसमें ऐमीनो एसिड पेप्टाइड बन्धन से जुड़े रहते हैं। ऐमीनो एसिड का यह जुड़ना भी एक खास क्रम में रहता है। प्रोटीन अणु को इस खास क्रम में लगाने का कार्य न्यूक्लीइक अम्ल के अणु द्वारा ही होता है।

न्यूक्लीइक अम्ल के इन खास गुणों के कारण वैज्ञानिक यह समझने लगे कि जीव की उत्पत्ति न्यूक्लीइक अम्ल से ही हुई। न्यूक्लीइक अम्ल के पहले गुण पर ध्यान देने से पता चलता है कि न्यूक्लीइक अम्ल के द्विगुणन में एन्जाइम सहायक होता है। (द्विगुणन वह क्रिया है जिसमें किसी पदार्थ का एक अणु अपने जैसा दूसरा अणु बना देता है)। यह एन्जाइम प्रोटीन ही होता है। जब प्रोटीन एन्जाइम न रहा होगा तो न्यूक्लीइक एसिड का कार्य रूप रहा होगा।

न्यूक्लीइक अम्ल अपने दोनों गुणों की चतुराई तब तक नहीं दिखा सकता है जब तक उसके वातावरण में उपस्थित अणु उसे सहयोग न दे, इस प्रकार न्यूक्लीइक अम्ल एक ढांचे का काम करता है। न्यूक्लीयक अम्ल के द्विगुणन की क्रिया में वातावरण के पदार्थ इस ढांचे का प्रयोग करते हैं। वातावरण के पदार्थ आपस में संयोग करते हैं फिर ढांचे के अनुसार उनमें काट छाँट होता है और न्यूक्लीइक अम्ल का एक अणु तैयार हो जाता है।

न्यूक्लीइक अम्ल की विशेष जानकारी और जीव के उत्पत्ति में इनके कार्य को इनके दो प्रकारों से समझा जा सकता है।

डी० एन० ए० : कोशिकाओं के केन्द्रक में यह अद्भुत पदार्थ रहता है। इसमें द्विगुणन की क्षमता होती है। यह न्यूक्लीयोटाइड नामक रासायनिक अणुओं से बनता है। ये छोटे अणु होते हैं। डी० एन० ए० के अणु में 3000 से 4000 तक न्यूक्लियोटाइड होते हैं। न्यूक्लियोटाइड को तीन रसायन संयोग करके बनाते हैं। ये हैं डीआक्सीराइबोज, फास्फेट और नाइट्रोजन युक्त कार्बनिक क्षारक। डी आक्सीराइबोज एक प्रकार की शर्करा है जिसमें 5 कार्बन परमाणु होते हैं। इस शर्करा के एक सिरे पर फास्फेट का एक समूह और दूसरे सिरे पर नाइट्रोजन क्षारक जुड़ा होता है। डी० एन० ए० में न्यूक्लीयोटाइड के दो लम्बे फीते एक दूसरे के चारों ओर चक्करदार सीढ़ी की आकृति में लिपटे रहते हैं।

डी० एन० ए० कोशिका में नियामक का कार्य करता है। यह कोशिका में होने वाली रासायनिक क्रियाओं को संचालित करता है। सेल के केन्द्रक में विशेषकर क्रोमोसोम में पाया जाता है जो कि आनुवंशिकता का वाहक होता है। यह आर० एन० ए० का निर्माण भी करता है।

नाइट्रोजन क्षारक में थाइमीन की जगह यूरासिल होता है। सेल में आर० एन० ए० के तीन रूप होते हैं।

(शेष पृष्ठ 21 पर देखें)

एक फफुँद (म्यूकर) की कहानी उसके मुख से

● अनूप कुमार

मैं एक साधारण फफूँद हूँ। मेरा नाम म्यूकर है। वनस्पति जगत में मुझे कवक वर्ग में स्थान दिया गया है। वनस्पति वर्ग के नाम से चौकिये नहीं क्योंकि मैं भी एक वनस्पति हूँ। वनस्पति वर्ग के सभी गुण मुझ में विद्यमान हैं। हाँ मुझे कवक वर्ग में इसलिये स्थान दिया गया है कि मुझ में एक कमी है। वह यह कि मुझ में पर्ण हरित नहीं है और यही कारण है कि में एक शेष वनस्पतियों की तरह भोजन के मामले में आत्म निर्भर नहीं हूँ। में नहीं जानता कि मुझ में यह शक्ति कभी थी ही नहीं या सम्भवतः समाप्त हो गई है। पर आज मैं एक मृती-परजीवी के रूप में जाना जाता हूँ। दुनिया में मैं कब से हूँ मुझे खुद इसकी खबर नहीं। मेरे कितनी पीढ़ियों ने इस दुनियाँ को नजदीक से देखा है इसका कोई लेखा-जोखा मेरे पास नहीं है। सम्भवतः वनस्पति शास्त्रियों के पास हो। इन वनस्पति शास्त्रियों ने हमारे सूक्ष्म संसार में भी दखल देना शुरू कर दिया, हमारे [संसार के अधिकतम प्राणियों को इन लोगों ने पहचान लिया है। और इस प्रकार मानव वर्ग ने एक बार फिर अपने सबसे अधिक विकसित होने का प्रमाण दिया है। मानव ने सिर्फ मेरा ही नहीं बल्कि मेरी अनेक जातियों तथा उप जातियों को भी खोज निकाला है। मेरी कुछ जातियाँ निम्न हैं, जैसे म्यूकर म्यूसैडो, म्यूकर फलेवस, म्युकर जेवेनिकस, म्युकर टिमेलिसत आदि।

मुझे साधारणतया ब्रेड फफूद कहते हैं। मेरा शरीर कुछ धागेनुमा तन्तुओं से बना है जिसे कवक जाल या माइसीलियम कहते हैं। मेरा जाल आप सब ने अचार, मुरब्बा, रोटी, पके फल तथा चमड़े की बनी वस्तुओं पर अवश्य देखा होगा। हो सकता है आप सब ने न देखा हो पर मैंने आप सब के अधर जरूर देखे हैं। मेरा जाल बहुशाखिन्वित होता है। इसमें दो प्रकार के तन्तु होते हैं। कुछ तन्तु जीवाधार की सतह पर फैले होते हैं। जिन्हें भूस्तरी या स्टोलन कहते हैं। स्टोलन से कुछ सीधे तन्तु निकल आते हैं जिन्हें स्पोरोंजियोफोर कहते हैं। प्रत्येक स्पोरोजियोफोर के सिरे पर गोलाकार बीजाणुधानि होती है जिनमें काले रंग के बीजाणु रहते हैं। चित्र न० 1।
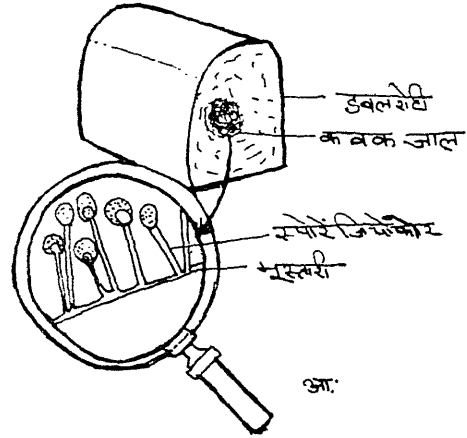
चित्र 1:—(अ) डबल रोटी पर उगा कर म्यूकर और उसका वर्धी कॉप।

मेरा प्रत्येक तन्तु एक लम्बे धागे के रूप में होता है। इसके अन्दर जीव द्रव्य तथा रिक्तिकायें मिली हैं। अनुप्रस्त भित्ति का अभाव होने के कारण अनेक छोटे-छोटे केन्द्रक मेरे पूरे तन्तु में बिखरे रहते हैं, इसलिये ऐसे तन्तु को संकोशिका या सीनोसाइट कहते हैं। अनुप्रस्थ-

भित्ति केवल पुराने तन्तुओं में तथा लैंगिक अंगों के समीप मिलती है । चित्र 2 :
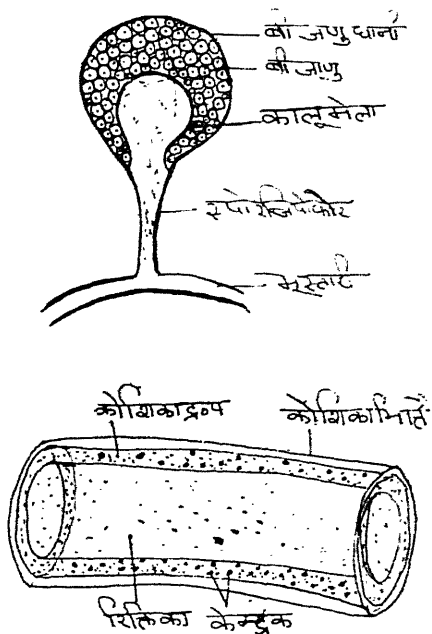
फिजियोलोजी-मेरे बीजाणु वायु में सदैव ही विद्यमान रहते हैं । श्टार्चो पदार्थ पर अंकुरित हो कर ये माइसीलिया उत्पन्न करतें हैं माइसीलिया के कुछ तन्तु ऐमिलेस नामक फजाइम स्त्रावित करते हैं । ऐमिलेस की प्रक्रिया से स्टार्च माल्टोस में और माल्टोस की क्रिया से माल्टोस ग्लूकोज में बदल जाता है ।

$$\underset{\text{स्टार्च}}{2(C_6H_{10}O_5)_n} + nH_2O \xrightarrow{\text{ऐमिलेस}} 11\ \underset{\text{माल्टोस}}{(C_{12}H_{22}O_{11})}$$

$$C_{12}H_{22}O_{11} + H_2O \xrightarrow{\text{माल्टेस}} \underset{\text{ग्लूकोस}}{2C_6H_{12}O_6}$$
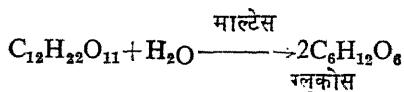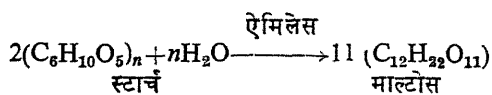
ग्लूकोस तथा अन्य पोषण पदार्थ, खनिज लवण, जल आक्सीजन का शोषण तन्तुओं द्वारा होता है । शोषित पदार्थ स्टोलन औरस्पोरंजियोफोरमें विसरण द्वारा पहुँचता है । ग्लूकोस के आक्सीकरण से मुझको उर्जा की प्राप्ति होती है ।

मेरा जीवन चक्र :- मेरा जीवन चक्र दो प्रकार से पूर्ण होता है । 1. अलिंगी जनन 2: लिंगी जनन । इस जीवन चक्र का पूर्ण होना वाता-वरण की अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति पर निर्भर करता है ।

अनुकूल स्थिति तथा जीवन चक्र-नमी और ताप की अनुकूल स्थितियों में मुझमें अलिंगी जनन वीजाणु द्वारा होता है । मेरे बीजाणु अचल तथा बहुन्यूक्लियेट होते हैं और बीजाणुधानी में ही बनते हैं । बीजाणुधानी बनने में मेरे कुछ हवाई कवक तन्तु ऊपर की ओर हवा में उठ जाते हैं । इनका अग्रस्थ भाग फूल जाता है । उचित भोजन कोशिका द्रव्य में और अनेक केन्द्रक फुले हुऐ भाग में बहकर आ जाते हैं । परिधि की ओर ये अधिक परिमाण में एकत्रित हो जाते हैं । इन क्षेत्र को स्पोरप्लाज्म कहते हैं । बीच के भाग में कोशिका द्रव्य तथा केन्द्रक कम परिमाण में होते हैं । यह भाग कालूमेला कहलाता है । दोनों क्षेत्रों के बीच में एक भित्ति बन जाती है ।

स्पोरप्लाज्म बीजाणु का निर्माण करते हैं । सर्व-प्रथम जीवद्रव्य अनेक छोटे-छोटे बहुकेन्द्रिक टुकड़ों (लग-भग 70,000) में विभाजित हो जाता है । प्रत्येक टुकड़ा गोल हो जाता है और उसके चारों ओर दीवार बन जाती है । जब बीजाणु परिपक्व हो जाता है तो बीजाणुधानी की भित्ति सूख कर वायु के तनिक झोंके से फट जाती है और मेरे बीजाणु हवा में बिखर जाते हैं । वे चल पड़ते हैं । नये घर की खोज में जैसे ही मेरे बीजाणु को अनुकूल वातावरण मिलता है वे जीवाधार पर अंकुरित हो कर कवक तन्तु के पुंज उत्पन्न करते हैं । चित्र 3

प्रतिकूल स्थित तथा जीवन चक्र :- प्रतिकूल परिस्थिति में मेरा जीवन चक्र लिंगी जनन द्वारा पूर्ण होता है । इस क्रिया में मेरे दो निकटवर्ती तन्तुओं से पार्श्व-शाखायें निकलती हैं और एक दूसरे को छूती हैं, इन्हें प्रोगैमि-टैन्जिया कहते हैं । इनके अग्रस्थ भाग में कोशिका द्रव्य

चित्र 3—म्यूकर में अलिंगी जनन

तथा केन्द्रक एकत्रित हो जाते हैं और एक पट (स्पेप्टम) द्वारा दो भागों में विभाजित हो जाते है। फूला हुआ भाग बहुन्यूक्लियेट होता है और युग्म समण्डल (सीनोगैमेट) कहलाता है। इसके पीछे के भाग को निलम्बक (सस्पेन्सर) कहते हैं। दो युग्मक समण्डल के बीच की भित्ति एन्जाइम की प्रक्रिया के कारण गल जाती है और इनके जीवद्रव्य संयुक्त हो कर जाइगोस्पोर बनाते हैं। जाइगोस्पोर की दीवार के दो स्तर होते हैं। वाहरी तह मोटी और शूलमय होती है और भीतरी तह पतली तथा कोमल होती है। इस प्रकार अपने जीवन के प्रतिकूल क्षणों का मुकावला करता हूँ। यदि मुझ में यह क्षमता न होती तो सदैव मेरा आजकी इस दुनिया में केवल ऐतिहासिक अध्यन ही होता। अपने इसी क्षमता के कारण मैं आजतक न जाने कितनी अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियों का मूकावला करते हुए इस पृथ्वी पर उपस्थित हूँ।

जब जीवन के प्रतिकूल क्षण समाप्त हो जाते हैं और अनुकूल परिस्थितियों के आते ही मेरे जाइगोस्पोर का अंकुरण होता है। जाइगोस्पोर की वाहरी दीवार फट जाती है और भीतरी दीवार एक नली के रूप में निकल आती है। इस नली को स्पोरोन्जियोफोर कहते हैं। इसका ऊपरी सिरा फूल कर युग्मक धानी बनाता है युग्मकधानी के भीतरी बहुत से बीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु अंकुरित हो कर नये पौधे बनाते हैं। इस प्रकार मेरा जीवन चक्र चलता रहता है। मैं सदा एक घर से दूसरे घर की तलाश में घूमता हूँ क्योंकि मैं अधिक दिन तक एक जगह टिक कर नहीं रह सकता।

विषमजातिकता :-

मेरी अधिकांश जातियो में सभी कवक तन्तु देखने में एक जैसे प्रतीत होते हैं। वास्तव में दो प्रकार के होते हैं। इन्हें (+) और (−) कहते हैं। (+) विभेद के माइसीलिया में प्रबल बृद्धि होती है। मुझ में लिंगी जनन तभी होता है जब कि दो विभिन्न विभेद के कवकतन्तु परस्पर मिलते हैं। मेरे इस व्यवहार को विषमजालिकता का नाम दिया गया है। मनुष्य वर्ग से मेरा कोई द्वेष नहीं। पर उस दिन मुझे थोड़ा दुःख जारूर हुआ था जब ब्लैकसली ने मेरी विशमजालिकता के भेद का पता 1904 में लगा दिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मनुष्य ने मेरा कोई

चित्र 4—म्यूकर का जीवन चक्र

भी भेद न गुप्त रहने देने की प्रतिज्ञा कर ली है। प्रकृति ने मुझे इसलिये इतना सूक्ष्म बनाया है और मेरा घर सड़ी गली वस्तुओं पर बनाया ताकि वहाँ तक मनुष्य की पहुँच न हो और मैं भी संसार का आनन्द ले सकूँ पर आज तो प्रकृति भी मनुष्य से हार रही है तो मेरा क्या।

निद्राभ्रमण: एक विचित्र रोग

● नरेश चन्द्र पुष्प

निद्रा प्रत्येक व्यक्ति की एक प्रिय शारीरिक सुसुप्तावस्था है। निद्रा की आवश्यकता को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। गहन निद्रा से जागने के पश्चात् सभी लोग स्फूर्ति, आनंद तथा उत्साह का अनुभव करते हैं वहीं अनिद्रा तथा विकृत निद्रा से परेशानी और बेचैनी का अनुभव करते हैं तथा सारा दिन एक अरूचिपूर्ण मन: स्थिति का अनुभव करते हैं।

निद्रा एक विशेष शारीरिक स्थिति है जिसमें मस्तिष्क तथा तंत्रिका संस्थान सुप्त पड़ जाते हैं। ऐच्छिक मांसपेशियां शिथिल पड़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त शरीर में अन्य परिवर्तन भी हो जाते हैं। फिर भी शरीर की कुछ क्रियाएं तथा मांसपेशियां कार्य करती रहती हैं।

स्वप्न और निद्रा का अपना एक प्राचीन अटूट संबंध है और प्रत्येक व्यक्ति कमाधिक स्वप्न देखता ही है। स्वप्न की विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। संक्षेप में, स्वप्न असंतृप्त वासनाओं-इच्छाओं की काल्पनिक तृप्त द्वारा निद्रा की रक्षा करते हैं। क्रोध, मोह, लोभ. इच्छा और वासना इत्यादि मनोभावों से संभाव्य दुष्परिणामों को नाटकीय ढंग से दिखा कर स्वप्न, प्राणी की भावनाओं का नियमन करता है।

निद्रा तथा स्वप्न से तो प्रत्येक व्यक्ति परिचित है और इनके संबंध में थोड़ा-बहुत जानता ही है, किन्तु निद्रा से ही संबद्ध निद्राभ्रमण (निद्राचार) जैसी प्रचलित मानवीय क्रियाओं से सामान्य व्यक्ति परिचित नहीं है। यदि मनुष्य को निद्राभ्रमण के संबंध में कुछ बताया जाता है तो वह इस पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होता तथा उसे यह सब आश्चर्यजनक तथा हास्यप्रद प्रतीत होता है।

कई वर्ष पूर्व की एक विदेशी सत्य घटना है। एक व्यक्ति सोते-सोते बिस्तर से उठता है और ड्रार से अपना रिवॉल्वर निकाल कर घर से बाहर निकल जाता है वह निद्रावस्था में ही सड़कों पर घूमता रहता है और फिर लौट कर सो जाता है या अन्य कहीं सो जाता है। एक दिन रात्रि को उस व्यक्ति को मार्ग में एक ऐसा व्यक्ति दिखा जो चेहरे, वेशभूषा तथा अपने हावभाव से अपराधी प्रतीत हो रहा था। निद्रा भ्रमण से आक्रांत व्यक्ति ने उसे देखते ही एक धारणा बना ली कि यह अपराधी है तथा दण्ड का भागी है। ऐसा विचार आते ही उसने जेब से रिवॉल्वर निकाली और उसकी हत्या कर दी। घर लौट कर वह सो गया और जब सुबह उठा, उसे कुछ भी याद नहीं था। मृतक के हत्यारे का पता लगाने के लिए पुलिस सक्रिय हो उठी और अन्ततः पता लगा ही लिया। प्रमाण की मौजूदगी में पुलिस ने जब उस व्यक्ति से बात चीत आरम्भ की तो उसने हत्या के सम्बन्ध में अनभिज्ञता जाहिर की और अस्पष्ट उत्तर दिये। पुलिस किसी भी कीमत पर अपने शिकार को छोड़ने को तैयार नहीं थी, दूसरी तरफ वह हत्यारा अपनी अनभिज्ञता ही बताता रहा। अन्त में उस व्यक्ति को निद्रा विशेषज्ञों के पास भेजा गया। निद्रा वैज्ञानिकों ने हत्यारे का विधिवत सूक्ष्म अध्ययन किया और उन्हें सफलता प्राप्त हुई। हत्यारे ने बताया कि उसे हल्का-हल्का याद आता है कि मृतक को देखने से उसे ऐसा लगा जैसे वह कोई खतरनाक अपराधी हो। यह विचार आते ही उसने गोली चला दी।

हत्यारे के बयान को पुलिस ने सुना और मृतक के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आरम्भ कर दी। इस खोजबीन से पुलिस को पता लगा कि मृतक वास्तव में ही एक खतरनाक अपराधी था जिसका पता लगाने में पुलिस अब तक असफल रही थी।

विश्व प्रसिद्ध निद्रा विशेषज्ञ डा० नैथेनियल क्लीटमान ने निद्रा भ्रमण पर काफी विस्तृत अध्ययन किया है और उन्होंने हजारों रोगियों के निद्राभ्रमण का उल्लेख किया है। डा० क्लीटमाव का एक विद्यार्थी, रोगी सोते-सोते बिस्तर से उठता और एक किलोमीटर पैदल चल कर नदी किनारे पहुंचता। वहां वह विवस्त्र हो कर स्नान करता, फिर वस्त्र धारण करता और वापस लौट कर सो जाता। सुबह तक वह रोग की घटना को लगभग भूल जाता। एक अन्य उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि एक बार ऐसा व्यक्ति मिला जो सोते सोते बिस्तर से उठा, अपने शिकारियों वाले कपड़े पहनें बंदूक तथा कारतूस लिए और फिर कई मील दूर जाकर शिकार की घात में बैठ गया। वह शिकारी उस समय जागा जब प्रातः काल उसके पिता उसे खोजते हुए वहां पहुंचे और झकझोर कर जगाया।

निद्राभ्रमण एक अत्यंत प्रचलित मानवीय क्रिया है। इस रोग से ग्रसित व्यक्ति सुप्त अवस्था में भोजन करते, रात्रि में सड़कों पर घूमते हुए, यात्रा करते हुए, सिनेमा बस या रेलगाड़ी का टिकट खरीदते हुए, शिकार करते हुए, आदि पाए गये हैं। हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि निद्राभ्रमण से प्रभावित व्यक्ति वह सभी कार्य सुसुप्तावस्था में करते रहते हैं जो वह जाग्रत अवस्था में करते हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने वाली बात है कि समस्त प्राणी जगत में केवल मनुष्य ही निद्राभ्रमण से प्रभावित है। अन्य कोई भी प्राणी इस रोग से प्रभावित नहीं पाया गया है। साथ ही साथ यह रोग सर्वत्र प्रचलित रोग है फिर भी इस रोग का कोई इतिहास ही नहीं है। इसका कारण है कि कोई भी इस रोग पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होता और आमतौर पर लोग इसे वैज्ञानिकों की एक हास्यप्रद गप्प ही मानते हैं। संभवतः इस रोग का सर्व प्रथम वर्णन अंग्रेजी उपन्यासकार हैनरी काकल ने अपने उपन्यास 'सिलिविस्टर साउण्ड' में किया था। इस उपन्यास में उन्होंने निद्राभ्रमण सम्बन्धी अनेकों घटनाओं का उल्लेख किया था। लेकिन सामान्य पाठकों ने वर्णित घटनाओं को हास्यप्रद तथा उपन्यास को एक हास्यपूर्ण कृत ही समझा।

अविश्वसनीय रोग

निद्राभ्रमण एक अत्यंत प्रचलित क्रिया है। इस रोग से प्रभावित व्यक्ति सुप्त अवस्था में जीवन के अनेकों कार्य करते रहते हैं। इस रोग की तुलना स्वप्न देखने की प्रक्रिया से की जा सकती है। स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा का शरीर बिस्तर पर निढाल पड़ा रहता है और उसके मस्तिष्क में एक 'फिल्म' चलती रहती है जिसमें वह नायक की भूमिका अदा करता है। इस 'फिल्म' में वह प्रत्येक कार्य करता है। स्वप्न भंग होते ही फिल्म समाप्त हो जाती है। इस फिल्म की कहानी स्वप्न भंग होने पर उसे याद रहती है या थोड़ी याद रहती है या कुछ भी याद नहीं रहती। स्वप्न देखते समय स्वप्न द्रष्टा अचेतन अवस्था में ही रहता हैं क्योंकि उसका तंत्रिका संस्थान, मस्तिष्क तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियां सुप्त पड़ी रहती हैं। निद्राभ्रमण में बिल्कुल स्वप्न वाली बात ही रहती है अर्थात शरीर सुप्त रहता है लेकिन स्वप्न की भांति शरीर बिस्तर पर नहीं पड़ा रहता बल्कि 'स्वप्न की फिल्म' के विपरीत इस क्रिया में वह सक्रिय भूमिका अदा करता है। वह सुप्तावस्था में बिस्तर से उठकर कार्य में संलग्न हो जाता है। सुप्तावस्था भंग होते ही वह सामान्य हो जाता है और स्वप्न की भांति उसे अपने क्रियाओं का ज्ञान नहीं रह जाता है।

किसी भी रोग से ग्रस्त रोगी कुछ तकलीफ सहता है और उसे एक विशेष स्थिति से गुजरना पड़ता है। इस 'स्थिति' के सारे कटु अनुभव उसे जीवन पर्यन्त याद रहती हैं। किन्तु इस रोग से ग्रसित रोगी कष्ट से दूर रहता है। साथ ही साथ उसे कुछ क्षण पूर्व किये गये कृत्यों का भी

बोध नहीं रहता है। यही कारण है कि स्वयं रोगी ही अपने रोग पर विश्वास नहीं करता है। अतः जन सामान्य और भी इस रोग पर विश्वास नहीं करते और उन्हें यह विषय हास्यप्रद तथा अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इसी कारण आज चिकित्साशास्त्र में प्रत्येक साधारण रोग का भी अपना एक इतिहास है किन्तु इस रोग का कोई इतिहास नहीं है। अतः इस रोग का अस्तित्व देर से आया जब निद्रा वैज्ञानिकों ने इस पर वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य आरम्भ किये।

वैज्ञानिक अनुसंधान

इस रोग पर वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य का भी देर में आरम्भ हुआ क्योंकि पहले कोई भी इस रोग के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता था। शुरू में जब इस पर कार्य आरम्भ हुआ तो यह विश्वास किया जाने लगा कि निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति स्वप्नावस्था में कार्य करते हैं। किन्तु विश्व विख्यात निद्रा विज्ञानी डाक्टर नैथेनियल क्लीटमान ने अपने अनुसंधान कार्यों से इस धारणा को निराधार प्रमाणित कर दिया। विज्ञानी क्लीटमान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न अवश्य देखता है किन्तु स्वप्न अधिकतर हल्की निन्द्रा में ही दिखलाई देते हैं। गहन निद्रा में स्वप्न कभी-कभी अथवा बिलकुल नहीं दिखलाई पड़ते हैं। इसके अलावा निद्रामग्न व्यक्ति के नेत्र स्वप्नावस्था में पलकों के नीचे तीव्रता से घूमते हैं।

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एलन जैकब तथा एंथोनी केतस ने निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्तियों पर अनुसंधान कर के यह बताया है कि निद्राभ्रमण सामान्यतः गहन निद्रा के समय ही होता है और निद्राभ्रमण के समय नेत्रों में गति का अभाव होता है।

शिशुओं और बच्चों पर किये गए अनुसंधान कार्यों से ज्ञात हुआ है कि शिशुओं में निद्राभ्रमण उस समय होता है जब उनके मस्तिष्क में सहसा सक्रियता उत्पन्न हो जाती है। इसका मूल कारण शिशुओं के मस्तिष्क की अपरिपक्वता है। किन्तु जैसे जैसे आयु के बढ़ने से मस्तिष्क परिपक्व होता जाता है, यह रोग घटता जाता है। दो फ्रांसीसी चिकित्सकों, डा० हैनरी तथा डा० राजर वाटन ने इस रोग का विधिवत अध्ययन किया है। उनके अनुसार जो शिशु निद्रावस्था में मूत्र-त्याग करते हैं उन्हें बहुधा निद्राभ्रमण भी होता है। बच्चों के सोते-सोते चौंकने या भयभीत होने पर भी ऐसा होता है। इन फ्रांसीसी चिकित्सकों के अनुसार निद्राभ्रमण की घटनाएं प्रथम तथा द्वितीय निद्राचक्र के अंत में होती है। एक निद्राचक्र सामान्यतः सवा घण्टे का होता है।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्तियों की तुलना सम्मोहित व्यक्तियों से भी की जा सकती है। निद्राभ्रमण-काल में वे इस प्रकार कार्य करते हैं जैसे वे सम्मोहित अवस्था में हों। अतः वे कोई ऐसा कार्य नहीं करते जिससे उन्हें हानि पहुंचने की सम्भावना हो। निद्राभ्रमण की स्थिति में उन्हें सर्वथा अपनी गतिविधियों का ध्यान रहता है किन्तु वाह्य जगत से वे सदैव अप्रभावित ही रहते हैं। अतः यदि उनसे कुछ प्रश्न किये जाएं तो वे अस्पष्ट उत्तर ही दे सकेंगे। निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति की तुलना 'यंत्र चालित' व्यक्ति से भी की जा सकती है। यदि उसे वह कार्य, जिसमें वह संलग्न है, करने दिया जाए तो वह उसी में लगा रहता है किन्तु रोकने पर क्रुद्ध होकर हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है।

कारण

निद्राभ्रमण के अनेकों कारण है किन्तु चिकित्सक इन कारणों पर एक मत नहीं है। पहले कुछ चिकित्सकों का कहना था कि यह रोग वंशागत है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इस कथन को सिद्ध करने के लिए एक इतालवी परिवार का उदाहरण दिया जाता है। इस परिवार में छः सदस्य थे तथा सभी निद्रागमन से ग्रस्त थे। एक दिन सभी सदस्य निद्रावस्था में विस्तर से उठ कर नीचे गये और एक घेरा बना कर बैठ गए। जब उसमें से एक को होश आया तो सब के सब जाग कर बैठ गये। किन्तु ऐसे उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं हो पाता कि रोग वंशागत है या नहीं। इन अनुसंधानों से इतना

अवश्य ज्ञात हुआ है कि यह रोग बालिकाओं की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है।

किन्तु एक कारण से अधिकांश चिकित्सक सहमत हुए हैं कि मानसिक तनाव के कारण यह रोग हो जाया करता है। मानसिक तनाव के अनेकों कारण हो सकते हैं जिससे सभी परिचित हैं। मानसिक कुण्ठा या अन्तर पीड़ा के कारण लोग अपना दुख व्यक्त नहीं कर पाते और अधूरापन अनुभव करते हैं और निद्राचार से ग्रस्त हो जाते हैं।

उपचार

निद्राभ्रमण का मुख्य कारण है मानसिक तनाव। अतः निद्राभ्रमण से ग्रसित व्यक्ति को ऐसी समस्त परिस्थितियों से मुक्त कर देना चाहिए जिससे उसके जीवन में मानसिक तनाव पैदा हो गया हो। इस दिशा में उपचार करने का सबसे अच्छा उपाय है कि रोगी को मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों से सलाह लेनी चाहिए।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त बालकों को उपेक्षा या हीन दृष्टि से नहीं देखना चाहिए बल्कि उसकी भावनाओं का आदर कर रोग के कारण को जानना चाहिए और उपचार का रास्ता ढूढ़ना चाहिए। बालकों के निद्राभ्रमण के उपचार का सबसे अच्छा रास्ता यही है कि उनके दुख दर्द कष्ट तथा चिन्ताओं को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए और उन्हें यथासंभव-यथाशीघ्र दूर करना चाहिए। कुछ माता-पिता अपने बच्चों को निर्दयता पूर्वक विस्तर से बांध देते हैं और सोचते हैं कि अब यह उठ कर नहीं जा सकता। लेकिन इससे बालकों के अपरिपक्व कोमल मस्तिष्क पर आघात लगता है और वे सहज ही अपने माता-पिता को अपना शत्रु समझ कर घृणा करने लगते हैं। फलस्वरूप रोग बढ़ जाता है। अनेक बार देखा गया है कि कुछ दिन बाद बालक स्वयं ही इस रोग से मुक्त हो जाते हैं।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति को निद्राभ्रमण के समय कभी भी झकझोरना नहीं चाहिए अन्यथा वह हिंसात्मक रूप धारण कर आप को या स्वयं को हानि पहुंचा सकता है। निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य कर स्यम् ही जाकर सो जाएगा। यदि आप देखते हैं कि वह किसी को या स्यम् को हानि पहुंचाते जा रहा है या कोई गलत कार्य करने जा रहा है, ऐसी अवस्था में आप उसे धीरे-धीरे पुकार कर जाग्रत अवस्था में लाने का प्रयत्न करें। जब वह जाग्रत अवस्था में आ जाए तो डाटने-फटकारने की अपेक्षा अपनी सहानुभूति प्रकट करें। इससे उसे सांत्वना प्राप्त होगी तथा ठीक होने की संभावना बढ़ जाएगी।

(पृष्ठ 13 का शेष)

(1) सन्देश वाहक आर० एन० ए०

(2) अंतरण (ट्रांसफर) आर० एन० ए०

(3) रिबो सोमल आर० एन० ए०। प्रोटीन संश्लेषण का नियंत्रण सन्देशवाहक आर० एन० ए० ही करता है। इस प्रकार के आर० एन० ए० का एक अणु एक रिबोसोम के बाद दूसरे से 'डी कोटेड' होता हुआ प्रोटीन संश्लेषण को प्रदर्शित करता है। प्रोटीन श्रृंखला में ऐमीनो एसिड के शामिल होने के साथ एक ओर तो रिबोसोम, अणु के साथ जुड़ता हुआ आगे बढ़ता है जबकि दूसरी ओर रिबोसोम सन्देश वाहक आर० एन० ए० से अलग होता हुआ प्रोटीन को मुक्त करता है।

इस प्रकार उस आदि कालिक पृथ्वी पर ऐसे यौगिक बने जो ज्ञात हैं। ये यौगिक कार्बनिक हैं और बहुलक हैं।

पौधों और जन्तुओं का सहजीवन ●●

● कन्हैया लाल पटेल

हम जब इतिहास के पन्ने पलट कर देखते हैं तो हमारा सिर ऊँचा उठ जाता है, हम अपने आपको इस बात के लिए गौरवान्वित मानते हैं कि हमारा देश जगत गुरू रह चुका है। सम्पूर्ण संसार को हमने ज्ञान की ज्योति से जगमगाया था। नालन्दा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों पर शिक्षा की पताकाएँ फहर रही थीं उसी समय की बात याद आ रही है। नालन्दा विश्वविद्यालय में ही गुरू ने अपने शिष्य से कहा था कि इस नालन्दा विश्वविद्यालय के आसपास जितने भी पौधे है उनमें जो व्यर्थ हो उसे उखाड़ कर ले आओ। इसपर शिष्य ने अपने गुरू से कहा था इस क्षेत्र में ऐसा एक भी पौधा नहीं है जो व्यर्थ हो। अर्थात आज से हजारों वर्ष पहले पेड़ पौधों की उपयोगिता मे हमारा देश का बच्चा परिचित था। उसके साथ ही विज्ञान की असीम प्रगति ने पौधों की उपयोगिता को और भी प्रकाश में ला दिया है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि पौधों के बिना हमारा जीवन सम्भव नहीं है और हमारे बिना उनका बने रहना असम्भव है जन्तु जगत व वनस्पति जगत परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

श्वसन के लिए आक्सीजन : श्वसनजीवों की महत्वपूर्ण क्रिया है। पौधे और जन्तु दोनों ही श्वसन क्रिया में वायुमण्डल की आक्सीजन का उपयोग करते हैं और कार्बन डाई आक्साइड बाहर निकालते हैं। जीवों में यह क्रिया दिन व रात होती रहती है। इस क्रिया द्वारा वायुमण्डल की आक्सीजन का व्यय बराबर होता रहता है और कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा बढ़ती रहती हैं। इसके अतिरिक्त हम अपने मकानों में कोयला, लकड़ी आदि जलाते हैं इससे भी आक्सीजन का व्यय होता है और कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा बढ़ती है। यदि यह क्रम बराबर चलता रहे तो वायु मण्डल की आक्सीजन कुछ ही समय में समाप्त हो जायेगी और श्वसन क्रिया के लिए आक्सीजन प्राप्त नहीं हो सकेगी ऐसी अवस्था में सजीव का जीवित रहना असम्भव हो जायेगा परन्तु प्रकृति ने ऐसा नहीं होने दिया। पौधे वायु मण्डल में आक्सीजन व कार्बन डाई आक्साइड का सन्तुलन बनाये रखते हैं

वायु द्वारा पत्तियों कार्बन डाइआक्साइड और भूमि से जल एवं खनिज लवण प्राप्त करती हैं। पत्तियों का पर्णहरित सूर्य के प्रकाश में कार्बन डाई आक्साइड जल एवं खनिज लवण आदि पदार्थों को खाद्य पदार्थ (कार्बोहाइड्रेट) में बदल देता हैं।

इस क्रिया में आक्सीजन गैस बाहर निकलती है जो वायुमण्डल में मिल जाती है इस क्रिया को प्रकाश संश्लेषण कहते हैं।

इस प्रकार प्रकाश संश्लेषण से प्राप्त आक्सीजन जन्तुओं के श्वसन में काम आती है। पौधों को कार्बन डाइ आक्साइड जो इनके भोजन का मुख्य तत्व है जन्तु पर निर्भर रहते है इसे कार्बन चक्र भी कहा जाता है।

नाइट्रोजन जन्तु व पौधे : हम जानते हैं कि जन्तुओं का शरीर कोशिकाओं का बना है। प्रत्येक कोशिका में कोशिका द्रव होता है एवं केन्द्रक भी होता है। कोशिका द्रव व केन्द्रक में मुख्य प्रोटीन्स, न्यूक्लियो प्रोटीन्स

आदि कार्बनिक यौगिक होते हैं। इन यौगिको में कार्बन, हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन आदि तत्व होते हैं प्रोटीन पौधों व जन्तुओं की वृद्धि के लिए आवश्यक है। पौधों की शारीरिक वृद्धि के लिए आवश्यक प्रोटीन का निर्माण करना पड़ता है इसलिए पौधों की नाइट्रोजन को आवश्यकता पड़ती है। प्रायः हम देखते हैं कि किसान फसल की उपज बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन युक्त खाद देते हैं। भूमि में नाइट्रोजन का मुख्य स्त्रोत नाइट्रोजन चक्र है जो पौधों व जन्तुओं के बीच लगातार चलता रहता है।

वायु में लगभग 18% नाइट्रोजन गैस है परन्तु इस स्वतंत्र नाइट्रोजन को पौधे भोजन के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। नाइट्रोजन पौधों के काम आ सकती है जब कि यह यौगिक के रूप में हो। अतः यह आवश्यक है कि वायुमण्डल की नाइट्रोजन यौगिकों में परिवर्तित हो।

पौधों की जड़ों पर ग्रन्थियाँ होती है इन ग्रन्थियों पर सहजीवी जीवाणु रहते हैं। ये जीवाणु वायुमण्डल की नाइट्रोजन को नाइट्रेट में बदल देते हैं जो खाद्य के रूप में पौधे के काम आते हैं इस क्रिया को नाइट्रोजन यौगिकरण (Nitrogen Fixation) कहते हैं। बिजली चमकने से भी आक्सीजन, नाइट्रोजन व जल के संयोग से नाइट्रिक अम्ल बनता है जो भूमि के खनिज लवणों से मिलकर नाइट्रेट के रूप में बदल जाते हैं पौधे इन्हीं नाइट्रेटों को जड़ों द्वारा पानी के पास सोखते हैं व वनस्पति प्रोटीन में बदल देते हैं। वनस्पति प्रोटीन भोजन के रूप में जन्तुओं के शरीर में प्रवेश करते हैं जन्तु के शरीर में वनस्पति प्रोटीन जन्तु प्रोटीन में बदल जाता है। जन्तुओं के मलमूत्र त्यागने से मृत पौधे व जन्तुओं के सड़ने से नाइट्रोजन युक्त यौगिक टूट-टूट कर नाइट्रोजन अमोनिया आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। नाइट्रोजन वायुमण्डल में चली जाती है। इस प्रकार नाइट्रोजन चक्र वायुमण्डल में नाइट्रोजन का तथा भूमि में नाइट्रेट का सम्बन्ध बनाये रखता है। यह पौधों व जन्तुओं के सहजीपन का उदाहरण है।

भोजन-पौधे व जन्तु : जन्तु जगत अपने भोजन के लिए आक्सीजन के अलावा पौधों पर भी निर्भर है। जन्तुओं को पौधों से अन्न, सब्जियाँ वस्त्र के लिए आवश्यक पदार्थ प्राप्त होते हैं। पौधों की पत्तियों में अधिकांशतः पर्ण हरित होता है जो अकार्बनिक पदार्थों को कार्बनिक पदार्थ में परिवर्तित कर देता है। यह क्षमता केवल पौधों में पाई जाती है। माँसाहारी जन्तु भी पौधों पर ही भोजन के लिए निर्भर है उदाहरणतः— शेर जो माँसाहारी है हिरण का शिकार करता है, हिरण पौधों पर भोजन के लिए आश्रित है। अतः जन्तुओं के लिए पौधों का होना अति-आवश्यक है।

पानी-पौधे व जन्तु : पौधों और जन्तुओं के जीवन में पानी का भी विशेष महत्व है! जन्तु व पौधे दोनों ही पानी का उपयोग करते हैं। पौधे जड़ों द्वारा भूमि में घुलित (खनिज लवण) पानी द्वारा ही प्राप्त करते हैं। जल की मात्रा निश्चित ही रहती है! इसका मुख्य कारण जल चक्र का होना है।

सूर्य के ताप द्वारा पानी वाष्प मे बदल जाता है तथा पौधे भी वाष्पोत्सर्जन की क्रिया से पानी को वाष्प में बदलते है दोनों प्रकार से प्राप्त वाष्प से बादल बनते हैं। बादलों से वर्षा होती है व पानी पुनः जमीन पर आ जाता है। वर्षा पौधों की वृद्धि के लिए आवश्यक है अतः हम कह सकते है कि जल चक्र भी जन्तुओं और पौधों के सह जीवन का माध्यम है।

परागण पौधों और जन्तुओं में परागण की क्रिया का होना पौधों और जन्तुओं के सहजीवन का सबसे अच्छा उदाहरण है। जैसे तितलियाँ फूलों पर भोजन के लिए जाती हैं अर्थात् तितलियाँ भोजन के लिए फूलों के पौधों पर निर्भर होती है तथा फूलों के पौधों में परागण की क्रिया के लिए फूलों के पौधे तितलियों पर निर्भर हैं। तितलियाँ अपने परों से पराग कण ले जायेंगी तभी परागण होगा व पौधों का विकास होगा, बीज बनेंगे।

कुछ पौधों के फल एवं बीज चिड़ियों तोतोः कबूतरों आदि द्वारा खा लिये जाते हैं जन्तुओं के शरीर में फल तो पच जाते है लेकिन बीज अपचित रह जाता है जो उसके मल के साथ निकल जाता है व नया पौधा उग जाता है। इस प्रकार पौधे व जन्तु अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखते हुए भी परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

इन्डियन नेशनल साइंस एकेडेमी के नव निर्वाचित फेलो

निम्नलिखित वैज्ञानिकों को इन्डियन नेशनल साइंस एकेडेमी का फेलो चुना गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं :

1 प्रो. एस.धवन डाइरेक्टर, इन्डियन इन्सटीट्यूट आफ साइंस

2. प्रो. एस-सी अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय

3. प्रो ए-वी- विस्वास; आई आई, टी- बम्वई

4. डॉ. बी. एल एस. भीमसंकरन, ओस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

5. डॉ. एम. चन्द्रशेखर, रमन रिसर्चइन्सटीट ट्यूट वंगलौर

6. डॉ. आर. चिदाम्बरम, भाभा अणु ऊर्जा केन्द्र बम्बई

7. डॉ. के. एल. चोपरा, आई. आई. टी. देहली

8. डॉ. बी, चौधरी आई.ए. आर.आई

9. डॉ अशोक घोष, कलकत्ता विश्वविद्यालय

10 डॉ जे. सी. जैन, आई. आई टी. बम्वई

11 प्रो. जी. सी. कुश, इंटरनेशनल राइस रिसर्च इन्सटीट्यूट, मनिला

12. प्रो. एस सी महेश्वरी, दिल्ली विश्वविद्यालय

13. प्रो. एच. मोहन राम, दिल्ली विश्वविद्यालय

14. डॉ. वी. आर. नाग इन्सटीटयूट रेडियो फिजिक्स इण्ड एलेक्ट्रॉनिक्स

15. प्रो. डी. नासीपुरी, आई. आई. टी. खड़ग पुर

16. प्रो. सी. सी. पटेल इन्डियन इन्सरीटयूट ऑफ सॉइस, बंगलौर

17. डॉ. पी. आर. पिशरोती फिजिकल रिसर्च लैबोरेट्री

18. डॉ. प्रेम नारायन इ. ए. आर एस.

19. प्रो. एन. राधाकृष्णनन, हैदराबाद यूनिवर्सिटी

20. प्रो. एस. राघवन टी. एफ. आई. आर, बम्बई

21. डॉ. वी-एस एम.दास वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

22. डॉ. एम राजसेखर शेट्टी, मैसूर विश्वविद्यालय

22. डॉ. के. एन. शर्मा, सियूनिवटी कालेज आफ मेडिसिन, देहली

23. डॉ. ए. पी. बी. सिन्हा, एन. सी. एल. पूना

24. प्रो. एम. एस. सोडा आई. आई. टी. देहली

25. प्रो. ई.सी. सुब्बाराव, आई. आई टी, कानपुर

26. प्रो. आर. एन. सुकेशवाला, सेंट जेवियर, बम्बई

27. डॉ एस. स्वामीनाथन, मद्रास विश्वविद्यालय,

28. प्रो. जे. पी. थप्लियाल, वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

उल्टा लटकने वाला जीव
चमगादड़

स्तनी मुख्यत : स्थलीय अथवा जलीय प्राणी होते हैं परन्तु चमगादड़ ही ऐसा स्तनी है जो पक्षियों की भांति उड़नशील होता है अब तक चमगादड़ों की लगभग 800 जातियां वर्णित हैं जो कि समस्त स्तनियों का लगभग सातवां भाग है। यद्यपि ये नरवानरगण से वहुत मिलते जुलते हैं और इस प्रकार मनुष्य से भी परन्तु इन्होंने अपने आप की एक उड़नशील जीव के अपनुकूल बना लिया है और चल फिर नहीं सकते। उड़नशीलता से चमगादड़ों को बहुतेरे लाभ मिले। अपने तेजी से वचने एवं सरलता से न पहुंच पाने वाले स्थानों पर घोंसला बनाने की प्रकृति के कारण इन्हें नरभक्षियों से लगभग मुक्ति मिली हुई है। चमगादड़ मुख्यतः उष्णकटिबंधी जीव हैं परन्तु ध्रुवीय प्रदेश जैसे न्यूजीलैन्ड में भी पाये जाते हैं।

चमगादड़ों की उड़ान पक्षियों एवं कीड़ों, दोनों से चार प्रकार से भिन्न हैं। सर्वप्रथम इनका पंख खाल की एक लचकीली झिल्ली के रूप में होता है जो चार लम्बी उंगलियों के बीच जुड़ा रहता है और प्रत्येक पंख में कम से कम 11 चल संधियां होती हैं जिससे पंखों को संभालने में आसानी होती है एवं उनका नियंत्रण बढ़ जाता है। दूसरे, पिछले पांव उड़ान झिल्ली में संलग्न रहते हैं और वे ऊपर नीचे धक्का मार कर उड़ान में भाग लेते हैं। तीसरे, उड़ान झिल्ली की खुली हुई सतह पर निरन्तर उड़ान के दौरान अधिक रक्त संचालन होता है जो शरीर को ठन्डा रखने में मदद करता है। इस प्रक्रिया से चमगादड़ के शरीर का र्य के प्रकाश में अत्यधिक गर्म हो जाने की संभावना है और शायद इसी कारण सारे चमगादड़ रात्रिचर होते हैं या गोधूलि में निकलते हैं। अन्ततः रात्रि में प्रकाश निर्देशन की समस्या को विशेष संवेदी अभिवर्धनों द्वारा पूरा किया गया है। इस दिशा में चमगादड़ों में बहुत सी विविधतायें पाई जाती हैं। मेगाकाइराप्टेरा या पुरानी दुनिया के फलाहारी चमगादड़ों में अत्यन्त संवेदनशील रात्रि दृष्टि होती है एवं माइक्रोकाइराप्टेरा के विविध सदस्यों में पराश्रव्य प्रतिध्वनि स्थापन पाया जाता है।

अधिकांश माइक्रोकाइटाप्टेरा कीट भक्षी होते हैं और इस अनुभाग का सामान्य नाम 'कीट भक्षी चमगादड़' है। ये प्रत्येक महाद्वीप में पाये जाते हैं। ऊंचे स्थानों पर पाये जाने वाले समस्त चमगादड़, जो जाड़ों में गुप्तावस्था में रहते हैं, कीटभक्षी होते हैं।

अपनी सामान्य उड़ान के दौरान समस्त माइक्रोकाइराप्टेरा लघु प्रस्फोट या स्पंद निकालते हैं जो 5-20 स्पन्द प्रति सेकेंड की गति से निकलती है और उनके बीच में थोड़ी देर की शांति रहती है। इन ध्वनियों का स्वरूप विभिन्न जातियों में वहुत भिन्न होता है। इन ध्वनियों की प्रतिध्वनियां चमगादड़ का अपने वातावरण में भी मार्गदर्शन करती है तथा इससे इनको अपने शिकार के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है।

कीट भक्षी चमगादड़ों की शिकार विधियां काफी

भिन्न होती हैं। कुछ, जैसे योरोपीय नाकटयूल (noctule) एवं उष्ण कटिबन्धी मोलोसिड (molosid) हवा में बड़ी तेज उड़ान भर कर ऊपर जाते हैं और फिर शिकार पर एकदम से झपट्टा मारते हैं। दूसरे, जैसे कि लम्बे कान वाले वेस्पर टिलिओनिड (Vespertilionid), प्लीओप्स (Pleotus) एवं कुछ मिक्टेनिड (myctenid) झाड़ियों, दीवारों एवं पौधों के तनों के सामने मंडराते रहते हैं और वहां पर बैठे कीड़ों या मकड़ियों को पकड़ लेते हैं। कुछ चमगादड़, जैसे, मायोटिसदाउ बेन्टोनाई (Myotis dan bentoni) पानी के ऊपर उड़ते हुये अपनी ठुडडी पानी में डुबो देते हैं। इन्हें इसी कारण से जल चमगादड़ भी कहते हैं। यद्यपि यह बहुत मुश्किल सा लगता है कि उड़ते हुये पानी के तल से जरा नीचे से छोटी मछलियों को चमगादड़ पकड़ ले परन्तु चमगादड़ ऐसा भी करते हैं। बहुत से मांस भक्षी चमगादड़ छोटे मोटे जानवरों का भी शिकार करते हैं जैसे बहुत से नव उष्णकटिबन्धी फिल्लोस्टोमिड (Neotropical - phyllostomid).

नई दुनिया के सब से बड़े चमगादड़ का नाम वैम्पाइरम (Vampyrum) या नकली रक्तचूषक (Vampire) है जिसके पंख 75 से० मी० चौड़े होते हैं। यह एक भयानक मांसाहारी जीव है और एक बार में काफी बड़े चूहे के सर को कुचल सकता है। पुरानी दुनिया के मेगाडर्मिडी वर्ग (Megadermidae) पांचो जातियां भी दूसरे स्तनी प्राणियों की भयंकर शिकारी होती हैं और इन्हें भी नकली रक्तचूषक कहते हैं भारत में पाई जाने वाली मेगाडर्मा जाति (Megaderma) बहुत बड़ी या शक्तिशाली तो नही होती परन्तु ऐसा कहा जाता है कि अपने बराबर तक के चूहों को ये मार डालते हैं।

बड़े शिकारों की ओर निरंतर अग्रसर होने वाली तीन रक्त चूसक जातियां हैं। इनका भोजन बड़े मेरूदण्धारी प्राणियों से प्राप्त रक्त है। और ये ही ऐसे प्राणी हैं जो स्तनधारियों में पाये जाने वाले केवल परपोषी हैं। इन तीनों का नाम क्रमशः डेसमोडस रोटैंडस (Desmodus rotundus), डाइमस (Diamus) एवं डाइफिला (Diphylly) है। इनमें से पहला वाला ही स्तनियों पर आक्रमण करता है और ऐक दिन में अपने स्वयं के भार के बराबर खून पी सकता है। दूसरे और तीसरे प्रकार वाले चमगादड़ स्तनियों की अपेक्षा पक्षियों पर ज्यादा आक्रमण करते हैं।

इनके लिये वास्तव में 'खून चूसना' कहना अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि ये अधिकतर शरीर को काट कर खून चाटते हैं। अपने सामने के दांतों से ये त्वचा को संभाल कर धीरे से काटते हैं और खून ऊपर आने पर जीभ से चाट लेते हैं। परपोषिता का सबसे बड़ा प्रभाव रक्त की हानि नहीं है बल्कि उनसे भिन्न 2 बीमारियों का फैलना है। रक्तचूषकों में जलातंक (rabbies) के कीटाणु होते हैं जो मवेशियों एवं मनुष्यों दोनों के लिये घातक होते हैं।

इनकी अपेक्षा बहुत से चमगादड़ एकदम शाकाहारी होते हैं और फलाहार करते हैं। पश्चिमी अफ्रीका से लेकर आस्ट्रेलिया तक के समस्त शाकाहारी चमगादड़ों को उपवर्ग मेगाकाइराप्टेरा में रक्खा गया है जिसमें केवल एक फेमिली टेटोपिडि होती है और इसमें 130 जातियां हैं। चूंकि इनको उड़ने के लिये सुदृष्टि की आवश्यकता होती है अतः इनकी आँखें काफी बड़ी होती हैं और रेटिना कई पर्तों वाला होता है जिसमें संवेदी कोशाओं की संख्या बहुत अधिक होतो है। सुदृढ़ घ्रांण

पुस्तकः वैज्ञानिक गोरिल्ला (बालोपयोगी उपन्यास)

लेखक—कैलाश कल्पित, दर्शलोक प्रकाशन, पृ० 40

आम किस्सा-गोओं की तरह विज्ञान की दुनिया में भी किस्सा-गो हुए हैं जो भरपूर कल्पना के पंख लगाकर उड़ाने भरते हैं। कुछ हद तक कल्पनएँ सही भी हुई हैं। वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर लेखन की विधा विज्ञान गल्प (Science Fiction) कहलाती है।

अब तक के उपलब्ध विज्ञान कथाओं एवं उपन्यासों पर यदि विहंगम दृष्टि डाली जाए तो पता चलेगा कि 75% साहित्य अन्तरिक्ष चर्चाओं को ही लेकर रचा गया है तथा शेष साहित्य में विषयान्तर। मानव के चन्द्रमा पर पैर रखने के पूर्व तो अधिकतर कथाऐं चन्द्र यात्रा सम्बंधी हुआ करती थीं लेकिन चन्द्र रहस्यो धारन के वाद भी कथाओं का विषय अन्य ग्रहों की यात्रा से सम्बंधित है। यात्रा प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी फिक्शन्न लिखे गए हैं, जैसे-एच० जी० वेल्स ने टाइम मशीन की कल्पना की जिसकी मदद से बीते इतिहास की कोई भी घटना पुनः उसी रूप में देखी जा सकती है, तो अल्डस हक्सले ने 'ऑन ए जार्क नाइट' में ऐसे यंत्र की कल्पना की जिसकी मदद से तेरे मन की में भी जानू।

हिन्दी में भी विज्ञान कथाऐं लिखी गई हैं। विदेशी लेखकों में एच० जी० वेल्स, जूले वर्न, पावेल विभ्नेव आदि को विशेष ख्याति मिली है। हिन्दी में वैज्ञानिक उपन्यासों के जनक होने का श्रेय स्व० बाबू दुर्गा प्रसाद खत्री को प्राप्त है। खत्रीजी के बाद भी तमाम प्रयास हुए हैं।

आज मेरी मेज पर समीक्षार्थ जो पुस्तक है उसका अन्तरिक्ष यात्रा से कोइ सम्बन्ध नहीं। समीक्षार्थ पुस्तक वैज्ञानिक गोरिल्ला के लेखक श्री कैलाश कल्पित हिन्दी के सुपरिचित लेखक है।

लेखक ने कथानक के माध्यम से मस्तिष्क प्रत्यारोपण की कल्पना की है। हॉलाकि उक्त क्रिया की तकनीकी पक्ष पर कोई चर्चा नहीं है। एक गोरिल्ले का मस्तिष्क वैज्ञानिक जेम्स के मस्तिष्क में फिट कर दिया जाता है, जेम्स का मस्तिष्क निकाल कर। उसके बाद वैज्ञानिक गोरिल्ला अफ्रीका से भारत आता है। एक सरकस में उसके करतब दिखाए जाते हैं। वह पूछ गए गणित के सबकों का हल भी बताता है। अपने छोटे भाई प्रों विलियम के घर के पीछे वह आता है तथा चोरी छिपे अपनी पूर्व पत्नी मेरी को उठा ले जाना चाहता है। पुलिस और सरकस वालों की मदद से फिर उसे बंद किया जाता है।

लेकिन वह जंगल में भाग जाता है और पत्र लिख करके आप बीती लोगों को बताता है। फिर तो वह आराम से घर में रहने लगता है अपने परिवार के साथ। सरकस में भी अब काम करता हैं तथा अपने पूर्व के मानव जीवन तथा बाद के गोरिल्ला जीवन के अनुभव लिखता है।

परिवर्तित परिस्थितियों में विभिन्न स्थितियों की कल्पना रोचक ढंग से लेखक ने की है। अतः बालकों के लिए पुस्तक उपयोगी बन पड़ी है।

बीच में कहीं-कहीं चित्र भी हैं। कुछ भाषाई दोष भी हैं आशा है अगले संस्करण में ठीक हो जायेगा। पृष्ठ संख्या को देखते हुए मूल्य बहुत अधिक रखा गया है, जिसके नाते हो सकता है अधिक पाठकों को लाभ न हो सके।

फोटो मुद्रण मशीनें

डेनमार्क में विकसित तीन फोटो मुद्रण मशीनें फोटो मुद्रण के क्षेत्र में उन्नत तकनीकी सुविधायें उपलब्ध करने में सक्षम बतलाई जाती हैं। इनमें से एक मॉडल-आर सी 600-आर सी लेपित फोटो कागज उपचारित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है और ताप नियंत्रण, उपचारक करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है और ताप नियंत्रण, उपचारक बाथ के निरन्तर परिसंचार, और डेवलपर व फिक्सर के स्वचालित सम्भरण की व्यवस्था से युक्त है। दूसरा मॉडल-एफ 400-एएस-अस्पतालों में एक्स-किरण फिल्मों के अलावा फोटोसेटिंग फिल्म व कागज उपचारित करने के लिये डिजाइन किया गया है। तीसरी मशीन—एमपी—122 सेंटीमीटर चौड़ाई तक की सभी प्रकार की आलेखी फिल्मों का उपचार करने में सक्षम हैं।

कम्प्यूटर युक्त रिप्रोग्राफी कैमरा

कम्पयूटरीकृत रिप्रोग्राफर—एस्कोफोट 5060—जो एक स्मृति भण्डारण बैंक से युक्त है, विभिन्न प्रकार के फोटोचित्रों व डिजाइनों आदि की नकलें उठाने की विस्तीर्ण सुविधा तो उपलब्ध करती ही है मंहगी और समय व्यर्थ करने वाली गलतियों में भी कमी करता है। डेनमार्क में विकसित इस मशीन की एक प्रमुख विशेपता यह है कि यह लेंस के नीचे रखे गये चित्र के लिये चित्र की गुठाला और उसके द्वारा परावर्तित प्रकाश के अनुसार उदभासन समय अपने आप व्यवस्थित कर लेती है। समय बचाने और परिवद्धता, चित्र को छोटा करने या बढ़ाने, डायाफ्राम छिद्र आदि के संदर्भ में यह अपने संचालन के सभी पहलुओं को संयोजित करने में भी सक्षम है।

उच्च दाब सफ़ाई युक्ति

एक सस्ती पर कार्य कुशल युक्ति-पॉटक लिम्बा पलास्टर-उच्च दाब पर पानी की फुहार का इस्तेमाल करती है। अपने में पूरी तरह सम्पूर्ण इस युक्ति को सम्पीड़ित युक्ति वायु की जरूरत नहीं होती फिर भी यह कम आयतन की तेज जल धारा उत्पन्न करती है।

अमेरिका की हेनरी आर० जौन एण्ड सन इंकारपोरेटेड नामक फर्म द्वारा विकसित इस युक्ति से प्राप्त पानी की तेज धारा से कठिन सफाई कार्य आसानी से किये जाते हैं। यह युक्ति रासायनिक विधियों और धातु शुद्धिकरण कार्य में विद्युत अपघटनी प्लेटों की सफाई और देख-रेख, रेल रोड, कार्गो, ट्रकों, ट्रेनों और वाहकों आदि की सफाई के लिये उपयोगी है। इसे खनिज प्राप्त करने के राय में भी इस्तेमाल किया जाता है।

वैद्युत चालकीय फोम चादर

एक अति लोचदार, वैद्युत चालकीय खुले सेल की फोम चादर-इकोशील्ड-एस वी एफ-जिसे अमरीका की एमरसन एण्ड कुमिंग इन्कारपोरेटेड नामक कम्पनी ने विकसित किया है विभिन्न उपयोगों के लिये व्यवहृत की जाती है। हल्के चालक के रूप में इसकी पतली पट्टी तो

टर्मिनलों के बीच विद्युत सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। इनमें से एक या दोनों टर्मिनल खिसकाये जा सकते हैं। अति लोचदार और हलके होने के कारण इसे सरकाने पर भी विद्युत धारा में बहुत कम व्यवधान पड़ता है और क्योंकि फोम के सेल खुले हैं इसे उपकरण वक्सों में वायु छिद्रों को ढकने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है। यौगिकों को इससे ढक कर एक दूसरे से अलग रखा जा सकता है। इसे गैस्केट की तरह भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

वैद्युत क्लोरीनीकरण

यह युक्ति समुद्री पानी या खारे पानी में प्रयुक्त किये जाने वाले मंहगे प्रशतिक उपकरणों को खराव होने से बताती है। इंगलैण्ड के इंटरनेशनल रिसर्च एण्ड डिवलपमेंट द्वारा विकसित यह युक्ति समुद्री जीवों का उगना रोकने के लिये बहते पानी में सोडियम हाइप्रो क्लोराइड डालती हैं। यह एक घण्टे में 81827 लिटर समुद्री पानी में सोडियम हाइपो क्लोराइड-मिला सकती हैं। यदि पानी का बहाव तेज हो तो एक साथ कई युक्तियाँ प्रयुक्त की जा सकती हैं।

हाइड्रालिक कैंची

डेनमार्क में विकसित एक अन्य वैद्युत-हाइड्रालिक नियंत्रक कटाई औजार की मदद से किसी भी धातु कार्य संयंत्र में अधिकतर कटाई कार्य किये जा सकते हैं। इसमें एक हस्त चालित पृष्ठ गेज है जिसे 0 से 100 मिलीमीटर पर सेट किया जा सकता है। इसमें मोटर चालित पृष्ठ गेज भी प्रयुक्त किया जा सकता है जो मशीन के सामने की ओर से एक पुश बटन द्वारा चलाया जा सकता है। कटे भागों को ले जाने के लिये एक रोलर वाहक की व्यवस्था है जिसे शीट गेजों की भिन्न लम्बाई और अलग शक्ल के अनुसार आसानी से व्यवस्थित किया सकता है। इस उपकरण के 6 मीटर कटाई करने वाले ऐसे मॉडल उपलब्ध हैं जो 16 मिलीमीटर मोटी चादर काट सकते हैं। ●

(पृष्ठ 26का शेष)

शक्ति के साथ रात्रि दृष्टि इनको फल वाले पेड़ों की ओर ले जाने में सहायता देती है परन्तु शायद इसी कारण मेगीकाइराप्टेरा इसी प्रकार के जीवन में निहित रह गये हैं।

यद्यपि पुरानी दुनिया में केवल मेगाकाइराप्टेरा ने ही फलाहार में विशेषता प्राप्त की है पर नव उष्ण कटिबंधीय प्रदेश में वो नहीं पाये जाते और उनका स्थान माइक्रोकाइटाप्टेरा की फेमिली (फिल्लोस्टोमिडी) के अत्यंत वड़े एवं विभिन्न प्रकार के जीवों ने ले लिया है। दोनों नई व पुरानी दुनिया के वर्गों के सदस्य कभी कभी फूल एवं परागकरन भी खाते हैं तथा दोनों में ही शहद पीने वाले चमगादड़ भी पाये जाते हैं।